

1
1
1
1

1
1
1

पुरुषार्थ

रचयिता—

डाक्टर भगवानदास,

(एम. ए., कलकत्ता ; डी. लिट्., बनारस

तथा इलाहाबाद युनिवर्सिटी)

प्रकाशक—

सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली,

संवत् २००० वि० (जनवरी १९४४ ई०)

प्रथम संस्करण, १०००;
मूल्य, २ रु. तीन रुपया ।

सन १९४८ ई० के अंत तक इस ग्रन्थ का 'कापीराइट' अधिकार, सन्ता गार्हिन्य मंडल, दिल्ली, के हाथ में रहेगा, इस के बाद, इस में कोई 'कापीराइट' नहीं रहेगा; जिसका जी चाहे, छाप सकेगा, किन्तु, अन्य भाषाओं में अनुवाद करने और छापने का अधिकार, अभी से ही, सब का है ।

मुद्रक—
विठ्ठलनाथ प्रसाद
ज्ञानमंडल प्रकाशक,
वाराणसी

पुरुषार्थ की विषय-सूची

प्रस्तावना

पृष्ठ १—२१

अध्याय १—

१

साहित्य का पूर्ण रूप—चार पुरुषार्थों के चार शास्त्र १-६८

(ऋषि-वदन, १, साहित्य का प्रयोजन, ३; 'साहित्य' शब्द का पूरा अर्थ, ७; धर्मशास्त्र, इतिहास-पुराण, ८; राज-धर्म, १५; अर्थशास्त्र, १८; कामशास्त्र, कलाशास्त्र, २१; मोक्षशास्त्र, २६, देश और जाति के विविध अज्ञानों की जाग, २८; व्यापक भाषा की आवश्यकता, ३२; हिन्दी या हिन्दुस्तानी, ३३; एक लिपि और विविध भाषाओं के शब्द, ३७; लेख और ग्रन्थ, ४२; पुराने यज्ञों का नया रूप, ४९; गुणग्रहण की आवश्यकता, ५२; तथा दोषत्याग की, ५२, साहित्य-सम्मेलन के कार्य, ५३; ग्रन्थ निर्माण के अधिकारी, ५५; नारद और व्यास का समागम, ५७; चतुरङ्ग साहित्य का परिशिष्ट, ५८)

अध्याय २—हिन्दी साहित्य

६९-१२०

(क्षमापन, ७०, पुस्तकी भवति पठितः, ७२; पुस्तकों की रक्षा, ७३, उत्तरदानृत्व, ७४, शान्तीय ग्रन्थ, ७८; कैसे ग्रन्थों की आवश्यकता है, ७९; 'अपूर्व' और 'अनुवाद', ८२, राजनीति, ८३, राजा और राज्य की उत्पत्ति, ८४, 'ब्रह्मा' का अर्थ, ८५, वैदिक धर्म, ८८, मातृ और शालीन, ८९, विज्ञान, ९०, राष्ट्रीय शिक्षा, ९०, मोक्ष शास्त्र, ९२; भागवत का अनुवाद, १०४, रसों की संख्या, १०५)

(चीन देश की एक कविता का अनुवाद, १२०)

अध्याय ३—रसमीमांसा

१२१-१७६

("रसो वे सः", साहित्य और सौहित्य, १७७, 'रस' क्या है? उसके कितने भेद हैं, और क्यों?, १२४; 'रस' के

जति-नेवन के दोष, १४१; रस के भेदों की उत्पत्ति, अस्मिता, १४६; सुख-दुःख, राग-द्वेष, १४७, राग और द्वेष के तीन तीन मुख्य भेद, १४९; राग-द्वेष का और भावों तथा रसों का सम्बन्ध, १५१; भाव, १५१; स्थायी, सचारी, व्यभिचारी भाव, १५२; अनुभाव, अलङ्कार, सात्त्विकभाव, १५३, ध्रुव की कथा में अनुभावों का वर्णन, १५४, विभाव, १५६, रागद्वेषोत्थ पटक के शब्दों में स्थायी भाव, १५७; हास में दर्प; नारायण-उर्वशी की कथा, १५७; भक्ति में पूजा, वात्सल्य में दया, उत्साह में रसा-वृद्धि करुणा, विगमय में आदर, १५९; शान्त में विराग तथा अन्य सब रस, १६०, राग-द्वेषात्मक स्थायीभाव, १६२, सर्वज्ञापिनी अग्निता, १६३, रस-संकर, १६४, अपने अनुभव की एक कथा, १६५, मनमाना कानून, १६७, आध्यात्मिक धारणा, रसार्थ की अपरिहार्य दृढ़ता, १६७, ग्रामगीत में करुणा-रस, १६८, रामायण की सर्वसमय कथा, १७०, कृष्णा-धरणी की सर्वसमयता, १७३, आत्मरस, १७३, निरकार, १७८; सर्वसमय जनजाटक-कार की वन्दना, १७४)
 (नीचे की छंद उद्धृष्ट शिल्प का हिन्दी अनुवाद, १७६)

अध्याय ४—शामाऽध्यात्म ,

अध्यात्म के आध्यात्मिक तत्त्व

१७७—४६

अध्यात्म की तीन प्रधान शाखा—आधार, परिग्रह, गन्तव्य,
 १७७, धर्म-ध्यान की उद्देश्यता, १७८, धर्म-धर्म कथा, १८०;
 अध्यात्म-धर्म—आधार, १८३, आध्यात्मिक-धर्म-
 धर्म, १८६, अध्यात्म-धर्म-धर्म, १८९; गन्तव्य-धर्म
 धर्म-धर्म-धर्म-धर्म, १८६, दोहों मातों के धर्म;

रूप और दो अजन्तर रूप, १८९; प्रवृत्ति मार्ग का प्रधान
 पुन्यार्थ—‘धर्म’ से अर्जित ‘अर्थ’ से परिष्कृत ‘काम’-मुल्य, १९२;
 काम-सामान्य, १९३; काम-विशेष, १९७; काम के अन्य
 अर्थपूर्ण नाम, २०२, ब्रह्मचर्य के गुण, २०५; क्षय रोग और
 हस्त-मैथुन आदि, २०७; कामविषयक शिक्षा का प्रकार और
 प्रचार, २१६, टिप्पणी—ग्रन्थ के छपने में विलम्ब के हेतु, अन्य
 अनिवार्य कार्य, २४१-२४९, मानस आधि और शारीर
 व्याधि, दो दृष्टिया, अतर्मुल्य और बहिर्मुल्य; भारत की और
 पाश्चात्य देशों की दशा, राज-कर्मचारियों के घोर दोष; तृतीया
 प्रकृति, २५०-२७१, ब्रिटेन आदि की दशा, २७२; काम-
 विकार जनित रोग, रोग-शेष से सावधानता, २९२; साव-
 धानः सदा सुखी, २९७; वैज्ञानिकों की नवीन अन्तर्मुल्य-प्रवृत्ति
 की दूसरी धारा, ‘साइको-पेनालिसिस्त’, २९९; व्यक्तिवाद और
 समाजवाद, ३०१, अधिभूत से अध्यात्म गुरुतर, ३०२; इस
 विषय का समग्र तथ्य, ३०८, काम-विषयक शिक्षा, ३१५)

(सर्वाङ्गीण काम शास्त्र की रूप-रेखा, उसके तीन अंग, ३३०;

ज्ञानाङ्ग—शारीर स्थान; स्त्री-पुरुष की प्रजनन-इन्द्रियों, इनके रोग;
 विवाह के प्रकार; पति-पत्नी-सम्बन्ध, विवाह को सुखमय बनाने
 के उपाय, सन्तानोत्कर्ष, सन्तान-निरोध; उत्तम और अल्प-
 सख्यक अपत्य, सौशील्य, ३३०, गर्भ-स्थान, ३८८; पारदारिक
 और वैशिक; इनके घोर दोष, ३९२ । इच्छाङ्ग वा रसाङ्ग—
 बधू वर का परस्पर प्रेम-वर्धन, ४०२ अष्टाङ्ग मैथुन, इन अङ्गों
 के गुण-दोष, नवधानवादा भक्ति, अष्टाङ्ग योग, ४०३, भिन्न प्रकृ-
 तिक सतति, ४०६, तृतीया प्रकृति, ४०९ । क्रियाङ्ग—गार्हस्थ्य की
 सामग्री, चतुःषष्टि कला । औपनिषदिक वाजीकरणादि, ‘सर्कम्-

सिद्धि'—कर्ण-वेव ?—आदि, 'कन्या' शब्द का अर्थ, ४१५)

(वात्स्यायन-कृत काम-सूत्र, कामशास्त्र का इतिहास, वात्स्यायनीय काम-सूत्र के गुण-दोष, हिन्दी में, सर्वाङ्गीण काम-शास्त्र का नया ग्रन्थ रचने के लिए, एतद्विषयक पाश्चात्य गवेषणाओं और उत्तम ग्रन्थों से भी सामग्री लेने की नितान्त आवश्यकता, चेतावनी, ४२३-४३९, समापन, ४४०)

परिशिष्ट १

४४२-४५५

(बच्चों की शिक्षा, 'दादाजी' और पौत्र-पौत्रियों की प्रशोचरी) ,,

परिशिष्ट २

४५६-४६०

(नव-विवाहित चर-वधू के लिये दो शब्द, ४५६-४६०)

भागवत के एक श्लोक का अनुवाद

४६०

(गर्भभावमय कृष्ण, ४६०)

अध्याय ५—विवाह और वर्ण; चतुःपुरुषार्थ-साधक वर्णाश्रम धर्म में अन्तर्वर्ण (अ-म-वर्ण)

विवाह का स्थान

४६१-५८०

(विगरी प्रथा के गोपन के लिये नये विधान की आवश्यकता, उपायमय विधान, ४६१, शानि में विचार की आवश्यकता, ४६२, हिन्दू धर्म की विशेषता, ४६४, 'अग्नि' के दोष ४६६, कृष्ण और समाज, ४६८, आग्र-कटोरेणा ही हास का वर्णन, ४६९, हिन्दू 'सर्गायना', कहानी माय, ४७०, प्राचीन 'वर्ण' वर्गीकरण का रूप और उसके वैज्ञानिक आधार, इतिहास, इतिहास अर्थ शास्त्र; समाज शास्त्र, सामाजिक शास्त्र, इतिहास शास्त्र, अर्थशास्त्र, विज्ञान शास्त्र, ४७१-४७६, वैदिक काल के सामाजिक व्यवस्था, ४७६; नये 'वर्ण' वर्गीकरण की शक्ति, ४७७; धर्म शास्त्र, धर्म के

पक्ष में, ४८८. विधान किसी को विवश नहीं करता, ४८८;
 वर्ण में उपवर्ण ४८९; हिन्दू रीति-रिवाजों की व्यामोहक अग-
 स्य भिन्नता, ८८९; 'वर्ण' का सच्चा अर्थ—पेगा, ४९१; 'वर्ण'
 का परिवर्तन, गौतम के परिवर्तन के ऐमा. ८९२, वर्ण-नाम-परि-
 वर्तन के प्रवर्तमान प्रश्न. ४९३ पुरानी परिपाटी का उद्धार,
 ४९८; द्वन्द्वियों का समन्वय, ५००, अभीष्ट नष्टमार्ग: वर्ण-
 परिवर्तन के संकेतों पौराणिक उदाहरण, ५०१, 'हिन्दुत्व' के
 वाच्य लक्षण, ५११, अन्य समाजों ने तुलना, ५१२, क्रूरपता
 का कारण—किसी एक अंग की अति वृद्धि वा ह्रास, ५१३; शालीय
 विचार, ५२०, आरोग्य शान्ति और सु-सतति शान्ति, ५२६, प्रभोतिप
 के विचार, ५२७, पारस्पर-गुण-सत्त् और जीविका-वर्ण, ५२८.
 'सवर्ण-विवाह' और 'वर्ण-सकर' का सच्चा अर्थ, ५२९, अस्पृ-
 श्यता का प्रश्न, ५३१, प्राणहारक शब्द और प्राणकारक
 भाव, ५३१; सच्ची 'कर्मणा' वर्ण-व्यवस्था की सर्वसम्प्राप्तता,
 और विशेषता, ५३३, साम्प्रतकालीन भारत में सत्सि-
 द्धान्तों की उपेक्षा, ५३८; तीन मूढग्राह, ५३९: एक-
 विवाह के, तथा विवाह-सम्बन्ध-विच्छेद के, विषय में विचार,
 ५४५—५५६, 'अन्तर्वर्ण-विवाह' में कई आपत्तियों का निवा-
 रण, ५५६, वर-वधू की परस्पर प्रतिज्ञाएँ, ५६१; हिन्दू रीतियों
 का एक 'अपूर्व' दृष्टान्त, ५६६; कानून की आवश्यकता, और
 औचित्य, ५६९; सक्षिप्त निःकर्ष और समाप्ति, ५७८)

अध्याय ६—चतुः पुरुषार्थसाधक विश्वव्यवस्था-
 कारक विश्वधर्म

५८१-६३३

(विश्व-व्यवस्था और विश्वधर्म- मत-भेद का मुख्य स्थान—
 'जन्मना' वा, 'कर्मणा' वा ?; 'सामान्य' और 'विशेष', ५८१;

प्रस्तावना

(श्री इन्दिरामण ग्रामी लिखित)

श्रद्धेय डाक्टर श्री भगवान् दाम जी के लिये मेरे मन में जैसी श्रद्धा है, उसका पूरा वर्णन यदि करें, तो यह सज्जन उस को अतिरञ्जित समझेंगे, जिन को निकट से उनका रहन-सहन, आचार-विचार, शाखा-ध्याम और लोक-व्यवहार देखने मुनने का अवसर नहीं मिला है, जैसा मुझको दस बारह वर्ष से मिला है। उन्हीं के ग्रन्थ के आरंभ में उस सब का लिखना प्रायः उचित भी न होगा; यद्यपि, भारत-जनता के समष्टि-चित्त ने जो 'श्रद्धेय' की पदवी उनको दे रखी है, उससे ऐसी अनौचित्य का स्यात् परिमार्जन हो जाता।

मनीषि-प्रवर ग्रन्थकार के परिचय के लिये, उनका नाम ही पर्याप्त है। स्थानीय, देशिक, तथा सर्वमानवीय लोकसेवा के उनके कार्यों से देश-विदेश के बहुतेरे सज्जन—विशेषतः विद्वान् जन—परिचित हैं। उन्होने अपने जीवन के विगत पचास वर्षों में अनेक लोकाभ्युदयिक व्यावहारिक काम भी किये हैं; पर उन सब से अधिक महत्त्वशाली और

१ श्री इन्दिरामण जी के और मेरे परस्पर सौदाह के आरम्भ और वृद्धि की कथा, उनके रचे 'मानव आर्य भाष्य' नाम के, सञ्चिार और सञ्चिा से पूर्ण, ग्रन्थ के आरम्भ में, मैंने 'परिचयन' में लिखा है। श्रास्त्री जी ने, 'पुरुषार्थ' के लिये जो 'प्रस्तावना' लिखी है, उसमें, दस सौषार्थ के हेतु से, पक्षपात तो बहुत है, तो भी उसको यहाँ स्थान देना उचित जान पड़ा, मंरुत शास्त्रों के एक बहुश्रुत उल्लृष्ट विद्वान् के चित्त पर, ग्रन्थ का नया प्रभाव पड़ा, चाहे पक्षपात से उसमें अतिरञ्जन भी कुछ हो, इसका जानना, पाठक सज्जनों को प्रायः रुचिकार ही होगा—ग्रन्थकार।

परार्थ-परमार्थ-पथ-प्रदर्शक उनका बौद्धिक शास्त्र-कर्म है। आप ने हिन्दी, अंग्रेजी, तथा संस्कृत में, लोक-कल्याण-प्रवर्तक बहुत ग्रन्थ लिखे हैं, जिनमें एक यह 'पुरुषार्थ' है, जो अब प्रकाश हो रहा है।

ग्रन्थ-विषय-आलोचन

यह सद्-ग्रन्थ, अपने विषय को स्वतः अति स्पष्टता से प्रकट करता है; एक बार पढ़ने में ही मुझ सज्जनों को यह सुज्ञात होगा। इस ग्रन्थ के उपक्रम और उपसंहार को देखने से, तथा २४१-२५० पृष्ठों पर लिखित, "कुठ निजमस्वन्धी, कुठ शास्त्रविषयक, निवेदन" शीर्षक वाली टिप्पणी में भी, ग्रन्थकार और ग्रन्थ के सम्बन्ध की बहुत सी जानन्य बातें प्रिद्धित होंगी। यहाँ कतिपय विशेष अवधेय विषयों पर ही पाठकों का ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ, वह भी बहुत सक्षेप में।

ग्रन्थप्रणयन का प्रयोजन

श्रेष्ठ भगवान् राम जी के ग्रन्थ-निर्माण का प्रवर्तक हेतु 'लोक-मेवा भाव ही होता है, और प्रायः आप के ग्रन्थों का उपक्रम, किसी न किसी व्याख्यान में होता है, जो किसी विशेष अवसर पर, किसी मन्त्रों के अनुष्ठान वा सूचना में दिया गया। इस ग्रन्थ के अध्यायों के आरम्भ में जो टिप्पणियाँ लिखी हैं, उनमें इन दोनों बातों का संकेत स्पष्ट है।

विचार पद्धति

यद्यपि अब यन्मिद ग्रन्थकार की स्वयम्-विवेचिनी बुद्धि में विचार की स्पष्टता है; तथापि आप, मुख्यतः, पुरुषार्थ-साधक-मीमांसक विचार-पद्धति से ही ग्रन्थ लिखते हैं, और वाक्यान्वय के निर्वचन के लिये वैदिक पद्धति का भी बहुत प्रयोग करते हैं, तथा शास्त्रार्थ की स्पष्टता के लिये, वैदिक-रूप में, ऐतिहासिक विमर्श-पद्धति की भी उपयोगिता करते हैं। ग्रन्थ और ग्रन्थों 'सुभाषित द्वय' श्रेणी तक जाँच कर, कल्पित प्रयोग करने से ही आप निरालस कुशल हैं। संस्कृत, गद्य, अथवा उच्चरित के साथ ही अंग्रेजी, फारसी, अति वाद्यों को भी लिखते हैं। विशेषतः आप-साथी बहूतन समाज को प्रियता प्राप्त होगी।

संभाषणा है, यह यताना न होगा ; इसके उदाहरणों में सारा ग्रन्थ त-प्रोत है; आप के अन्य प्रथम जैसे प्रायः सर्वपथीन होते रहे हैं, जैसे : शब्द-प्रयोग-शैली भी सर्वपथीन है ; हम से विज्ञाप्य आशय भी थोड़ा विशद हो जाता है, हिन्दी शब्दकोष का भी परिवर्धन होता है, ॥ अंग्रेजी और फारसी के पर्याय शब्दों का ज्ञान भी पाठक मस्त्रनों में जाता है, जो ज्ञान हम काल में, हिन्दी-उर्दू का समुदाय मिटाने में बहुत योगी है। श्रद्धेय भगवान् दास जी की वाक्य-रचना-पद्धति का, पर्याय-ल शब्द-प्रयोग के कारण, और प्रतिपाद्य शास्त्रार्थ को हेतु-हेतुमत्ता-श-पूर्वक विशद करने की चेष्टा में, कहीं-कहीं जटिल होने का सम्भव ; पर, विविध विराम चिह्न और कोष्ठक आदि के प्रयोग ने, यह लता दूर कर दी गई है।

प्राचीनता में अपूर्वता

श्रद्धेय डा० भगवान् दास जी की प्रतिभा ने शास्त्रार्थ का कलेसर दिया है। आप, प्राचीनतम आर्ष वचनों का ही ऐसा अर्थ लगाते जो नये देश, काल, पात्र, निमित्त आदि के लिये उपयुक्त भी, और न भाव के अविरोध भी, सिद्ध होता है। यही कारण है कि आप के , नवीन के प्रतिपादन होने पर भी प्राचीन, तथा प्राचीन के अनु-न होने पर भी नवीन, 'मौलिक' वा अपूर्व' मालूम पड़ते हैं। द्वारा, वृद्ध जरा-ग्रस्त शास्त्र-शरीर का कायकल्प भी हो जाता है ; उसकी सनातन वेदार्थात्मा, इनमें अक्षत और अनुस्यूत भी बनी रहती वस्तुतः प्राचीनतम ऋषि-दृष्ट वेद-शास्त्र के 'प्र-णवी-करण' के उद्देश्य श्रद्धेय भगवान् दास जी का शास्त्र-कर्म प्रवृत्त है ; किसी नये के आविष्कार के लिये नहीं।

शास्त्र-प्रस्थान-भेद

शास्त्र के प्रस्थान-भेद का निरूपण, इस [पुरुषार्थ] ग्रन्थ के प्रथम में है। इस में 'चार पुरुषार्थ के चार शास्त्र' को 'साहित्य का ष' कहा है। अनन्तर, विविध विरसकों से निर्दिष्ट (सूची को

देगिथे) विविध शास्त्रों के सच्चे स्वरूप, लक्षण, साधन, विषय, प्रयोजन, परम्पर सम्बन्ध वा अज्ञाऽङ्गिभाव, योग्य अधिकारी आदि का विशद वर्णन किया है । इन शास्त्रों की वर्त्तमान अल्पविषयता, संकुचितार्थता, और विकृति का वर्णन करते हुए, इनके सस्कार की आवश्यकता तथा सुधार की रीति बताया है । इस ग्रन्थ में, चार शास्त्रों के प्रतिपाद चार पुरुषार्थों के क्रमयोग, मिथःमहायकत्व, तथा हेतु-हेतुमद्भाव, और मनुष्यमात्र के लिये उनही प्राप्ति के उपाय पर, जो सोपपत्तिक प्राञ्जल विचार किया है, उसमें ग्रन्थकार की उदार चित्तवृत्ति, महती लोक-हितैषिता और प्रगाढ़ विद्वत्ता का परिचय मिलता है । इस प्रकरण [प्रथम भाग] में आपने माहिन्य वा चातुर्मय के पूर्ण और व्यापक रूप का निरूपण कर के, इसके सम्बन्ध और पुरुषार्थसाधकत्व की सिद्धि का उपाय भी बताया है ।

ग्रन्थकार का कार्यक्रम

श्री भगवान दास जी की विद्वत्ता में तो प्रायः देश-विदेश के शिक्षित वर्ग परिचित हैं, पर आप ही संस्कृत श्लोक-रचना की योग्यता की 'संस्कृत-संसार' जैसे ग्रन्थ को श्लोकवाद लिखने में, प्रसिद्ध हुए हैं । पर यह बहुत कम लोग जानते हैं, कि आप हिन्दी में भी उत्तम कविता कर सकते हैं । 'पुरुषार्थ' के प्रथम पृष्ठ पर मद्रासाचरण के रूप में तो भगवान का मनीषाबोध पण उद्धृत है, इसी ग्रन्थ के चतुर्थ पृष्ठ पर, आपने उपासना देसा मुन्दर, मरम, मरुत, कोमल, श्रुतिमन्त्र, मन्त्रा-प्रकाश और यथार्थन्यायप्रियतम हिन्दी पत्राभ्युवाह किया है, ऐसा कोई भी हिन्दी लिपुग मद्रक्य विद्वान ही कर सकता है । अन्तः निपुण कवि-होने के साथ 'प्रसिद्धि' श्री भगवान दास जी के मद्रक्य श्राव्यामिह प्रथम है । प्रथम संवाच-विज्ञान-पूर्वक, प्रकृति के रम्य का उपासना-श्रुत-कर-करके, मात्र कृत-सो, श्रुति-यथार्थ-मन्त्र, मन्त्र-प्रकाश-विज्ञान ही संस्कृत-उपासना-रूप । सो-संस्कृत-विज्ञान के लिये मद्रक्य-विज्ञान के सिद्ध-विज्ञान के लिये 'सो-संस्कृत-विज्ञान' का उपासना-रूप है, उपासना

का सहज वाग्मय उद्गार, तत्पथ' मन्त्री कविता है। इसी लिये कवी या त्रिवेदी महाकविता है ; इसके रचयिता 'रूपियों' को "कविर्गन्तरी" कहते हैं ; "कवयो विदुः", "कवयोऽप्यत्र मोहिता.", एत्यादि वाक्यों में 'कवि' का अर्थ यही सहज प्रतिभाशाली, अध्यात्मवित्तम, प्रकृति या पुरोहित, है। सत्कृतिकर्म के उत्कृष्ट उदाहरणों को मन्त्र-नास्तिक्य में (सूर, तुलसी, कबीर, नानक, तुकाराम आदि की वाणियों में) और सहज ग्राम-गीतों में देखना चाहिये, 'पुरुपार्थ' के पृ० १६८-१६९ पर एक ग्राम गीत, उदाहरणार्थ छापी है। हठाद्भाकृष्ट कतिपय पदों की रचना, जिन्में काव्य के गुण, दोष, रीति, अलङ्कार, शय्या, पाक, रस, भाव आदि का समावेश, अस्वाभाविक ('आर्टिफिशल', कृत्रिम) रूप में, अन्यान्य में भी, हँस-हँस कर किया गया हो, वह प्राकृतिक ('नेचुरल') कविता नहीं है। श्रद्धेय भगवान् दास जी ने कवि-वाग्मय के क्षेत्र में भी प्राचीन-पद्धति का ही अनुसरण किया है। आप का विचार, सम्पूर्ण भागवत पुराण का वैसा ही हिन्दी काव्यमय अनुवाद करने का था ; पर इतर ग्रन्थों के निर्माण, और दूसरे सार्वजनिक कार्यों में सतत व्यस्त रहने के कारण, अभी तक उसके लिये आपकी अवकाश नहीं मिला है। यदि आप के द्वारा यह अनुवाद महाकाव्य सम्पन्न हो सकता, तो हिन्दी को एक सहती अमर कृति प्राप्त होती, और देश के बहुजन वर्ग के लिये सर्वसात्विक रस-भाषमय भागवताऽमृत का सहज स्रोत खुल जाता। इस विषय में, स्वयं श्रद्धेय श्री भगवान् दास जी के विचारों को जानने के लिये, इस ग्रन्थ के ९७वें पृष्ठ से आरम्भ होने वाले "भागवत का अनुवाद" शिरस्क घक्तव्य को, तथा पृ० ४७, ५७, ९९-१०४, १२४, १६७-१६८, ४६० पर, उनके रचकृत, भागवत के अनेक श्लोकों के, हिन्दी पद्याऽनुवाद को देखना चाहिये।

अपूर्व "रसमीमांसा"

'पुरुपार्थ' के तीसरे अध्याय में 'रस' के सम्बन्ध का विशद विचार हुआ है। इस अध्याय के पूर्व ही १०५ वें पृष्ठ पर, 'रसों की संख्या' का

है। इस ध्यानिक अन्वीक्षा-पद्धति के द्वारा चित्त-ध्यान-तन्त्रानुसन्धान में ही रम-भाव प्रभृति चित्तवृत्तियों के व्यञ्जक प्रकाशक शारीरिक पदार्थों का ज्ञान, और उनके नाम, रम्या, स्वरूप, लक्षण, प्रभाव, परिणाम वा कार्य, आदि का यथार्थ विशिष्ट भान होना सम्भव है। सुतरा, किसी भी विषय पर आध्यात्मिक (मानव-स्वभाव-विज्ञानानुसारिणी) दृष्टि में ही विचार करने वाले श्री भगवान् दास जी को, यदि, अध्यात्म परिवार के ही परम परिचित, 'रम' प्रभृति भावों का इतना पूर्ण परिज्ञान हुआ, तो हम ने आश्चर्यचकित होने का कोई कारण नहीं, पर इतना तो मानना पड़ता है कि श्रद्धेय जी की 'रस-मीमांसा', साहित्यिक चालत्रय में एक नयी क्रान्ति, उपज्ञा, वा आविष्कार है। इस पर विशेष अध्ययन और मनन करना, तथा तदनुसार 'रम'-सेवन की उचित मर्यादा बाँध कर लौकिक जीवन को सरम और सुखी बनाना, प्रत्येक परहित ओर आत्महित चिंतक सज्जन का ध्येयकर कर्तव्य है।

“कामशास्त्र के आध्यात्मिक तत्त्व”

जैसे 'पुरुषार्थ' के पूर्व अध्यायों में, 'साहित्य' और 'रस' के सम्बन्ध में, मौलिक, 'अपूर्व', विचार प्रकट हुए हैं, वैसे ही, इस ग्रन्थ के चतुर्थ— 'कामाऽध्यात्म'—अध्याय में (पृ० १७७-४६०) 'कामशास्त्र के आध्यात्मिक तत्त्व' का निरूपण, यही आरंभ ही से किया गया है। साहित्य और रस-शास्त्र का, कामशास्त्र से तादात्म्य-सम्बन्ध है, अतः इन में से एक के निरूपण के प्रसङ्ग में दूसरे दोनों का विचार भी आ ही जाता है। और साहित्य, रम, काम आदि सभी चैतन्य तत्त्व, हे भी एक ही अध्यात्म वा शारीरिक परिवार के अवयव। यह बतलाया ही जा चुका है कि श्रद्धेय भगवान् दास जी आध्यात्मिक परिवार के तत्त्वविज्ञान में बड़े निपुण, और अध्यात्म-दृष्टि से, तथा तन्मूलक विचार-पद्धति से, ही तत्त्वाऽधिगम करने के अभ्यस्त हैं। आप के इस अभ्यास के परिणाम और उदाहरण आप के अनेक अंग्रेजी ग्रन्थ है, (इस पुस्तक के अन्त में ग्रन्थ सूची देखिये); तथा 'समन्वय' 'प्रयोजन' आदि हिन्दी ग्रन्थ भी। ये सभी अध्यात्ममूलक

और शरीर में आध्यात्मिक भावों की अभिव्यक्ति के प्रतिपादक ग्रन्थ है। सुतरा से इनके मोक्षार्थ 'पुरुषार्थ' के अन्तर्वर्ती, इस 'कामाध्यात्म' शास्त्र को अध्य-
 यन करना ही चाहिये। अतः साहित्य, रस, भाव आदि के साथ, काम-विष-
 य विचार की भी 'सह वा प्रवृत्तिः, सह वा निवृत्तिः', सह निरूप्यत्व व
 साहचर्य होता अनिवार्य है। श्री भगवान् द्वारा जी ने इन सभी विषय
 पर, आत्मिक-विवेचन-पूर्ण 'पुरुषार्थ'-शास्त्र के प्रणयन से मानव जाति
 को उपकार किया है, वह सतान और असौख्य है। यह कामाध्यात्म
 प्रकरण तो उनका काम्य और उमनीय हुआ है, कि इस के गुण-पूर्ण
 और योग्यता-प्रदर्शन के लिये, इसमें भी बड़ा एक दूसरा ग्रन्थ
 चाहिये। इस ग्रन्थ में ग्रन्थकार की "गर्भपथीना मतिः" विद्वत्तो-गुण-
 परिभाषा जाग उठी है, ऐसा कहना अनिश्चय नहीं है। सामान्य
 मानव, विवेक, गृहस्थाश्रमी, के प्रियुक्त-जीवन-निर्माण, सत्यन्तानो-
 क्तद साहित्य-प्रसंग-प्रद पवित्र दाम्पत्य-धर्म-सम्प्राप्ति, समाप्त-श्री पुंज
 सत्य-धर्म-यज्ञ-पत्र, आदि के लिये जितना सज्जान अपेक्षित है, उतना
 इस ग्रन्थ-व्यवस्था में बना है। यत्र तो यह है कि मानव जाति के
 अस्तित्व और निश्चय, ऐतिहासिक तथा आधुनिक योग-धर्म, वातु-
 क्त-धर्म-विषयों और मोक्ष की सिद्धि, के लिये, विश्व के दक्षिण-मुनियों
 के ज्ञान, महापण्डितों, और सत्त्व सत्यमात्रों के जो कुछ साधनों-पर
 कथना किया है, उन सब का सार सङ्कलन, नये युग-धर्म की आवश्यक
 होने से अत्यन्त, नहीं आया, नूतन सदाश्री, नवीन विचार-परिवर्तनों से
 अपने अनेक सिद्धि सम्पन्न प्रयोगों में, श्रेष्ठ भगवान् द्वारा जी के
 लिये है, जो अत्र अत्र सब का भी निश्चय निश्चय पर, हम ए-
 क ही अर्थ-संग्रह, 'सुखादी', से कर लिया है; अतः यह तत्त्व-
 सार है जो सब-संग्रह-संग्रहों के सब ज्ञानों का सम्पन्न सम-
 ग्रहण है, जो इस से भी सज्जान और 'कामाध्यात्म'-प्रकरण द्वारा
 है। अतः ही इस ग्रन्थ के अतिरिक्त साधु-सूक्त की आयोजन से दिना-
 ३ एन १,

“काव्येषु नाटक श्रेष्ठं, नाटकेषु शकुन्तला,
 तत्रापि च चतुर्थोऽङ्कः, तत्र श्लोकचतुष्टयम् ।”
 यहाँ भी एक ऐसे ही श्लोक का प्रसङ्ग है,
 शास्त्रेषु भगवद्भाग्यग्रन्थाः नारप्रदर्शकाः,
 तत्रापि 'पुरुषार्थो'ऽयः, तत्रापि व्यायधनुर्धकः ।

मारांश यह कि ध्वष्टेय ग्रन्थकार ने, शताब्दियों से दूषित, विकृत, अधलील, ग्रीभत्स घोर-कामुक-जन-गुण, कोक दुशास्त्र भूत, अत एव 'गोपनीय-कथित' अमत् कामशास्त्र को आध्यात्मिक मस्कार द्वारा विशुद्ध कर के, 'सन्कामशास्त्र' और मय के लिये अगोप्य, प्रयुक्त अनुष्ठेय, बना दिया है। यह प्रसन्न-गम्भीर ग्रंथ, गूढ़ आध्यात्मिक-विवेचनमय होने पर भी सुस्पष्टार्थ है, क्योंकि साधारण शिक्षित लोगों को भी, तृतीय महापुरुषार्थ काम के विषय का सज्जान प्रदान करने के उद्देश्य से, उदारचेता ग्रन्थकार ने सरल आर-भटी से, एक शब्द के अनेक भाषान्तर-पर्यायों के प्रयोग से, ग्रन्थ को विस्पष्टार्थ बनाने के लिये यथेष्ट प्रयत्न और परिश्रम किया है। ग्रंथ, विवेकशील पाठकों के हाथों में जा रहा है, वे स्वयं इसके गुणोत्कर्ष को पहचानेंगे। यहाँ उदाहरण-प्रदर्शन के लिये मूल ग्रन्थ से सन्दर्भ उद्धृत करना अनावश्यक है। नितान्त अवधेय इस कामशास्त्राऽध्याय के प्रतिपाद्य विषयों के आपाततः ज्ञान के लिये, विषय-सूची को देखना चाहिये।

सुगम शिरस्कों के अन्तर्गत अनेक अवान्तर विषयों के विभाग सूचक लघु शीर्षक हैं; जिनमें तत्तद्विषय का, विश्लेषण-पूर्वक, निरूपण है। कामाऽध्यात्म के दोनो परिशिष्ट, वज्रों और नव-विवाहित वर-वधुओं के लिये, बहुत मनोरञ्जक भी और उत्तम शिक्षाप्रद भी हैं। 'चेतावनी', कामान्ध-कुट्टि की चिकित्सा, कामसातुरता-व्याधि से मुमूर्षुओं के लिये सब्जी-वनी घूटी, समीचीन शिक्षा है। कामाऽध्यात्म के प्रथम परिशिष्ट की टिप्पणी “(दादाजी के लिये, छोटे पौत्रादिकों के पढ़ने के लिये नहीं)” प्रत्येक 'दादाजी' को, पौत्रादिकों के प्रति सतत सावधान रहने, और उन्हें काम-पिशाच-दुर्जन-ससर्ग-सम्पर्क से बचाये रखने, की चेतावनी देती है।

विशेष दृष्टव्य

बहुत कम लोगों का इस ओर ध्यान है, कि प्रवर्तमान प्रजाविनाशक विभक्त भी अनिष्टम और दुष्टकाम का ही परम्परया परिणाम है; इस भ्रमाय का परिशीलन करने से यह बात स्पष्ट हो जायगी, यों तो, प्रत्येक पृष्ठ में एक एक बात विशेष अवधेय है; वह सब बात, समग्र ग्रन्थ के पुनः पुनः पठन में ही सुविहित करना चाहिये ।

इस ग्रन्थ के पाँचवें अध्याय में "विवाह और वर्ण, चतुःपुरुषार्थ-या १८ वर्णाश्रमधर्म में अन्तर्वर्ण-(अ-स-वर्ण) विवाह का स्थान; विवाही प्रथा व शांति के लिये, नये विद्वान की आवश्यकता"—इस विषय पर विद्वान-वर्ण विचार हुआ है । यह उगी सुप्रसिद्ध शास्त्रार्थ-विमर्श का परिणाम है, जो श्री भगवान राम जी के, 'अन्तर्वर्ण' वा 'अ-स-वर्ण' विवाह पर-ही प्रस्ताव पर, भारत की केंद्रीय व्यवस्थापक सभा में हुआ था । इस के सम्बन्ध की सभी बातों का उल्लेख, स्वयं ग्रन्थकार ने, इस ग्रन्थ के पृष्ठ २३१-२३२ पर, तथा इस प्रकरण के आरम्भिक चर्चव्य में (पृष्ठ ४०१ पर) किया है । यह भूरिगद्विचारमय निबन्ध अवश्य पठनीय है । इसमें अनुसार, यदि यह प्रस्ताव स्वीकृत हो गया होता, तो हिन्दुत्व का अन्त ही हो जाता; पर, 'हिन्दू नाम' की कृत्रुद्धि और दुर्भाग्य में यह नहीं हो सका ।

[इस ग्रन्थ के अन्तिम (६-) पष्ठ अध्याय में, अथावधानी से पृष्ठ २३३ पर जो गद्यांश "०—" ही उप गया है] । यह अध्याय "चतुःपुरुषार्थ-या १८, विनाशक-या १९, विनाशक-या २०" के विषय में मनीषि-विचारों का निबन्ध है । इसमें सर्वप्रथम इतिहास, और प्रकृति निमित्त, का उचित प्रयोग के अन्त में स्वयं ग्रन्थकार ने किया है ।

यह सर्वप्रथम उपर्युक्त विषय में पण्डित कृतार्थ, और प्रचुर विज्ञान-रस का है । "मैंने कहे जायेंगे स्वयंसे", "वर्णाश्रम-धर्म", "१८-प्रवर्णधर्म", इत्यादि महत्त्वपूर्ण विषयों का हृदय में, हृदय में, अन्तर्निहित रहने से जो महत्त्वपूर्ण प्रकृत है, उनको अन्तर्नि-

और कार्यान्वित करने से विश्वमानव-समाज की नव विषम समस्याओं का 'हल' और सभी जटिल प्रश्नों का सम्यक् उत्तरण हो सकता है। इस पर लोक-हितैषी मनीषियों को विशुद्ध सद्भाव से निष्पक्ष विचार करना चाहिये।

श्रेष्ठ भगवान् दाम जी ने स्वयं तो इस नियन्ध के विचारों को सर्वमानव-कल्याण के लिये, अनेक ग्रन्थों द्वारा, लोक की सद्बुद्धि जगाने के लिये, विश्व भर में फैलाने का महान् उद्योग, वर्षों से किया है। यह प्रस्तुत ग्रन्थ भी, साक्षात् या परम्परया, इसी सर्वसंग्राहक भावशुद्धि, मयम, और 'सार-शुद्धि' [वाम्नाविक सामान्य धर्मतत्त्व की पृक्ता] के उद्देश्य से, साहित्य के पूर्ण रूप चार पुरुषार्थ के चार शास्त्रों का संशोधन करने के लिये उपस्थित किया गया है, जो अपने विषय में पूर्ण कृतार्थ हुआ है।

पाठक सज्जनों से विनम्र विनीत प्रार्थना है, कि, यदि उन को इस ग्रन्थ के भाव और विचार, मझे, अच्छे, लोकोपकारी जान पड़ें, तो उन से स्वयं प्रमत्त हो कर सतोष न करें; अपि तु उन का प्रचार और विस्तार कर के, भारत में उज्ज्वल नवयुग के प्रवर्तन में सहायता करें।

इति विज्ञेपु अल ।

इन्दिरारमणः





ॐ

साहित्य का पूर्ण रूप— चार पुरुषार्थ के चार शास्त्र ।

[अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के ग्यारहवें अधिवेशन के समापति पद से फलकत्ते में २६ मार्च १९२१ को यह भाषण किया गया ।]

ॐ

यः स्वानुभावमखिलद्युतिसारमेकमध्यात्मदीपमतितीर्पतां तमोऽन्धम् ।
संसारिणां करणयाऽऽह पुराणगुणं तं व्याससूनुमुपमयामि गुणं मुनीनाम् ॥
सज्जनो !

यह इस देश का पुराना शिष्टाचार है कि शुभ काम के आरम्भ में मंगलाचरण, देवता, ऋषि, महात्माओं का स्मरण वन्दन, किया जाय । इस से काम करनेवालों का मन शुद्ध और शान्त होता है, और उस में सात्विक भाव उत्पन्न होते हैं, जिन से वह काम सब के लिये हितकारी होता है ।

इस लिये मैं इस समय भागवत पुराण के कहनेवाले व्यासजी के पुत्र शुकदेवजी का स्मरण करता हूँ और आप को कराता हूँ ।

यह ऋषिवन्दना का श्लोक मुझे इस अवसर के लिये विशेष उपयुक्त जान पड़ा । साहित्य का प्रसंग है । साहित्य के विद्वानों

ने कहा है, “ग्सेषु करुणो रमः”। सब रसों में करुण रस श्रेष्ठ है। इस श्लोक में करुणा का शब्द आया है। इस से साहित्यसम्बन्धी एक मूलमिष्ठान्त की सूचना होती है, जिस की चर्चा आगे चल कर करूँगा। और एक मेरे निज के विषय में भी आप लोगों की ओर से करुणा को दृष्टि होने की आवश्यकता है, इस की भी सूचना होती है।

आज से केवल छः दिन हुए, पिछले शनिवार की दोपहर को, साहित्य सम्मेलन की स्थायी समिति के धुरन्धर श्रीपुरुषोत्तम-दामजी टण्डन पच्छिम दिशा में, और इस ग्याग्रहवै वार्षिक अधिवेशनके महामंत्री श्रीयुत कृष्णखलदेवजी वध्मा पूर्व दिशा में, मेरे पास कारी में आ पहुँचे, और आज के काम का भार इन मायामित्रों ने, अनुग्रह के रूप में दुराग्रह करते हुए, निरान्त निर्दयता से मेरे कन्धोंपर रग ही दिया, और मेरी चिनती एक न रुनी।

एक तो मैं हिन्दी साहित्य का अत्यन्त अनजान। गार्गी आयु में प्रायः पचास ग्रन्थ ही हिन्दी के श्रोत्रोपान्त न पढ़ पाया होगा। हिन्दी व्याकरण का एक भी पुग ग्रन्थ गार्गी जीवन में देखा नहीं गया। हिन्दी कविता में कितने और कौन छन्द होने हैं, और हिन्दू में के पद के अर्थ हिन्दी भाषा होने की चार्त्तिक, इसका कुछ भी सुझाव जान नहीं। अन्य कार्यों में जो कुछ अवकाश मिलता उसे कुछ छोटे संस्कृत कुछ थोड़े अंग्रेजी ग्रन्थों के ही देखने से लगा लिया। दूसरे, आज का यह जो सापत्नीतिक सम्बन्धन की सम्बन्धन के ही रूप के कारण से तथा कारी में एक नया विचारों के कारण से अन्य कार्यों के योजन में रुका हुआ है। तिसरे, यह बहुत कुछ इन विचारों ने और एक चिन्ता के कारण से ही है। तिसरे, यह बहुत कुछ इन विचारों ने और एक चिन्ता के कारण से ही है। तिसरे, यह बहुत कुछ इन विचारों ने और एक चिन्ता के कारण से ही है।

कार्यों को समेटना, और कार्यों में यत्नान्तर आना, और आप की सेवा करने को सामग्री एकत्र करना। यदि मैं आप की करुणा का पात्र नहीं हूँ तो और कौन हो सकता है। मैंने पुण्योत्तमदास-जीसे भी और कृष्णवल्लदेवजीसे भी कहा दिया था कि आप ऐसा अन्याय कर रहे हैं तो मैं भी अन्याय करूँगा, और आप माता-दासों से भी मेरी चली प्रार्थना है कि इस अवस्था में यदि मैं कुछ उच्छ्वल बात कहूँ तो क्षमा कीजियेगा। मैं हिन्दी शब्द का भी और साहित्य शब्द का भी तथा अन्य शब्दोंका म्यात् पंसा अर्थ करना चाहूँगा जो अभ्यस्त अर्थमें कुछ भिन्न हो। इस की चर्चा आगे समय समय पर होगी।

साहित्य का प्रयोजन ।

अब इस स्थान पर कथना के ध्यानका सिद्धान्तविषयक हेतु कहूँगा। साहित्य शब्द का जो उधर सँकड़ों ही चर्चा से इस देश में संकुचिन अर्थ हो रहा है, उस का हेतु यही है कि काव्य साहित्य के ग्रन्थों की रचना के प्रेरकभाव ही संकुचित हो रहे हैं। ग्रन्थ उन्ही संकुचित भावों के प्रतिपादक होते रहे हैं। जैसा कारण वैसा कार्य ।

मम्मट का काव्यप्रकाश नामक ग्रन्थ प्रायः छः सौ वर्ष हुए लिया गया। उस में कहा है,

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये ।

सद्यः परनिवृत्तये कान्तासंमिततयोपदेशयुजे ॥

अर्थात् काव्य बनाया जाता है यश के लिये, धन के लिये, व्यवहार का ज्ञान होने के लिये, अमङ्गल का नाश करने के लिये, तत्काल परमसुख के लिये, और कान्ता स्त्री जैसे मधुर प्रकार से उपदेश देती है उस प्रकार से उपदेश देने के लिये ।

यश के लिये, धन के लिये, तत्काल हास्य आदि रसास्वाद के लिये—माना कि प्रवृत्ति मार्ग में यह अनुचित नहीं है, पर नीची कक्षा की बात है। समाचालुर्य की अल्पायु कविता ही के बढ़ाने की बात है। दांत पीछे, शेर पीछे, अशर्मा या रुपया मिलेगा, या हार्थी, गोंडा, गिलान मिलेगी, या लोग चाहव्याही करेंगे, ऐसे प्रयोजन से लिगी कविता देश का कुछ काम ही उपकार कर सकती है। व्यंग्य का घान हो, अमङ्गल का नाश हो, सद् उपदेश हो, उत्तम रसास्वाद हो—यह कुछ उग से ऊँची कक्षा की बात है। पर तो भी उग में भी यह बुद्धि की उदारता, आर्यता, लोकसंश्रान्धता नहीं अलकती जो ऋषियों के बनाये ग्रन्थों में देख पड़ती है।

प्राचीन संस्कृत के, भागवत-‘द्विंद’ के, अनाम्य ‘द्विन्दी’ गाहित्य के जो प्रसिद्ध रूप हैं उन के लिखने का प्रयोजन दूसरा है। मनु की सन्धान के लिये ऋषि के हृदय में कथना उमड़ी, और उगने शब्द और लब्ध का रूप धारण किया। उग रूप, उग ग्रन्थ, की महिमा कुछ और ही है। इस व्याख्यान के आरंभ में, मंगलाचरण के रूप में कहे गये भागवत के श्लोक का यही भाव है,

अरि कीर्तन जन, मयार माने, धार सम में अमि मी,
 कम पाव पाई ? मय ती, जो जान के शीपक यी ।
 कथना दिवज अय ध्याम-मून, गुण गुणन को, विरच्यो यही
 इरतेन, उगने जान कथने क मक्ति मय छारी मही ।
 नृ-स्यमन्वय, पशानभावत से मनी, उगल मश,
 अ नयनरिप पुरण, उग द्विंद गुड हू मुनिमून कडा ।
 कथन मीपक उगिदे उगने अतमिदे मयन से मी,
 उगने दे दे उगने मी मुनिमून ही कथना मी ।
 द्विंद इग गुं मय, कथने अमृतमय दे दे यी—
 द्विंद कथनमि ही मी मय दे मय मय छारी मी ।

वाल्मीकि की कथा प्रसिद्ध है। व्याध ने पक्षी को मारा। इस को देर के मुनि के हृदय में कण्ठ भरी। और श्लोक रूप हो गई। उसी भूतदया की शक्ति का विस्तार पीछे रामायण के ग्रन्थ के रूप से हुआ। जिस ग्रन्थ का प्रयोजन यही था कि,

पठन् द्विजो वागृषभममीयात्, स्यात् क्षत्रियो भूमिपतित्वमीयात् ।
वैश्यो जनः पण्यफलत्वमीयात्, जनश्च शूद्रोऽपि महत्त्वमीयात् ॥

अर्थात् उस ग्रन्थ के परिशीलन से, 'ब्रह्मा' के (जिस को सांख्य में महत् तत्त्व अर्थात् बुद्धितत्त्व अथवा कभी अहंकार तत्त्व भी कहते हैं, उस के) चार पुत्र, चारो सगे भाई, चार भिन्न भिन्न स्वभाव के जीव, अर्थात् ज्ञान-सत्त्व-प्रधान, क्रिया-रजः-प्रधान, इच्छा-तमः-प्रधान, और अनुद्बुद्ध बुद्धिवाले, चारो अपने अपने स्वभाव के अनुरूप कल्याण पावें और सुखी हों।

महाभारत के लिखे जाने का भी कारण करुणा ही है।

द्वैपायनस्तु भगवान् सर्वभूतहिते रतः ।
सर्वस्तरतु दुर्गाणि सर्वो भद्राणि पश्यतु ॥
इत्युक्ताः सर्ववेदार्थाः भारते तेन दर्शिताः ।
धर्मं चार्थं च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ ॥
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित् ।
धर्मार्थकाममोक्षाणां वेदनाद् वेद उच्यते ॥

मनुष्य मात्र के जो परम पुरुषार्थ हैं—संसार भी सधे, परमार्थ भी बने, दुनिया और आकवत दोनों में सुख मिले, संसार का सुख तो, धर्म से अर्थ, अर्थ से काम, के द्वारा, और परमार्थ का सुख, मोक्ष के द्वारा—ये चारो पुरुषार्थ जहाँ तक बन पड़े सब मनुष्यों को मिलें, इस दयाबुद्धि से कृष्णद्वैपायन व्यास ने, महाभारत के शब्दों में, वेद का सब अर्थ सर्वसाधारण के समझ जाने के लिये

महर्षि पुनर्वसुर्जा ने मन्व मनुष्य मात्र के ऊपर दया कर के, उन के हित के लिये, पुण्यमय परम पवित्र, आयुर्वेद, छः शिष्यों को सिखाया। उन्होंने उसका विस्तार प्रचार किया।

साहित्य शब्द का पूरा अर्थ ।

इस मन्व उपोद्धान से मैं आप के सामने केवल इतनी ही सूचना रखना चाहता हूँ कि साहित्य शब्द का अर्थ बहुत उदार और विस्तारशील करना चाहिये। “सहितानां भावः साहित्यम्”, एकत्र होकर, साथ बैठकर, गाना, यजाना, रसीली बान करना, रसाम्बाद करना, चतुरता के पद्य रचना और कहना, कवियों और काव्यों की चर्चा करना, निस्सन्देह यह भी साहित्य है। “साहित्यसङ्गीतकलाविहीनः” इत्यादि श्लोक प्रसिद्ध हैं। पर सुख से भी अधिक दुःख में एक दूसरे के सहित होना, परस्पर सहायता करना, पेना यत्न करना कि यथाशक्ति सब को धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, इन चारों पुरुषार्थों का लाभ हो जाय, तथा इन चारों लक्ष्यों के साधक चार शास्त्र, धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, काम अथवा कलाशास्त्र, और मोक्षशास्त्र, इन सब शास्त्रों पर अच्छे अच्छे ग्रन्थों का निर्माण और विचार और प्रचार हो—यह साहित्य शब्द का पूरा अर्थ जान पड़ता है। प्रचलित अर्थ साहित्य का तो, काम अथवा कलाशास्त्र की चतुःपष्टि कलाओं में से कुछ कलाओं से ही सम्बन्ध रखकर, संकुचित हो गया है। इस संकोच का विस्तार करना आवश्यक है। और हर्ष की बात है कि धीरे धीरे हो रहा है। पर “श्रेयसि केन तृयते”, भूखे प्यासे आदमी को त्वरा रहती है। हमलोगों को यही चिन्ता रहती है कि हिन्दी साहित्य का भण्डार अभी बहुत रिक्त पड़ा है।

धर्मशास्त्र । इतिहासपुराण ।

धर्मशास्त्र में पहला स्थान तो स्पष्ट ही प्राचीन प्रथा ने वेद को दे रखा है। “धेरेणऽगिलो धर्ममूलम्” (मनु), सब वेद धर्म का मूल है। यदि वेद शब्द का अर्थ, जैसा पहले कहा, सब आध्यात्मिक, आधिदैविक, और आधिभौतिक विषयों का मूल रहस्य और ‘सायंम’, सब ज्ञान, समझा जाय, तो वेद को पहला स्थान पाना उचित ही है। आज काल की पश्चिम देश की सभ्यता में भी यही प्रयत्न रहता है कि धर्म अर्थात् क्रायदा कानून (लेजिसलेशन) जहाँ तक हो सके सायंम के अनुकूल हो, उस के प्रतिफल न हो। यह बात न्यायी है कि सायंम का ज्ञान मिथ्या हो तो तदनुसार जो धर्म बनाया जायगा वह भी लाभकारक नहीं प्रयुक्त हानिकारक होगा। जैसे जीवला (ममरिका-रोग) है तब टीका लगाने में बहुत धिवाट है। जिन्होंने ने निश्चय कर दिया कि यह सच्चा सायंम, सच्चा विज्ञान, है, कि टीका लगाने से तब जीवला का रोग नहीं होता, और न उस के मरण में कोई दूसरे प्रकार के रोग पैदा हो जाते हैं, उन्हीं ने तो यह धर्म, यह कानून, बना दिया कि सब रोगों को खतरा ही टीका लगाना जाय। पर अब बहुत लोगों का अनुभव के पीछे स्पष्ट होने लगा है कि टीका से जीवला का रोग भी मरने के लिये नहीं बचता और अनेक प्रकार के दूसरे रोग भी शरीर में पैदा हो जाते हैं। यदि यही पक्ष और अधिक अनुभव के पीछे विचार बहुत हो उस धर्म का बदलना पड़ेगा। सायंम यह कि सच्चा ज्ञान अर्थात् वेद के द्वारा सच्चा आचार अर्थात् धर्म यह बखला है; इस सेव से वेद अर्थात् सच्चे ज्ञान और सायंम का बदलना तदनुसार ही पड़ेगा है। उस के पीछे, उन्हीं दुर्गती प्रथा

ने, इतिहास-पुराणों को स्थान दिया है। महाभारत के पहिले ही अध्याय में लिखा है,

इतिहासपुराणं च पंचमो वेद उच्यते ।
 इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत् ।
 विभेत्यत्पशुताद्वेदो मामयं प्रतरिष्यति ॥
 महत्त्वाद् भारवत्प्राप्त महाभारतमुच्यते ।
 निरक्तमस्य यो वेद सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥

अर्थात् विना इतिहास और पुराण की सहायता के वेद का अर्थ ठीक ठीक समझ में नहीं आता। यहाँ तक कि इतिहास पुराण को पाँचवा वेद माना है। और इतिहास पुराण के संस्कृत ग्रन्थों की व्याख्या करने के लिये निरुक्तशास्त्र से काम लेना चाहिये। विना निरुक्त के, इन्द्र और वृत्र की लड़ाई के पौराणिक वर्णन से यही समझा जायगा, कि दोनों, मनुष्य के आकार के, बड़े भारी लम्बे चौड़े जीव थे, और एक ने दूसरे को मार गिराया। इस से बालकबुद्धि को तो रस अवश्य आवेगा। और ऋषि ने सब प्रकार की बुद्धि के संतोष के लिये ग्रन्थ लिखा। पर प्रौढ़बुद्धि को शंका होगी, कि इस का अर्थ क्या, कि वृत्रासुर की एक दाढ़ पृथ्वी पर थी, दूसरी दाढ़ आकाश में छूई थी, इन्द्र ने उस को पेरवत हाथी पर चढ़ कर वज्र से मारा। जिस को ऐसी शंका हो उस के लिये निरुक्त से उसका समाधान करना चाहिये, अर्थात् “वृश्च्यते इति वृत्रः मेघः” और “इन्दति इति इन्द्रः विद्युत्”, तथा “इरा आपः, तद्वान् समुद्रः, तस्मादुत्पन्नः पेरवतः, अन्यप्रकारको मेघः”। यह सब दो प्रकार के मेघों के संघर्ष से विद्युत् की उत्पत्ति होकर बादलों के टूटने और गलने का और वर्षा का वर्णन है।

पुगण में द्रुग की चर्चा द्रुग लिये की है कि अतिप्राचीन काल में लोगों चर्च पटले, पृथ्वी की यह अवस्था नहीं थी जो अब है। जल स्थल का ऐसा स्वरूप नहीं था जो अब है। विशेष प्रकार के भाग और 'गेग'-धम के पर्वत उड़ते फिरते थे, जिनका भी पर इन्द्र ने काटा, अर्थात् विद्युत् शक्ति से वे भी गले। पीछे एक ऐसा समय आया कि जल स्थल का विशेष भेद होने लगा। वर्षा का आरम्भ हुआ। पृथ्वी में जो गडं पड़ जाते थे वे वर्षा में मट्टी बह कर पूरे होने लगे। वृक्षों की उत्पत्ति हुई, उन में गुग्गुलु फल और गुग्गुलु फल भी होने लगे, ईन्धन आदि के लिये काटे भी जाने लगे, और काट देने पर फिर बढ़ जाने लगे। नदी, नालाब, समुद्र भी हुए, और उन में मूले फल भी हुए और मत्त भी होने लगे। और मनुष्य सन्तान की प्रारम्भ में और रहन रहन के प्रकार में, कई नई बातें उत्पन्न हुईं। निव्य-काम का गुग भी हुआ और मास-धर्म और प्रणव की पीडा भी हुई। इन बातों की सूचना पुगण में द्रुग प्रकार से की है कि वृद्ध की दृष्टि से इन्द्र को पाप लगा। उस पाप का पृथ्वी ने और वृक्षों ने और स्त्रियों ने एक एक बगदान ले कर वाट लिया। पाप का फल उग्रर आदि, बगदान का फल मालवृत्ति आदि। इन बातों का समर्थन पच्छिमके नर्यान 'विष्णु-पुराण' अर्थात् 'सूक्त' शास्त्र आदि में कथाक्षिप्त होता है, उस में निम्न के अर्थ की पदाई दीली हुई तब से द्रुग देव के पवित्रत्व के संरक्षण के लिये जो शक्ति आ गयी, अर्थ मिथ्या होने लगे। विष्णु-पुराण का नाम नर्यान्य देा गया। सब प्रकार की शक्ति 'विष्णु-पुराण' से एक दूसरे को बढ़ाने लगी। इस लिये द्रुग है कि जो इन्द्र-पुराण-विष्णु-पुराण को नहीं जानता उस में द्रुग द्रुग है कि जो अर्थ का अर्थ को गेता।

पच्छिम के विद्वान् कदा करते हैं कि हिन्दुओं का इतिहास-बुद्धि, "हिस्टोरिकल सेन्स," ही नहीं है। यह उस देश पर आश्रय है जहां वेद के पीछे, अथवा उस से भी ऊंचा, स्थान इतिहास-पुराण का दिया है। छांदोग्य उपनिषत् में "इतिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं भगवो अध्येमि" ऐसा लिखा है। अर्थात् इस को पञ्चम वेद कहा है।

महाभारत के पहिले अध्याय में, अर्थवाद के द्वारा, इस में भी अधिक कहा है।

एकतश्चतुरो वेदा भारतं चैतदेकतः ।
पुरा किल सुरैः सर्वैः समेत्य तुलया धृतम् ॥
चतुर्भ्यः सरहस्येभ्यो वेदेभ्यो ह्यधिकं यदा ।
तदा प्रभृति लोकेऽग्निन् महाभारतमुच्यते ॥

अर्थात् वेदों से भी अधिक महिमा महाभारत के इतिहास की है। देवों ने एक ओर चारों वेदों को, एक ओर भारत को, रख कर तौला। रहस्य सहित वेदों से भारत का ग्रंथ अधिक गुरु पाया गया। तब से इस का नाम 'महाभारत' पड़ा।

पर अब इस समय में जिन प्रकार से अर्थ किया जाता है, न तो वेद ही का, न इतिहास पुराण ही का, गौरव जान पड़ता है। उल्टे शङ्का और अश्रद्धा और किसी किसी को अपहास भी होता है। कारण यही कि जो बालक समान बुद्धिवालों के लिये रुचिकर अक्षरार्थ है वहीं तो अब कहा सुना जाता है। और परिपक्व बुद्धि का सन्तोष करनेवाला जो अर्थ हो सकता है वह, निरुक्त के तथा अन्य आधिभौतिक आधिदैविक और आध्यात्मिक शास्त्रों के ज्ञान के इस देश में उच्छिन्न हो जाने के कारण, सब भूल गया है। अन्यथा, जो आज काल पच्छिम देश के विद्वानों का कहना है, कि 'सायंस' को 'हिस्टरी' की दृष्टि से

और 'हिस्टरी' को 'सायंस' की दृष्टि से देखना जानना चाहिये, वही अर्थ इस पुराने वाक्य का है कि,

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपवृंहयेत् ।

अथवा इस से भी अधिक सायंस यह वाक्य है, क्योंकि पुराण शब्द का अर्थ हिस्टरी शब्द के अर्थ से बड़ा है ।

इतिहास शब्द का प्रायः वही सांकेतिक अर्थ है जो हिस्टरी का है अर्थात् मानव-वंश के किसी अंश का इति-वृत्त, यथा भास्वीयों का इतिहास, या चीनियों, जापानियों, ईरानियों, अरबों, रोमनों, यहूदियों, मिश्रियों, या अंग्रेजों, जर्मनों, रूसियों आदि का इतिहास, 'इति-ज्ञ-आग', 'मेसा बुआ' । पर,

समंश्च प्रतिगमंश्च वंशो मन्वन्तगणि च ।

पशानुचरिन् धैव पुराणं पञ्चलक्षणम् ॥

पुराण में पढ़िये तन्वीं का आविर्भाव, फिर इस ब्रह्माण्ड अथवा सार सम्प्रदाय की सृष्टि, फिर उसमें विघोषकर इस पृथ्वी पर स्वयंवर तद्रम सजीव चतुर्विध भूतग्राम की सृष्टि, फिर और विघोष रूप से मनु-मन्तान का इतिहास, तथा अन्य जीवों के जन्म का विस्तार, और इसके पश्चात् प्रतिगम अर्थात् इन सब का क्रम से निर्गमन और प्रत्यय—यह पांच प्रकार से, एक ब्रह्माण्ड का सृष्टि से प्रत्यय तक का इतिहास होता है, केवल मनुष्यों ही का इतिहास नहीं । अंग्रेजों के शब्दों इन पांच बातों को प्रायः यों कहेंगे । १. 'इयोलुजन्स आफ् दी इन्-आर्गैतिक एलियमेंटम्' । २. 'इयोलुजन्स आफ् दी सोलर सिस्टम्स, स्टार्स एण्ड प्लैनेट्स् अथवा आस्ट्रोनामिकल् एण्ड त्रियायोलॉजिकल् इयोलुजन्स' । ३. 'इयोलुजन्स आफ् दी क्लिउडल्स आफ् देवल्स' । ४. 'इयोलुजन्स आफ् इयोलुजन्स देवल्स सिस्टम्स' । ५. 'इयोलुजन्स आफ् त्रियायोलॉजिकल् आर्गैन्स' ।

था इन सब का प्रतिसंचर, प्रतिप्रसव, प्रलय. (जो प्रतिसर्ग शब्द का अर्थ है। दूसरा अर्थ 'अर्धांतर सर्ग' भी है।)

पश्चिम देश में हर्वर्ट स्पेन्सर के ग्रन्थ कुछ कुछ इस परिभाषा का अनुसरण करने हैं। और एक नयी पुस्तक "ऑटलैन्स आफ् हिस्टरी" के नाम से जो एच० जी० वेल्स महाशय ने अभी, कई महीने हुए, कई विद्वान् लेखकों की सहायता से निकाली है, और जिस में इस सौर सम्प्रदाय के आरम्भ से जलियांवालावाग के बलिदान के वृत्तान्त तक की कथा थोड़े में सायन्स के तर्कों और अनुमानों के अनुकूल, तथा मानव-इतिहास-वेत्ताओं के वैचार के अनुसार, लिख दिया है—यह उत्तम पुस्तक भी इस देश की प्राचीन पुराणों की शैली का अनुकरण करती है।

इस का क्या कारण है कि पश्चिम देश की सब से नयी बुद्धि पूर्व देश की अति पुराण बुद्धि के सदृश होती जाती है? कारण यही है कि इतिहास पुराण से बढ़ कर कोई प्रकार सर्वसाधारण की शिक्षा का, "पाप्युलर एज्युकेशन का", है ही नहीं। मनुष्य के चारो पुरुषार्थों की उपयोगी बातें प्रायः सभी इतिहास पुराण में, सरस कथा और आख्यायिका की लपेट में, कहीं हैं, जिस से बाल, युवा, वृद्ध, स्त्री, पुरुष, सब को रोचक होती हुई, विज्ञान की, राजधर्म की, भूगोल की, वर्णधर्म, आश्रमधर्म, गृहधर्म, परस्पर व्यवहार की, सुख दुःख के कारणभूत पुण्य पाप की, विविध देशों और जातियों के रहन सहन की, अर्थशास्त्र की, विविध कलाओं की, बातों का ज्ञान सहज में हो जाता है।

इस देश में इतिहास पुराण के द्वारा सर्वसाधारण की शिक्षा की प्रथा बहुत पुरानी है। और इसका इस देश के मनुष्यों से, क्या मनुष्य मात्र से, स्वाभाविक सात्म्य है। इस लिये इसका जीर्णोद्धार करना परमावश्यक है। अध्ययन-अध्यापन के सम्वन्ध में आज

यद्यपि हिन्दी भाषा में प्रायः सभी संस्कृत इतिहास पुगणों के अनुवाद छप गये हैं, पर उनसे देश की गुणि की मलिनता का मार्जन ठीक ठीक नहीं होता, प्रत्युत बहुत अंशों में वह मलिनता बढ़ती है। नये प्रकार से संसार के और मनु-मन्तान के इतिहास पुगण के लिये जाने की बड़ी आवश्यकता है, जिन में सब आवश्यक ज्ञान का संग्रह किया हो।

यदि भिन्न भिन्न शास्त्रों पर बड़े बड़े ग्रन्थ बने हों तो भी पैसे संग्राहक ग्रंथ की आवश्यकता होती, उन सब का समन्वय दिखाने को। नहीं तो परस्पर विरुद्ध ज्ञान पढ़ेंगे। जो कुछ ब्रह्माण्ड में है वह सब मनुष्य के पिण्ड में है। सब शास्त्रों का विषय मनुष्य के देह और जीव, अन्तःकरण और बहिष्करण में, वर्तमान है। जितने "केमिस्ट्री" और "फिज़िक्स" अर्थात् आधिभौतिक शास्त्रों के तत्व, और "बायोलोजी" अर्थात् आधि-दैविक शास्त्र की बातें और शक्तियां, "सैकालोजी" अर्थात् अध्यात्मशास्त्र की सूक्ष्म वृत्तियां, तथा "मेटाफिज़िक" अर्थात् ब्रह्मविद्या के विषय हैं, वे सब प्रत्येक मनुष्य में एकत्र हैं। इसी प्रकार से मनुष्य समाज के जीवन और इतिहास में, "सोशियोलोजी" में, सब शास्त्रों का समावेश है, और उन का परस्पर उपयोग और साहित्य देव पड़ता है। इस हेतु से ऐसे इतिहास पुगण के ग्रन्थों के बिना उत्तम शिक्षा सिद्ध नहीं हो सकती।

ऐसे संग्रह ग्रन्थों के सिवा विशेष विशेष देशों और जातियों के सविस्तर इतिहासों का भी बड़ा अभाव है। इस पर बहुत ध्यान देने की आवश्यकता है।

राजधर्म।

इस के पीछे, विशेष शास्त्रों के सम्बन्ध में, राजधर्म के ग्रन्थों की हिन्दी साहित्य में बड़ी अपेक्षा है। राजधर्म में वह

सब विषय अन्तर्भूत हैं जिम को अङ्गरेजी में "पालिस्ट्रिफिस", "गिर्निफिस", "गॉसियालोजी", "गोशल आर्गेनिजेशन", "न्यूट्रिफिस" आदि कई नाम रख कर कई शास्त्रों में विभक्त कर दिया है। ऐसा विभाग करने से अपने को अपनी बुद्धि की एक विशेष समुदाय जान पड़ती है, और किसी अंश में ऐसा करना अच्छा भी है। पर उन सब का सम्बन्ध और समन्वय याद रखना बहुत आवश्यक है। "समासव्यागधारणम्" दोनों साहित्ये। राजधर्म पदार्थ में सब का समावेश है।

सर्वं योगा, राजधर्मेषु युक्ताः, सर्वं धर्मा राजधर्मेषु दृष्टाः ।
 सर्वं विद्या राजधर्मं प्रयुक्ताः, सर्वा वीक्षा राजधर्मेषु चोक्ताः ॥
 सर्वं सांगा राजधर्मेषु भुक्ताः, सर्वं लोका राजधर्मं प्रविष्टाः ॥
 आयमन्तागः सर्वभूतानुसूया लोहजानं पाकनं मोक्षणं च ॥
 विष्णवानां मोक्षणं पीडितानां क्षात्रे धर्म विधाने पादिसानाम् ॥

(ज्ञानिपर्व, अ० १२, १३, १४)

सब योग अर्थात् उपाय, सब धर्म, सब विद्या, सब वीक्षा, सब भोगविद्या की कला, उल्लोक परलोक सब का धर्म, सब राजधर्म के अन्तर्गत हैं। प्राणात्मर्ग तक करके सब लोक को प्रवृत्तता और बर्ताव करना, सब लोक का ज्ञान रखना और सबके पोषण करना और सब दुष्टियों को पीड़ा से बचाना सब सब सबे अर्थियों के राजधर्म में अन्तर्गत है। इसी लिये सबे अर्थियों का धर्म राजा का धर्म और धर्मों का राजा है।

राजधर्म का ऐसा बड़ा सौम्य है। यदि लाल्या लालपनभाव ले ले "गिर्निफिस" के लिये एक विशेष विद्यालय सोच्य है तो उल्लेख इस देश के प्राचीन इन्द्र का ही अनुसरण किया है। इस देश के अन्तरे अन्तरे की देश में बड़ी आवश्यकता है और देश का विचार है कि इस पर किसी में बहुत कम अर्थ

मिलने हैं। और यह भी रोद का विषय है कि जो एक दो ग्रन्थ लिये भी गये हैं उन में पश्चिम के भावों को ही हिन्दी शब्दों में दिखाने का प्रयत्न अधिकतर किया गया है। चाhtिये यह, और देश के कल्याण के लिये आवश्यक है, कि प्राचीन भावों को दिखाने हुए उन की अपेक्षा से पश्चिम के नये भावों के गुणदोष, तथा इस देश के लिये उपयोगिता अथवा हानिकारकता दिखायी जाय। पश्चिम के ग्रन्थों के नये नये शब्दों पर रीश जाना, और उन के लिये हिन्दी में नये पर्याय शब्द बड़े धम से गढ़ना, इस में शक्ति का अपव्यय होता है। पर हां, यह कहा जा सकता है कि बिना रोग का अनुभव किये आरोग्य का सुग नहीं ही जान पड़ता। “पैट्रियाटिज्म” देशभक्ति जान पड़ती है, “नेशनलिज्म” जातिभक्ति जान पड़ती है, और ऐसा जान पड़ता है कि ये दोनों बहुत नये भाव हैं, पश्चिम की जातियां ने नवीन कल्पना की है। पर जब हम याद करते हैं कि हमारे देश में तो “पैट्रियाटिज्म” के स्थानपर “यूनिवर्सलिज्म” अर्थात् विश्वभक्ति रही है, और “नेशनलिज्म” के स्थानपर “ह्यूमनिज्म” अर्थात् सर्व मानव भक्ति, “सर्वभूतहिते रतिः,” “सर्वलोकहितैपिता,” “सर्वप्रिय-हितेहा च,” तब हमको यह देख पड़ता है कि जिसको देशभक्ति समझे थे वह केवल देशभक्त है, और जिसको जातिभक्ति जाना था वह जातिभक्त। हमारा स्वाभाविक विश्वास तो यह है कि,

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति ।

सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥ (ईशोपनिषत्)

एवं तु पंडितैर्ज्ञात्वा सर्वभूतमयं हरिम् ।

क्रियते सर्वभूतेषु भक्तिरग्यभिचारिणी ॥ (विष्णुपुराण)

सर्वभूतेषु यः पश्येद् भगवद्भावमात्मनः ।

भूतानि भगवत्यात्मन्यसौ भागवतोत्तमः ॥ (भागवत)

कामर्स," यह सब अन्तर्गत है। कुम्भीदशास्त्र, "ग्नान्यन्स आफ वेंकिङ्ग" और शिल्पशास्त्र, "सायन्स आफ एनजिनियरिङ्ग" के सब भेद, यह सब भी इसी में अन्तर्गत है।

पर एक बात इस स्थान पर कहने की है, कि जहाँ वैश्य धर्म कर्म में कृषि गोरक्षा और वाणिज्य को फिर फिर याद कराया है वहाँ कुम्भीद और शिल्प पर इतना आग्रह प्रार्थन ग्रन्थों में नहीं किया है। शिल्प के नाम से अथर्ववेद सम्बन्धी उपवेद भी कहा है, अर्थात् शिल्पवेद, जिस का दूसरा नाम स्थापत्यवेद कहा है। ताँ भी इन का स्थान स्मृतियों में ऊँचा नहीं रखा है। प्रत्युत महायंत्रप्रवर्त्तन को, और तत्संबन्धी आकरकर्म को, अर्थात् स्वानो के काम को, उपपातकों में गिनाया है, और "उत्तमं गोधनं धनं," "वार्तामूलं इदं सर्वं," "वार्ता च सर्वं जगतां परमार्त्तिहन्त्री," "कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं लोफानामिह जीवनम्" इत्यादि कृषि गोपालन और वाणिज्य की प्रशंसा की है। यह भी विचारने की बात है कि शिल्पवेद सम्बन्धी अथर्ववेद को भी अपवित्र कहा है। इस में, और बहुत सी बातों के साथ, अभिचार, मारण, उच्चाटन, आदि के उपाय भी मिलते हैं। "शश्रूणामभिचारार्थमथर्वेषु निदर्शिताः।"

इस का हेतु यही जान पड़ता है कि जिन दो सभ्यताओं की चर्चा भगवद्गीता में की है, दैवी संपत् और आसुरी संपत्, और जिनके स्वरूप का प्रदर्शन, विस्तार से, वाल्मीकि रामायण में, रावण की लंका और राम की अयोध्या के वर्णन से किया है, उन में दैवी संपत् कृष्यादिमातृक है, और आसुरी संपत् महायन्त्रादिप्रधान है। इस देश की सभ्यता "एन्जिनियरिंग-पास्टोरल-रूरल सिविलिजेशन" की और वर्णाश्रमीय "सोशलिज्म" अर्थात् समाजवाद वा वयं-वाद की है। पश्चिम देश

की आधुनिक राशयता "इण्डस्ट्रियल-मिकानिकल-अर्बन सिविलि-
 जेशन" और "इंडिपेण्डेन्सिज्म" आर्थन् व्यक्तिवाद वा अहं-वाद
 की है। प्रधान शब्द पर ध्यान रखना चाहिये। गुरु और
 अग्र, आदित्य और दैत्य, रामे सोतेले भाई हैं, एक ही कदम
 पर हो यन्नि द्वि और अदिति की सन्तान हैं। वही जीव
 जन्मने से कभी देव और कभी दैत्य होते हैं। और दोनों में
 दोनों के गुण योग वर्तमान हैं। पर एक की प्रधानता से एक
 नाम पड़ता है, दूसरे की प्रधानता से दूसरा नाम। देवताओं
 में भी तिथि है, जिनका नाम विश्वकर्मा है। निरुक्त वताना
 है कि जैसे "पठ्यक्तः कठयणो भवति, पठ्यक्तः सूर्यः," और
 अर्थात् द्वि गद दोनों पृथ्वी के ही परार्था और ग्वार्था
 अर्थार्थों के नाम हैं, जैसे विश्वकर्मा प्राण-वायु का नाम है।
 "पिश्य कर्मणि, विश्वक कर्म कर्मणि, विश्वासां क्रियाणां मध्यमः
 विश्वकर्मा वायुः," इत्यादि।

पर देवों के शिष्या मयागुरु शम्बर आदि, ये दूसरे प्रकार
 के हैं। प्राणदाक से मयदाक से, काम कर्म लेते हैं, यंत्रशक्ति
 से ही काम लेते हैं। और इन यंत्रों में अग्नि, वायु, यमण
 दक्षिणों को अपनी नपस्या के बल से पराजय कर के बन्द कर
 देते हैं, और इन से गुलामों का काम लेते हैं, एक यंत्र दयाया
 से बन्द हो गई, अग्न बल उठी, दूसरा 'सिन्ध' चलाया, पाँच
 दूध और एक बन्दत लगी, तीसरी 'देव' फिगया, यमण देवता
 पत्नी से बन्द से बन्दे लगे। फिर कृषिप्रधान रामराज्यवादी देवी
 मलय की शर्द मलय को मलयराज के और श्रापुरी गंगत
 के मलय कर के पीड़ा देते हैं तिर्य का प्रतिकार तब
 लेते हैं इन इन से ही अर्थात् नपस्या देवी मलय याद
 करते हैं।

सारांश यह कि हम को इन सब शास्त्रों पर हिन्दी में ग्रन्थों की अपेक्षा है, पर कृषि, गोरक्षा अर्थात् स्त्र प्रकार के उपयोगी धरैलू पलुआ पशुओं के पालन 'पर (गच्छतीति गौः) और वाणिज्य पर अधिक, और कुसीद और शिल्प पर दूसरे दर्जे में ।

कुसीद और शिल्प का प्रयोग जहाँ मर्यादा से थोड़ा भी आगे बढ़ गया कि वह सब आपत्तियाँ देश और जाति पर आ जाती हैं जिन का अनुभव यूरोप का देश इधर कई वर्षों से कर रहा है, और यूरोपियन सभ्यता और आंग्ल साम्राज्य के अधीन होने के कारण भारतवर्ष जिन को और भी अधिक भुगत रहा है । इस प्रयोग के जो कुछ सुरा हैं वे तो मिलते नहीं, वे तो पश्चिम देश के धनाढ्यों और हुकूमत करनेवालों को मिलते हैं, किन्तु उस के जो दुःख हैं, अर्थात् बहुतेरों की अत्यन्त गरीबी और चारों ओर नीयत का कच्चापन और जुआ-चोरी और खेला और फाडका का रोजगार और शराब कबाब का अधिकाधिक प्रचार—यह सब दुःख भले ही इस देश को भुगतने पड़ रहे हैं ।

साहित्य का काम है कि देश को इन आपत्तियों की चेतावनी देता रहे, और इन से बचने का उपाय दिगाता रहे ।

कामशास्त्र अथवा कलाशास्त्र ।

अर्थशास्त्र के पीछे कामशास्त्रका स्थान है ।

धर्मादर्थोर्थतः कामः कामाद्धर्मफलोदयः ।

इत्येवं निर्णयं शास्त्रे वर्णयन्ति विपश्चितः ॥

धर्मश्चार्थश्चकामश्च मोक्षश्चेति चतुष्टयम् ।

यथोक्तं सफलं ज्ञेयं विपरीतं तु निष्फलम् ॥

(पद्मपुराण, उत्तरखंड, अ० २४८)

धर्म में, कर्मानुसंग कानून में, इरा लोक और परलोक दोनों के लिये जो मर्यादा अनुभवी और साहित्यिक सुद्धि के परार्थी और व्यापारि मन्त्रमाओं ने गाथी है उस के आचरण में, उस के माहने और पाठों में ही, मनुष्य-सामाज में अर्थ का, विविध प्रकार के धन धान्य का, सभी मनुष्य-भोगोन्नत वस्तुओं का, सफल हो सकता है। और ऐसे अर्थ से ही, पशुयोग्य नहीं, किन्तु मनुष्योन्नत काम का, इन्द्रियों के सुसंस्कृत सुपरिष्कृत विषया का, अनुभव, सिद्ध हो सकता है। इन संगारी अनुभवा में सुख और निरक्त होने पर, मांशशास्त्र में कई उपायों में से उपाय हो सकता है। ऐसा शास्त्र का सिद्धान्त है।

इस लिये कामशास्त्र के, और तदन्तर्गत विविध कलाशास्त्र के अन्वया की भी तितान्त अपेक्षा स्थिरी साहित्य में है। पर जो दुर्दशा अर्थशास्त्र की हो रही है उसमें भी अधिक दुर्दशा कामशास्त्र की हो रही है। अर्थशास्त्र तो प्रायः नष्ट ही हो रहा है।

अर्थशास्त्र के लिये में देश का चित्र खींचने सुख म्याग अर्थशास्त्र, इन्द्रियशास्त्रों ने ही यह कहा है।

अथर्ववेद में सुख रीति, भारतन प्रीति। मुद्राय ।
 दिव्य रीति देव सौ चीडा चीडा लाय ॥
 रीति रीति देव देवदेवो सयवे प्रसा यथाय ।
 इन्द्रिय सुसंस्कृत दिव्यो, सोरि लाय प्रसाय ॥

अथर्ववेद के लिये इस अर्थशास्त्रशास्त्र नाकट में भी, लिये के लिये के लिये कहा है कि प्राय ही सौ वर्ष परिले लिये का इस अर्थ का दुर्दशा का अर्थ दिखलाया है।

अथर्ववेद में सुख रीति, भारतन प्रीति। मुद्राय ।
 दिव्य रीति देव सौ चीडा चीडा लाय ॥

दम्भ कहता है अहंकार से कि "एक घेर मैं ब्राह्मण के घर गया: सब मुनि तुरन्त अपना २ आसन मुझे देने लगे, पर मैं ने नाक सिकोड़ी; तब ब्राह्मणने अपनी जाँघ को गोचर से लीप कर शुद्ध कर के मुझ को शपथ देकर और बहुत अनुनय विनय करके उम्मी पर बैठाया।"

अर्थात् अधिकाँश मिथ्या हृत छात के लोकविग्राहक ढाँग में ही धर्म रह गया है। जो धर्म का मर्म है, और जो सर्वलोक-संग्राहक राजधर्म राजनीति का सार है, उसकी ओर कुछ भी ध्यान नहीं है।

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचं इन्द्रिय निग्रहः ।

धी. विद्या सत्यं अक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥

अहिंसा सत्यं अस्तेयं शौचं इन्द्रिय निग्रहः ।

एतं सामासिकं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽप्यधीन् मनुः ॥ (मनु)

श्रूयतां धर्मं सर्वस्वं श्रुत्वा त्रैवापधार्यताम् ।

आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ॥

यद्यद् आत्मनि चेच्छेत् तत्परस्यापि वितयेत् ।

(म० भा० शांति०)

वर्णानां आश्रमाणां च राजा सृष्टोऽभिरक्षिता ॥ (मनु)

धीरज से सद्भावों को उत्तम लक्ष्य को धरे रहो, क्षमा करो, मन की अशुभ वासनाओं का दमन करो, चोरी मत करो, शरीर को शुचि स्वच्छ रक्षतो, इन्द्रियों का निग्रह करो, उनको रोके रहो, वे लगाम के घोड़ों के पैसा मनमाना इधर उधर दौड़ने मत दो, बुद्धि बढ़ाओ, विद्या सीखो, सच बोलो, क्रोध मत करो—ये ही धर्म के दस लक्षण हैं। इन में से भी पांच और सारभूत हैं, सब वर्णों के लिये हैं। और भी। धर्म का सर्वस, धर्म का सार, सुनना चाहो तो यह है कि, जो अपने

दिये न चाहें वह दूसरों के साथ मत करो, और जो अपने लिये चाहें वह दूसरों के लिये भी चाहें। राजा का एक मात्र कर्तव्य, समग्र राज धर्म, इतना ही है कि वर्ण धर्म और आश्रम धर्म की रक्षा करे। इस में असंख्य विशेष विशेष धर्म सब आ गये।

“हेतुनिर्गमोपनिच्छेन”, “यस्तर्केणानुरांश्चेत्ते न धर्मं वेद वेद्यम्”, यह धर्म क्यों बनाया गया, इस को हेतुओं से समझाना चाहिये, कानून की वजह बनाकर क्रायल माकूल करना चाहिये; “The reasons going the law goes;” युग युग में धर्म बदलते रहते हैं। पर इन सब बातों को भुला कर, स्वयं हेतुओं का ध्यान न भूल कर, इस देश के धर्माधिकारी पण्डितों और मूर्खों को न भ्रातृ संकल्पों वर्ष में ‘वफा १९४४’ का प्रयोग कर रक्षित है। हेतु मत पृच्छो, मुझ पर ताळा बन्द कर रखो, जो हम तुम्हसे दें वही मानो। यह दुर्दशा धर्मशास्त्र की हो रही है।

तीसरी ही दुर्दशा, या इससे भी अधिक, कामशास्त्र की है। जो कुछ कुछ फटे लिये छिपाये किन्हीं में इस विषय के ग्रन्थों का प्रचार हुआ जाता है, और समाचार-पत्रों के विज्ञापनों में अज्ञानता किया जा सकता है, तथा यदुत्तरी कथिना में देण पदक है वह अत्यन्त अदृष्टता का माण्डार, दुर्बुद्धि और दृग्दर्शन यदुत्तरेण्य अक्षय्य का नाश करनेवाला तन कर कर के सिद्ध अर्थका करनेवाला विनोदित जातिका ज्ञान करनेवाला ज्ञान पदक है। विपश्चित इसके साथ कामशास्त्र का अर्थ लक्ष्मण शास्त्र है। जिसमें प्रति पत्नी का पारस्पर स्नेह और मृत-मृत्यु का सम्मान उत्तम और अज्ञानों को, मृत का प्रत्यक्ष अज्ञान का अर्थ अज्ञान अज्ञान का अर्थ, अज्ञान समग्र पर पदक मृत साधने अर्थ का उत्तम और अज्ञान है। यह सब

विषय प्राचीन कामशास्त्र का था। आज काल पश्चिम के गौजी विद्वान् इस शास्त्र के एक मुख्य अंग के तन्वीं को "यूजेनिक्स" के नाम से रोज रहे हैं, जिस का मूल मन्त्र मनु के एक श्लोक में दिया है। तथा महाभारत में श्री, नल-उभयन्ती की कथा में।

अनिन्दितैः स्त्रीविपादैरनिन्द्या भवति प्रजा।

निन्दितैर्निन्दिता नृणाम्, तस्मान् भिन्द्यान् विषर्जयेत् ॥ (मनु)

विशिष्टाया विशिष्टेन मंगमो गुणयान् भवेत् । (म० भा०)

उत्तम स्त्री उत्तम पुरुष के सात्विक स्नेह और प्रीतिमय विवाह से उत्कृष्ट प्रजा उत्पन्न होती है। निन्दित सम्बन्धों से दुराचार दुःशील कुरूप निन्दनीय सन्तान उत्पन्न होती है।

तो इस परमोपयोगी गार्हस्थ्यशास्त्र पर उत्तम ग्रन्थों की नितान्त आवश्यकता है। और उसके सम्बन्ध में विविध व्यवहारोपयोगिनी तथा रसमयी ललित कलाओं के ग्रन्थों की भी आवश्यकता है। तौर्यत्रिक अर्थात्, गीत, वाद्य, और नृत्य, तथा चित्रकारी, रूपोत्कीरण, वास्तुशिल्प, घर की सचिर और उसकी शालाओं को मनोहर बनानेकी विद्या, पुष्प विद्या, सुगन्ध विद्या, पद्मस विद्या, काव्य साहित्य, सुन्दर आभूषण, सुरंजित सुकृष्ट वस्त्र, तरह तरह के खेल, पहली, उद्यान विद्या, पुष्पवाटिका, फलवृक्षवाटिका, क्रीडाशैल, आराम, स्नानवापी, धारागृह आदि के निर्माण करने की विद्या, इत्यादि। काशी में अब तक प्रथा है कि होली के दिनों में चतुःपष्टि देवी का दर्शन करते । चतुः पष्टि देवी से मतलब चतुः पष्टिकलाओं का है। कोमल बुद्धि को सहज में समझ देने के लिये, बालक की स्मृति में एक रोचक रूप से ज्ञान के तत्व को दृढ़ बैठा देने के लिये, अमूर्त्त ब्रह्म की विविध मूर्त्तियों की कल्पना, प्राचीन दयामय ऋषियोंने कर दी। पर जैसे और

विषयों में लगे रहना, हम लोग साल में एक दिन कृत्रिम मूर्ति की देखा का सन्तुष्ट हो जाते हैं और जो उस मूर्ति का समर्पण अर्थात् उस को बिल्कुल भूले हैं।

मोक्षशास्त्र ।

अन्त में मोक्षशास्त्र के अंश की पूर्ति की आवश्यकता है। संस्कृत ग्रन्थों से अनुवाद किये हुए बहुत ग्रन्थ इस विषय पर लिखीं में हैं। पर उन का भी पुनः संस्करण आवश्यक है। सांसारिक व्यवहार और अभ्युदय अर्थात् धर्म-अर्थ-कामात्मक विषयों के शास्त्र कर्म पढ़ जाने से उन का प्रतिद्वन्दी मोक्षशास्त्र का बहुत दर्दनाक पढ़ गया है, और उस का भी अर्थ के स्थान में अर्थ और दूरपयोग बहुत हो रहा है। मनु ने कहा है।

कामानि धीमयाकथं मनो मोक्षे निबन्धयेत् ।

अन्वयाकथं मान्यैः सांक्षमिच्छन् व्रतमथः ॥

अथ सं व विभो वेदान अनुष्णान च सप्रजाः ।

अभियुः विविर्विर्जमांशमिच्छन् व्रतमथ ॥

यिस को पत्रिका के विज्ञान "संगल ट्रेड" कल के परिचय-
 तक लग सके है उस के पूर्व रूप को इस देश की पुरातन प्रथा
 में अन्वय करके है। अथि क्रम, पितृ क्रम, देव क्रम। मनुष्य
 इस क्रम में लगे रहना चाहिए। पितृ पर शरीरार्थी वन्ध में
 करके है, इस क्रमों को धर्म अर्थ और काम का अर्थित मर्यादा
 मनुष्य को इस क्रम का अन्वय साधना या पाठ्यशास्त्र का के
 अन्वय क्रम का अन्वय करके और उस की शिक्षा तथा जीविका
 इस क्रम में अन्वय करके (देखें मोक्ष शास्त्र का
 अन्वय क्रम की २७ है) और विविध मत अर्थों पर लगे धर्म
 इस क्रम में अन्वय करके अन्वय है। अथ इस क्रम के अन्वय

यदि मोक्ष के लिये यत्न करें तो ह्यनार्थ होता है। नभी उम को मोक्ष का लाम, सब ऋणों और बंधनों से छुटकारा अर्थात् सब जीवात्माओं की पफता का निक्षय, परमात्मा का अनुभव, ठीक ठीक होता है, अन्यथा नहीं।

इसलिये जब तक अन्य तीनों शास्त्रों के ग्रन्थ अच्छे न बन जायें, जब तक इन तीन शास्त्रों के विषय का ज्ञान और अनुभव देश में न फैले, तब तक मोक्ष का अनुभव भी ठीक नहीं हो सकता। जैसा पुनः पुनः पुगणो में, तथा तुलसी दास जी की रामायण में भी, कलियुग के वर्णन में कहा है, आज काल तो सभी वेदांती हो रहे हैं, सभी प्रकार के नितान्त विषयी और पापी जन भी, "अहं ब्रह्मास्मि, सर्वं ब्रह्म" पुकारते हुए, दूसरोंका मालमता 'आत्मसात्' करने के लिये, 'अपनाने' के लिये, सदा सन्नद्ध रहते हैं, और जीवन्मुक्त बने निर्द्वन्द्व विचरते हैं।

इस विषय पर कहने को तो बहुत है, पर यह स्थान और समय अधिक विस्तार का अवसर नहीं देता। इतने ही से अपने वक्तव्य के इस अंश को समाप्त कर के मैं आप को स्मरण कराना चाहता हूँ कि यह मैंने भारतवर्ष के प्राचीन संस्कार के अनुसार सर्वांग साहित्य का सीधा सादा आकार रचित दिया है। और यह दिखाने का यत्न किया है कि मनुष्यसमाज के जीवन में सहायता करना, 'साथ' देना, 'सहित' होना, मनुष्य के सुख की वृद्धि करना, मनुष्यमात्र को चारों पुरुषार्थों की प्राप्ति का उपाय दिखाना, यही सम्पूर्ण 'साहित्य' का प्रयोजन है, और यह प्रयोजन बिना इस आकार के पूर्ण हुए ठीक सिद्ध नहीं हो सकता।

द्वितीय भाग ।

अब मैं यह गूचना करने का यत्न करूँगा कि ऐसे साहित्य की पूर्ति के क्या उपाय हैं, और तन्मग्नन्धी फुटकर बातों की भी चर्चा करूँगा ।

जब गोता आदमी जागने लगता है, जब नदी से या चोट से ये शत्रु आदमी होश में आने लगता है, तब पहिले उसके अंग एक साथ मिट के काम नहीं करते । हाथ किन्ही तर्फ फैकता है पैर किन्ही तर्फ फेंकता है, आँख खुलती है और बन्द हो जाती है, कान कुछ और ही गुनता है, मुहमें कुछ ये जोड़ आवाज अन्तम निकलती है । धीरे धीरे, सब दंड में प्राणगंचार होकर आदमी सादा हो जाता है, और एकगूणकाय होकर, एक लक्षणमें, काम में लगता है ।

यही दशा भास्वर्ष की है । आज चालीस पचास वर्ष से हम देश और हम जाति में जाग हुई है ।

देश और ज्ञानिके विविध अंगोंकी जाग ।

एक परमात्मा एक सृष्टि एक अष्टा के बन्नोंमें अनन्त मतों का निरमो के भेद पैदा होकर आपस में भांगचारा होने के बन्ने बन्ने देश बड़े बड़ा था । उस के जोषन के यामने जवन शत्रु बड़ा और लगे के येतावनी ही जाने लगी, कि इस सृष्टि काय का चित से साद की जिये कि सबी एक ही परमात्मा, एक ही सृष्टि एक ही अष्टा की संसार है, आप ही जीवों और दुखों के ही जीवों के आपस में अंग करों और पैर मन करों । अत से कुछ न लगे से नये साद बन्ने जिया ना खुला की लगे बन्ने का छेदिने सब संसृष्ट जो साकार को और निता

घनावट के धर्म को गहिये, दीन और धर्म के नाम की दुर्दशा कर के पशु के लिये मनुष्य की हत्या मन कीजिये, यत्कि एक दूसरे को अकल से समझाव्ये। कृष्ण ने, शराब कवाय वाला इन्द्र-मरा उठा कर, गो-पूजा इस वास्ते कायम की कि देश में अन्न दूध का सौम्य "सिविलिजेशन" अर्थात् समयाचार और सभ्यता चले, और शराब कवाय का प्रचण्ड "सिविलिजेशन," जिस से एक दो नगर की अत्यन्त समृद्धि के वास्ते सारा देश उजाड़ हुआ जाता था, कम हो। (यद्यपि यह काम केवल गो-वर्धन मरा से नहीं हुआ। इसके लिये कृष्ण को महाभारत का युद्ध और यादवों का संहार भी कराना पड़ा।)

जहाँ एक ओर इस प्रकार से साम्प्रदायिक वैरों को शांत करने का यत्न होने लगा, वहाँ दूसरी ओर यह यत्न आरम्भ हुआ कि नई पुस्तक की शिक्षा का प्रचार देश के हाल के अनुसार हो, विदेश के मतलब के अनुसार नहीं। इस वास्ते गैर सरकारी और नीम सरकारी स्कूल कालिज कायम किये जाने लगे, जिन का भाव यही था कि देश के काम की अर्थकरी, शिक्षा का प्रचार हो, और बेकार, बेसूद, अर्थ रहित शिक्षा बंद हो।

तीसरी ओर देश के सुशासन, जनता के अधिकारों की रक्षा, के उपाय के संबंध में, प्रजा को दुःशासन की पीड़ा से बचाने के प्रकार के वारे में, बड़ा विचार और आन्दोलन शुरू हो गया।

चौथी ओर देश की झूबती हुई जीविका का कैसे पुनरुद्धार हो, कैसे यहाँ की जनता अपने पैरों पर खड़ी हो, अपने बूते अपना और बाल बच्चों का विना नितान्त पराधीनता के पालन पोषण कर सके, कैसे स्वदेशी व्यापार सर्वथा नष्ट न हो जाय— इस वारे में जतन होने लगा।

ब्राह्मण वर्ग, मौल्यी वर्ग, विद्वान्-पादरी वर्ग, ज्ञानप्रधान जीवों, के द्वारा शिक्षा का प्रबन्ध । क्षत्रिय वर्ग, निपाही वर्ग, "मौल्यी वर्ग," क्रियाप्रधान जीवों, के द्वारा रक्षा का प्रबन्ध । वैश्य वर्ग, तालिग और किसान और पशुपालक और शिल्पी वर्ग, अर्थान् इच्छाप्रधान जीवों, के द्वारा जीविका का प्रबन्ध । सेवक वर्ग, अनुदुःखतुल्लि जीवों याल्लुद्धि जीवों, के द्वारा सब की सहायता और मनोरञ्जन आदि का प्रबन्ध, सब के वास्ते परस्पर कर देना, देश काल अवस्था के अनुसार—यही उत्तम शासन का स्वरूप और सिद्धान्त है ।

ज्ञान की देवी ब्रह्मचारिणी सरस्वती, उपवन और अरण्य में बसनेवाली । क्रिया की देवी, शोभा सौन्दर्य सम्पत्ति की अधिष्ठात्री गृहस्थिनी लक्ष्मी, नगर में बसनेवाली । इच्छा की देवी, प्राण की, अन्न की, वैवाहिक स्नेह और सन्तान की, काम की, तथा क्रोध और वीरता की भी देवी, महागृहस्थिनी विविध-रूपिणी गौरी, अन्नपूर्णा, दुर्गा, गाँव खेत देहान की रहनेवाली: तथा सब से आगे. सब स्थान में रहनेवाले, जिन के बिना किसी का भी काम नहीं चल सकता, याल्लुद्धि के देवता, अति पुराण वालक गणेश जी—हम भारतवासी जन तो इन सब को एकसा मानते और पूजते हैं । हम को तो सभी चाहिये । इन चार में से किसी एक को भी नहीं छोड़ सकने ।

पर इस पच्छिमी सभ्यता ने लक्ष्मी को माता न समझ कर चाराङ्गना बना लिया है, और सरस्वती, अन्नपूर्णा, तथा गणेश जी को उस का गुलाम बना दिया है । उनका बराबरी का वास्ता मिटा दिया है । इसी के कारण सारे पृथिवीमण्डल में राम राज्य के स्थान में रावणराज्य हो गया है ।

जब तक इन तीनों देवियों की समतावस्था फिर से नहीं

व्यापिनी घोली कही जा सकती है। लोकमान्य तिलक ने, महाराष्ट्र प्रान्त का शरीर रखते हुए भी, इस बात को स्वीकार किया, और परमाल काशी में हिन्दी में व्याख्यान दिया। महात्मा गान्धी ने, गुजरात प्रान्त का शरीर धारण करते हुए भी, इस बात पर सत्य आग्रह किया है कि हिन्दी ही समग्र भारतवर्ष की राष्ट्र भाषा है और होना चाहिये, और जिन जिन प्रान्त में इस का प्रचार अभी कुछ कम है वहाँ अधिक होना चाहिये। स्वयं वे प्रायः अब हिन्दी ही में अपने प्रभावशाली सागरमय हृदयवाही व्याख्यान देते हैं। बंग देश के भी कई विद्वान् और अग्रणी इस को मान चुके हैं। दूसरे देश के भी जो निष्पक्षपात निस्स्वार्थी विद्वान् हैं वे भी इस को मानते हैं। और गत सम्मेलनों में यह बात बड़े पाण्डित्यपूर्ण सद्युक्तिमय व्याख्यानों से सिद्ध की गई है। अब इस पर अधिक कहना निष्प्रयोजन है।

हिन्दी या हिंदुस्तानी ।

हाँ, 'हिन्दी' शब्द में कुछ सन्देह हो गया है। इधर हिन्दी उर्दू का विवाद कुछ दिनों तक जो चला, उस के कारण हमारे, मुसलमान धर्मवाले, 'हिंद' में रहनेवाले, अतः 'हिन्दी', भाइयों को इस शब्द से कुछ शंका हो गई। गो कि वह हुजत हिन्दी उर्दू ज़वानो की नहीं थी, बल्कि नागरी फ़ारसी हरफ़ों की थी, तौ भी इस शक और हुजत को मिटाने के लिये इधर कई मुअज्जिज़ पेशवाओं की सलाह यह है कि हिन्दी लफ़्ज़ की जगह हिन्दुस्तानी लफ़्ज़ का इस्तजमाल किया जाय।

यह भी अच्छा है। मेरा निवेदन केवल यह है कि जो ही अर्थ हिन्दुस्तानी का है वही हिन्दी का है, और हिन्दी शब्द छोटा और बहुत दिनोंसे वर्ताव में है और सुविधा का है।

इनका प्रयोग छोड़ देना चाहिये, 'भारत, और 'भारतीय' ही कहना चाहिये, इत्यादि। पर "योगाद् रुद्धिर्वलीयसी", यह सिद्धान्त है। अति प्राचीन वैदिक भाषा में अमुर शब्द का वह अर्थ था जो अब सुर का है, "अमूर् राति इति", और सुर का वह अर्थ था जो अब अमुर का, पर ऐसा बदल गया कि अब उस में शंका का स्थान ही नहीं है। ऐसे ही, यह तो प्रत्यक्ष स्पष्ट है कि हिन्दी में जो तीता और कड़वा ये दो शब्द हैं, इन के मूल संस्कृत के दो शब्द तिक्त और कटु हैं। पर अर्थ विलकुल उलटा है, "निम्बं तिक्तं", नीम कटुवा है, और "मरिचं कटु", मिर्च तीती है। तो "योगाद् रुद्धिर्वलीयसी", अब तो 'हिन्द' हमारा प्यारा देश है, और 'हिन्दी' हमारी प्यारी बोली है, जिस को हिन्द के पन्द्रह सोलह करोड़ हिन्दी तो साक्षात् बोलते ही हैं, और बाकी पन्द्रह सोलह करोड़ हिन्दीवाँ में से दस करोड़ किसी न किसी प्रकार से समझ लेते हैं, और साधारण कामोंके लिये बोल भी लेते हैं। पर, साथ ही इसके, 'भारत' और 'भारतीय' को भुला नहीं देना है। इन शब्दों का भी प्रयोग समय समय पर होते रहना ही चाहिये।

इस सम्बन्ध में काशी की विशेष अवस्था की कुछ चर्चा यहाँ करना चाहता हूँ। कई मानी में सारे हिन्द का संश्लेष रूप काशी है। लाहौरी टोला में पंजाबियों की बस्ती, बंगाली टोला में बंगालियों की, केदार घाट हनुमान घाट पर तामिल तेलंगों की, दुर्गाघाट पंचगंगा पर महाराष्ट्रों की, चौखम्भा में गुजरातियों की, घाट घाट पर विशेष विशेष राज-रियासतोंके आदमियों की, मदनपुरा अलईपुरा में मुसलमान भाइयों की, और सिक्रौल में ईसाई भाइयों की आबादी है। इन की रिश्तादारियाँ चारों ओर हिन्द भर में हैं और होती रहती

इस देश का नाम जैसे हिन्दुस्तान है, वैसे ही हिन्दू है। वहि कथाकथानिस्तान, फारस, अरब, रूम, मिस्र आदि इस्लाम धर्म माननेवाले देशों में हिन्दू ही मजहूर है, और हिन्दुस्तानी लोगों, यानी हिन्दू के रहनेवाले, हिंदू, मुगलमान, ईसाई, सब 'हिन्दू' के ही नामसे पुकारे जाते हैं, हिन्दुस्तानी नहीं।

या ही, पश्चिम और पूर्वके देश, युरोप, अमेरिका, चीन, जपान आदि में, इन्डिया शब्द प्रसिद्ध है, जो हिन्दू शब्द का फेरफार रूपान्तर है। और जैसे पंजाब प्रान्त का बगनेवाला देश उमकी बोली पंजाबी, बंगाल की बंगाली, गुजरात की गुजराती फारस की फारसी, बनावर की बनावरी, जीमर की जिमरी, रूम की रूमी, मिस्र की मिस्री, फ्रगरीया या फास देशकी फारसीया या फिर्गी, इमी चाल में हिन्दू देश का रहनेवाला हिन्दी, चाहे वह किसी धर्म का मानने वाला हो और हिन्दू, उदाहरण जाति का हो, और इसकी बोली भी गजपत हिन्दी ही चाहे इसका विशेष भेद बगला, मगरी, गुजराती पंजाबी, सिन्धी आदि कुछ भी न। 'मिन्धु' नदी, 'मिन्धु' देश में सब बौद्धिक और पारमार्थिक काल से चले आने ल। हिन्दू देश में रहनेवाली जातियाँ 'मिन्धु' कहलाती थीं। प्रत्येक देशकी (फारस देश में यही शब्द 'आर्य') जातियों को कहते हैं। (उल्लेख) भारत में इन जातियों का सब 'मिन्धु' शब्द से सम्बन्ध है। तथा 'मृदाकी', ('मिन्धु' देश में रहनेवाली जातियाँ), 'मिन्धु' शब्द, जातियों की भाषा में उदाहरण 'मिन्धु' शब्द से सम्बन्ध है।

हिन्दू शब्द हिन्दू शब्द के विषय में विद्वानों, मजहूरों को बहुत बड़ा मजा उतर रहा है। इन जातियों का प्रयोग हिन्दुस्तान में ही है।

इनका प्रयोग छोड़ देना चाहिये, 'भारत, और 'भारतीय' ही कहना चाहिये, इत्यादि। पर "योगाद् रुद्धिर्वलीयसी", या सिद्धान्त है। अति प्राचीन वैदिक भाषा में अमुर शब्द का वह अर्थ था जो अब सुर का है, "अमूर् गति इति", और सुर का वह अर्थ था जो अब अमुर का, पर ऐसा बदल गया कि अब उस में ङका का स्थान ही नहीं है। ऐसे ही, यह तो प्रत्यक्ष स्पष्ट है कि हिन्दी में जो नीता और कड़वा ये दो शब्द हैं, इन के मूल संस्कृत के दो शब्द तित्त और कट्टु हैं। पर अर्थ बिल्कुल उल्टा है, "निम्बं तित्त", नीम कड़वी है, और "मिर्चं कट्टु", मिर्च तीती है। तो "योगाद् रुद्धिर्वलीयसी", अब तो 'हिन्द' हमारा प्यारा देश है, और 'हिन्दी' हमारी प्यारी बोली है, जिस को हिन्द के पन्द्रह सोलह करोड़ हिन्दी तो साधात् बोलते ही हैं, और बाक़ी पन्द्रह सोलह करोड़ हिन्दीयों में से दस करोड़ किसी न किसी प्रकार से समझ लेते हैं, और साधारण कामोंके लिये बोल भी लेते हैं। पर, साथ ही इसके, 'भारत' और 'भारतीय' को भुला नहीं देना है। इन शब्दों का भी प्रयोग समय समय पर होते रहना ही चाहिये।

इस सम्बन्ध में काशी की विशेष अवस्था की कुछ चर्चा यहाँ करना चाहता हूँ। कई मानी में सारे हिन्द का संश्लेष रूप काशी है। लाहौरी टोला में पंजाबियों की बस्ती, बंगाली टोला में बंगालियों की, केदार घाट हनुमान घाट पर तामिल तेलंगों की, दुर्गाघाट पंचगंगा पर महाराष्ट्रों की, चौखम्भा में गुजरातियों की, घाट घाट पर विशेष विशेष राज-रियासतोंके आदमियों की, मदनपुरा अलईपुरा में मुसलमान भाइयों की, और सिक्रौल में ईसाई भाइयों की आबादी है। इन की रिश्तादारियों चारों ओर हिन्द भर में हैं और होती रहती

संशोधन की आवश्यकता है। अब तो उस से न इहलोक में न परलोक में कुछ फल दिगार्द्ध होता है।

हाँ, उस प्राचीन विद्याके केन्द्र की, जो अब भी हिन्दू का केन्द्र है, प्रचलित बोली हिन्दी में, साहित्यका संग्रह और प्रचार हो, तो पूरी आशा है कि सर्वाङ्गीण जाग ठीक ठीक हो जाय, और शिक्षा रक्षा जीविका आदि सब कार्यों में सफलता स्वतंत्र और स्वाधीन रूप से हो। जिन का एक बोली उन का एक मन। और यदि देश के सब निवासियों का एक मन हो जाय तो कौन सी दृष्ट वस्तु है जो इन को न मिल सके।

एक लिपि और विविध भाषाओं के शब्द ।

इस लिये इस बोली का जितना अधिक प्रचार हो उतना ही अच्छा है। मुझे इस का बहुत खेद है कि स्वर्गवासी श्रीयुत शारदाचरण मित्र ने जो एकलिपिविस्तारपरिपत् स्थापित की थी और उस को जो त्रैमासिक पत्रिका निकाली थी, वह दोनों शान्त हो गई, और इस ओर पुनर्वार प्रयत्न नहीं किया गया।

यह भी प्रायः निर्विवाद है कि जैसी नागरी अक्षरावली, वैसे नागरी लिपि भी, अन्य सब लिपियों की अपेक्षा अधिक शास्त्रीय, "सायन्टिफिक", सम्पूर्ण, अभ्रान्त, और सब बोलियों के लिखने में समर्थ है। यदि पाँच सात आवाज़ें अरबी और अङ्गरेज़ी की ऐसी हैं जिन के लिये संस्कृत अक्षरावली और लिपि में प्रबंध नहीं है, तो वे सहल में, स्वरवर्ग और व्यंजन-

ॐ अब श्री प्रेमचन्द और श्री कन्हैया लाल मुंशी ने 'हंस' नामक मासिक पत्रिका में इस प्रकार का कार्य फिर आरंभ किया है—भ०, सं १९३६, ई० ।

वर्ग में, स्थान और प्रयत्न के अनुसार, बढ़ा ली जा सकती हैं, और अब वर्गों जानें भी लगी हैं। जैसे सार्वर्ग में अरणी अ, उहर्गनी (तथा वंगला) ए और ओं। कवर्ग में क और ग, खर्ग में ख, पवर्ग में फ, जिन के पुराने नाम जितामूर्तीय और प्रामाणीय हैं। इत्यादि।

मैंने अपना अनुभव यह है कि जब तक एकद्विपिदिस्तार-परिष्कार की पत्रिका निकलती थी, मैं उसे निप्रम से बढ़ा करता था और नामकी अक्षरों में छोटें छुण उस के वंगला, मराठी, गुजराती लोग भी प्रायः सब समझ जाता था। हाँ, तेलुगु लिखित लोग तो नहीं समझ पाते थे। पर उस में भी कहीं कहीं पुराने संस्कृत शब्द परिचान पाए जाते थे। उर्दू का तो कहना ही क्या है। यह तो सिद्ध हो चुका है कि हिन्दी उर्दू में उतना ही हो नहीं है जितना हिन्दी वंगला या हिन्दी गुजराती या हिन्दी मराठी में है। क्रियापद उर्दू में प्रायः सब ही हिन्दी के अर्थों में ही प्रयुक्त के हैं। जाना, जाना, माना, पीना, देखना, मजना, खेतना, जागना, जानना, बूझना, समझना, खलना, फिरना

यता मिलेगी। पर लिपि एक नागरी यदि सब प्रान्त में बरती जाने लगे तो प्रान्तीय भाषाओं का भेद रहते हुए भी एक दूसरे का अभिप्राय समझने में बहुत बड़ी सुविधा हो जाय। फाशी का हाल तो मैं जानता हूँ कि वहाँ के सब मुसलमान भाइयों की कोठियों में भी वही खाते एक प्रकार की नागरी अर्थात् महाजनी लिपि में ही लिखे जाते हैं। महाराष्ट्र भाषा के ग्रन्थ और पत्र सब नागरी लिपि में छपते हैं। और मंगी समझ में तो ऐसा आता है कि बंगला और गुजराती तथा उर्दू के अच्छे अच्छे ग्रन्थ यदि नागरी लिपि में छपें तो व्यापार रोजगार की दृष्टि से भी छापने वालों ही को बहुत लाभ होगा, क्योंकि हिन्दी वाले भी इन को, बिना अनुवाद के श्रम के, मूल शब्दों में ही पढ़ कर, अधिकांश का अर्थ ग्रहण कर सकने के कारण खरीदेंगे, और इन का प्रचार, जो अब तत्तत्प्रान्त की सीमा के भीतर संकुचित है, वह समग्र भारत में फैल जायगा। गालिय और जौक की कविताओं के संग्रह जो नागरी में छपे हैं, उन की अच्छी बिक्री है। कवि अकबर के भी पद्य अगर नागरी अक्षरों में छपें तो हजारों प्रतियाँ हाथों हाथ उठ जायँ। इस सम्बन्ध में एक बात और विचार लेनी चाहिए। हिन्दी में जो संस्कृत, फ़ारसी, अरबी, अङ्गरेजी आदि के शब्द लिये जायँ वे अपने शुद्ध रूप में बरते जायँ, या हिन्दी की बोली के अनुसार उन की शकल कुछ बदली जाय। जैसे एक देशको छोड़ कर आदमी दूसरे देश में जा बसता है और अपना पुराना पहरावा छोड़ कर उस देश के पहिरावे को धारण कर लेता है, तभी उस देश के आदमियों में मिल पाता है, नहीं तो विदेशी बना रहता है। कुछ लोगों का विचार है कि अगर शकल बदलनी शुरू हुई तो रोज़ रोज़ बदलती ही जायगी। कहीं स्थिरता न आवेगी। और

लगा ही रहे हैं। सर्वसाधारण की सूनात्मा ने फोर्ड निर्णय नहीं कर पाया है। पर ग्रन्थसाहित्य अधिक बढ़ने पर इसका भी निर्णय हो ही जायगा। जैसा अंग्रेज़ी में हो गया है। जैसा सुनता हूँ कि बंगला, गुजराती, मराठी में कुछ न कुछ हो गया है। इन तीन भाषाओंको यह सुविधा है कि इन को फ़ारसी अरबी शब्दों से काम कम है। प्रायः संस्कृत ही का आसरा है। हिन्दी को फ़ारसी अरबी से भी काम है और संस्कृत से भी। तुलसीदासजी ने, जिन्होंने वाल्मीकि रामायण का हिन्दी में अनुवाद वैसा किया जैसा व्यासजी ने वेदों का महाभारत के रूप में, "रज़ाइश" का आकार "रजायसु" कर दिया है। "आश्रय" का तो 'आसरा' सहज ही है। फ़ारसी-वाँ "रज़ाइश" पर ही जोर देने हैं। संस्कृतण के फ़र्ण को "आश्रय" ही प्रिय है। पर सर्व-साधारण को प्रायः रजायसु और आसरा ही भला लगेगा। मेरा निज का विचार कुछ ऐसा होता है कि लिये और छपे ग्रंथों के लिये यदि शब्दों के शुद्ध आकार पर जोर दिया जाय तो साहित्य की स्थिरता बढ़ेगी। और ज़ाहिरा खड़ी बोली का प्रयोग बढ़ता जाता है। यही शकल हिन्दी और उर्दू के मेल की, अर्थात् हिन्दुस्तानी की, होती देख पड़ती है। मामूली बोल चाल में तो, जैसे आदमी आदमी की शकल सूरत में और आवाज़ में फ़र्क होता है, वैसे ही शब्दों में कुछ न कुछ होता है और रहेगा। एक घर में बच्चे कुछ और बोलते हैं, स्त्रियाँ कुछ और, पुरुष कुछ और, नौकर कुछ और। एक दूसरे की बात ठीक ठीक समझ जायँ, इतना तो ज़रूरी है, और जैसे हो वैसे साधना चाहिये। इस के बाद यदि थोड़ा भेद रहे तो वह भी संसार की विचित्रता के आवश्यक रस में सहायता ही देता है।

लेख और ग्रंथ

यद्यपि लेखकों की शक्ति और लिपि की बात हुई। जब लेखकों में शक्तियों की श्रेणी बननी आवश्यक है, जिनमें ही साहित्य के चार अंशों की पूर्ति हो सकती है। दैनिक, साप्ताहिक, मासिक, त्रैमासिक, वार्षिक और पत्रिकाओं पर तो बहुत परिश्रम हो गया है। इनमें जितने दैनिक आज काल हैं, उनमें से पाँच तो इस भावनासे कलकत्ते में ही निकलते हैं। दो कानपुर में, एक प्रयाग में, एक लखनऊ में, और एक काशी में। साप्ताहिक पत्रों का नाम है। अच्छी मासिक पत्रिका भी कोई पन्द्रह तक है, जिनमें चार पाँच श्रियाँ के लिये और तीन चार श्रियाँ के लिये हैं। अथवा मासिक पत्रों में लिखते हैं। चार पाँचमें रंगीन चित्र भी। तीन चार त्रैमासिक पत्रों का नाम है। जिनमें काशी की नामचीन प्रजापति पत्रिका है। त्रैमासिक और त्रैमासिक साप्ताहिक पत्रिका विशेष महत्त्व का है। इसमें कुछ सन्देह नहीं कि इनके प्रकाशकों ने बहुत प्रयत्न किया है और बहुत श्रम और धन उड़ाया है। इनके द्वारा ही जिनमें बहुत सहायता मिल रही है, वर्तमान समय में जिनमें बहुत सहायता मिल रही है, और मासिक पत्रिकाओं के द्वारा जिनमें बहुत सहायता मिल रही है, और मासिक पत्रिकाओं के द्वारा जिनमें बहुत सहायता मिल रही है।

इसमें से एक है कि जिनमें एक श्रेणी के कारण दुर्भाग्य से जिनमें से एक श्रेणी के कारण दुर्भाग्य से जिनमें से एक श्रेणी के कारण दुर्भाग्य से

'परस्परानुग्रहान्याय' से, घैसे ही इन देश के शीलभंग से स्वाधीनता और धन की हानि हो गई, और निर्धनता से कोई भी व्यवसाय पनपते नहीं, और पराधीनता और दरिद्रता के कारण शील भी फिरसे दृढ़ होने नहीं पाता। ऐसा अनर्थचक्रक हो गया है। "उत्पद्य हृदि लीयन्ते दरिद्राणां मनोरथाः" और "बुभुक्षितः किं न करोति पापं" इत्यादि। पर लोग जाग रहे हैं, और दिन दिन परार्थबुद्धि, न्यायबुद्धि, राष्ट्रबुद्धि, कुछ न कुछ बढ़ती जाती है, यद्यपि स्वार्थ और लोभ के भाव भी स्यात् कुछ तीव्र हो रहे हैं। इस से आशा कुछ की जा सकती है कि खोया हुआ शील स्यान् लौटेगा, और उस के साथ साथ अन्य सब कल्याण गुण वापस आवेंगे।

नाटक और उपन्यास अर्थात् आख्यायिका के ग्रन्थ बहुत से अच्छे अच्छे अब हिन्दी में लिखे जाते हैं। देशभक्ति की कविता अच्छी अच्छी निकलती है। छोटे काव्य भी कई अच्छे अच्छे छपे हैं। पर तुलसीदासजी की रामायण के ऐसे महाकाव्य की रचना का किसी ने प्रयत्न नहीं किया है। ऐतिहासिक नाटकों और आख्यायिकाओं का अनुवाद और अधिक संख्या में होना चाहिये। इन के ग्रन्थ अन्य भाषाओं में बहुत और अच्छे अच्छे हैं। अनुवाद महल में हो सकता है। जो अन्यथा-सिद्ध है उस पर प्रयास करना अनुचित है। यदि स्वभावतः किसीको नवकल्पना की शक्ति अच्छी हो तो बहुत अच्छा है। पर अनुवाद में कोताही करने का कोई कारण नहीं है। अलवत्ता इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि यदि किसी लेखक ने जाति-मद से किसी दूसरी जाति के विषय में अभद्र भाव प्रकट किये हैं, या मिथ्या बातें लिखी हैं, तो उनका संशोधन अनुवादक कर ले। ऐतिहासिक आख्यायिकाओं और नाटकों की बहुतायत

अभिनन्दन के योग्य है। पुरानी संस्कृत प्रथा भी यही है कि पेंसिलेनसिह पुन के आधार पर काव्य नाटक आदि बनाना चाहिये। इसका फल यह है कि जो शिक्षा शुद्ध इतिहास से होती है वही इनमें, और अधिक रुचिकर रूप में, होती है। शुद्ध इतिहास के ग्रन्थों की भी यही दशा है। इस विषय का सश्रवण अन्य भाषाओं में बहुत भारी है। हिन्दी में अनुवाद करने की देर है। उक्त जातीय पक्षपातों और छेपों से जो दोष मूल ग्रन्थों पैदा हो गये हों उनके संशोधन की आवश्यकता है। पश्चिम देश के इतिहासों के विषय में तो यदि कई भाषा जाननेवाला अनुवादक हो तो यह काम सहज में हो सकता है। जैसे इंग्लिस्मान के जो इतिहास अंग्रेज़ों ने लिगे हैं उसका सहायन फ्रेंच और जर्मन विद्वानों के लिगे इंग्लिस्मान के इतिहास से हो सकता है। यथा, सन् १८१० ई० में चाटविल की प्रसिद्ध लैंग्वे में नेपोलियन की फरासीसी सेना, अंग्रेज़ी सेना के जर्मन सेनापति के सहायित्व से हार गई। अंग्रेज़ लैंग्वे इसका सहायक सेना का ही देता है। जर्मन लैंग्वेक जर्मन सेना को ही। फरासी लैंग्वेक लैंग्वे के कारण फ्रेंच सेनाता है जिससे लैंग्वे और जर्मन विद्वानों चाहते हैं। इत्यादि।

अन्य भाषा का इतिहास लेया करने में योंद और, विशेष रूप से इन ग्रन्थों से तथा फरासी ग्रन्थों से, जो सहायता मिल सकती है वह अतीत सह पुरी तरह से नहीं की गई है। पर जैत इस से इतिहास का प्रयत्न दिन दिन अधिक होता जाता है, जो इतिहासों के पुरा इतिहास की सहायता भीतर थीं, जिससे वेच लैंग्वेक लैंग्वे लिगे संहायकी, पुरानी अतिहासी, सुधि लैंग्वेक लैंग्वे है इस की जो पुरातन पुरातन, के सहायता है इतिहास लैंग्वे लैंग्वे है

अन्य शास्त्रों के विषय में, जिनकी चर्चा पहिले की गई, अधिक परिश्रम की आवश्यकता है। उन पर हिन्दी में अच्छे ग्रन्थ तभी तैयार होंगे जब उनके लेखक उम्र उस विषय के, न केवल पाश्चात्य ज्ञान और विचार से परिचित हों, किन्तु प्राचीन संस्कृत ज्ञान और विचार को भी अच्छी तरह जानते हों, और दोनों को देश की वर्तमान दशा की दृष्टि से देख कर ग्रन्थ लिखें। यह काम तभी ठीक होगा जब विद्यालयों में नन् तन् शास्त्रके आचार्य पौर्व पाश्चात्य दोनों ज्ञानों के जानकार हों, और वे हिन्दी में ग्रन्थ लिखें। जापान ने इसी प्रकार का अनुसरण करके पन्द्रह बीस ही वर्ष में अपनी भाषा में समस्त पाश्चात्य ज्ञान का निचोड़ रस लिया। निज़ाम हैदराबाद की उस्मानिया यूनिवर्सिटी में भी उर्दू लिपि में अच्छे अच्छे ग्रन्थ कुछ इसी प्रकारसे तैयार किये गये हैं, और कई छप भी गये हैं। उनका अनुवाद हिन्दी में होना चाहिये।

साहित्यसम्मेलन ने जो हिन्दी में परीक्षाओं का क्रम सम्यक् १९७१ से बांधा है, उससे अवश्य बड़ा उपकार हो रहा है। पर उन परीक्षाओं की ग्रन्थसारणी देखने से मालूम पड़ता है कि उत्तमा परीक्षा के कई विषयों के लिये प्रायः अंग्रेज़ी भाषा के ही ग्रन्थ देखने पड़ते हैं।

पर हर्षका स्थान है कि यत्न बराबर हो रहा है। अट्टार्डिस या तीस तो पुस्तकमाला निकल रही हैं। जिनमें चार पांच मालाओं में अच्छे अच्छे ग्रन्थ रहते हैं। काशी नागरी प्रचारिणी सभा की मनोरंजन पुस्तक माला में विशेष कर शास्त्र

छ इधर इस सारणी में यथोचित परिवर्तन हुआ है—भ०, सं, १९३६ ई०।

अपने काम में गाफिल और न्यापरखा हों तो उनको भी चेतावनी देने हुए, अपने कल्याण के मध्य काम अपने हाथ में लेवे, और श्वर उधर के सचों में कमी करके दिव्यी द्वारा शिक्षा और दिव्यी विद्यापीठों की स्थापना और दिव्यी साहित्य की पूर्ति में चित्त और धन दें।

पर सबसे पहिले करने का और महत्त्व भी काम, जैसा मैं पहिले कह आया हूँ, इतिहास और राजधर्मके ग्रन्थों के सम्पादन का है। क्योंकि इनसे मनुष्य के जीवन की अत्यन्त उपयोगी जो बातें हैं, वे सब थोड़ेमें रोचक रूपसे परमात्मा की महिमा के साथ साथ मालूम हो जाती हैं। भागवत की कथा का आरम्भ यों ही कहा है। ऋषियों ने सूत से कहा,

अति विचित्र रचना हूँ यानी हरियश जी न बगाना,
 जासों जग पवित्र होवै, तौ मानहु पाग धसाना,
 विविध प्रकारहु अक्ष जहा है फँस्यों जूठन यामी,
 मानस हृम तहां नहीं रमते निर्मल नीर निवासी ।
 अति कराल कलिकाल चढ्यो यह, अल्प आयु मतिहीना,
 भाग्यरहित रोगन तें पीदित, सब प्राणी अति दीना,
 तिन के हित, सुनि, शास्त्रकथन से, बहुत परिश्रम कीना ।
 शास्त्र बहुत अरु कर्म बहुत अरु सुनत करत न बोराय,
 हे साधो ! जो सार चुन्वो तुम, अपनी बुद्धि बराय,
 वही कहौ, जो सुनि श्रद्दालुन की आतमा जुषाय ॥

सभा निमर्जन के समय का सभापति का भाषण ।

सभाया !

सनां सतिः संतः कथमपि हि पुण्येन भवति ।

स-संग बड़े सौभाग्य से मिलता है। उस का विगमना-
 पात्रा नहीं लगता। पर क्या किया जाय, संयोग के साथ
 संयोग होना ही है। यह देवी नियम है। इस सभा का आया
 इस कर के निमर्जन भी करना ही पड़ता है। पर संतोष का
 स्थान है कि जिन काम के लिये आप लोग एकत्र हुए थे, वे
 सब निमित्त, शान्ति से, नृष्टि से, पुष्टि से, सौमनस्य से
 सम्पन्न हुए।

मेरी प्रकृति कुछ पेंगी परमात्मा ने बनाई है कि नई बात
 का पुराने ही आगों से देवता चाहता है। पुरानी आगों से
 नये पुराने की आगों से। इस कारण बहते में प्रिय मि
 सुख, नये उमाने से जोकरिया पुराने फैलानेका यह जत
 है-संकेतों आशय करने है, और दया कर के स्नेह
 कर ही है। पर सदा विश्वास बड़ बना है कि जेने है
 नये बहते, और आत्मा पुराना ही बना रहता है, योग
 नये नये बहते है पर सगा की सति के नियम से
 नये नये नये पुराने से शिष्य है। और यह उचित ही है
 ही नये नये नये और बलवान दाहि रा ही है
 नये नये नये नये नये नये नये नये नये नये नये नये
 नये नये नये नये नये नये नये नये नये नये नये नये

पुराने यज्ञों का नया रूप ।

इस देशकी पुरानी प्रथा रही है कि,

नैमिषेऽनिमिषक्षेत्रे सद्ये द्वादशवर्षिके ।

प्रजानां हितकामाय ऋषयस्तु ममागमन् ॥

मैं ने इस का अर्थ यह समझ रखा है कि प्रति चारहवें वर्ष नैमिष क्षेत्र में देश के वृद्ध, तपस्वी, जिनका हृदय सब लोक की ओर वैसा था जैसा पिता पितामह का अपनी प्रजा की ओर होता है, एकत्र होकर विचार करने थे, कि क्या क्या उपाय लोक के हित के लिये किया जाय । उन उपायों में एक मुख्य उपाय इतिहास पुराण का पुनः संस्करण और प्रचारण हुआ करता था, जिससे उपयोगी ज्ञान देश भर में फैले, अविद्या का अंधकार मिटे, और सद्बिचार सदाचार का प्रकाश उदय हो । शायद अब तक जो कुम्भ के मेले की चाल चारहवें वर्ष की चल रही है, कुछ इसी का लेश शेष हो । पर अब पुराने मेलों का आंतरिक भाव बिल्कुल बिगड़ गया है, जैसे अति वृद्ध शरीर रोगोंका घर हो जाता है । इस कारण भारतवर्ष की सूत्रात्मा ने इन मेलों के प्राचीन उत्तम भाव के वास्ते नया शरीर, ऐसे सम्मेलनों का, ग्रहण किया है । हजार वर्ष पुराने हिन्दी साहित्य ने भी अपना बहुत पुराना रूप छोड़कर नई काया धारण किया है । इस बत्तीस करोड़ मनुष्यों की महाजाति की, इस पांच लाख वर्गकोस के महादेश की, दृष्टि से इन सम्मेलनों की अभी बहुत बाल्यावस्था है, तौ भी इन्होंने बड़ा काम कर लिया है ।

विधों और त्रुटियोंसे निराश नहीं होना चाहिये ।

जो लोग काम में लगे हैं, उसकी भीड़ में पड़े हैं, इस विषय आपत्काल में अपने बूते से बहुत अधिक चोख उठाये हैं,

सभा विमर्शन के समय का सभापति का भाषण।

सज्जन !

सनी महिः सभाः कथमपि हि पुण्येन भाति ।

सभात बहु शौभाग्य मे मिलता है। उस का विनत
अच्छा मर्तों लगता। पर क्या किया जाय, संयोग के
निर्याम होना ही है। यह देवी नियम है। इस सभा का आ
हन कर के विमर्शन भी करना ही पड़ता है। पर संयोग
म्यान है कि जिन काम के लिये भाष लोग पकड़ हुए थे।
सब निविन्न, शान्ति से, तुष्टि से, पुष्टि से, सौमनस्य
सम्पन्न हुआ।

मार्ग प्रतीति कुछ पंखी परमात्मा ने बनाई है कि नई बन्ने
को पुरानी ही भांगों से देगना चाहता है। पुरानी आँसू से
अर्थात् पुराण की भांगों से। इस कारण बहुतेरे मेरे प्रिय मित्र
मुझपर, नये ज़माने में संकल्पित पुराण फैलानेका यह उतर
करना है, पंखा आक्षेप करते हैं, और दया कर के स्तेर से
हँसने भी है। पर मेरा विश्वास दृढ़ बना है कि जैसे देह
बदलते रहते हैं और आत्मा पुराना ही बना रहता है, वैसे ही
ज़माने नये होते रहते हैं, पर संसार की गति के नियम वे ही
बने रहते हैं, जो पुराणों ने दिये हैं। और यह उचित भी है।
यौवन में बँसना भी सुन्दर और बलवान शरीर रहा हो, पर
बहुत फाल पाकर जीर्ण शीर्ण होवे गा ही, और तब उसको
बदल लेना ही अच्छा है, यद्यपि बदलकर शुरू में बचे स
ही अशक्त शरीर मिलेगा।

पुराने यज्ञों का नया रूप ।

इस देशकी पुरानी प्रथा गयी हैं कि.

नैमिषेऽनिमिषक्षेत्रे सत्रे ऽऽदशषार्षिके ।

प्रजाना दितकामाय ऋषयस्तु समागमन् ॥

मैं ने इस का अर्थ यह समझ रखा है कि प्रति चारदश वर्ष नैमिष क्षेत्र में देश के वृद्ध, तपस्वी, जिन का हृदय सब लोक की ओर वैसा था जैसा पिता पितामह का अपनी प्रजा की ओर होता है, एकत्र होकर विचार करते थे, कि क्या क्या उपाय लोक के हित के लिये किया जाय । उन उपायों में एक मुख्य उपाय इतिहास पुराण का पुनः संस्करण और प्रचारण हुआ करता था, जिससे उपयोगी ज्ञान देश भर में फैले, अविद्या का अंधकार मिटे, और सद्बिचार सदाचार का प्रकाश उदय हो । शायद अब तक जो कुम्भ के मेले की चाल चारदश वर्ष की चल रही है, कुछ इसी का लेश शेष हो । पर अब पुराने मेलों का आंतरिक भाव विल्कुल विगड़ गया है, जैसे अति वृद्ध शरीर रोगोंका घर हो जाता है । इस कारण भारतवर्ष की सूत्रात्मा ने इन मेलों के प्राचीन उत्तम भाव के वास्ते नया शरीर, ऐसे सम्मेलनों का, ग्रहण किया है । हजार वर्ष पुराने हिन्दी साहित्य ने भी अपना बहुत पुराना रूप छोड़कर नई काया धारण किया है । इस बत्तीस करोड़ मनुष्यों की महाजाति की, इस पांच लाख वर्गकोस के महादेश की, दृष्टि से इन सम्मेलनों की अभी बहुत बाल्यावस्था है, तौ भी इन्होंने बड़ा काम कर लिया है ।

विद्वों और ऋषियोंसे निराश नहीं होना चाहिये ।

जो लोग काम में लगे हैं, उसकी भीड़ में पड़े हैं, इस विषम आपत्काल में अपने वृत्ते से बहुत अधिक बोझ उठाये हैं,

और इस कारण खिन्न हो रहे हैं, उनको तो कभी कभी ना-उमैदी होती है, और ऐसा जान पड़ता है कि परिश्रम निष्फल जायगा। पर ऐसा नहीं है।

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।

स्वप्नमप्यस्य धर्मस्य प्रायते महतो भयात् ॥

अच्छे काम में जो मिहनत की जाती है वह कभी बरबाद नहीं जाती।

कहावत है, “दीया के तले अँधेरा”। इसका अर्थ प्रायः अपवादात्मक, निन्दात्मक, ही लगाया जाता है। पर नहीं, इसका अर्थ पूरा यह है कि यद्यपि दीया के तले अँधेरा होता है पर दूर तो प्रकाश होता है। यह बात कभी न भूलना चाहिये। तेल और बत्ती जलेंगे ही, एक दूसरे के जलने जलाने में मदद करेंगे, कभी धुँआ भी देंगे, दीवट पर तो चीकट जमा हो ही गी। पर जिन को प्रकाश मिलता है उन को तेल और बत्ती का उपकार मानना चाहिये, कि हमारे सुख के वास्ते ये अपने को बलिदान कर रहे हैं, होम हवन हो रहे हैं।

दूसरी कहावत का भी ऐसा ही अर्थ है, “दूर के ढोल सुहावने”। इसका भी अर्थ प्रायः लोग आक्षेपात्मक, दूषणात्मक, करते हैं। वे लोग सुहावने इस शब्द को भूल जाते हैं। ढोल पीटनेवाले के, और उसके अत्यन्त पास बैठ कर उस की सहायता करनेवालों के, हाथ और कान को चाहे जो क्लेश होता हो, पर दूर से सुनने वाले को तो सुहावनी ही ध्वनि सुन पड़ती है। इस वास्ते उनको ढोलवाले का गुण ही मानना चाहिये।

इन हेतुओं से हम लोगों का धर्म है कि इस सत्समागम के विसर्जन के समय हिन्दी साहित्य-सेवियों, नागरी प्रचारिणी सभाओं, साहित्य-सम्मेलन के जन्मदाताओं, उसकी

स्थायी समिति और स्वागत-समितियों के कार्यकर्ताओं, तथा स्थायकों और प्रतिनिधियों और अभ्यागतों, और विशेष कर इस स्वागत-सम्मेलन की स्वागत-समिति के सभापति तथा सत्र उपसभापतियों को, तथा मंत्रियों, अन्य कार्यकर्ताओं, और स्वयंसेवक जनों का हृदय से धन्यवाद है।

इन सब के परिश्रमों से हिन्दी प्रचार का भी काम, और हिन्दी ग्रन्थों के संग्रह और नवनिर्माण का भी काम, देश में बहुत हो भी गया है, और आइन्दा के वास्ते बद्धमूल हो गया है, जो और अधिक संतोष की बात है। अब वह अवश्य दिन दिन बढ़ता जायगा, रुक नहीं सकता। भारतवर्ष की सूत्रात्मा ने इसको प्रत्यक्षरूपेण अब अपने जीवन के सब अंगों में नये प्राणसंचार का एकमात्र उपाय मान लिया है।

हिन्दी साहित्य के इस नये जन्म में, ज़रूर है कि शुरू में पेशवारी तिलिस्म आदि के बहुत ग्रन्थ लिखे गये। पर यह भी बाल्यकाल की रुचि के अनुसार ही था। और इस प्रकार के जो उत्तम ग्रन्थ हैं वे भी रक्षणीय हैं। पुराणों का एक बड़ा अंश इसी वास्ते ऐसे आकार में लिखा गया है जो बालको को रुचिकर और प्रमोदजनक हो। पर हाँ, ऐसी कहानियों का भाव शुद्ध होना चाहिये। उन में ऐसे भाव न होने चाहिये जिन से बालको की निर्मल और स्वच्छ बुद्धि पर मैला लू जाय।

अब वह बाल्यावस्था साहित्य की हटी। अब यौवनावस्था आई, इस के अनुरूप, अर्थकरी विद्या के रोज़गार बढ़ानेवाले उपायों के, तरह तरह के प्रौढ़ इतिहास के, ज्ञान-विज्ञान के, शास्त्र-सायंस के, तथा ऐतिहासिक और सामाजिक नाटक आख्यानादि के, ग्रन्थों की आवश्यकता भी है, और कुछ न कुछ बनते भी जाते हैं।

गुणग्रहण की आवश्यकता ।

पर यह सदा याद रखने की बात है कि स्वदेश, स्वभाषा, स्वसाहित्य की जाग में, विदेश के ज्ञान का तिरस्कार न होने पावे । विदेश के कई आचार, विदेश का पहिरावा, विदेश के अत्यन्त धनलोभ के भाव, हमारे लिये अति हानिकारक हैं । पर उन का विज्ञान बहुत बढ़ा चढ़ा है । यदि हम उस का तिरस्कार करेंगे तो हमारे जीर्ण शरीर में जो नया प्राण आ रहा है वह रुक जायगा, और इस जाग के पहिले जो उस शरीर की अत्यन्त रोगग्रस्तावस्था थी वह फिर हो जायगी । चौदह वर्ष के वनवास के अनुभव के बल से राम ने रामराज्य स्थापन किया । रावण को दंड दिया, पर विभीषण से गाढ़ मैत्री की । पांडवों को भी तेरह वर्ष के वनवास से बहुत ज्ञान मिला । उस में भी, अर्जुन ने अपने चार भाइयों को छोड़ कर विशेष प्रवास और विशेष तपस्या किया, और रावण के चचेरे भाई इन्द्र और सौतेले भाई कुवेर आदि देवों से तरह तरह के अस्त्र सीखे, जो महाभारत में काम आये । देवगुरु बृहस्पति ने अपने पुत्र कच को विलायत भेज कर दैत्यगुरु शुक्राचार्य से मृतसंजीवनी विद्या सिखवा मंगाई । यह उदाहरण ग्रहण करने लायक गुणों के हुए ।

दोषत्याग ।

युधिष्ठिर ने मयासुर से अपना सभा-भवन वनवाया, पर यह बात अनुकरणीय नहीं है, क्योंकि लक्ष्मी के इसी अत्यन्त विलास और नुमाइश से ही तो दुर्योधन दुःशासन को ईर्ष्या पैदा हुई । तथा राम की 'सीता,' अर्थात् उर्वराभूमि, उपजाऊ खेत की ज़मीन (जो अर्थ भी 'सीता' शब्द का निरुक्त ने बताया

हैं), मायामृग के उपरी चमड़े की चमक भड़क के लोभ में परी, और गवण के कागजार में बंध गई।

निर्धार यह कि अन्तरी नगर छान चीनकार, पच्छिम देश का जो ज्ञान विज्ञान हमारे उपयोगी हैं उन्नीका हमसे संग्रह करना चाहिये। और उस को हिन्दी के देश में इस देश में फैलाना चाहिये। मेरा कुछ ऐसा विश्वास हो गया है, चाहे गलत ही हो, कि बिना यूरोप और एशिया दोनों की अवस्था व्यवस्था ठीक ठीक जाने, बिना पुराण ज्ञान और नवीन ज्ञान के एकत्र हुए, बिना पृथ के अध्यात्म और अधिदेव तथा पश्चिम के अधिदेव और अधिभूत शास्त्र के हिन्दी साहित्य में सम्मेलन हुए, भारतवर्ष का जीर्णोद्धार नहीं होगा। इसलिये कुछ साहित्य-सेवियों को खास खास विषय में, दोनों ओर परिश्रम करके, दोनों ज्ञानों का सम्पादन करना आवश्यक है।

इस सम्मेलन के कार्य ।

इस संबन्ध में, इस सम्मेलन में जो कई निश्चय हुए हैं, वे बड़े सन्तोष देते और आशा बढ़ाने वाले हैं।

स्थान स्थान पर हिन्दी में शिक्षा देनेवाले विद्यापीठों का आरंभ, जबलपूर में सच्चे विद्वानों और देशभक्तों के मठ का स्थापन, ग्रन्थ-निर्माण के लिये विशेष प्रबन्ध, "मंगलाप्रसाद पारितोषिक" का व्यवस्थापन, यह सब कार्य बड़े होनहार हैं।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन के मुख से जो देश की सूत्रात्मा ने उनसे हिन्दी साहित्य की सहायता के लिये प्रार्थना की, उस ओर प्रचलित सरकारी और नीम-सरकारी विद्यालयों ने ध्यान नहीं दिया, उपेक्षा किया, अथवा तिरस्कार और अपहास भी किया, सिवाय शायद एक के, अर्थात् कलकत्ता की यूनिवर्सिटी

के, जिसने एक बहुत थोड़े से अंश में, इस प्रार्थना को माना। इस उपेक्षा और तिरस्कार का फल यह हुआ है कि इन सरकारी और नीम सरकारी यूनिवर्सिटियों और कालिजों से सर्वसाधारण की श्रद्धा हट गई और हटती जाती है, और प्रायः आगे चलकर उनकी सहायता सर्वसाधारण की ओर से धीरे धीरे बन्द हो जायगी।*

किन्तु देश की सूत्रात्मा के प्राण का सर्वथा निरोध तो नहीं हो सकता, जब तक उस सूत्रात्मा की आयु समाप्त न हो। योग शास्त्र का सिद्धान्त है कि स्थूल की ओर से वृत्तियों का निरोध होने से दिव्य इन्द्रियां खुल जाती हैं, और सूक्ष्म पदार्थों का ज्ञान होने लगता है। इन प्रचलित स्कूल कालिजों की ओर से और इनकी अब व्यर्थप्राय, क्या हानिकारक, शिक्षा की ओर से, निरुद्ध होकर, अब यह सूत्रात्मा नये और अधिक उपयोगी स्वदेशी बोली में शिक्षा देनेवाले विद्यापीठ खोल रही है। पर यह कार्य सरल नहीं है, बहुत कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा है, और पड़ेगा।

अध्ययनाध्यापन और ग्रन्थनिर्माण का सम्बन्ध स्वाभाविक है। जहाँ बुद्धिमान् अध्येता और अध्यापक एकत्र हो वहीं शास्त्र की चर्चा, काव्य साहित्य की चर्चा, होगी। और परस्पर बुद्धि के संमर्द से, और गुरु शिष्य के साथ मिल कर संसार के व्यवहार व्यापार को देखने से, ज्ञान विज्ञान विशुद्ध होगा। तब उत्तम ग्रन्थ धीरे धीरे तैयार होंगे।

यह काम यदि संग्रथन, संघटन, व्यूहन, कर्मविभाग, के

* अब इस दोष के मार्जन की ओर यूनिवर्सिटियों ने ध्यान देना आरंभ कर दिया है—भ०, सन् १९३६ ई०

साथ प्रिया जाय तो यत्न प्राप्त जल्दी और बहुत पूर्ण तरह से सफल होगा। प्रश्न है कि एक प्रधान संपादक और तीस चालीस विशेष-विभाग-संपादकों की मानवता में, पन्द्रह सौ लेखकों ने काम कर के, दो वर्ष के भीतर भीतर "एनर्गेट्रो-पीटिया द्विटानिका" ऐसा वृत्तमाय आकर ग्रन्थ तैयार कर लिया, जिस में समग्र पाश्चात्य ज्ञानसमूह का, सब शाखाओं के विषयों का, निचोरा रखा है।

और यह पुराना सिद्धान्त है कि ज्ञानसंग्रह और ज्ञानप्रचार करनेवाले ज्ञानप्रधान और तपस्वी जीवको आदर सम्मान ही से अधिक दृष्टयाग्यायन होता है। धन तो केवल भोजनाच्छादन और कुटुम्ब-चिन्ता-निवारण मात्र के लिये जितना पर्याप्त हो उतना ही चाहिये। ज्ञानप्रचार का कार्य, चाण्डाल्य के पेसा, धन के लोभ से चलाने में बड़े बड़े दोष पैदा हो जाते हैं, जिनका भी उदाहरण पश्चिम देश की दुरवस्था है। यहाँ भी अब बुद्धि को विगाड़नेवाले, सद्भावों का नाश करनेवाले, असद्भावों को फैलानेवाले, बहुतेरे ग्रन्थ और लेख, धन के लोभ से लिखे जाने लगे हैं। दुर्व्यसन सिखाना सीखना सरल है, सद्व्यसन कठिन। बालक की कच्ची बुद्धि रोगोत्पादक खट्टे तीते मीठे की ओर जल्दी दुलती है, शुद्ध और बलकारक पदार्थोंकी ओर नहीं। इस दृष्टि से मैं उक्त तीन चार कार्यों को बहुत होनहार समझता हूँ।

ग्रंथ निर्माण के अधिकारी ।

एक बात यहाँ और कहना चाहता हूँ। जैसे शरीर का ब्रह्मचर्य आवश्यक है, वैसे बुद्धि का ब्रह्मचर्य भी। अपरिपक्व शरीर की सन्तान कच्ची होती है। वैसे ही अपरिपक्व बुद्धि की ग्रन्थरूप सन्तान भी कच्ची और रोगी होती है। इस लिये यह

आवश्यक है कि जिन को भीतर से स्वभावतः इस ओर प्रेरणा हो, कि ग्रन्थ लिख कर हम साहित्य की सेवा करें, वे पहिले ऐसे विद्यापीठों में, इस नये समय के अनुसार, विद्वानों के नये आश्रमों और सच्चे मठों में, अपनी बुद्धि को और विद्या को परिपक्व कर के, और जिस विषय पर लिखना हो उसका उचित अनुभव प्राप्त कर के, तब ग्रन्थनिर्माण में प्रवृत्त हो। तथा भिन्न भिन्न शास्त्रों और भिन्न भिन्न मतों के परस्पर दूषण की बुद्धि को सदा बचाते रहें। क्योंकि परमात्मा की दृष्टि से सब अवश्यमेव, निश्चयेन, एक हैं, यद्यपि प्रकृति की दृष्टि से अनेक और भिन्न हैं, कपड़ों के आकार प्रकार में अनन्त भेद हैं, पर शरीर की सामान्य आकृति तो सब की समान है। मनुष्यता, इंसानियत, एक है, और इस का साधन ही परम धर्म है। जिस साहित्य में यह भाव भरा रहेगा, वही साहित्य ठीक ठीक लोकोपकारक होगा। जैसा प्राचीन आर्य संस्कृत साहित्य था और है। सादृश्य पर जोर देना चाहिये, वैदृश्य पर नहीं। अभेद-बुद्धि बढ़ाना चाहिये, भेद-बुद्धि नहीं। समन्वय का, संग्रह का, यत्न करना चाहिये, विपर्यय का, विग्रह का, नहीं।

सज्जनों, हम लोगों ने इस समागम में अच्छे अच्छे निश्चय किये। अच्छे अच्छे व्याख्यान सुने, कोई ओजस्वी, कोई रसमय, कोई ध्यानवर्द्धक, कोई उत्तेजक, कोई पथप्रदर्शक। और परस्पर जान पहिचान और स्नेह के बन्धन बढ़ाये।

अब आप सब लोगों को, और विशेष कर स्वागत-समिति के महाशयों को, जिन्हो ने अतिथिसत्कार का इतना भार उठाया, पुनः पुनः धन्यवाद देता हूँ। तथा वंगीय साहित्य परिषत् को जिस ने इस सम्मेलन का सम्मान किया। तथा उन सज्जनों को जिन्हों ने अत्युत्तम प्राचीन चित्रों, ग्रन्थों, सिक्कों

और कारीगरियों की प्रदर्शनी का प्रयत्न किया। तथा नाटक-समिति का, जिनमें अपने नाटक में समाज के अद्भुत मायामय-रूप का चित्र प्रतिनिधियों का दिखाया।

अन्त में उसी अपने सम्झार के अनुसार, फिर से आप लोगों का ध्यान, इतिहास पुराणों के पुनः सम्झरण की ओर दिलाता हूँ। इन्हीं से पुनः पुनः इस देश के ज्ञान की शुद्धि हुई है, और अभ्युदय और निःश्रेयस, ऐहिकार्थ और परमाय. दोनों सधा है। भागवत में लिखा है कि नारद ने व्यास को भागवत पुराण लिखने के लिये उपदेश दिया। इस समय भारतमाता की सूत्रात्मा ही नारद के स्थान पर है, और उस की वक्षीस फोंटि सन्तान में से जो जो साहित्य में प्रवीण हैं वे ही व्यास-स्थानीय हैं। नारद के वचन व्यास को ये हैं,

अहो महाभाग ! भवान् अमोघदक् शुचिश्रवा. सत्परतो धृतव्रत. ।

उरुकमस्याऽखिलबधमुक्तये समाधिनाऽनुस्मर तद् विचेष्टितम् ॥

इत्थं सम्भाष्य भगवान् नारदो वासवीसुतम् ।

आमन्त्र्य, वीणां रणयन्, ययौ यादच्छिको मुनि. ॥

(भागवत)

हे बड़भागी, बुद्धि तुम्हारी सब रहस्य कौं देखि सकै,
यश निर्मल, जिह्वा सांची, तन मन व्रत धारत नाहि थकै ।
सब रस अरु सब ज्ञान भरे इतिहास पुराण बनावौ,
अरु तिन तें सब लोकन कौ तुम आत्मरूप जनावौ ॥
करि समाधि, अपने मन में तुम हरि चरितन को टपावौ,
अरु लोकन के बध छुडावन सब को तिनहि सुनावौ ॥
अस सभाषण करि कै नारद वेदव्यास तें विदा भये,
मन माने बीना झनकारत तुरतहि तहं ते चले गये ॥

॥ ॐ ॥

चतुरङ्ग साहित्य का परिशिष्ट

[सौर १ आपाढ १९९३ वि०, अर्थात् १५ जून १९३६ ई०, को लिखा गया]

“अर्थ्यते, प्रार्थ्यते, इति अर्थः,” जो चाहा जाय वह ‘अर्थ’ । “पूः, शरीरं च, पुरं च, पुरि शेते इति पुरुषः ।” जो शरीर में सोआ हो, प्रवेश किये हो, देह का धारण किये हो, उस चैतन्यांश को, जीव को, पुरुष कहते हैं । उस का अभीष्ट, पुरुषार्थ । जीवमात्र का एक ही अभ्यर्थनीय साध्य, सुख । वह दो प्रकार का, विषयानन्द और ब्रह्मानन्द, लज्जतुहुनिया और लज्जतुल् इलाहिया । शरीर में वर्तमान ज्ञानेन्द्रियों कर्मेन्द्रियों के विषयों और क्रियाओं के अनुभव से जो (दुःख से मिश्रित ‘मै यह शरीर हूँ, मै यह शब्द-स्पर्शा-दि विषयों का अनुभव कर रहा हूँ, मै यह क्रिया कर रहा हूँ,’ एतद्-अस्मिता-त्मक, अहं-कारा-त्मक) सुख, वह विषयानन्द । इन विशेष विशेष विषयों और क्रियाओं से थक कर (‘मै यह शरीर नहीं, प्रत्युत सब कुछ मै ही हूँ,’ यह ब्रह्मा-स्मिता-त्मक, भूमा-त्मक, स्व-महिमा-त्मक, निर-हंकारा-त्मक, परमा-हंकारा-त्मक, परम-ईश्वरा-त्मक) ‘गाढ निद्रा’ के ऐसा, परा शांति का सुख, वह ब्रह्मानन्द ।

विषयानन्द की इच्छा का नाम ‘काम’, ‘भोक्तुमिच्छा बुभुक्षा’ । ब्रह्मानन्द की इच्छा ‘नैष्काम्य’, ‘भोक्तुमिच्छा मुमुक्षा’ । राग-विराग, साराग्य-वैराग्य, प्रवृत्ति-निवृत्ति, ईहा-उपरम, व्युत्थान-निरोध आदि इन्हीं दो के पहलुओं के, रूपान्तरों के, भिन्न स्थानों से देख पड़ते भिन्न आकार प्रकारों के, नाम हैं ।

इस दृष्टि से पुरुष के दो ही अर्थ, काम और मोक्ष । पर, जैसा ऊपर कहा, सुपरिष्कृत मनुष्योचित काम-सुख का साधन,

बिना धन के, विविध प्रकार की सम्पत्ति के, नहीं हो सकती। पशुचिन होगा। 'अर्थ' का विशेष अर्थ, अर्थात् 'विप्राय, धन' है। धन क्या है? 'दधन्ति, फलन्ति', जो फलें, स्व फलने वाली वस्तु, 'धन-धान्य', फलवान वृक्ष, और 'उत्तम गोधनं धनं'। और भी, पर दूधरे वृक्ष में, 'धनति, ग्वनति'। जो घड़े, गनखनाय, सोना, चाँदी, ताम्बा, आदि, और (अथ पागज के नोट भी) जिस को जनता, वाणिज्य व्यवसाय की, 'बान्ना' की, रोजगार व्यापार की, सुकरता के लिये, अन्न-चरित्र-पात्र-उपकरण-आभूषण-गृहनिर्माणद्वय-भवनालंकरणसामग्री-भवागी-शिकारी-स्थलयान-जलयान-वायुयान आदि अनन्त जीवन-व्यवहार-पयोगी वस्तुओं के, अर्थात् सभी मनुष्य-भोग्य पदार्थों के, विनिमय का साधक ('मीन्स आफ एक्सचेंज') मान ले—वह भी। उक्त मनुष्य-भोग्य बहुविध पदार्थ भी। जिस से सुगम सम्पन्न हो, बढ़े, पूरा हो, वह सम्पत्ति।

ज्यों केला के पात मे पात पात मे पात।

त्यों वेदन की बात मे बात बात मे बात ॥

अरतु। सुसंस्कृत विषय सुख का साधन अर्थ यानी धन है। और सभ्य 'सिविलाइज्ड' मनुष्य के अनुरूप धन, बिना धर्म के स्थिर नहीं होता। इस लिये काम-रूपी पुरुषार्थ के तीन अङ्ग दयामय दूरदर्शी महर्षियों ने कर दिये। और उन में भी धर्म पर सब से अधिक जोर दिया, अर्थ पर उस से कम, और काम पर सब से कम। क्योंकि काम की ओर तो मनुष्य की प्रवृत्ति स्वभाव से ही है, उस से कम अर्थ की ओर, और सब से कम धर्म की ओर। इस त्रिवर्ग की सिद्धि का नाम 'अभ्युदय', और मोक्ष का नाम 'निःश्रेयस'। संसार में मनुष्य का 'अभितः', चारों ओर, 'उदय' होना, सुखी होना, यह

‘अभ्युदय’ । ‘नास्ति श्रेयान् यस्मात्’, जिस से बढ कर और कोई श्री, श्रेयान्, न हो वह ‘निःश्रेयस’ । इस प्रकार से, एक पुरुषार्थ से दो, और दो से चार, हो गये ।

इसी के अनुसार, एक वेद मे दो विद्या, कर्मकांड और ज्ञानकांड, अपरा विद्या और परा विद्या । दो विद्या से चार शास्त्र । अपरा विद्या का ही नाम मोक्ष शास्त्र भी । अपरा विद्या के तीन शास्त्र, धर्म का शास्त्र, अर्थ का, और काम का ।

“द्वे विद्ये वेदितव्ये, परा चैवाऽपरा च । तत्राऽपरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छंदो ज्योतिषमिति । अथ परा यथा तदक्षरमधिगम्यते । (मुंड-कोपनिषत्)

परा विद्या ब्रह्मविद्या, जिस से अक्षर, अजर, अमर, अनादि अनन्त, निरंजन, निराकार, निर्विशेष आत्मा का, (‘आत्ता’, ‘आपणा’, ‘अपना’, ‘आपा’) का ज्ञान हो । अपरा विद्या ऋग्वेदादि अन्य सब अनंत विद्या । “अनन्ता वै वेदाः” । ऊपर कहीं प्रथा से, प्राचीनो ने, वेद भगवान्, साहित्य देव, ज्ञानमयेश्वर, की मूर्त्ति की भी कल्पना कर ली है ।

छंदः पादौ तु वेदस्य, हस्तः कल्पोऽथ पठ्यते ।

ज्योतिषामयनं चक्षुः, निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते ॥

शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य, मुखं व्याकरणं स्मृतम् ।

(तस्मात् सांगमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते ॥)

इन पुराने श्लोको मे अधूरी चखानी मूर्त्ति की पूर्ति, उक्त वेदागों के साथ वेदोपांगो और उपवेदों का भी समावेश करके, स्यात् यों की जा सकती है ।

आयुर्वेदः स्मृतः प्राणः, धनुर्वेदो महाभुजौ ।

गान्धर्ववेदः कंठोऽस्य, शिल्पमूरु सुदर्शनौ ॥

आधिभौतिकशास्त्राणि वेदनिर्मातृधातयः ।
 तथाऽऽधिदैविकान्यन्य शास्त्रय एपंदोतय ॥
 हृदयं धर्मशास्त्र स्यात्, अर्थशास्त्रमथोदरम् ।
 कामशास्त्र च जघन शुभ्रसततिभूषितम् ॥
 मोक्षशास्त्र ब्रह्मविद्या मूर्धा सर्वनियामक ।
 वेदातसज्ञाऽस्य, यतो वेदस्तत्र समाप्यते ॥
 ज्ञानस्य परमा काष्ठा धर्मकर्मादिमर्मणाम् ।
 सर्वेषां शास्त्रसाराणां दर्शनाद्यापि दर्शनम् ॥
 सर्वविद्याप्रतिष्ठा या ब्रह्मविद्येति गीयते ।
 एव तु भगवान् वेदो सम्पन्नोऽङ्गविराजते ॥
 धर्मं बुभुत्समानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः ।
 श्रुतिं बुभुत्समानानां आत्मज्ञान परायणम् ॥
 न एनध्यात्मवित् कश्चित् क्रियाफलमुपाश्रुते ।
 ध्यानेनैव कृतं सर्वम् आत्मना, ऽऽह मनुर्यथा ॥

वेद भगवान् का पैर छंदः शास्त्र है। कल्प नामक शास्त्र
 हाथ है। ज्योतिः शास्त्र आंख, निरुक्त कान, शिक्षा नासिका,
 व्याकरण मुख है। आयुर्वेद प्राण, धनुर्वेद भुजा, गान्धर्व वेद
 कठ, शिल्पवेद जाघ है। सब आधिभौतिक शास्त्र, वह सप्त
 धातु, वह पांच तत्त्व, है, जिन से शरीर बनता है। सब आधि-
 दैविक शास्त्र वह शक्तियाँ हैं जिन से शरीर के सब अंग यथो-
 चित क्रिया करते हैं, टिलते, चलते हैं। धर्म शास्त्र हृदय, अर्थ
 शास्त्र उदर, काम शास्त्र सुन्दर संतति से अलंकृत गोद है।
 मोक्ष शास्त्र, सब का नियामक मूर्धा है, सिर है। इसी ब्रह्म-
 विद्या को उपनिषत् में सब अन्य विद्याओं की प्रतिष्ठा, नीची,
 नीच, आधार, कहा है। सब वेद का, सब धर्म कर्मों के मर्मों का,
 सब मूल तत्त्वों का, ज्ञान इस में परिसमाप्त हो जाता है,

इस लिये इस को वेद का अंत वेदान्त कहते हैं। सब शास्त्रों के सार का इस से दर्शन हो जाता है, इस लिये इसको दर्शन, सम्यग्दर्शन, आत्मदर्शन, भी कहते हैं। इस प्रकार से वेद भगवान् सब अंगों से सुसम्पन्न होकर विराजते हैं। धर्म को जानने में परम प्रमाण श्रुति है, और श्रुति का अर्थ जानने के लिये आत्मज्ञान ही का आसरा है। बिना अध्यात्म शास्त्र को जाने कोई भी किसी क्रिया को सफल नहीं कर सकता, उस से सत्फल नहीं पा सकता, क्योंकि यह सब जगत् परमात्मा ने अपनी आध्यात्मिक ध्यान शक्ति से ही बनाया है। ऐसा भगवान् मनु ने कहा है।

कृष्ण ने भी कहा है।

यदा भूतपृथग्भावम् एकस्थम् अनुपश्यति ।

तत एव च विस्तारं, ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥ (गीता)

जब संसार के अनन्त भूतों के, पदार्थों के, चराचर प्राणियों, द्रव्यों, वस्तुओं के, पृथग्भाव को, नानात्व को, भेदभाव को, अनेकत्व को, एक तत्त्व में, अभेदभाव से, स्थित, प्रतिष्ठित, देख लेता है। तथा उसी एकत्व में से, एक परमात्मा में से, अथवा परमात्मा में ही, विस्तार पाते देख लेता है, तब जीव का, ब्रह्म, अर्थात् वेद भी, ज्ञान भी, और ब्रह्मत्व भी, परमात्मा के साथ एकत्व भी, परमात्मभाव भी, सम्पन्न सम्पूर्ण होता है।

सब 'अनेक' पदार्थ 'एक में' और सभी 'एक से', है—यह ज्ञान, यह वेद, दो विद्या, चार शास्त्र, से सम्पूर्ण सम्पन्न होता है।

स्यात् किसी को सन्देह हो कि वेद शब्द का व्यवहार तो ऋक्, यजुः, साम, और अथर्व नामक चार प्रसिद्ध वेदों के लिये ही होता है। सब विद्या, सब शास्त्र, कैसे वेद कहला सकते

इ? इत्यंशं का या समाधान, अंग 'अनन्तं चैवं प्रश.' इत्यं
 तैत्तिरीय श्रुतिं का व्याख्या. वेदव्यास जी ने महाभाग्न के
 (कुम्भकोण वाले स्वरूपण के) २२ अध्याय में की है—

अगानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा-न्यायविस्तर ।
 पुराण धर्मशास्त्र च, विद्या. एताश्चतुर्दश ॥
 आयुर्वेदो धनुर्वेदो गान्धर्वश्चेति ते त्रय ।
 अर्थशास्त्र चतुर्थं तु, विद्या एष्टादशैव तु ॥
 एतासामेव विद्यानां व्यासमाह महेश्वर ।
 शतानि त्रीणि शाखाणा महातन्त्राणि सप्ततिम् ॥
 पुनर्भेदसहस्रं तु तासामेव तु विस्तरः ।
 ऋषिभिर्देवगन्धर्वं सविक्त्रपः सविस्तरः ।
 शश्वदभ्यस्यते लोके, वेद एव तु सर्वशः ॥
 वेदाश्चत्वारः सक्षिप्ताः, वेदवादाश्च ते स्मृताः ।
 एतासां पारगो यस्तु स चोक्तो वेदपारगः ॥

वेद नाम से प्रसिद्ध चार वेद, चार उपवेद, छः वेदांग,
 पुराणइतिहास, धर्मशास्त्र, न्याय, मीमांसा, इन अठारह
 विद्याओं के आधार पर, उन के उपवृंहण के रूप में, शंकर ने
 तीन सौ शास्त्र और सत्तर महातन्त्र बनाये। और इन का
 विस्तार, ऋषियों, देवों, गन्धर्वों ने, हजारों तरह से किया।
यह सब वेद ही है, और इन सब रूपों में वेद ही का अभ्यास,
 पढ़ना पढ़ाना, लोक में हो रहा है। संक्षिप्त रूपको 'चार वेद'
 कहते हैं, विस्तीर्ण रूपको 'वेदवादाः' कहते हैं। जो इन सब
 को, संक्षेप को भी, विस्तार को भी, जानै, वही 'वेदपारग'
 कहलाने के योग्य है। प्रसिद्ध चार वेदों की भी अधिकांश
 शाखाओं का लोप हो गया है, यह भी प्रसिद्ध है। कूर्मपुराण
 में, तथा पतंजलि के महाभाष्य में, कहा है कि ऋग्वेद के इक्कीस

भेद, यजुः के सौ, साम के एक सहस्र, और अथर्व के नौ थे। अब तो इनमें से बहुत ही थोड़ा मिलता है।

साम्प्रतकाल के प्रतीर्त्तान यूरोपीय शास्त्रों का समावेश उक्त वेद-मूर्त्ति के अंगों में, अथवा धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष शास्त्रों के भीतर, किस प्रकार से किया जा सकता है, इस को दिखाने का यत्न मैंने अपनी अंग्रेज़ी पुस्तक “दि सायंस आफ़ सोशल आर्गेनिज़ेशन, आर दि लाज़ आफ़ मनु,” की पहिली संविका के पृ० २६८—२७० में किया है। संक्षेप से यों कह सकते हैं कि ‘सायंस’ के दो विभाग, ‘स्पिरिचुअल’ और ‘मैटीरियल,’ और दूसरे के अंदर तीन विभाग होंगे।

(१—क)—समाज के ‘शिक्षण,’ ‘धारण,’ व्यवस्थापन, संग्रहण के साक्षात् या परम्परया उपयोगी शास्त्र, यथा ‘ग्रामर’ (व्याकरण), ‘फिलालोजी’ (निरुक्त) ‘प्रासोडी’ (छंद), ‘माथे-माटिक्स’ और ‘आस्ट्रोलोजी’ (गणित और ज्योतिष), ‘सोशियोलोजी’ (समाजशास्त्र), ‘हिस्टरी’ (इतिहास-पुराण), ‘पालिटिक्स’—‘सिविक्स’ (राज-शास्त्र), ‘एथिक्स’ (सदा-चार-शास्त्र और पूर्वमीमांसा), ‘ला एंड जूरिस्पूटेन्स’ (व्यवहार-धर्म और पूर्वमीमांसा) इत्यादि।

(१—ख)—समाज के ‘रक्षण’ के उपयोगी शास्त्र, यथा ‘मेडिकल सायंस’ (आयुर्वेद) और उसके अन्तर्गत, अंगभूत, ‘वायोलोजी,’ ‘फिसिओलोजी,’ ‘एनाटोमी’ (चतुर्विध भूतग्राम शास्त्र, ‘गारीर स्थान,’) आदि, तथा ‘मिलिटरी सायंस’ (धनुर्वेद) इत्यादि।

ये सब ‘धर्मशास्त्र’ में आवेंगे।

(२) समाज की ‘जीविका’ साधनेवाले तथा श्री, शोभा, समृद्धि, ‘सम्पत्ति’ और शक्ति बढ़ानेवाले शास्त्र। यथा,

'फिजिक्स' (विद्युदादिशक्तिशास्त्र, तन्मात्र शास्त्र ?), 'केमिस्ट्री' (महाभूत शास्त्र, रसायन शास्त्र ?), 'जियालोजी' (भूगर्भ-शास्त्र), 'मिनरालोजी—मेटालर्जी' (गनिज शास्त्र, धातु शास्त्र), 'इकॉनॉमिक्स' (सम्पत्ति शास्त्र, कुम्भीट शास्त्र), 'एग्रीकल्चर' (कृषि शास्त्र), 'डैयरी-फार्मिड', 'कैटल-ट्रीडिङ्' (गोरक्षा शास्त्र), 'ट्रेड एण्ड कामर्स' (वाणिज्य शास्त्र) । इत्यादि । यह सब अर्थशास्त्र में आवेंगे ।

(३) समाजके सांसारिक सुख के परिष्कार करने और बढ़ानेवाले शास्त्र । यथा 'सेक्सलोजी और यूजेनिक्स' (विवाह शास्त्र, संतानोत्कर्ष शास्त्र), सभी, 'फाइन आर्ट्स' (कला शास्त्र), 'पोयट्री' (विविध रसों से भरी, विविध अलङ्कारों से भूषित, कविता), 'म्यूजिक' (संगीत शास्त्र), 'पेटिङ्' (चित्र शास्त्र), 'स्कल्पचर' (रूपोत्कीर्ण शास्त्र, प्रतिमा शास्त्र), 'आर्किटेक्चर' (वास्तु शास्त्र), 'गार्डनिङ्' (उद्यान शास्त्र), इत्यादि । यह सब कामशास्त्र में आवेंगे ।

पहिले, अर्थात् 'स्पिरिचुअल सायंस,' में, 'मेटाफिजिक्स' (ब्रह्म विद्या) 'सैकालोजी' (अध्यात्म शास्त्र), 'एण्डाइड सैकालोजी' (योगशास्त्र), 'सैको-एनालिसिस' और 'सैकियाट्री' (उन्माद-चिकित्सा शास्त्र, चित्त-चिकित्सा शास्त्र), 'मिस्टि-सिज्म' (भक्ति शास्त्र) । इत्यादि । यह सब मोक्षशास्त्र में आवेंगे ।

पर यह याद रखना चाहिए कि जैसे संसार में किसी भी वस्तु का किसी भी अन्य वस्तु से सर्वथा पार्थक्य नहीं है, महाभूत सब एक दूसरे में और चैतन्य में ओतप्रोत हैं, इसी तरह, अथ च इसी हेतु से, किसी भी शास्त्र का किसी भी अन्य शास्त्र से सर्वथा स्वातंत्र्य अथवा संबंधाभाव नहीं है ।

‘सर्व सर्वेण सम्यद्धं’ । सभी शास्त्र प्रत्येक शास्त्र के अंतःपतित हैं । इसी लिये सुश्रुत मे कहा है,

एकं शास्त्रमधोयानो न विद्याच्छास्त्रनिश्चयम् ।

तस्माद् बहुश्रुतः शास्त्रं विजानीयाच्चिकित्सकः ॥

अन्यत्र भी कहा है,—

एकमेव शास्त्रं जानानः न किञ्चिदपि शास्त्रं जानाति ।

एक ही शास्त्र को जाननेवाला उस के अर्थ को निश्चित रूप से नहीं जान सकता । जो बहुश्रुत है, अन्य शास्त्रों की भी बातों को कुछ न कुछ जानता है, वही वैद्य अपने शास्त्र को भी ठीक जान सकता है । इस लिये बहुश्रुत हो कर वैद्य को परमोपयोगी, प्राणरक्षक, आयुर्वेद को जानना चाहिये ।

केवल, ‘वैशेष्यात्तु तद्वाटस्तद्वादः’, ‘भूयसा व्यपदेशः’, प्रधान विषय के नाम से विशेष विशेष शास्त्र का विशेष विशेष नाम पड़ता है । ऊपर कहा हुआ, शास्त्रों का विभाजन और राशीकरण केवल अध्ययनाध्यापन के सौकर्य की दृष्टि से ही सार्थक है । वेद भगवान्, साहित्यदेवता, सरस्वती देवी, के अंगों का विच्छेद कैसे हो सकता है । एक ही प्राण, एक ही रक्त, सब मे सदा संचार करता रहता है, और सब को आप्लावित, आप्यायित, जीवित, रखता है । अङ्गाङ्गीभाव से सब मिल कर के ही साहित्य के पूर्ण रूप को संपन्न करते हैं ।

साहित्यसम्मेलन के वार्षिक उत्सवों पर अब कई वर्षों से उस के अङ्गों के रूप मे, दर्शन परिपत्, इतिहास परिपत्, विज्ञान परिपत्, आदि के अधिवेशनों का भी प्रबंध किया जाने लगा है । यह कार्य सर्वथा समाजन अभिनन्दन के योग्य है । इससे विदित होता है कि प्रबंधकर्ता विद्वान् सज्जनों ने अनुभव किया है कि साहित्य पदार्थ मे सभी शास्त्र, सभी विद्या, का

समावेश है। यदि 'साहित्य' शब्द को 'काव्य' शब्द का पर्यायही माने, तो भी काव्य शब्द बड़ा महिमाशाली है। गीता में, वेद में, 'कविं पुगण अनुशाग्नितारं अणाः अणीयांगं अनुस्मरेद् यः', 'कविः मनीषी परिभू स्वयभूः याथानथ्येनार्थान् व्यदधाच्छाश्व-तीभ्य समाभ्यः', ऐसे सूक्तों में, परमात्मा को 'कवि' संज्ञा से, भक्ति-पूर्वक स्मरण किया है। परमात्मा ही तो 'अद्वितीय कवि' है। समस्त और व्यस्त जगत् सब उसी की कविता है, अचिन्त्य, अप्रदान, अलक्षण, अप्रतर्क्य, अविज्ञेय, महाकाव्य है। "रसो वै सः"। परमात्मा ही रस का सार है। 'आत्मनस्तु कामाय सर्वं वै प्रियं भवति'। आत्मा ही रसास्वाद करने-वाला है, जो कुछ भी पदार्थ, रसोला, प्रीतिपात्र, सुखदायक, जान पड़ता है, आत्मा ही के लिये प्रिय है, और आत्मा, अनन्त अनात्म-पदार्थों के द्वारा, अपनी सत्ता का ही आस्वादन रसन करता है, इस लिये आत्मा ही रससार है। अनंत रस, अनंत अलङ्कार, सब जगद्रूपी महाकाव्य में भरे हैं। इस के किसी भी अंश का, अंग का, सद् वर्णन, मनुष्य का किया हुआ भी, काव्य है। सहृदय के लिये, 'सायंस' में, 'शास्त्र' में, भी रस भरा है। उस के आस्वादन के अनुकूल मनुष्य की प्रकृति होनी चाहिये। जिस जगत् को परमात्मा का महाकाव्य कहते हैं, उसी को परमात्मा की प्रकृति भी कहते हैं। उस प्रकृति के सौन्दर्य का, अनंत महाकाव्य के एक मात्र विषय का, क्या कहना है।

तथा ते सौन्दर्यं परमशिवदृग्मात्रविषयं
कथकारं ब्रूमः सकलनिगमागोचरगुणे !

उस अनंत अगाध सौन्दर्य का पूरा दर्शन और आस्वादन तो परम शिव, परम कल्याणमय परमात्मा, की ही दृष्टि कर

सकती है। सकल निगम, सत्र घेद और वेदवाद, अशेष साहित्य जिस का मनुष्य सङ्कलन कर सकता है, उस का निरूपण चित्रण नहीं कर सकता।

लिखति यदि गृहीत्वा शारदा सर्वकालं
तदपि तव गुणानामीश पारं न याति।

॥ ॐ ॥

२-हिन्दी साहित्य ।

[राष्ट्रीय हिन्दी मंदिर, जयलपुर, के तृतीय वार्षिकोत्सव के अवसर पर, जो ता० ८ और ९ अप्रैल सन् १९२३ को हुआ, यह भाषण सभापति के रूप से किया गया ।]

॥ ॐ ॥

यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च विश्वाधिपो रदो महर्षिं ।

हिरण्यगर्भं पश्यति जायमानं स नो बुध्वा शुभया सयुनक्तु ॥

स्वागत समिति के सभापतिजी, देवियो और सज्जनो,

संस्कृत व्याकरण के जानकारों में कहावत है, “सर्वे सर्वार्थ-वाचकाः” । अर्थात् सब ही शब्द सब ही अर्थों के वाचक हो सकते हैं । जैसे ‘सन्’—इस आवाज़ का अर्थ हिंदी में ‘रस्सी बनाने की एक वस्तु’ का है, और अंग्रेज़ी में इसी आवाज़ से ‘पुत्र’ का, तथा ‘सूर्य’ का, भी ग्रहण होता है । ‘पर’—इस शब्द से हिंदी में ‘लेकिन’, ‘किंतु’, ‘मगर’, का संकेत होता है, ‘चिड़िये के पर’ का भी, संस्कृत में अर्थ ‘पराया’ और ‘दूसरा’ तथा ‘परम’ भी होता है, अंग्रेज़ी में इसी आवाज़ का अर्थ ‘द्वारा’, तथा बिल्ली तेदुआ व्याघ्र आदि पशुओं के प्रसन्नावस्था में एक प्रकार के बोलने का । इन उदाहरणों से आप देखते हैं कि न केवल अर्थ और शब्द का घनिष्ठ संबंध है, किन्तु शब्दमात्र का अर्थमात्र से संबंध है । और यह केवल किसी जनसमूह के संकेत की, मान लेने की, बात है, कि किस

शब्द से किस स्थान और किस काल में किस अर्थ का ग्रहण किया जाय ।

यह तो हुई वैयाकरणों के सिद्धांत की बात । अब आप देखिये कि मेरे और आप के प्रिय सुहृत् श्री गोविन्ददासजी ने इस की क्या दुर्दशा की है । इन्होंने इस का अर्थ यह किया है कि सब आदमियों से सब काम लिया जा सकता है । और मुझ को स्नेह की रस्सियों से बाँधकर इन्होंने आप के सामने राष्ट्रीय हिन्दी मंदिर के तृतीय वार्षिकोत्सव के सभापति का काम करने के लिये नियुक्त करा दिया है ।

क्षमापन ।

इस काम के लिये मेरी योग्यता केवल इतनी ही है कि इस जन्म में मेरा शरीर हिंदी अर्थात् हिंद का है, मेरी मातृभाषा भी हिंदी है, और मैं हृदय से मनाता हूँ कि इसका प्रचार भारतवर्ष के कोने कोने में हो जाय, इस में अच्छे अच्छे ग्रंथ सब विषयों के लिखे जायँ, और इस का सर्वाङ्गीण साहित्य बढ़े । एक घेर पहिले भी, आज से दो वर्ष हुए, श्री पुरुषोत्तम-दासजी टंडन ने ऐसी ही मुसीबत में मुझ को कलकत्ते ले जाकर डाल दिया था । और उस समय भी मुझ को ऐसे ही क्षमापन करने पड़े थे ।

मेरी किस्मत में दूसरी झंझटे लिखी हैं, जिन के कारण, बहुत इच्छा रहते हुए भी, हिंदी के ग्रंथ पढ़ने लिखने की फुर्सत मुझ को नहीं ही मिलती । ज़रूर है कि श्री गोविन्ददासजी ने मुझ से, दो महीना हुआ, यहाँ आने का करार ले लिया था । पर दूसरे कामों में अत्यन्त व्यग्र होने के कारण कल शाम तक, यानी आप के नगर में पहुँच जाने तक, मुझ को फुर्सत नहीं

मिली. कि आप के नामने 'पत्र पुष्प' आदि जो उपहार लेकर आना तो उसकी स्वामी प्रकृत करे। तात्कालिक व्याख्यान करने का अभ्यास मुझे नहीं के बराबर। "रिक्तापाणिर्न पश्येत्तु मित्राणि स्वजनान् गुरुन्"। खाली हाथ मित्रों के पास नहीं जाना। इसकी फिर बड़ी भारी। कल रेल पर बड़ी मिहनत से विचार रहा था कि क्या क्या बात, नौमिग्यवां के आमोचना मी, आप लोगो को सुना जाऊँ। यहाँ पहुँचने पर मालूम हुआ कि रविवार को, सबेरे से नहीं. शाम को कार्य आरम्भ होगा। इस से चंद्र घंटों की मुहलत मुझ को मिली। उस में कुछ नोट कर लिया है, वही आप को सुनाता हूँ। इस में से जो बात आप को पसंद आवे रख लीजियेगा, बाकी को दर गुजर कीजियेगा। कहावत है,

नामंत्रमक्षर किंचिन्, न च द्रव्यमनौषधम् ।

नायोग्य पुरप कश्चित्, प्रयोक्तैव तु दुर्लभः ॥

कोई अक्षर नहीं जिस में मंत्र की शक्ति न हो, कोई द्रव्य नहीं जिस में औषध की शक्ति न हो, कोई पुरुष नहीं जो सर्वथा अयोग्य हो, हाँ, प्रयोक्ता जानकार होना चाहिये। इस कार्य में मेरे प्रयोक्ता आप लोग हैं। यदि मुझ से काम न बन पड़ा तो दोष प्रयोक्ता की, अर्थात् आप की, जानकारी पर आवेगा।

यह राष्ट्रीय हिन्दी मंदिर श्री गोविंददासजी और उन के कुल के वृद्धों तथा अन्य देवियों और सज्जनो की उदारता और परिश्रम से स्थापित हुआ है। कई वर्ष तक दूसरे नाम से काम करता रहा। अब तीन वर्ष से इस नये नाम से काम कर रहा है। वार्षिक विवरणों से मालूम हुआ कि इस के तीन अंग हैं, पुस्तकालय, नई पुस्तकों का प्रकाशन, मासिक पत्रिका 'श्री शारदा' का प्रकाशन।

पुस्तकी भवति पंडितः ।

पुरानी कहावत है, “पुस्तकी भवति पंडितः” । जिस के पास पुस्तकें होती हैं, वह कभी न कभी, कुछ न कुछ, पढ़े हीगा, और पढ़ेगा तो कुछ पांडित्य उस को प्राप्त हो ही गा । अंग्रेजी में भी यह विश्वास हो चला है, “अच्छा पुस्तकालय अच्छे विद्यार्थी के बराबर है” । यह कथा साधारण मनुष्यों की दृष्टि से है । उन विशेष व्यक्तियों की दृष्टि से नहीं जिन के विषय में निरुक्त में लिखा है “स्थाणुः अयं भारहारः किलाभूद् अधीत्य वेदान् न विजानाति योऽर्थम्”, जिस का तर्जुमा शेख सादी ने यों किया है कि—

न मुहक्किक् बुवद् न दानिश्मंद ,
चारपाये बर् ऊ कितावे चंद ।

वेद को कंठस्थ कर लिया, पर उसका अर्थ नहीं समझा, और उस के अनुसार सद् आचरण नहीं किया, तो मानो काठ की चौकी पर पुस्तक लाद दी । न उस को सत्य का ज्ञान हुआ, न सद् बुद्धि, नेक नीयत, हुई, मानो चौपाये पर किताबों का घोड़ा रक्खा है । ‘पंडित’ शब्द का अर्थ याद रखने योग्य है । ‘सद्-असद्-विवेकिनी बुद्धिः पंडा, सा जाता यस्य सः पंडितः ।’ सच और झूठ, भले और बुरे, नेक व बद्, पुण्य और पाप का विवेक करनेवाली बुद्धि का नाम ‘पंडा’, वह जिस को हो गई है वही ‘पंडित’ ।

यह विचार पश्चिम में तो प्रायः स्थिर हो गया है कि विद्यार्थियों के मुख्य अंग दो ही हैं ‘ज्ञानविभाग’ के लिये पुस्तकालय, और ‘विज्ञानविभाग’ अथवा शिल्पविभाग के लिये शिल्पागार या प्रयोगशाला, ‘लाइब्रेरी’ और ‘लावोरेटरी’ । वयःप्राप्त विद्यार्थी

के लिये 'ज्ञानविभाग' में प्रायः दृढनी शिक्षा पर्याप्त होती है, कि उस को घना दिया जाय कि जिस विषय का वह अध्ययन करना चाहता हो उस के अमुक अमुक ग्रन्थ इस इन्फ्राम से पढ़ जाय, और, फिर, उन में जहाँ जहाँ उस को शंका हो वहाँ वहाँ अध्यापक लोक उसका समाधान कर दें।

पुस्तकों की रक्षा ।

उत्तम ज्ञान के प्रचार का उत्तम और मुख्य उपाय यह है कि उत्तम पुस्तकों का संग्रह कर दिया जाय, और ऐसा प्रबन्ध कर दिया जाय कि सब जिलासु विद्यार्थी उन पुस्तकों को रक्षा के साथ पढ़ सकें। इस संबन्ध में रक्षा के शब्द का अर्थ करना अवश्य है। मैं नहीं जानता कि इस हिंदी मन्दिर के पुस्तकाध्यक्ष का फेसा अनुभव है, शायद वे विशेष भाग्यवान् हों, पर बहुत पुराना अनुभव तो यही है कि मंगनी की पुस्तक के विषय में प्रायः लोग सद्वृद्धि छोड़ देते हैं। इसी से कहावत हो गई है कि "पुस्तकी परहस्तगता गता।" मेरा निजी अनुभव है कि लोग मंगनी न देने से बुरा मानते ही हैं, माँग कर स्वयं लौटाना जानते ही नहीं, तकाज़े पर कोप करते हैं, और यदि लौटाया भी तो प्रायः जिस रूप से पोथी गई थी उस रूप से नहीं ही वापस आती। कभी जिल्द टूटी और मैली, कभी पन्नों के कोने मुड़े, कभी पन्ने फटे और गायब भी। अक्सर लोग ख़ाहमख़ाह टेढ़े मेढ़े पिसिल रौशनार्ड के निशान भी बना देते हैं और व्यर्थ के नोट निहायत बट-सूरी से लिख दिया करते हैं, जिस से पुस्तक कुरूप हो जाती है। दूसरों की क्या कहें? मैं स्वयं भी मित्रों से माँगी हुई पुस्तकों को बिना याद दिलाये प्रायः नहीं लौटा पाता हूँ। मुझे

याद है कि एक बेर एक मित्र से कई पुस्तकें मैंने मंगनी लीं, जिन में एक ग्रंथ दो मोटी मोटी जिल्दों में था। लौटाते वक्त एक जिल्द मेरी निजी किताबों में मिलकर रह गयी। कुछ दिनों बाद मित्र ने पूछा। मैंने कहा कि मैंने तो लौटा दिया। वड़े शीलवान् थे। कुछ नहीं बोले। एक दिन मुझे वह जिल्द और किताबों को उलटते पलटते मिली। बहुत अपराध-क्षमापन का पत्र लिख कर उस को मैंने उन के पास भेजा। पिसिल से, पुस्तक के गुर्वर्थ वाक्यों के सामने, मर्म (हाशिये) पर, बिन्दु करने तथा टिप्पणी लिख देने के भी दुरभ्यास मुझे को स्वयं है, पर यह प्रायः अपनी निजी पुस्तकों पर करता हूँ जिन से मुझे अपने लेखों के लिये काम लेना होता है, और निशान भी हरी और लाल पिसिलों से, 'रूलर' रखकर, सीधा सीधा करता हूँ, और टिप्पणियों को, अक्षर बना कर, सीधी सीधी पंक्तियों में लिखता हूँ, जिस में पुस्तक की शोभा घटे नहीं, बल्कि बढ़े।

उत्तरदायित्व ।

तो इस विषय की चेतावनी हर वक्त देते रहने की ज़रूरत है। जिस को अंग्रेज़ी में 'सेन्स आफ रिस्पॉन्सिबिलिटी' कहते हैं, जिस को आज काल 'दायित्व' के नाम से हिंदी में कहने लगे हैं, पर जिस का ठीक पुराना संस्कृत नाम उत्तरदायित्व और फ़ारसी नाम जवाबदिही अथवा ज़िम्मेदारी है, वह भाव हम भारतवासियों में कम हो गया है। हमारे हास का यह एक मुख्य कारण है। जवाबदिही दो चाल की होती है, एक बाहरी, एक भीतरी। बाहरी तो तब होती है जब कोई बाहरी दंडदाता हो, प्रश्न करे और उत्तर मांगे, कि तुम ने ऐसा क्यों किया या नहीं किया, और संतोषजनक उत्तर न पाने पर दंड दे। इस

चाल की जवाबदारी में दुनिया में बहुत कार्य चलता है। इसी लिये मनु ने कहा है।

दृष्ट. प्राणि प्रजाः सर्वां, दृष्ट ष्वाभिरक्षति ।

दृष्ट. सुप्तेषु जागति, दृष्टं धर्मं विदुर्मुधा ॥

‘दमनाद् दृष्ट’, जो दमन कर, मजबूत करे, कि ऐसा ही करे, इसमें प्रियमत् मन करे, वह (अंग्रेजी में ‘पावर आफ कम्पलशन’) दृष्ट शक्ति है। यही शक्ति प्रजा की शिक्षा, शासन, करती है। यही रक्षा करती है। जब सब सोते हैं तब यही जागती और पहरा देती है। यह दंड ही धर्म का, ‘धारण शक्ति’ का, रूपान्तर है।

पर यह बाहरी दृष्ट के भय की जवाबदारी दूसरे दर्जे की है। इस को लोग बचा जाने की आशा से तरह तरह के जतन, माया के अथवा धृष्टता के, करते हैं। उत्तम जवाबदारी भीतरी है, अपनी आत्मा के सामने उत्तरदातृत्व। जिस के मन में यह भीतरी उत्तरदातृत्व पैदा हो गया वह प्रायः वंचना या धृष्टता नहीं कर सकता, क्योंकि उस को निश्चय हो गया है कि मैं अपनी आत्मा के दंड से बच सकता ही नहीं।

इसी भाव के दूसरे नाम अथवा दूसरे रूप परार्थ बुद्धि, सामाजिक भाव, सार्वजनिक दृष्टि, ‘पब्लिक स्पिरिट’ आदि हैं।

पुस्तकों के सम्बन्ध में इस को जगाने का शायद एक प्रकार यह अच्छा हो कि पुस्तकालय के प्रत्येक कमरे में तथा प्रत्येक पुस्तक पर, छपे कागज लगा दिये जाय, जिन पर लिखा हो कि “कृपा कर के यह याद रखिये कि जिस पुस्तक को आप पढ़ रहे हैं उस को आप के बहुत से भाइयों को भी पढ़ना है, इस लिये रक्षा से पढ़िये। आप के हाथ में पुस्तक की अवस्था बिगड़ने न पावे, नहीं तो आप के भाइयों के काम में न आ सकेगी।”

लोग प्रायः जान बूझ कर काम नहीं बिगाड़ते, बल्कि लापरवाही से, और विचार के और दूरदर्शिता के वैसे अभाव से जैसा बालकों को होता है। उन को अधिकांश याद दिलाते रहने ही की ज़रूरत है।

मेरा निज का अनुभव है। रेल में एक दूसरे मुसाफ़िर साथ बैठे थे। खिड़कियाँ खुली थीं, सिर्फ़ सिर फेरने की ज़रूरत थी। पर नहीं, ख़ॉसी आई तो खखार कर गाड़ी के अन्दर ही उन्होंने ने थूका और पानी पीकर गुसलखाने के, जो पास में खुला था, दर्वाज़े के अन्दर, कुल्ला, जहाँ बैठे थे वहाँ से, कर दिया। कुल्ले का गंदा पानी 'विंचों' के नीचे और गुसलखाने के फ़र्श पर फैल गया। मैंने उन से अर्ज़ किया कि जनाव ने खिरकी के बाहर थूका होता और कुल्ला किया होता तो अच्छा होता। उन्हो ने बहुत सादगी से कहा कि मुझे अगले स्टेशन पर उतर जाना है। मैंने उन से फिर अर्ज़ किया कि लेकिन मुझे तो अभी दूर जाना है और दूसरे लोग भी इस में आते रहेंगे। तब उन को याद आई, और उन्होंने ने कहा कि ज़रूर भूल हुई।

पर सब लोग ऐसे नहीं होते। कुछ की प्रकृति अधिक कड़ी होती है। मेरे एक मित्र को भी ऐसा ही एक अनुभव हुआ। लेकिन जब उन्होंने इन दोस्त की तबज्जुह सफ़ाई की तरफ दिलाने की कोशिश की तो यह जवाब मिला कि "जनाव, अगर आप को ऐसी सफ़ाई पसंद है तो आप रिज़र्वड क्लास में चला करे,"। मेरे मित्र ने मजबूर होकर उन से कहा कि "अगर आप को गंदगी इस कदर पसंद है तो आप बग़ल के जाय-ज़रूर में ही बैठ कर सफ़र कीजिये।"

आप लोगो को खयाल होगा कि कलकत्ता बम्बई आदि की ट्राम गाड़ियों में, और कभी कभी रेलगाड़ियों में भी, तख़्ती लगाई

रहती हैं, जिस पर लिगा रहता है कि गायत्री के अन्दर मन धुंफिये। इसी किस्म की चैतावनी पुस्तकालयों में और पुस्तकों पर लगी हैं, कि किताबों की शकल को बनाये रखिये, तां कुछ तो अवश्य सुधार होगा।

सदाचार, शिष्टाचार, अटव, कायदा, चिनचन, तर्कियत, इन सब का लक्ष्य यही है कि बचपन ही से सब को हर वक्त चैतावनी होती रहे, कि सिर्फ अपनी ही फिक्र नहीं करना, दूसरों की भी फिक्र करते रहना, अपने थोड़े से आगम के वास्ते या श्रम बचा जाने के लिये या विनोद के लिये, दूसरों को भारी झुंझ न देना, उन का बड़ा नुकसान नहीं कर देना।

जिस समाज में शिष्टाचार सदाचार का यह भाव फैला हुआ है, वही समाज उत्तम और दृढ़ रीति से संग्रथित और संगृहीत है, और परस्पर सहायता के कारण बलवान् है। इस भाव का प्रचार पुस्तकालय के कर्मचारी, पुस्तकों की रक्षा की चैतावनी के प्रकार से, कर सकते हैं।

आय-व्यय ।

हिन्दी मन्दिर के जो दो और अंग हैं, अर्थात् 'श्री शारदा' पत्रिका और नये ग्रंथों का आविष्कार, ये पुस्तकसंचय के फलरूप ही हैं। पुस्तकसंचय का अर्थ ज्ञानसंचय, और ज्ञान-संचय का फल ज्ञानप्रचार। मन्दिर से कई अच्छे अच्छे ग्रन्थ निकल चुके हैं। इतिहास, इतिहास का अवांनररूप अर्थात् विख्यात पुरुषों की जीवनी, अर्थशास्त्र, कवि और काव्य की समालोचना आर्यायिका आदि। जहाँ तक मालूम हुआ इन ग्रन्थों का आदर जनता ने अच्छा किया, और किसी किसी के पुनः संस्करण की आवश्यकता पड़ी। शारदा-पत्रिका का नया रूप भी बहुत सुन्दर

और विविध विषयोंके ज्ञानसे और रस-भाव से पूर्ण हो रहा है। पर एक बात व्यवहार-दृष्टि से विचारने की है। इन पुस्तकों के और पत्रिका के प्रकाशन में व्यय बहुत बढ़ा होता है, और तदनुसार आय नहीं है। कई पुस्तकों में एक पृष्ठ पर उस के प्रकाशन के खर्च का हिसाब दिया हुआ है, इस से यह मुझ को जान पड़ा। इस का क्या प्रबन्ध होगा, यह घाटा कैसे पूरा किया जायगा, आगे घाटा न हो इस का क्या उपाय होगा, यह प्रबन्धसमिति को सोचना आवश्यक है। श्री गोविन्ददासजी ने अपने वार्षिक कार्यविवरणरूपी व्याख्यान में इस की चर्चा की, और अंशतः जो कर्ज इस संस्था पर हो गया है उस का समाधान भी किया, पर तौ भी हमलोगों को याद रखना चाहिये कि पच्छिम के देशों का यह उसूल, कि जितना ही बढ़ा 'नेशनल डेट' उतना ही बढ़ा 'स्टेट', हमारे भारतवर्ष की दशा और मावों के अनुकूल नहीं है।

शास्त्रीय ग्रंथ ।

दस पाँच पब्लिशिंग कारखानों का हाल जो मैं ने दर्याफ्त किया, उस से तो ऐसा जान पड़ा कि निजी कारखानों में, जहाँ एक ही आदमी अपना कारखाना स्वयं चलाता है, वहाँ नुकसान प्रायः नहीं है। शायद "आत्मनस्तु कामाय सर्वं वै प्रियं भवति", इस न्याय से वह परिश्रम और सावधानी अधिक करता है। पर साथ ही इस के यह भी मालूम होता है कि ऐसे कारखानों में शास्त्रीय ग्रन्थ, जिन से नये ज्ञान का विस्तार हो, पर जिन के पढ़ने पढ़ाने में श्रम लगता हो, कम निकलते हैं। नाटक और आख्यायिका (जिन को आजकाल उपन्यास कहने की चाल पड़ गयी है) ऐसे ही ग्रन्थ, और उन में भी बहुत से अनुवादरूप,

ऐसे फाग्वरानों से ज्यादा निकलने हैं। उन में से कितने ही अच्छे भी होते हैं। पर शास्त्रीय साहित्य की प्रति उन में नहीं होती। और ऐसे साहित्य की आवश्यकता रोज रोज बढ़ती जाती है। जब से राष्ट्रीय पाठशालाओं और विद्यापीठों की ओर देश का ध्यान हुआ है, और यह भी ध्यान हुआ है कि पढाई मातृभाषा में हो, तब से इन कामों का रुझान और भी तीव्र होता जाता है। इस की प्रति को लिये सार्वजनिक सस्थाओं के चालकों को अवश्य ही यत्न करना होगा, और तन, मन, धन, का व्यय वर्दाश्त करना होगा, और उस के ऊपर अवाच्य कुवाच्य भी सुनना होगा। फाग्वी में मंगल मशहूर है, “न कर्तुं यक गुनाह, कर्तुं सद् गुनाह।” मूरदासजी भी कह गये हैं, “दयानिधि तेरी गति लखि न परै। कोटिन गौ देवै राजा नृग अरु भव कृप भरै।” पर यह तो ‘पबलिक वर्क, सार्वजनिक सेवा, का फल ही है। यदि उस में चारों ओर से यश ही यश और मदद पर मदद मिले, तो फिर तपस्या और स्वार्थ-त्याग ही क्या रह जाय। सार्वजनिक काम में जो नेकनीयती से पढ़ना चाहे, उसको अपना दिल बहुत मज़बूत कर लेना चाहिये, और यदि सर्वथा निष्काम भाव से कार्य नहीं कर सकता, तो जो कुछ स्वार्थ फल की आशा रखता हो उस को परलोक से ही, या दूसरे जन्म से ही, बर्धना चाहिये।

कैसे ग्रंथों की आवश्यकता है।

किस किस विषय पर नये ग्रंथों के निर्माण की आवश्यकता है, यह बात बहुत विचारने की है। अब तक तो “साहित्य” का अर्थ हिंदी में प्रायः छन्दोबद्ध काव्य और नाटक ही समझा जाता था। हिन्दी साहित्य सम्मेलन, भारतीय अथवा प्रांतीय,

जो होते रहे हैं, उन के कार्य-विवरणों के देखने से, तथा हिन्दी साहित्य के इतिहास छोटे मोटे जो निकले हैं उन के देखने से भी यही जान पड़ता है। पर इस अर्थ से काम नहीं चलने का। कलकत्ते के सम्मेलन में मैंने यह दिखाने का यत्न किया कि साहित्यशरीर कहिये, शास्त्रशरीर कहिये, उस को समग्र सम्पूर्ण करने के लिये हम को किन किन अंगों की आवश्यकता है। अर्थात् चार पुरुषार्थों के साधक चार शास्त्रों के ग्रन्थ हम को चाहिये। धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, कामशास्त्र, और मोक्षशास्त्र। इन चारों के अन्दर जितने नये पुराने ज्ञान, विज्ञान, शास्त्र, विद्या, काव्य, नाटक, संगीत, साहित्य हैं, सभी आ जायेंगे।

राष्ट्रीय साहित्य का राष्ट्रीय शिक्षा से घनिष्ठ सम्बन्ध है, यह तो प्रत्यक्ष ही है। शिक्षा का क्रम भी इन्हीं चारों शास्त्रों को लेकर वाँधना चाहिये। और उस शिक्षा के उपयोगी ग्रंथ भी उन्हीं के ऊपर, क्रमशः लघु, सरल, और विस्तृत रूप से, तयार करना चाहिये।

समतं विदुषां ह्येतद् समासव्यासधारणम् ।

और इसी भाव से पुरानी प्रथा, सूत्र, तब भाष्य, और तब टीका, फैली। जिस को पच्छिम में 'टेब्ल आफ़ कंटेंट्स' या 'एलिमेन्टरी टेक्स्ट बुक' कहेंगे वह सूत्र-स्थानीय है। जिस को 'एडवांस्ड' कहेंगे वह भाष्य-स्थानीय है, जिस को 'एक्सपर्ट्स' और 'स्पेशलिस्ट्स मैनवलस्' कहेंगे वह टीका-स्थानीय है।

संस्कृत से अनुवाद किये हुए, हिन्दी में बहुत ग्रंथ, दर्शनों के, पुराणों के, तथा वैद्यक के, मौजूद हैं। पर प्रायः अनुवाद ठीक नहीं है। संस्कार परिष्कार पर श्रम नहीं किया गया है। और परिपक्व बुद्धि और विद्या उन में नहीं लगायी गयी है। साहित्य सम्मेलनों में इन की ओर प्रायः ध्यान नहीं दिया जाता, यद्यपि

इन की चर्चा होना चाहिये, क्योंकि बिना ऐसी चर्चा के ऐसे ग्रन्थों की वृद्धि और श्रुति नहीं होगी। तर्ज का स्थान है, कि कुछ दिनों तक पश्चिमी विचारों का प्रचार होने के बाद अब यहाँ फिर स्वदेशी भावों की ओर वृद्धि फिरी है। इस का फल यह हो रहा है कि नये पुगने भावों में से उत्तम अंश ले कर एक नया 'कलचर', समुदाचार, शालीनता, तयार होने की आशा हो रही है। और भारतवर्ष की वर्तमान भाषाओं में, ऐसे भावों को एकत्र करनेवाले, अच्छे अच्छे नये ग्रन्थ लिखे जा रहे हैं। अनुवाद के द्वारा कुछ ऐसे ग्रन्थ हिन्दी साहित्य को भी मिल गये हैं। इन में अत्युत्तम ग्रन्थरत्न लोकमान्य तिलक का "गीतारहस्य" है, जो श्री माधवराव जी सप्रे के परिश्रम से हिन्दी साहित्य को मिला। दर्शनशास्त्र के अध्येता के लिये इस का पाठ अनिवार्य है। एक और उत्तम ग्रन्थ भी इन्हीं के परिश्रम से हिन्दी में तयार हो गया है, अर्थात् श्री चित्तामणि वैद्य की "महाभारत मीमांसा"। यह ग्रन्थ बड़े खोज का, बहुत विचारपूर्ण, बहुत बुद्धिवर्धक है। आप के हिन्दी मन्दिर से भी एक बहुत अच्छा ग्रन्थ, इतिहास का, अनुवाद द्वारा हिन्दी में आ गया है, अर्थात् श्री नरसिंह केलकर जी का "अंग्रेज और मराठे" बंगलामें से भी कई अच्छे इतिहास के और ऐतिहासिक आख्यायिका के ग्रन्थ हिन्दी में अनुवाद द्वारा आ गये हैं। "सिराजुद्दौला" नाम का ग्रन्थ हाल में मेरे देखने में आया। बहुत अच्छा है। विषय तो ऐतिहासिक है ही, लेखशैली भी बहुत सरल, रस और अलंकार से शोभित, और उदार भाव से युक्त है। एवं "महाराज नन्दकुमार की फांसी" नामक ऐतिहासिक उपारण भी।

अपूर्व और अनुवाद ।

इस प्रकार के इतिहास के अच्छे अच्छे ग्रन्थ हिन्दी में हो जायें तो अवश्यमेव नयी राष्ट्रीय पाठशालाओं और विद्यापीठों में विद्यार्थियों को जितना ज्ञान अंग्रेज़ी पुस्तकों द्वारा चार वर्ष में होता है उतना दो वर्ष में सहज में हो जाय । और अपने देश की जो पुरानी प्रथा है,

इतिहासपुराणं च पचमो वेद उच्यते,

वह सार्थक हो जाय । अच्छे ग्रन्थों का अनुवाद—यह सब से सहज उपाय अपना भाण्डार भरने का है । और इसमें कमी संकोच नहीं करना चाहिये । “चिरागसे चिराग जलता है”, यह नैसर्गिक विधि है । इस में शर्म करने की कोई वजह नहीं है । मौलिक अर्थात् अपूर्व (ओरिजिनल) ग्रन्थों और आविष्कारों की प्रतीक्षा करते हुए, अनुवादों में कमी करना ठीक नहीं । ऐसे अपूर्व आविष्कार, सब देश और सब काल में, अन्तरात्मा की प्रेरणा से, विशेष विशेष व्यक्तियों द्वारा हुआ करते हैं, और प्रायः जंगलों में, कुटियों में, आश्रमों में । रामायण, महाभारत, भागवत, “ईलियड”, “ओडिसी”, शेक्सपियर, मिल्टन आदि के काव्य, तथा बड़े बड़े पश्चिमी वैज्ञानिक आविष्कार भी, किसी सार्वजनिक संस्था की प्रेरणा से अथवा उस के द्वारा नहीं हुए । स्टीफन्सन के मन में ‘स्टीम अंजन’ का रहस्य अपने आप ही उदय हुआ । सार्वजनिक संस्थाओं को, यथाशक्ति समाज की आवश्यकताओं का विचार करके, इनको यथासंभव पूरी करने का यत्न करना चाहिये । यदि अनुवादोपयोगी उत्तम ग्रंथ मिले तो अवश्य अनुवाद से हिन्दी साहित्यभाण्डार इस समय भरना चाहिये । पर अनुवाद, शब्दानुवाद नहीं, आशयानुवाद, भावानु-

वाद, पाना चाहिये । अनुवाद की भाषा पेंसी होना चाहिये मानो स्वतंत्र लग्य है, पेंसी नहीं कि पढ़नेवाले को जान पड़े कि भाषान्तर से अनुवाद है । और उस के आशय और भाव का संग्रोधन भी यथाचित कर लेना चाहिये । पेंसे अनुवादों के द्वारा विविध ज्ञान को पी कर के, और अपने मनोमय और विज्ञानमय कोष में उस का जगण पाचन कर के, उस के बल से, पीछे, नये ज्ञान और अपूर्व ग्रन्थों का आविष्कार आप ही किया जायगा ।

राजनीति ।

इस जमाने में राजनीति के विषय में जो आंदोलन हो रहा है, उस के सीधे रास्ते पर चलने के लिये परमावश्यक है कि प्राचीन राजधर्म के सिद्धान्तों और तत्वों का सच्चा ज्ञान देश में फैलाया जाय । नहीं तो भारी हानि उठानी होगी । आजकाल छापाखानों से कागज़ों की और पुस्तकों की बारहों महीना जो अनवरत वर्षा होती रहती है, उसका फल, एक ओर अच्छा भी है, तो दूसरी ओर यह भी हो रहा है कि—

भूमि हरित नृण संकुल सूक्ष्म परत नहि पथ ,

जिमि पाषंड विवाद ते लुप्त भवे सद् ग्रन्थ ।

इतिहास के ग्रन्थों के साथ साथ इस राजधर्म के विषय के उत्तम ग्रन्थों का तयार होना अति आवश्यक है, बल्कि उन से पहिले । मेरी समझ में तो महाभारत के राजधर्म पर्व का यद्येक ठीक ठीक अनुवाद किया जाय, और पाश्चात्य ग्रन्थों के ज्ञान की सहायता से उस पर टीका लिख दी जाय, और स्थान स्थान पर मनुस्मृति, शुक्रनीति, कौटिलीय अर्थशास्त्र आदि से उस का उपवृंहण कर दिया जाय, तो हमारे सब कामके लायक ग्रंथ तैयार हो जाय । सच पूछिये तो आज पर्यन्त के सारे 'पोलि-

टिकल साइन्स' का सत्त और सार उस पर्व के एक अध्याय, यानी ६६ वें अध्याय, में रख दिया है, और ऐसी रोचक कहानी के रूप में कि बालक का भी उस में मन लग जाय।

राजा और राज्य की उत्पत्ति ।

युधिष्ठिर ने भीष्म से पूछा कि राजा क्या चीज़ है, कैसे इसकी उत्पत्ति हुई, क्यों इसकी इतनी जानता मानता होती है। जैसे आँख नाक कान हाथ पैर औरों के वैसे इसके, फिर इसकी इतनी बढ़ाई क्यों? भीष्म ने कहा कि बहुत प्राचीन काल में सब मनुष्य शुद्ध बुद्धि से रहते थे, सत्ययुग में सब धर्मात्मा होते थे, उस समय में "वर्णाश्रमव्यवस्थाश्च न तदाऽऽ सन्न संकरः;" (वायुपुराण), वर्ण और आश्रम के भेद नहीं थे, राजा प्रजा का भी भेद नहीं था। क्रमशः मनुष्यों में काम, क्रोध, लोभ, बड़े, अहंता ममता बढ़ी, 'यह मेरा यह तेरा' के भाव पैदा हुए, और पराया माल अपना करने की इच्छा होने लगी। तब बलवानों ने दुर्बलों को सताना शुरू किया। फिर क्या पूछना, विचवई की ज़रूरत पड़ी।

अपनी आँख के सामने देखिये। घर में बच्चे सुख से आपस में खेलते हैं। एक खिलौने पर कलह होने लगता है, मार पीट रोना गाना शुरू हो जाता है। तब उन की दादी को बीच में पड़ना पड़ता है। यही दशा प्राचीन काल में बड़े परिमाण से मनुष्य समाज को प्राप्त हुई। सब ने मिल कर आपस में समय अर्थात् शर्त किया, कौल करार किया, कि जो कोई ऐसा ऐसा बुराचार करेगा उस को हम सब मिल कर अपने समाज से निकाल देंगे। पर जो बलवान थे वे उस कौल करार पर कायम नहीं रहे। "समये न अवतस्थिरे।" तब सब दुर्बल लोग 'ब्रह्मा'

के पास गये, और उन से पता कि "भगवन्नीश्वर दिव्य," हम लोगों को आप ऐसा आदर्श बताइये जो, "ईशते इति ईश्वर", इन दुष्ट बलवानों का निग्रह करे, दुर्बल सज्जनों का अनुग्रह करे, और सब से वह समय, अर्थात् मौल फरार कानून, जो सब ने आपस में मिल कर नै फिया और बनाया है, मनवावे। 'ब्रह्मा' ने इशाग किया कि इस 'मनु' को अपना मुखिया बनाओ। सबों ने मनु को घेग। मनु ने कहा कि मैं इस संघट में नहीं पड़ना चाहता, तुम लोग रोज आपस में लड़ोगे, मैं कहीं तक निपटारा करूँगा। तब किसी किसी तरह फुसला कर मनु को राजा किया। बड़ी मुन्डर कन्या से तुम्हारा व्याह कर देंगे, और तुम्हारे खाने पीने को हम लोग अपनी खेती में से अन्न दे देंगे, तुम का अलग खेती में समय न देना होगा, और तुम को खूब अच्छे अच्छे बलवान् शूर वीर शस्त्रधारी योद्धा देंगे, जो तुम्हारे साथ रह कर दुष्टों का दमन करेंगे, इत्यादि। वस तब से राजा और राज्य वा राष्ट्र की उत्पत्ति अर्थात्, 'ओरिजन आफ दि स्टेट' हुई।

राष्ट्र सिद्धान्त ।

यदि आप गौर से देखेंगे तो इस छोटी सी कहानी में, आज-काल पश्चिम में जितनी राय इस विषय की जारी है, उन सब का उत्तम अंश मौजूद है और अशुद्ध अंश छोड़ दिया है। प्लेटो, अरस्तातालीस, हाबज़, मॉटेस्कियो, रूसो आदि के मतों का उत्तमांश सब इस में मौजूद है।

'ब्रह्मा' का अर्थ ।

पहिले 'ब्रह्मा' शब्द का अर्थ ठीक ठीक करना चाहिये। बच्चों को समझाने के लिये तो चार मुँह का एक बहुत बूढ़ा

आदमी, जो सब का परदादा पितामह—यह ठीक है। पर बड़े खेद की बात है कि बच्चों के सिवा सयानो को भी आज काल के लोग हठात् यही अर्थ समझाते हैं, और न मानने पर 'नास्तिक' 'अधर्मी' आदि शब्दों से निंदा करते हैं। यद्यपि स्वयं महाभारत और पुराणों ही में इस शब्द का ठीक अर्थ स्पष्ट शब्दों से कहा है, यथा—

हिरण्यगर्भो भगवान् एष बुद्धिरिति स्मृतः ।
महानिति च योगेषु विरिंचिरिति चाप्यजः ॥
महानात्मा मतिर्विष्णुः जिष्णुः शंभुश्च वीर्यवान् ।
बुद्धिः प्रज्ञोपलब्धिश्च तथा ख्यातिर्धृतिः स्मृतिः ॥
पर्यायवाचकैः शब्दैः महानात्मा विभाव्यते ॥

(अनुगीता अ० २६)

मनो महान् मतिर्ब्रह्मा पूर्वुद्धिः ख्यातिरीश्वरः ।
प्रज्ञा चितिः स्मृतिः संवित् विपुरं चोच्यते बुधैः ॥

(वायु० पु० अ० ४)

अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु, शंभु इत्यादि यह सब महत्-तत्त्व, बुद्धितत्त्व, के ही नाम हैं, और यह तत्त्व जनसमुदाय में सूत्रात्मा अंतरात्मा के रूप से व्याप्त है, और भीतर से प्रेरणा किया करता है। हिरण्यगर्भ, विरिंचि, अज, महानात्मा, महान्, मति, प्रज्ञा, उपलब्धि, ख्याति, धृति, स्मृति, मन, पूः, ईश्वर, चिति, संवित्, विपुर इति प्रभृति सब इसी के पर्यायवाचक शब्द हैं।

अपनी आंख के सामने देखिये। समाज में जब कोई नयी आवश्यकता उठती है, पुराना दस्तूर बदलने की, नया उपाय सोचने की, तब आप से आप लोग उस विषयकी चर्चा करने लगते हैं, फिर एकत्र होते हैं, पंचायतें होती हैं। सभापति

मन्त्री, नायक, पायक, चांधरी स्वयंदाग, मुग्धिया मलाहकार, आदि चुने जाते हैं, और नये समूह के बारे में एक राय कायम की जाती है। जितने आंदोलन होते हैं, राजनीतिक अथवा अन्य, जैसे इसी हिंदी मन्डिर और हिन्दी प्रचार आदि के, वे सब इसी प्रकार से, समुद्र में लहर के जैसे, आप से आप उठते हैं। जो समाज में बृद्ध हो, ज्ञान में प्रधान हों, सबके परम मान्य हों, उन्हीं को इस 'व्रतत्व' का, 'बृहत्त्व' का, विशेष आधिभारस्थान अर्थात् 'व्रता' अथवा 'लोकमत' का उद्भव-स्थान आप कह सकते हैं। वैदिक यज्ञ में, सब से अधिक बृद्ध और ज्ञानवान् ऋत्विक् को, जो अन्य सब ऋत्विजों की तथा सब कृत्यों की देख रंख करे, 'ब्रह्मा' ही कहते हैं।

इस प्रकार से मानव इतिहास के आदि काल में यह आंदोलन हुआ। सर्वसाधारण की समष्टि ने ही कानून बनाया, राजा ने नहीं, राजा उस समय था ही नहीं। पर जब उद्धत लोग, बल के मद से, कानून तोड़ने लगे, तो जनता की सूत्रात्माने एक राजा को सिर्फ इस काम के लिये मुकर्रर किया कि वह जनता के बनाये कानून पर लोगों से अमल करावे, न यह कि नया मनमाना कानून बनावे।

और भी बहुत सी बातें थोड़े थोड़े सारगर्भित शब्दों में इस पर्व में कह दी हैं, जिस से राजा और प्रजा के परस्पर कर्तव्य सब ठीक ठीक मालूम हो जाते हैं। इन सब बातों का प्रतिपादन अच्छे अच्छे नये ग्रंथों में हिंदी में होना चाहिये। और ऐसे ग्रंथ वे ही लोग उचित रूप से लिख सकते हैं, जिन्होंने लोकमान्य तिलक जी के ऐसा, दोनों, अर्थात् पूर्व के और पच्छिम के, शास्त्रों का हृदय पहिचान लिया हो, और वर्तमान मनुष्य जगत् की अवस्था को भी ठीक ठीक जानते हों। केवल एक

पक्ष की विद्या को जाननेवाले और समय को न समझनेवाले लोग वर्तमान भारतवर्ष के उपयोगी ग्रन्थ नहीं लिख सकेंगे।

वैदिक धर्म ।

इसी राजधर्म के साथ साथ जिस धर्म को आज काल हिंदू धर्म के नाम से कहते हैं, उसके सच्चे स्वरूप को दिखाने के लिये भी अच्छे ग्रन्थों की आवश्यकता है। राजा का मुख्य धर्म वर्ण-आश्रम-व्यवस्था की रक्षा करना, जिस से समाज का संग्रन्थन अर्थात् 'सोशल आर्गेनाइजेशन' होता है। और यह वर्ण और आश्रम धर्म ही हिंदू धर्म का सार है। पर जैसी भ्रांतियाँ इसके विषय में आज काल फैली हुई हैं, और जैसी इसकी दुर्दशा हो रही है, जिनके कारण हिंदूसमाज दिन दिन अधिकाधिक क्षीण, दुर्बल, और अस्तव्यस्त होता जाता है, वह प्रत्यक्ष है। अच्छे ग्रन्थों के द्वारा प्राचीन स्मृतियों की सच्ची और समयोपयोगी व्याख्या करके इस सब हास को रोकना बहुत जरूरी है। वैदिक काल में "व्रात्यस्तोम" आदि विधियों से नये व्रात, नई जातियाँ, आर्यसमुदाय की वर्णव्यवस्था में मिला ली जाती थीं। अब ऐसी दुर्बुद्धि और मिथ्या व्याख्या बढ़ी है, और अर्थ के स्थान में अनर्थ फैला है, कि दूसरों को अपने संग लेना तो दूर गया, अपनों को निकाल कर हम लोग अलग फँक रहे हैं। व्रात्यस्तोम का आज काल यह अर्थ किया जाता है कि जो लोग किसी समय वर्णव्यवस्था में थे पर संस्कारके लोप से पतित हुए, उन का फिर से संस्कार कर के उन का उद्धार करना। खैर, यह संकुचित अर्थ भी यदि वर्ता जाय तो भी गनीमत है। पर यह भी नहीं होता। पुराना असल अर्थ तो बहुत उदार था—“व्रातैः प्रजंति, व्रातेन वर्त्तते, व्रतमर्हति शालीनतायै, इति व्रात्याः”। जो

दुष्ट के दुष्ट चरते हैं, जिन में घर द्वार न हों, जो गेज की मिहानत मजदूरी से, अथवा शिवाग वगैरः से जीते हों, जिन में निज की स्थायी संपत्ति कुछ न हो, और जो व्रतादिक करण के शालीन बनाये जा सकते हों, वे 'व्रात्य' कहलाते थे। इस के विपरीत "शालिभिः कृष्युत्पादितेः जीवति, शालामु वसन्ति, सदाचारैः शालन्ते, एते शालीनाः", गेती से पैदा हुए शालि धान्यादि से जीवन निर्वाह करें, मकानों में, नगर ग्रामादि में, रहें। सदाचार शिष्टाचार वर्त्ते, वे शालीन। अंग्रेज़ी के इतिहास-वेत्ता इनको 'नेमाट' और 'सेटल्ड' या 'सिविलाइज़्ड' नाम से कहते हैं।

व्रात्य और शालीन ।

व्रात्यो को शालीन बना लेने की विधियों को व्रात्यस्तोम कहते हैं। शक आदि बहुत सी जातियाँ इसी प्रकार से पूर्व-काल में अपने अपने व्यवसाय और कर्म के अनुरूप ब्राह्मण, श्रत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि वर्णों में मिला ली गयी थीं। बिना संस्कार के, बिना उचित आचार की प्रतिज्ञा किये, जिस का जैसा जी चाहे वैसा अपना वर्ण बताने लगे, तो उस से अवश्य समाज संग्रंथन में हानि पहुँचेगी, और कर्म-विभाग और वृत्ति-विभाग और शुद्ध-विभाग, अर्थात् "डिविज़न आफ लेचर" आदि में संकर पैदा होगा, इस वास्ते जांच रखना ज़रूरी है। पर बिना जांच किये, और बिना विधिपूर्वक संस्कार किये, वर्ण में शामिल न करना, यह एक बात है; और झूठे थोथे वहाने निकाल कर, अपनी पवित्रम्मन्यता के अहंकार के कारण, या लोभ के वश से, जाति से निकाल देना, या जाति के भीतर किसी विधि से भी न आने देना, या फिर से न आने देना, यह दूसरी बात है।

इस मिथ्या और महाहानिकारक भाव को भी नये ग्रंथों के बल से, शुद्ध ज्ञान के पुनर्वार प्रचार से, दूर करना आवश्यक है, क्योंकि बिना ऐसा किये हमारा समाज ही क्षीण होता जाता है, और क्षयरोग से मर जायगा ।

विज्ञान ।

ऐसे ग्रंथों के वाद् 'सायंस' का विषय विचारणीय है । इस सायंस अर्थात् विज्ञान अथवा अधिभूतशास्त्र का विषय तो हिन्दी में अभी प्रायः छूआ ही नहीं गया । अर्थशास्त्र, उद्योगशास्त्र, संपत्तिशास्त्र, तथा राष्ट्रशास्त्र, शासनपद्धति, राजनीतिशास्त्र आदि के नाम से 'ईकानोमिक्स' और 'पॉलिटिक्स' के ग्रंथ तो कुछ लिख गये हैं । अधिभूतशास्त्रों पर 'फ़िज़िक्स', 'केमिस्ट्री', 'फ़िसियालोजी', 'बॉटनी' आदि पर, ग्रंथ अभी नहीं देख पड़ते । एक ग्रंथ 'फ़िसियालोजी' पर हिन्दी में छपा है । स्वयं तो मैं नहीं पढ़ पाया, पर दूसरों से सुना कि अच्छा है । इन सब विषयों पर ग्रंथों की बहुत आवश्यकता है । यो भी आवश्यकता थी, और अब विशेष कर के 'राष्ट्रीय विद्यापीठों के विद्यार्थियों के लिये हो रही है ।

राष्ट्रीय शिक्षा-समिति ।

अभी काशी में, २३ फरवरी से ६ मार्च, १९२३ ई०, तक, अट्टाईस अध्यापक, भारतवर्ष के विविध प्रान्तों के, श्री शिवप्रसाद गुप्तजी के घर पर, उन के स्थापित काशी विद्यापीठ के कार्यकर्त्ताओं के प्रबन्ध से, एकत्र होकर, स्वदेशी शिक्षा, 'नेशनल एजुकेशन', के सब अङ्गों पर विचार करते रहे । बहुत विचार करके, प्रायः सर्वसम्मति से, कई गुर्वर्थ बातों पर निश्चय किया गया है । उन लोगों ने एक 'टेक्स्ट-बुक कमेटी' भी बनाई है । उस का यह

कर्तव्य होगा कि जो जो पुस्तकें इस समय भागनवर्ष की विविध भाषाओं में पंजी मिलनी हैं जो विद्यालयों की पढ़ाई की उपयोगी हैं, उन की फिलगिस्त तैयार करें, तथा नयी पुस्तकों के लिखवाने का प्रयत्न करें। केंसे प्रयत्न करें इस के कुछ प्रकारों की सूचना कर दी है।

मुझे आशा है कि यह कमेटी इस राष्ट्रीय हिन्दी मन्दिर तथा देश की पंजी अन्य संस्थाओं से लिया पढ़ी करेगी। और यह नै कर सकेगी कि किन विषय की पुस्तक कहाँ तैयार कराई जाय और किस भाषा में फिर उस भाषा से भागनवर्ष की अन्य भाषाओं में सफ़ज में अनुवाद हो जायगा।

यह सुन कर आप लोग प्रसन्न होंगे कि इन सब प्रतिनिधियों ने—जो महाराष्ट्र, गुजरात, सिंध, पंजाब, संयुक्तप्रान्त, बिहार, उड़ीसा, बंगाल, आसाम, और आध्र देशों से आये थे—सब ने एक मत से यह स्थिर कर लिया है कि सब प्रान्तों में, जहाँ की मातृ भाषा हिन्दी अथवा हिन्दुस्तानी नहीं है, वहाँ द्वितीय भाषा, 'सेकण्ड लांग्वेज', की हैसियत से, विद्यार्थियों को हिन्दी अवश्य पढ़ाई जाय, जिस में सर्वभारतीय भाषा 'लिग्वे इण्डिका' का वह काम दे। यह सब चिन्ह अच्छे हैं। चारों ओर देश में भिन्न भिन्न रूप से भिन्न भिन्न कार्य हो रहे हैं। पर अंतरात्मा 'ब्रह्मा' की प्रेरणा से सब का लक्ष्य एक ही है, सब एक ही ओर चल रहे हैं।

नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव ।

अर्थात् स्वदेशोद्धार और भारतवासियों के जीवन के सब विभागों में सच्ची आत्मवशता, सच्चे स्वराज्य, का पुनः स्थापन, जिस के विषय में मनु ने आदि काल में ही कह दिया है—

सर्वं परवशं दु खं सर्वमात्मवशं सुखम् ।

पर यह सदा याद रखने की बात है कि सच्ची आत्मवशता, सच्चा स्वराज, बिना 'आत्मा' को ठीक पहिचाने और 'स्व' का अर्थ ठीक जाने, नहीं हो सकता है। प्रत्युत आपस में घोर ईर्ष्या मत्सर विवाद और कलह के खड़े हो जाने का महाभय है।

आधिभौतिक शास्त्रों, अर्थात् 'फ़िज़िकल' या 'नेचुरल सायंस' के विषय में, हमारा पहिला उपाय पच्छिम के ग्रन्थों के आशयानुवाद के सिवा दूसरा नहीं है। पर यह अनुवाद बुद्धिमत्ता से करना होगा। 'मक्षिकास्थाने मक्षिका' न्याय से नहीं। जैसे 'वाटनी' के ग्रन्थ में हम को उन पेड़ पौधों के उदाहरण देने होंगे जो इस देश में मिलते हों, विलायत के नहीं कि जो यहाँ देखने में नहीं आते। लोग पूछ बैठ करते हैं कि शिक्षा स्वदेशी कैसी, ज्ञान में देश और राष्ट्र और जाति का भेद कैसा ? इसी उदाहरण से उनका उत्तर हो जाता है। तथा भूगोल पढ़ाने में हम हिमालय के उच्चतम शिखर का नाम गौरीशंकर सिखावेगे, 'माउन्ट एवरस्ट' नहीं, अपनी पवित्रतम नदी का नाम 'गंगा' सिखावेगे, 'गेंजीज़' नहीं।

मोक्षशास्त्र ।

मोक्षशास्त्र अर्थात् अध्यात्म विद्या के विषय में संस्कृत ग्रन्थ पर्याप्त हैं, और हिन्दी में अनुवाद बहुत हैं, और कुछ ग्रन्थ बहुत अच्छे भी हैं, तथापि पाश्चात्य शास्त्रों से नये उदाहरण ले कर, उन्हीं प्राचीन तत्त्वों को अधिक विशद और नये प्रकारों से समर्थन करनेवाले नये ग्रन्थों की भी आवश्यकता है।

इन सब कार्यों को यदि यहाँ का हिन्दी मन्दिर तथा अन्य पुस्तक-प्रकाशक संस्थाएँ, 'नेशनल एजुकेशन कमेटी' की 'टेक्स्ट-बुक कमेटी' के साथ लिखा पढ़ी कर के, आपस में बाँट

हैं, तो काम बहुत सरल और शीघ्र ही संपन्न हो जाय। "सन्धे
गतिः फलो युगे"।

इस समय का जो मेरा वक्तव्य था वह तो मैं समाप्त कर
चुका। काव्यसाहित्य के नवरत्नों के विषय में कुछ कहने को
मेरे मन में था, यदि वन पड़ा तो फल कहूँगा।

[द्वितीय दिवस, ता० ९ अप्रैल, १९२३, का व्याख्यान]

सज्जनो—आप लोगों ने प्रवीण वक्ताओं के अच्छे अच्छे
व्याख्यान सुने, उत्तमव का कार्य समाप्तप्राय है, कोई विशेष
बान मेरे ध्यान में नहीं आती जिसको सुनाकर आप को अधिक
प्रसन्न कर सकूँ। पर कल मैंने कहा था कि यदि हो सका तो
'साहित्य' शब्द का जो विशेष अर्थ आज काल हो रहा है,
सात्मक काव्यादि, उसके विषय में कुछ कहूँगा।

इस प्रसंग में भारतभारती का शिरोमणि-भूत नवरसमय
तथा सर्व-आध्यात्मिक-ज्ञानमय, जो एक ग्रन्थ है उसकी चर्चा
करना चाहता हूँ, अर्थात् 'भागवत' की।

कल मैंने आपके सामने सूचना रूप से कहा कि किन किन
विषयों पर हिन्दी में ग्रन्थ लिखने की तत्काल विशेष आव-
श्यकता है। आज एक वक्ता ने आप से यह कहा है कि केवल
अभावों की गिनती गिनना ठीक नहीं, प्रायः साहित्य सम्मेलनों
में आज तेरह वर्ष से ऐसी गिनती ही गिनी जाती है, संस्थाओं
को चाहिये कि जैसे हो तैसे लेखकों को मजबूर करे कि वे इन
इन अभावों को पहले पूरा करके, तब दूसरे लेख लिखें! तौ भी
मैं आज पुनर्वार एक और अभाव की चर्चा कहूँगा। सम्मेलनों
में ऐसे अभावों की चर्चा से बहुत काम हो रहा है। इन तेरह
वर्षों में सैकड़ों ग्रन्थ लिखे और छापे गये हैं, जो अंशतः उन
अभावों की पूर्ति का यत्न करते ही हैं। मानस, तब वाचिक,

तब कायिक, यही कार्य का क्रम है। चर्चा होना अत्यावश्यक है। बीच बीच में ऐसे सम्मेलनों में साहित्य के विषय में देश की अवस्था की जांच परताल हो जाने से ही संस्थाएँ, अथवा व्यक्ति रूप से लेखक, तदनुसार यत्न करेंगे। और आप ने कार्यविवरण में सुना ही है कि किस किस विषय के कितने ग्रन्थ इस संस्था ने लिखवा कर प्रकाश किये हैं। राष्ट्रीय शिक्षा-समिति की पुस्तक-निर्माणोपसमिति के द्वारा विशेष प्रयत्न होने वाला है, उसकी भी चर्चा मैंने कल की है। इस लिये मैं आज फिर भी एक भारी अभाव की चर्चा करूंगा। कल मैंने यह भी कहा था कि 'साहित्य' शब्द का अर्थ अब तक प्रायः काव्य-साहित्य समझा जाता रहा है। ऐसा होते भी, बड़े आश्चर्य और खेद की बात है कि ऐसे अत्युत्तम काव्य भागवत के अनुरूप अनुवाद का यत्न अब तक नहीं हुआ, जिसमें नवरस, अथवा जो लोग भक्ति और वात्सल्य को अलग मानते हैं उनके लिये एकादश रस, भरे हैं, और इसके सिवा विविध प्रकार के ज्ञान और उपदेश भी भरे हैं।

हां, सूरदास जी ने जोर लगाया, और सूरसागर लिखा, और डिंडिम भी बड़ा है कि सवा लाख पद कहे। पर इन में से सवा हजार पद भी वर्त्ताव में नहीं है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्रजी के फुफेरे भाई श्री राधाकृष्णदास जी ने बहुत परिश्रम और कठिनता से कोई पांच हजार पद एकत्र कर के छपवाया है। जो मिले हैं वे अवश्य रत्नभूत हैं, पर उनमें भी दस में से नौ हिस्सा मूल ग्रन्थ के दशम स्कन्ध के ही विषय पर हैं, और तत्रापि रासपंचाध्यायी के, और तत्रापि मधुकर-गीत के।

पर भागवत तो मधुकर-गीत मात्र नहीं है, न रासपंचाध्यायी मात्र, न दशम स्कन्ध मात्र। भागवत तो चारह स्कन्धों

वस्तुओं का सेवन करने से “नर्वस सिस्टम्,” अर्थात् मस्तिष्क, मेरुदंड, इडा, पिंगला, सुपुन्ना आदि क्रियावाहिनी, ज्ञानवाहिनी, और इच्छाधारिणी नाड़ियाँ, जिसको फ़ारसी तिव मे दिमाग कहते हैं, कमज़ोर हो जाती हैं। त्रिकटु और त्रिकषाय का भी सेवन साथ साथ करते रहना स्वास्थ्य के लिये आवश्यक है। भोजन चतुर्विध और पड्रस उचित कहा है, एकविध और एकरस ही नहीं। तथा व्यायाम का क्लेश और तरह तरह का परिश्रम भी सहते और करते रहना चाहिये। क्षयरोगी के मुख पर भी एक अवस्था मे सुन्दरता आ जाती है; और सौंदर्य के अति सेवन से क्षयरोग उत्पन्न होता है, यह भी प्रसिद्ध है। कालिदास ने रघुवंश के अन्तिम सर्ग मे इस को दिखाया है।

“अग्नि वर्ण राजा की दशा क्षयरोग मे, कामियों के अभिसार की सी दशा थी। मुख श्वेत अथवा पीला, भूषण हलके, दूसरों के सहारे से चलना, बोली धीमी”, इत्यादि।

तस्य पांडुवदनाऽल्पभूषणा सावलंबगमना मृदुस्वना ।

राजयक्ष्मपरिहानिराययौ कामयानसमवस्थया तुलाम् ॥

ऐसे हेतुओं से मेरी बहुत वर्षों से उत्कट इच्छा है कि भागवत का आद्योपांत सरस पद्यमय हिन्दी मे अनुवाद होता, जैसा तुलसीदास जी ने रामायण का कर दिया है। रामायण से मर्यादापुरुष का सर्वांगीण चित्र हम लोगों की आँखों के सामने आ जाता है। उत्तम पुत्र, उत्तम पति, उत्तम भ्राता, उत्तम प्रजापालक, उत्तम मित्र, उत्तम शत्रु, उत्तम वीर, उत्तम स्वामी, उत्तम पिता, इन सब भावों का एकत्रीभूत चित्र रामायण मे खींचा है। मधुकर गीत से अतिमानुष परम पुरुष का एक ही रूप देख पड़ता है, अर्थात् गोपीजन के आत्यन्तिक

प्रेम और चिन्तन के भावा के भाजन । इनने मे त्माग काम नहीं चलता, प्रत्युत हानि हो गयी है । हम को तो उनके सभी रूप चारियें । यह ठीक है कि कृष्णावतार मर्यादावतार नहीं माना जाता है, क्योंकि इस के चरित्र अतिमानुष है साधारण जन के अनुकरणिय और निदर्शनरूप नहीं है । इसी लिये स्वयं भागवत में कहा है, "ईश्वराणा वचः सत्यं, तथैवाऽचरिन् कश्चिन्" । अर्थात् "ईश्वरों के उपदेश सब सच्चे और मानने योग्य होते हैं, पर उन के आचरण कोई कोई ही ऐसे होते हैं, सब ही अनुकरणिय नहीं होते ।" पर द्वापर और कलि में धर्म कर्म के संकर, और द्वापर अर्थात् संशय, और जीवों में परस्पर कलि अर्थात् कलह, होते हैं, उन के समझने के लिये, और उनकी ग्रन्थिया सुलझाने के लिये, आवश्यक है कि इस अवतार का संपूर्ण चरित्र, जो द्वापर और कलि की सधि में हुआ, अच्छी तरह से जाना और समझा जाय । तभी "अहं त्वां सर्वपापेश्यो मोक्षयिष्यामि (प्यति) मा शुचः" का अर्थ ठीक मन में बैठेगा । अर्थात् 'अहम् अहम्', 'मै मै', इस चेतन रूप से जो परमात्मा सब प्राणियों में व्याप्त है, वह अवश्य मोक्ष दे सकता है, क्योंकि उस 'अहम्' की व्यापकताको पहिचानना, उस की परमात्मता को जानना, ही तो जन्म मरण के भय और शोक मोह आदि सब 'पापों' से मोक्ष पाना और अजर अमर हो जाना है ।

सम्पूर्ण भागवत का अनुवाद

ऐसे हेतुओं से, मुझे बड़ा आश्चर्य और खेद है कि भारत-वर्ष के हिन्दी कवियों ने भागवत के सर्वजनीन अनुवाद की ओर क्यों नहीं ध्यान दिया । अच्छे अच्छे, कवित्व शक्ति से सम्पन्न,

कवि, हिन्दी भाषा के हो गये हैं, और हो रहे हैं। और देखते भी हैं कि तुलसीदास जी की रामायण क्या काम कर रही है, और तीन सौ वर्ष से कैसा ज्ञान का दीपक, भारतवर्ष के गांव गांव में, परार्थीनता के अंधकार में, वाले हुए है। यह भी देखते हैं कि सूरदासजी की सूरसागर की कैसी छिन्नभिन्न अवस्था हो रही है। पर किसी ने इस ओर जतन नहीं किया कि हिन्दी में 'रामायण' के ऐसी 'भागवत' भी तयार हो जाय, और उस अंधियारे को दूर करने में सहायता दे। रीवा के एक भूतपूर्व महाराज ने हिन्दी में पद्यमय अनुवाद छपवाया, पर वह किसी कमी के कारण जनता का हृदयग्राही और प्रचलित नहीं हुआ।

मैंने कई जान पहिचानों से, जिनको कवित्वशक्ति है और कविता करते हैं, प्रार्थना की, कि आप लोग छोटे छोटे दो दो चार चार पद, अथवा छोटे काव्य नाटक ही, रचने में अपनी शक्ति का व्यय न करके, यह बड़ा काम उठाइये। और यदि एक को बहुत भार जान पड़े तो यहाँ भी "संघे शक्तिः कलौ युगे" इस न्याय से काम लीजिये, और एक एक स्कंध, अथवा दस दस पांच पांच अध्याय, अपनी अपनी रुचि के अनुसार, बांट कर, और भक्ति के द्वारा भगवद् भाव का अपने मन में आवाहन कर के, यह काम कर डालिये।

पर किसी ने इस ओर अब तक रुचि नहीं की।

भागवत का जो संपूर्ण रूप है उसी से उस की भी महिमा और कृष्णावतार की भी महिमा जानी जा सकती है। एक ही अंश से नहीं। व्यासजी ने एक वेद के चार विभाग करके उन का पुनः संस्करण कर के चार वेद बनाये, महाभारत लिखी, पुराण बनाये, ब्रह्मसूत्र लिखे। तौ भी उनको संतोष नहीं हुआ। नारदजी ने उन को उपदेश दिया, कि आपने ज्ञान और

कर्म का विशेष वर्णन किया है, भक्ति के साथ मिला कर कहिये, तब सन्तोष होगा। इस पर इन्हीं ने भागवत रचा और शुक को गिन्वाया।

स गोदोहनमात्र हि गृहेषु गृहमेधिनां ।

अवेक्षते महाभागस्तीर्थोक्त्तुर्वस्तदाश्रमं ॥

शुक की कथा बड़ा कहिये ।

अधरज प्रीति हरप परमादर सानि मनहि मन रहिये ,

यह पुरान बालक घरवारन के घर उतनिहि बेरि सहै ,

जब लौ गौ को दूध द्रुहानो अजुरिन नाहिं गहै ,

उन गेहन कौ भाग्य बढ़ावत तीर्थ बनावत फिरत रहै ।

शुक ने परीक्षित को सुनाया, जिसके रस से उनको अनशन व्रत का भी दुःख जान ही न पड़ा।

नैपासतिदु सहा धुन् मां त्यक्तोदमपि बाधते ।

पिबन्त त्वन्मुसाम्भोजाच् च्युत हरिकथाऽमृतम् ॥

शुक सों कहत परीक्षित राजा अनशन धरत धरे—

तन झुरात दु स्सह पियास मोहिं जानिहु नाहिं परै ,

जब लौ बदन कमल तैं तुमरे हरि गुन रस निसरै ,

तौन अमृत कौ मन हमार अति लोलुप पान करै ,

स्थूल देह की सुधि बिसारि सब सूक्ष्म प्रान भरै ।

इस कथा के ही कारण, राजा परीक्षित ने ऋषिपुत्र के शाप को ईश्वर का बड़ा अनुग्रह माना। नारद ने भी व्यास से अपने पूर्वजन्म की कथा कहते ए यही कहा था कि हानि को लाभ समझना चाहिये। बाल्यावस्था में उनकी माता का देहान्त हो गया।

एकदा निर्गतां गेहाद् दुहन्ती निशि गां पथि ।

सर्पोऽदशवृष्टः कृपणां कालचोदितः ॥

तदा तद् अहमीशस्य भक्तानां शमभीप्सतः ।
 अनुग्रहं मन्यमानः प्रातिष्ठं दिशमुत्तरां ॥
 आर्त्तो जिज्ञासुरर्यार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ।
 चतुर्विधा भजंते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ॥
 यस्याऽनुग्रहमिच्छामि तस्य सर्वं हराम्यहम् ॥

इक दिन माता गायन दूहन घर ते बाहर जो निकसी,
 अंधियारे पथ चलत छुवानी सांपिन बाके पायँ डँसी,
 माता कृपन ईश काल बस परलोकन मे जाइ बसी ।
 ईश आतमा अन्तर्यामी कहत पुकारि पुकारी,
 जाको चहौँ अनुग्रह वाकी छीनौ संपद सारी,
 संपद खोइ, होइ भारत अति, परम अर्थ अर्थावै,
 जिज्ञासा करि, ज्ञान पाइ, तव सब जग मे मोहि भावै,
 माटी कांच खोइ, रोइ, मोहि धन अनंत कौ पावै ।
 सो मै सीस नवाइ सख्यौ अति विपता मातु वियोगा,
 भक्तन पर यह ईस अनुग्रह, अस समुझ्यौ दुख भोगा ।

ऐसा समुझ कर, पूर्वजन्म मे, वालक नारद घर छोड़ जंगलों
 की ओर चल पड़े ।

स्फीतान् जनपदांस्तत्र पुरग्रामग्रजाकरान् ।
 खेटखर्वटवाटीश्च वनान्युपवनानि च ॥
 चित्रघातुविचित्राद्रीन् इभभन्नभुजद्रुमान् ।
 जलाशयान् शिवजलान् नलिनीः सुरसेविताः ॥
 चित्रस्वनैः पत्ररथैः विभ्रमद्भ्रमरश्रियः ।
 नलवेणुशरस्तम्बकुदाकीचकगह्वरम् ॥
 एक एवाऽतिघातोऽहं अद्राक्षं विपिनं महत् ।
 घोरं प्रतिभयाकारं ध्यालोल्लूकशिवाऽजिरम् ॥
 परिश्रान्तेन्द्रियाऽऽत्माऽहं तृट्परीतो बुभुक्षितः ।

ज्ञात्वा पीत्वा ऋदे नशा उपरशृष्टो गतः।

आत्मानमात्मनाऽऽमस्थ यथाश्रुतमचिन्तयम् ॥

फिरि मैं चत्थी दिशा उत्तर कौं, देखत विस्तृत देशन ,
पुर भर ग्राम र व्रज अहिराने, घाटी घन भर उपवन ,
अर धातुन की ग्वान विविध विध, झरना भरी तराई ,
विविध धातु रंग रंगे पहारन, अर जंगल हरियाई ,
पेड़ गिरावत चढ़े दँतारे गज, अर निर्मल नीर
ताल, जहां थिकसी नलिनी, जिन सेवत देव शरीरा ,
अति मीठे स्वन बहु विध पक्षी कंजत, गूंजन भौरा ,
नरकट सरई वास कास अर वांसिन के जहँ झौरा ,
सर्प व्याघ्र फुफकार गरज जहँ हृदय कर्पावत घोरा ,
इत शृगाल अर घूकहु रोवत, उत नाचत बहु मोरा ,
अर झिझी झकार चहँदिसि सतत मचावत सोरा ।
यह सब देखत सुनत चलत जय इन्द्रिय तन मन थाके ,
फल कटुखाइ, पाइसलिलहु कटु, ध्यान कियौ मै वाके ,
मुनि जनते मै सुन्यो रख्यो बहु अनंत नाम गुन जाके ।

ऐसे प्रदेशो को देखते, वालक, भगवान् की कृपा से ही भगवान् को खोजता हुआ, उत्तरा खंड मे जा पहुँचा, और वहाँ समाधि मे उसने अपने अभीष्ट का दर्शन पाया, जिस से बड़ के और कोई लाभ नहीं है ।

यह भागवत धर्म की महिमा भागवत ग्रन्थ मे कही है । और दूसरे देश मे भी उत्तम जीवो ने इस सिद्धान्त को पहिचाना है । शेख सादी ने भी कहा है ।

न गुम् शुद् कि रूयन् ज़ि दुनिया चित्तापत ,

कि गुम् गश्तए ख़ेश रा वाज़ यापत ,

अर्थात् जिस ने दुनिया को खोया, उस ने अपने को पाया ।

भागवत को प्रायः लोग कृष्ण की भक्ति के मार्ग का ग्रन्थ समझते हैं, पर उसकी स्वयं प्रतिज्ञा अद्वैतवाद की है। हां, अति सुन्दर भक्ति के भावों और शब्दों में उस ने ज्ञान को सान दिया है। इसी कारण से तो 'अद्वितीय' ग्रन्थ हो रहा है, और इसी कारण से उस के अच्छे अनुवाद की आवश्यकता है।

वदंति तत्तत्त्वविदः तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम् ।

ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते ॥

स वेद धातुः पदवीं परस्य दुरंतवीर्यस्य रथाङ्गपाणेः ।

योऽमायया संततयाऽनुवृत्त्या भजेत तत्पादसरोजगन्धम् ॥

अथेह धन्या भगवन्त इत्थं यद्वासुदेवेऽखिललोकनाथे ।

कुर्वन्ति सर्वात्मकमात्मभावं, न यत्र भूयः परिवर्त्त उग्र. ॥

सर्वभूतेषु यः पश्येद् भगवद्भावमात्मनः ।

भूतानि भगवत्यात्मन्यसौ भागवतोत्तमः ॥

इदं भागवतं नाम पुराणं ब्रह्मसंमितं ।

उत्तमश्लोकचरितं चकार भगवान् ऋषिः ॥

सर्ववेदेतिहासानां सारं सारं समुद्धृतं ।

निःश्रेयसाय लोकस्य धन्यं स्वस्त्ययन महत् ॥

कृष्णे स्वधामोपगते धर्मज्ञानादिभिः सह ।

कलौ नष्टदशामेष पुराणाऽर्कोऽधुनोदितः ॥

वाही कौ पुनि तत्त्व कहतु हैं सत कौ है जिन जाना,
सब हुआगरी रहित, शून्य दुविधा सों, अद्वय ज्ञाना,
यही ब्रह्म, याही परमात्म, याही है भगवाना।
सब जीवन कौ जीव एक ही, सब तन अँग इक तन के,
इक सांचे के झूठ विविध विध, सपना सब इक मन के।
पुण्य तीर्थ की सेवा होवै अरु गुरुजन चरनन की,
तब श्रद्धा शुश्रूषा उपजै हरि गुन गान सुनन की।

परम विधाना, वीर्य बनना, कालचक्र जा के हाथ नचै ,
 वा वी गति कछु सोर जन जान जिन के मन मे भक्ति मचै-
 धातम भक्ति, शुद्ध, विनु माया, निश्चल, नाम र रूप विना ,
 जिन मे लिपि नित घन अदिष्टा, भरमावे जन रैनदिना ,
 जे परमातम चरन कमल की गध लेत है, मगन सदा ,
 प्रगुति निगुति सी अनुगुति कारते, मायाजाल न परै कटा ।
 वासुदेव, सब लोकनाथ जो, परमातम, जग जेहि मे ,
 सब कौ आतम, मेरी धातम, मे वा मे, वह मोहि मे ,
 मै, चेतन, सब को अगार जो, मै ही सब मे वासी-
 अस भावै ते आपु भये भगवान, धन्य, अविनासी ,
 परम धाम को पहुँचे, जह नहि आवागम की फासी ।
 यह पुरान भागवत नाम को, वेद तुष्ट अर ब्रह्म भर्यो ,
 उत्तम कीर्ति, पुण्य नाम अति, कृष्णचरित के व्याज कर्यो ,
 ऋषि भगवान व्यास, जो होवे सब लोकन को परम भलो ,
 जाको मुनि नि श्रेयस बोलत, यही अर्थ मुनि जतन चलयो ।
 और, नाहि केवल नि श्रेयस, लोक सुख हु यह ल्यावै,
 आतमज्ञान विना न धर्म है, वा विनु अर्थ न पावै ,
 अर्थ विना न काम उत्तम है, वरु ज्यो पशुहि नचावै ।
 जे नहि जानत जीव कहा है, जन्म कहा, अर मरन कहा ,
 हम है कौन, कहा हैं आये, कह ते भाये, करन कहा ,
 दुख कहा, सुख कहा, शांति संतोष कहा, इहलोक कहा ,
 परलोक कहा, अर जीवन कौ पुरपारथ, हर्ष र शोक कहा ,
 पुण्य पाप जे सुख दुखकारण तिनको होवै सार कहा-
 जे नहि जानत इन तल्लवन को, वे नर सद् व्यवहार कहा
 साधै, औ लै जावै सङ्गिन साथिन कौ भव पार कहा ।
 विना ज्ञान विनु धर्म सधे नर, अर्थ काम के लोभा ,

विप्र, राज, अरु धनी पुरुष, सब लूट मचाइ अशोभा,
 अंधन को ज्यों अंध चलावत, जग नाशत करि क्षोभा ।
 जे जानत अध्यात्म तत्व को, वे ही है यह लायक,
 सौप्यौ जाय काज उनको सब, बनिज, राज, अध्यापक ;
 स्वार्थ रोकि वे ही परार्थ को भली भाँति ते साधि सकै,
 पिता मातु ज्यों बालकसेवा सदा करें अरु नाहिँ थकै ।
 अंतर्गामि-रूप सब ही मे बसत मोहिँ जे भावै,
 अरु मो मे सब ही कौ, वे ही सत भागवत कहावै ।
 सो सब ज्ञान धर्म भरि या मे, यह पुराण मुनि धन्य रच्यो,
 स्वस्ति रूप, कत्याण भरो, जत दुहँ लोक-परलोक बच्यो ।
 अति दयालु, सब के हित कारण, मुनि विरच्यौ यह ग्रन्थ महा,
 सब वेदन इतिहासन हूँ कौ जा मे सारहि सार कहा ।
 कृष्ण जवाहिँ निज धाम सिधारे, धर्म ज्ञान तिन सङ्ग गये ;
 उनकौ फेरि बुलावन जग मे, कृष्ण नाम कौ व्याज लिये,
 यह पुराण, कलि-अंध लोक हित, सूर्य देव इव उदय भये ।
 जेई दास भगवान कहै यह, जेइ दास भगवान सुनै,
 तेई चीन्हि भगवान गुनन कौ, निर्गुन सगुन अभेद गुनै ॥

यदि हमारे वर्त्तमान कवियों मे, ऐसी पवित्र, मानस और पार्थिव, आभ्यंतर और बाह्य, तीर्थों की, और गुरुजन के चरणों की, सेवा का पुण्य उदय होगा, तथा हिन्दी-भाषी भारतवासियों मे भी, तब वे इन को यह समग्र कथा सुनाने का यत्न करेंगे, और ये सुनैंगे । मेरा ऐसा भाग्य नहीं, ऐसा पुण्य नहीं, ऐसी कविता शक्ति नहीं, जो इस उच्च कोटि की भगवत्सेवा कर सकूँ । मेरे लिये, मेरी क्षुद्रता के अनुरूप, दूसरी बहुत नीची कोटि की चाकरी की आया दी गई है; सो भी नहीं निवहती । इसलिये इस महाकार्य के लिये दूसरों से प्रार्थना करता रहता हूँ ।

रसों की संख्या ।

मैंने भागवत को नव-रस-मय अथवा एकादश-रस-मय कहा । रसों के सम्बन्ध में मुझ को यह प्रश्न उठा करता था कि क्यों नौ ही, अथवा दस या ग्यारह ही । इस में कम वेश क्यों नहीं । और ये ही नौ या दस या ग्यारह क्यों । अस्तर कवियों और संस्कृत साहित्यशास्त्र के जानकारों से चर्चा हुई । पर सब ने प्रायः यही कहा कि यह वस्तुस्थिति ही है, इस में हेतु के अन्वेषण का स्थान नहीं, जैसे, महाभूत, ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, पाच ही पाच क्यों, इसका पता नहीं । पर इतने से मेरा संतोष नहीं हुआ । 'वस्तुस्थिति' शब्द से काम चल जाय, तो संसार में जो कुछ है और हो रहा है, सभी 'वस्तुस्थिति' है, कहीं भी 'क्यों' का अवसर नहीं । मैं हेतु ढूँढ़ता रहा, और एक प्रकार से मैं ने अपने मन का सम्बोधन कर लिया । उस प्रकार को आपके सामने, बहुत थोड़े में, सूचना के रूप से, रख देना चाहता हूँ ।

“सुखानुशयी रागः । दुःखानुशयी द्वेषः ।” जिस वस्तु से सुख मिले उस की ओर राग, जिस से दुःख मिले उस की ओर द्वेष, उत्पन्न होता है । यह प्रायः सर्वतंत्रसिद्धांत है । अर्थात्, इच्छा के मूल रूप दो हुए, राग और द्वेष । काम और क्रोध इन्हीं के पर्याय हैं । अपने से बड़े अथवा अधिक चलवान् की ओर, अपने बराबर की ओर, अपने से छोटे अथवा हीन और दुर्बल की ओर, होने से, इन दोनों में से प्रत्येक के तीन तीन भेद हो जाते हैं । राग के भेदों के प्रकार और श्रेणियाँ ये हैं, (१) आदर, सम्मान, बहुमान, पूजा आदि, (२) प्रणय, स्नेह, प्रीति, सख्य आदि, (३) दया, करुणा, अनुकम्पा आदि, तथा द्वेष के, (१) शंका,

साध्वस, भय आदि, (२) क्रोध, कोप, रोप आदि, (३) अपमान, तिरस्कार, घृणा, जुगुप्सा, वीभत्सा, आदि ।

महतां बहुमानेन दीनानामनुकम्पया ।

मैत्र्या चैवात्मतुल्येषु न तापैरभिभूयते ॥

इत्यादि भागवत के श्लोको मे इस राशीकरण की सूचना मिलती है ।

काम अथवा राग के जो प्रणय, स्नेह, प्रीति, सख्य आदि रूप हैं, उनका शृंगार से संबन्ध है । बहुमान, पूजा आदि का अद्भुत से । ईश्वर की और प्रकृति की अद्भुत आश्चर्यमय विभूतियों को देखते विचारते पूजा का भाव हृदय में उत्पन्न होता है । दया, अनुकम्पा, आदि का स्पष्ट ही करुण रस से सम्बन्ध है । एवं भय का सम्बन्ध भयानक से । क्रोध का रौद्र से । और तिरस्कार, जुगुप्सा, वीभत्सा का वीभत्स से ।

हास्य और वीर ये मिश्रित रस हैं । हास्य में कुछ अंश स्नेह, प्रीति, का है, कुछ अंश तिरस्कार का । विना दूसरे को वेवकूप बनाये, अथवा किसी अन्य प्रकार से दूसरे को छोटा और अपने को बड़ा किये, हास्य पैदा नहीं होता । जहां तिरस्कार का अंश बढ़ा और प्रीति का अंश घटा, वहां हंसी के बदले रोना शुरू हुआ । इसी लिये कहावत प्रसिद्ध हो गई है, “रोग का घर खांसी, झगड़े का घर हांसी ।” स्नेह का अंश अधिक बनाये रखना, यही नर्मालाप की सात्विकता और बुद्धिमत्ता है । साहित्य-शास्त्रियों ने छः प्रकार की हंसियां गिनाई हैं । उनमें राजस तामस गवॉरों की हंसियां, अपहसितं, अतिहसितं, आदि नामों से कही हैं ।

एवं वीर रस भी मिश्र है । युद्धवीर में शत्रु के लिये रौद्रता और भयंकरता होना ही चाहिये । उसका तिरस्कार भी होना

चाहिये। पर एतावना पर्याप्त नहीं। व्याघ्र और वृक आदि पशु भी इन गुणों को दिखाने हैं। जब मार्गपिंड के लिये आपस में लड़ते हैं। पर उनका कोई शूर नहीं कहता, क्रूर ही कहता है, अथवा यदि शूर कहना है (- देसी कहावन में, “चींटा, सोंप, जगली सअर, और राघ आधा—ये साढे तीन शूर”, प्रसिद्ध है -)। तो उन पर आक्रमणकारी (अतः दुष्ट) के दमन के धर्म का कात्पनिक अध्यारोप कर के। वीर रस की संपत्ति के लिये दया का अंश आवश्यक है। किसी दुर्बल की रक्षा के लिये, किसी की अनुकंपा से, जब सबल का चारण किया जाय, और अपने को जोखिम में डाला जाय, तभी वीर-रस सम्पन्न होता है। राजा का एक मात्र धर्म है—

दुष्टाना निग्रहश्चापि शिष्टाना चाप्यनुग्रहः ।

मरजाद छाडि सागर चलै, कहि हमीर परलय करन,
अलादीन पावै न तो, मैं मगोल राख्यो सरन ।

बिना अपने ऊपर जोखिम उठाये भी वीर रस की सम्पत्ति नहीं।

तिमिरकरिमृगेंद्र बोधकं पद्मिनीना

मे शत्रु-दमन और दुर्बलपोषण दोनों हैं, पर सूर्यदेव को कोई जोखिम नहीं उठानी पड़ती, इस लिये इस भाव में वीरता का उद्बोधन नहीं होता, अथवा यदि है तो कृत्रिम आलंकारिक उत्प्रेक्षा मात्र ही है।

इन बातों को विचारते हुए, ऐसा मन में आता है कि यद्यपि साहित्यशास्त्रियों ने निर्णय किया है कि “रसेषु करुणो रसः,” पर यह ठीक निर्णय नहीं किया। “वीर एव रसः स्मृतः” ऐसा

कहना चाहता था। अथवा यों समाधान किया जा सकता है, कि वीर रस में भी उत्तम सात्त्विक अंश दुर्बल के लिये करुणा और उस की रक्षा की कांक्षा ही है, और उस के रौद्र, भयानक, आदि सहचारी अंशों की प्रेरक है।

खेद का स्थान है कि हिन्दी कविता में वीर रस के ग्रंथ नहीं के बराबर हैं, कामाग्नि और विरह और शृंगार सम्बन्धी भावों और शब्दों की नटवाजी, यही अधिकतर भरी है।

विहारी की सतसई पर टीका पर टीका बनती चली जा रही है, उस की नकल पर नकल की जा रही है; 'हम्मौरहठ' की चर्चा सुनने में नहीं आती, 'शिवावावनी' का प्रचार भी नहीं के बराबर है। हां, कहीं कहीं, गावों में, जहाँ वाहरी और भीतरी हवा अधिक विकृत नहीं है, प्रकृत्यनुसारिणी है, और जनता दृष्टपुष्ट है, शहरों की वलनाशक नज़ाकत और बदवू से दूर है, वहाँ 'आल्हा' की गीत अलवत्ता यदा कदा सुनने में आ जाती है, और, गाते गाते, और सुनते सुनते, लोग कभी कभी ऐसे जोश से भर जाते हैं कि सचमुच का युद्ध करके 'रण-रस' का स्वाद लेने लगते हैं। ऋषियों के बनाये काव्यों में 'वीर' और 'करुणा' अर्थात् 'भूतदया', के ही भाव और रस प्रधान हैं। "परित्राणाय साधूनां, विनाशाय च दुष्कृतां।" शृङ्गार की अति, भारत के अधःपात की कारण भी है और कार्य भी। शृंगार का दुरुपयोग एक और अ बहुत हानिकारक हुआ है, भक्ति के साथ बांध दिया गया है। तत्रापि, रुक्मिणी-कृष्ण की चर्चा तो सुन नहीं पड़ती, राधा-कृष्ण पर न जाने कितनी कविता-शक्ति खर्च कर डाली गयी है, और नये पंथ निकल आये हैं जिनमें अनाचार व्यभिचार को ही धर्म बना डाला है। 'राधा' का अस्ल अर्थ तो दूसरा ही है।

मूलप्रकृतिरूपिण्या मयिदो, जगदुद्भवे ।
 प्रादुर्भूत शक्तियुग्म, प्राण-बुद्धि-अधिदैवतम् ॥
 राधा दुर्गा-इति यद्योक्त, एहस्य परम हि तत् ।
 जीवाना चैत्र सर्वेषां नियत प्रेरक सदा ॥
 राध्नोति सकलान्कामास्तस्माद्राधेति कीर्त्तिता ॥
 सर्वद्युष्यधिदेवीयम् अन्तर्यामिस्वरूपिणी ।
 दुर्गासकटहंतीति दुर्गेति प्रथिता भुवि ॥

(देवी भागवत, स्क० ९, अ० ५०)

परमात्मा की मूल प्रकृति रूपिणी संवित् चेतना से, जगत् की उत्पत्ति के समय, दो शक्तियां प्रादुर्भूत हुईं, बुद्धि-शक्ति जिस से ज्ञानेन्द्रियाँ निकलीं और जिसका सांकेतिक नाम 'दुर्गा' रखा गया, तथा प्राण-शक्ति जिस से कर्मेन्द्रियाँ निकलीं और जिसका नाम 'राधा' हुआ। एवं करुणा का भी दुरुपयोग ऐसा ही भक्ति के साथ बांध कर किया गया है। जैसे, भारत के अग्रणी, गीता के उपदेशक, जगत् के शिक्षक शासक, दुष्टों के दमयिता, अद्वितीय प्रवीर, कृष्ण भगवान् के स्थान पर "सावँलिया जी, रणछोड़ जी, राधिकावल्लभजी", और "त्रिविक्रम" के स्थान पर "त्रिभंग जी, मुरलीवाले जी, रासलीला और माखन चोरलीला और चीरहरणलीलावाले जी" ही रह गये हैं, वैसे ही "मो सम नहीं पतित दूजो, तो सम नहीं पावन", "पतितता मे मैं ही यकता हूँ, अपनी सब करुणा मेरे ही ऊपर खर्च कर दीजिये", दीनता की हद्द कर देने का अभिमान, नम्रता का अहंकार, हो गया है, अपने ही ऊपर करुणा का रस चख कर लोग कृत-कृत्य होने लगे। अस्तु। संतोष का स्थान है, कि इधर जब से महात्मा गांधी ने कांग्रेस के बहिर्गामी की पतवार अपने हाथ में ली है, और नये रूप से देश में राष्ट्रीयता और आत्मसम्मान के

भाव जागे हैं तब से कुछ वीरकविता की, तथा अन्य रसों की गद्यपद्यमयी कविता की, ओर भी जतन हो रहा है।*

नवाँ रस शान्त कहा जाता है।

शृंगार-हास्य करुण-रौद्र-वीर-भयानकाः ।

वीभत्सोऽद्भुत इत्यष्टौ शांतस्तु नवमो रसः ॥

सच पूछिये तो शुद्ध शांत भाव में रस पहिचानना कठिन है। “न सुखं न च वा दुःखमित्येपा परमार्थता।” शांति की जो परा काष्ठा, जो परम अर्थ है, विदेह कैवल्य, उस में न सुख ही है न दुःख ही। इस लिये उस में रसत्व नहीं हो सकता। रस से तो आनन्द होता है, यह सिद्धान्त ही है। पर यह भी अनुभव से सिद्ध है कि वैराग्य की, तथा निराकार परमात्मा की शुद्ध भक्ति की, कविता से एक विलक्षण रस का आस्वाद होता है, जो रस अपर आठों से कुछ अलग है। तो यह मानना पड़ता है कि परा काष्ठा की नहीं, उस से कुछ नीचे के दर्जे की, शांति से, जीवनमुक्तावस्था से, सदेह कैवल्य से, इस शांत रस का सम्बन्ध है।

❀ यह ध्याख्यान सन् १९२३ ई० में हुआ था। तब से तेरह वर्ष हो गये। प्रति वर्ष विविध विषयों के सैंकड़ों ही ग्रन्थ हिन्दी में निकलते रहे हैं। हिन्दी साहित्य का रूप बहुत बदलता जा रहा है। मुझे कहने का अधिकार तो नहीं है, क्योंकि इस सब साहित्य से परिचित नहीं के समान हूँ, तौ भी मुझे ऐसा भान होता है कि सर्व साधारण की, आम जनता की, उपयोगी और बोध्य पुस्तकें कम बनी हैं, ‘नागरिकों’ के ही शौकर समझ की ज्यादा हैं, और जो हैं उन में ‘चतुः-पुरुषार्थ-साधकता’ के सूत्र से व्यूहन संग्रह्यन नहीं है, जैसे मोती के दानों का रेशम से होता है। म०—१९३६ ई०।

सूक्ष्म दृष्टि से देखिये तो अनुभव होगा कि वैराग्य भी क्रोध ही का रूपांतर है, और गुड़ भक्ति तो स्पष्ट ही रग का विकार नहीं उल्टाष्ट संस्कार है।

भक्ति, परेशानुभवो, विरक्तिरन्यत्र, चंप त्रिक एवकाल । (भागवत)

सर्वजगद्व्यापी परमेश का ज्ञान, उन पर भक्ति, सक्ति, रक्ति, उन सनातन से अन्यत्र अर्थात् नश्वर सांसारिक स्वार्था पदार्था की ओर विरक्ति वैराग्य—यह तीन एक साथ ही उदय होते हैं। तुलसीदासजी ने साकार ईश्वर की सात्त्विक भक्ति से, आश्रित की आश्रयदाता पर भक्ति से, आप्लावित, मानव जीवन के व्यवहार का परिष्कार करने वाला ज्ञान बताया है। सूरदास जी ने, साकार ईश्वर की बाललीला के, कुमारलीला के, नंद, यशोदा, गोपी, उद्धव आदि के भावों के, अति ललित वर्णन से, वात्सल्यमयी, प्रेममयी, पूजामयी, उत्तम भक्ति का रूप दिखाया है। कवीरदासजी ने, वैराग्य से निषिक्त, निष्णात, शराबोर, भीतर बाहर भीगा, निराकार, स्वाश्रयी, ज्ञान और योग सिखाया है। भागवत में तीनों हैं।

वैराग्य के भी, अन्य भावों के ऐसे, तीन भेद होते हैं, सात्त्विक, राजस, और तामस।

अपकारिणि चेत् क्रोध, क्रोधे क्रोध. कथं न ते ।

धर्मार्थकाममोक्षाणा सर्वेषां परिपथिनि ॥

ऐसा श्लोक महाभारत के शांति पर्व में मिलता है। जिस वस्तु से, जिस प्राणी से, हमारा अपकार होता है, उस पर हमारे मन में क्रोध जागता है, तो चारों पुरुषार्थ की सिद्धि में जो बाधक हैं उस क्रोध पर क्रोध होना तो अत्यंत उचित है। दूसरे प्रकार के क्रोध कुछ तामस हो, कुछ राजस हो, पर यह क्रोध पर क्रोध, तथा ऐसे ही अन्य सांसारिक लोभ लालचों, और

स्वार्थी भावों, और अनित्य और क्षणभंगुर पदार्थों, पर अनास्था—यह सब सात्त्विक क्रोध अर्थात् वैराग्य है।

ऐसे ही, भक्ति-सूत्रों में, भक्ति के पर्याय शब्दों में, ईश्वर पर परम प्रेम, अथवा अनुराग, ऐसे शब्द कहे हैं। जिस से निर्विवाद सिद्ध है कि राग का ही पवित्र सात्त्विक रूपान्तर भक्ति है। तो अब, जब साधारण शांत भाव में द्वेष और राग के ये सूक्ष्म रूप वर्तमान ही हैं, तब उस में रस का उद्बोधन होना उचित ही है।

भक्ति को कोई दसवां रस मानते हैं। तथा वात्सल्य को भी कोई अलग ग्यारहवां रस मानते हैं। पर जो बातें पहिले कही गईं, उन से प्रायः आप लोगों के मन में भी आ गया होगा, कि एक मूल प्रकृति, इच्छा अथवा वासना, की दो मूल विकृति, और उनकी छः मुख्य विकृति, और तदनंतर, उनके संमिश्रण और संकर से अनंत विकृतियां पैदा होती हैं। ऐसी विकृतियों को भाव, क्षोभ, संवेग, मनोविकार, आदि नामों से कहते हैं। सब ज्ञानेंद्रियों के विषयों का भी कम वेश ऐसा वर्गीकरण हो सकता है। कम वेश इस लिये, कि इस विषय के शास्त्रों में ऐकमत्य अभी तक नहीं हुआ है। पर प्रिय और अप्रिय के भेद के अनुसार, प्रत्येक इंद्रिय के विषय में दो मुख्य भेद, और तदनंतर कई विकार, देखे जाते हैं। जैसे शब्द में, उदात्त और अनुदात्त, अथवा मंद्र और तार, तत्पश्चात् सप्तस्वर आदि। रूप अर्थात् वर्ण या रंग में, शुक्ल कृष्ण, फिर सात वर्ण सूर्य की किरण के, जिन्हीं से सूर्य का नाम सप्तसप्ति अथवा सप्ताश्व पड़ा है। स्पर्श में कोमल और कर्कश, फिर रुद्र, चिकण, आदि। गंध में सुगंध और दुर्गंध, फिर बहुत प्रकार। एवं रस में, इष्ट-द्विष्ट, रोचक-शोचक, स्वादु-दुःस्वादु, सुरस-

कुम्भ, फिर छः प्रभिल मुग्ध भेद, मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त, कषाय । इत्यादि ।

मैं पहिले का आया हूँ कि विन्दी का मत है, "रसेषु कर्मणो रस" । कांदी वीर को प्रधान मानते हैं । अर्वाचीन संस्कृत तथा हिन्दी के कवियों की रूतियों से यही अनुमान निकलता है कि उन्होंने शृंगार ही को प्रधान मान रक्खा है । यदि इन लोगों ने अश्लीलाश पर इतना परिश्रम न किया होता, और नख सिख वर्णन को ही कविता की परा काष्ठा कर के न दिखाया होता, तो इन का पेंसा मानना स्यात् सत्-शास्त्र के विरुद्ध न होता क्योंकि मानव-वंश के संतानन का आश्रय इसी पर है । पश्चिम देश में इस प्रकार के अनावृत वर्णन की चाल कवियों में नहीं है । अपने यहाँ भी आर्य ग्रन्थों में नहीं है, जहाँ कहीं है, जैसे वाल्मीकि रामायण में, रामजी के अद्भुत शरीर के वर्णन में, वहाँ शृंगार रस के और काम के उद्बोधन के लिये नहीं, किंतु आदर्श पुरुष का, पुरुष-सार का, सर्वांग सुन्दर, सर्वांग बलिष्ठ, शरीर कैसा होना चाहिये—यह शिक्षा सब को देने के लिये । इस प्रसंग में यह बात याद आती है, कि आर्य काव्यों में, उत्तम पुरुष-शरीरों का जितना वर्णन मिलता

☞ यहाँ यह कहना उचित है कि यह बात शब्दत पहिले अधिक सत्य थी, और अब भी प्रायः सत्य है, कि लिखी हुई अप्रेज्ञी कविता में नख सिख वर्णन प्रायः नहीं पाया जाता है, स्त्रियों के प्रायः मुख का, और स्त्री पुरुष दोनों के समग्र शरीर का साधारण गोल निर्विशेष शब्दों में, वर्णन मिलता है, पर अब १९९४-१८ ई० के महायुद्ध के बाद से, पश्चिम के 'दृश्य काव्य' में, नाटक, 'सैनेमा' आदि में, तथा चित्रों में, नम्रता की हृद कर दी जाने लगी है ।

है उतना स्त्री-शरीरोंका नहीं, और अर्वाचीन संस्कृत हिन्दी कविता में इसके विपरीत स्त्री-शरीरों का ही वर्णन मिलता है, पुरुष-शरीरों का तो प्रायः है ही नहीं। महाभारत में, नागरिकों की बोल चाल और व्यवहार का वर्णन करते हुए, एक स्थान में कहा है, “नैवासीद् वाग् अनावृता,” बात लपेट कर नज़ाकत नफ़ासत के साथ कही जाती थी, भद्रेस भोडे प्रकार से नहीं। स्त्री पुरुष के नग्न अंगों की नग्न वार्त्ता नख-सिखादि का सब के समक्ष बहुत वर्णन करना, यह प्राकृत जन के अनुरूप हो। तुलसीदास जी ने नहीं किया है। सूरदास जी ने भी प्रायः नहीं ही किया है। हृदय के ही उत्तम सात्विक भावों का प्रायः वर्णन किया है। और उस में भी, ऐसे प्रामाणिक सर्वादित सार्वदेशिक कवियों ने अलंकार पर अत्यन्त जोर नहीं दिया है, रस पर ही अधिक ध्यान दिया है। भारतवर्ष में इधर कितने ही दिनों से संस्कृत में भी, तथा हिन्दी में भी, शब्दालंकार पर बहुत अधिक ध्यान हो रहा है, रस पर कम। अलंकार का तो अर्थ यही है कि जो रस को ‘अलम्’ अर्थात् पूरा करे। जहाँ रस ही नहीं वहाँ शब्दों की नटवाज़ी तो मानों मुर्दे को गहना पहिनाना है। खाद्य, पेय, लेह्य, चोप्य, चतुर्विध पडूरसमय भोज्य पदार्थ नहीं, वर्त्तन के रंग रूप पर बहुत मिहनत। हाँ, वर्त्तन का स्वच्छ होना तो आवश्यक ही है, और सुन्दर भी हो तो सोना में सुगन्ध; पर रस होना परम आवश्यक है, अलंकार हो या न हो; शरीर सुन्दर पहले, फिर स्वच्छ कपड़े, फिर तीसरे दर्जे में गहने।

यह सब बात, शृंगार रस के रसों में प्रधान होने के संबंध में, उठी है। मैंने पश्चिम देश के एक कवि का उल्लेख किया। वहाँ भी, मनुष्य के स्वभाव के अनुसार, स्त्री पुरुष के प्रेम को,

पद्य काव्य, नाटक, गद्य अग्यायिका, आदि का प्रधान विषय मानते हुए, उस के संबंध में अनेक अन्य भावों और वृत्तों अर्थात् घटनाओं का दिग्गाने वाला कविनामय लेख बहुत है। कालरिज नाम के प्रसिद्ध कवि ने यहाँ तक कहा है—

“आल थाट्म, आल पेशंस, आल डिलाइट्स,
हाटेवर स्टर्न दिस मार्टल फ्रेम,
आल आर वट मिनिस्टर्स आफ लव,
एट फीड रिज सेकेट पलेम।”

अर्थात्—

सब विचार, सब भाव, हर्ष सब, स्पद देह के जेते ।

‘कामदेव’ की दिव्य अग्नि के, होम द्रव्य है तेते ॥

इस सब का हास्यमय प्रतिवाद करने के लिये एक दूसरे कवि ने ‘बुभुक्षा देवी’ की महिमा की स्तुति एक कविता में की। ‘बुभुक्षा देवी’ प्रत्यक्ष ही ‘मुमुक्षा देवी’ की जेठी वहिन है। बिना भूख और भोग के वंधों का अनुभव किये, मोक्ष का अनुभव हो ही नहीं सकता। जिन के हृदय में कहिये, उदर में कहिये, बुभुक्षा देवी विराजमान है, उन के हृदय में काम और शृंगार के लिये जगह कहीं। हाँ, क्रोध और रौद्र रस का भला ही बुभुक्षा देवी, अशनाया-पिपासा देवी, का साथ हो, और पौराणिक रूपक में, काली देवी का रूप, रुधिर की पिपासा से, भयंकर रौद्र कहा ही है। जब क्षुधा-तृषा देवी का संतोष हो जाता है, तब उसके पीछे शृंगारादि की उपासना हो तो हो सकती है, अन्यथा नहीं। तो शृंगार रसको प्रधान न मान के, बुभुक्षा रस को, जिसी मूल ‘रस’ के यह सब साहित्यिक ‘रस’ कृत्रिम अथवा छाया रूप हैं, जिसी से उन्होंने ने अपना नाम तक मंगनी लिया है, उसी को प्रधान क्यों न माना जाय !

हे महादेवि भूख, तेरा गान करूं,
तेरी पूजा के द्रव्यों का ध्यान धरूं;
नहीं वह जो तेरी न सेवा करै,
और तेरा ही दम मरते दम तक भरै !

यह पश्चिम के कवि की बुद्धि की स्फूर्ति और तवीयतदारी ही नहीं है। स्वयं भीष्म ने गांतिपर्व में सिद्धान्तरूपेण कहा है।
(अ० १२३)।

धर्ममूलोऽर्थं इत्युक्तः, कामोऽर्थफलमुच्यते ।
सकल्पमूलास्ते सर्वे, संकल्पो विषयात्मकः ॥
विषयाश्चैव कात्स्न्येन सर्व आहारसिद्धये ।
मूलमेतत् त्रिवर्गस्य, निवृत्तिर्मोक्ष उच्यते ॥

अर्थात्, अर्थ का, धन का, मूल धर्म है, और फल काम है। काम का मूल संकल्प; उसका मूल विषय, विषय जो भी, जितना भी, है, सब अंततो गत्वा आहार की सिद्धि के लिये है। यद्यपि त्रिवर्ग का, धर्म-अर्थ-काम का, मूल है। इन सब से हट जाना निवृत्ति, यही मोक्ष है।

पर साथ ही इसके, सर्वज्ञानमय मनु ने कहा है,

कामात्मता न प्रशस्ता न चैवेहास्यकामता ।
काम्यो हि वेदाधिगमः, कर्मयोगश्च वैदिकः ॥

और स्वयं वेदवाक्य भी है,

काममय एवायं पुरुषः ।

इन सब का समाधान यही है कि बुभुक्षा में दोनों शामिल हैं।

या देवी सर्वभूतेषु क्षुधारूपेण संस्थिता ।

इच्छा देवी का जो मूलस्वरूप है आहार का काम, मोक्ष-पदार्थ की कामना, जिसी से शरीर का धारण होता है।
“ शरीरमाद्यं खलु सर्वसाधनं”, उस में सब कुछ अंततः

हैं। पर, जो काव्य-भावित्य का प्रयोजन है, उसकी, शुद्ध भूग के रस से, सर्वाङ्गीण संपत्ति नहीं होती, किन्तु स्त्री-पुरुष, पति-पत्नी, का जो परस्पर प्रेम कहिये, चाह कहिये, भूग कहिये, उसके रस से ही होती है।

स्त्री-पुरुष का मूल रूप प्रकृति-पुरुष है। इन्हीं के अनंत रूपों की अनंत क्रीड़ा द्वंद्वमय संगार है। उनके बीच में जो उभयरूपिणी प्रवृत्ति-निवृत्ति, बध-मोक्ष, अविद्या-विद्या, राग-द्वेष का, रूप रखने वाली इच्छा है, उसी के रूप रूपांतर सब ही मनोविकार हैं। इस अनादि आदि-सम्बन्ध में पति-पत्नी का (तामस-राजस) परस्पर काम-भाव भी अंतर्भूत है, तथा माता पुत्र, पिता-दुहिता, भ्राता-स्वसा, के शुद्ध सात्त्विक (तथा राजस) भाव भी सब अंतर्भूत हैं। इसी से, सब पति-पत्नी एक दूसरे को कह सकते हैं, जैसा शायद किसी अवसर पर राम और सीता ने एक दूसरे को कहा हो—

त्वमेव माता च पिता त्वमेव, त्वमेव बधुश्च सखा त्वमेव ।

त्वमेव विद्या द्रविण त्वमेव, त्वमेव सर्वं मम देवि देव ॥

वाल्मीकि रामायण में शोकाकुल दशरथ ने शरीर छोड़ते समय, कौसल्या के लिये कहा है—

भार्यावद् भगिनीवच् च, मातृवच् चोपतिष्ठते ।

ऐसे विचारों से भी सिद्ध होता है कि, यदि शृंगार रस का ऐसा विस्तृत अर्थ किया जाय तो, अवश्य ही इस में सब रस अन्तर्गत हैं, अथवा इस से और सब उत्पन्न होते हैं, जैसे पति-पत्नी, पुरुष-प्रकृति, के राग-द्वेषमय मूल सम्बन्ध से और सब प्रकार के सम्बन्ध उत्पन्न होते हैं।

इस सब विषय का सविस्तर प्रतिपादन इस स्थान और समय पर नहीं हो सकता। मैं ने इस का विचार अलग ग्रन्थों

मे किया है। पर वे ग्रन्थ अंग्रेज़ी भाषा में लिखे गये हैं। कई मित्रों ने इस कारण से मेरा स्नेह पूर्वक उपालम्भ भी किया है, कि क्यों तू ने हिन्दी में नहीं लिखा। उन से मेरी विनीत प्रार्थना यही है, कि यदि आप उन विचारों को अच्छा समझते हैं, तो अब आप उन को हिन्दी का लिवास पहिना कर इस देश में सैर सफ़र कराइये। अंग्रेज़ी में होने के कारण इतना तो लाभ हुआ कि, एक पुस्तक का चार पाँच अन्य विलायती भाषाओं में अनुवाद होकर, वे विचार, जो भारतवर्ष के अतिप्राचीन अध्यात्म-शास्त्र के सिद्धान्तों के सर्वथा अनुयायी और प्रदर्शक मात्र हैं, पृथिवी के कई अन्य देशों में भ्रमण कर आये। और भी आप सोचें। अपना घर कितना भी अच्छा हो, पर यदि सदा उसी में रहना पड़े तो कोई भी आदमी घबरा जायगा। जी चाहेगा कि अन्यत्र भी चंक्रमण करें। बाहर घूम आने से, दूसरों के घर देख आने से, फिर अपना घर अच्छा मालूम होने लगता है। इस न्याय से भी, भारतवासियों के लिये, कुछ दिनों, पाश्चात्य विचारों और भावों का, ईश्वर की मर्ज़ी से, अनुभव करना उचित ही हुआ। और यह भी बात है कि सब चीज़ और सब प्रकार अपने घर के, इस समय में, अच्छे भी तो नहीं हैं। बहुत से दुखदायी विकार भी आ गये हैं। बाहर के ज्ञान के बल से उन में परिमार्जन परिशोधन की बड़ी आवश्यकता है। “द्विज देवता घरहिं के वाढ़े” की कूपमंडूकता भी छोड़ना ज़रूरी है। इसी लिये ईश्वर की इच्छा हुई कि भारतवर्ष का दूसरे देशों से सम्बन्ध हो। यहां पवित्रम्मन्यता का अहङ्कार बहुत बढ़ गया था। साहित्य में भी अश्लीलता और दूषित भाव और शब्दा-डम्बर और सच्चे और उत्तम रस की शून्यता बहुत बढ़ गयी थी। “किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनां”, यह भूला जा

रहा था। ईश्वर को अनुग्रह का एक उत्तम स्वरूप ताउन है, यह मैं नागद जी की कथा में पहिले कह चुका हूँ।

पैसे भावों से भावित होकर, और यह देख कर कि कथा बहुत लम्बी हुई जा रही है, और आप लोग थक गये होंगे, मैं एक अद्भुत कविता के नमूने को आप के सामने रख कर कथा समाप्त करना हूँ। कविताकी अद्भुतता यह है कि पूर्वीय देश चीन के एक याँडा कवि की मूलकृति है। पश्चिमके एक अंग्रेज़ के किये हुए अंग्रेजी आशयानुवाद को मैंने पूर्वीय जापान देश की एक मासिक पत्रिका में देखा। मुझे ऐसा जान पड़ा कि उस आशय में, सब के सब, नौ अथवा ग्यारह रस, सूक्ष्म और ललित रूप से, देख पड़ते हैं, तथा वह समग्र आशय इस समय के भारत देश की अवस्था के बहुत ही अनुरूप, और भारतवासियों के लिये क्षिप्रप्रद और उत्साह-वर्धक है। इस लिये मैंने उसका हिन्दी में आशयानुवाद कर लिया है।

उचित तो यह था कि किसी प्राचीन भारतवर्ष के ही प्रतिष्ठित कवि की नव रस मय कविता से कार्य समाप्त होता। "मधुरेण समापयेत्"। पर एक तो मुझे अपने देश के हिंदी कवियों का इतना ज्ञान ही नहीं, दूसरे मुझ को यह भी अभीष्ट है कि वेगानों की प्रशंसा कर के अपनों को चुनौती दूँ। इस वास्ते इस 'द्रविड़ प्राणायाम' रूप कविता को, जो चीन से इंग्लिस्तान, और वहाँ से फिर जापान, और वहाँ से हिंदुस्तान आई, आपके सामने रखता हूँ। और फिर याद दिलाता हूँ, कि भोजन की वस्तुके स्वाद और रस पर ध्यान दीजियेगा, वाक्यों के अनगढ़पन और शब्दों की अपरिष्कृति पर ध्यान न दीजियेगा। जैसा मौलाना रूम ने कहा है

लफ़्ज़ बिगुज़ारी सुये मानी रवी ।

कविता का देश-काल-निमित्त यह है, कि किसी प्राचीन समय में चीन देश की सरहद पर शत्रुओं और डाकुओं ने बहुत उपद्रव मचा रक्खा था। एक सेनापति को आज्ञा हुई कि जाकर उनका दमन करो। सेनापति कवि भी थे। उन्होंने प्रस्थान के सवेरे अपनी धर्मपत्नी को यह कविता पढ़ के जगाया, और उस से विदा होकर प्रस्थान किया।

“जागु पिया”

जागु पिया, सुख निसा सिरानी, तारा अस्त भये,
 धरु धीरज, करु हृदय कठिन, सहने हैं दुःख नये।
 जानौ मोहि अति दूर, मरुन पर, अरु पर्वत घाटन मे,
 जेहि सुमिरत मन थकत, चलत नहि, नद, बर्फान रु बन मे -
 अरु अवरज-भय-मय समुद्र की घोर उठत लहरन मे।
 ता पर, ठांव पहुँचि, दारुन रन करना है रिपु गन तें,
 रक्त मांस कौ कीच बनत जहं छिन मे नरदेहन तें,
 अरु तिन तें तिलमात्र भूमि नहि हटनौ है मन तन तें,
 सरल प्रजाकौ होत बहुत दुख नित नित जिन दुष्टन तें।
 जागु पिया, अरु देखु मोहि, भरि वीरधर्म नयनन मे,
 इष्टदेव ते जय मनाउ मोहि, दुःख ल्याउ नहिं मन मे।
 जीति, लौटि, अँकवार भेंटि तौहि, हसों फेरि उपवन मे।
 तजौं देह जौ, सदा होय तौ, संग जनम जनमन मे।
 जिनके मन परमात्मभाव, नहिं शोक मोह उन जन मे।
 जागु पिया, तम निसा सिरानी, दिनमनि उदय भये।
 चित प्रसाद धरु, हृदय शांत करु, करने काज नये ॥

३—रस-मीमांसा

[श्री महावीर प्रसाद द्विवेदी जी की ७० वीं वर्षगांठ के अवसर पर सवत् १९९० वि०, (सन् १९३३ ई०), में काशी नागरी प्रचारिणी सभा की ओर से उन को अभिनन्दन ग्रन्थ दिया गया । उस के लिये यह लेख लिखा गया था ।]

“रसो वै सः”

साहित्य और सौहित्य

‘साहित्य’ शब्द हिंदी में प्रसिद्ध है । संस्कृत में एक शब्द और इसी आकार का है जो हिंदी में इतना प्रसिद्ध नहीं है, न संस्कृत में ही—‘सौहित्य’ । दोनों का प्रधान लक्ष्य ‘रस’ है । ‘दधाति इति हितम्’ । ‘धाता’ ‘विधाता’ में जो ‘धा’ धातु है वही ‘हित’ में है । जगद्धाता-जगद्धात्री, जगत् का ‘धान’ करने वाले देव-देवी । जो विशेष प्रकार से, वि-धियो, वि-धानो, नियमो, से बनावे वह ‘वि-धाता’ । जो बनाए रहे वह ‘हित’ । ‘हितेन सह सहितम्, तस्य भावः साहित्यम्’ । ‘सु-शोभनं हितं सुहितम्, तस्य भावः सौहित्यम्’ । तथा, ‘सह एव सहितम्, तस्य भावः साहित्यम्’ । ‘साहित्य’ शब्द का अब रूढ़ अर्थ है—ऐसा वाक्य-समूह, ऐसा ग्रंथ, जिसको मनुष्य दूसरों के सहित, गोष्ठी में, अथवा अकेला ही, सुने, पढ़े, तो उसको ‘रस’ आवे, स्वाद मिले, आनंद हो, और उसके चित्त की तृप्ति तथा आप्यायन भी हो ।

‘साहित्य’ का अर्थ प्रायः काव्यात्मक साहित्य समझा जाता है, पर अब धीरे-धीरे इस अर्थ में पुनः विस्तार हो रहा है। सब प्रकार के ग्रंथ-समूह को साहित्य कहना चाहिये, और कहने लगे हैं।* यथा—संस्कृत-साहित्य, अरबी-साहित्य, फ़ारसी-साहित्य, अँगरेजी-साहित्य, फ़्रांसीसी-साहित्य, जर्मन वा चीनी वा जापानी-साहित्य, आयुर्वेद-विषयक-साहित्य, वैज्ञानिक-साहित्य, ऐतिहासिक-साहित्य, गणित-साहित्य, वैदिक-साहित्य, लौकिक-साहित्य आदि। अँगरेजी भाषा में ‘लिटरेचर’ शब्द का प्रयोग भी इसी प्रकार से होने लगा है, यद्यपि पहले प्रायः काव्यात्मक साहित्य के अर्थ में ही उसका भी प्रयोग होता था। तो भी बिना विशेषण के साहित्य शब्द जब कहा जाता है तब प्रायः उसका अर्थ काव्य-साहित्य ही समझा जाता है। और यह निर्विवाद है कि ‘वाक्यं रसात्मकं काव्यम्’—रसाले वाक्य को ही काव्य कहते हैं; काव्य का आत्मा ‘रस’ है।

‘सौहित्य’ शब्द का अर्थ है उत्तम हितकर रसमय भोजन और तज्जनित तृप्ति। मनु जी का आदेश है, ‘नातिसौहित्यमाचरेत्’—उत्तम भोजन भी अति मात्रा में न करे, अति तृप्त न हो जाय, भोजन परिमित ही अच्छा। स्यात् यह भी आदेश मनु जी ने किया होता कि ‘नातिसाहित्यमाचरेत्’, रस भरी कविता का भी अति सेवन न करे, तो अनुचित न होता!

जैसे अति सौहित्य से, विशेषकर तीव्र रसवाले चटनी-अचार और खटाई-मिठाई के व्यंजनो के अति भोजन से, शरीर में व्याधि उत्पन्न होती है, वैसे ही अति साहित्य से, अति मात्र रसों और अलंकारों की ही चर्चा से, चित्त में आधि, विकार,

* पहिले अध्याय, “साहित्य का पूर्णरूप”, में इस विषय पर विस्तार किया गया है।

शैथिल्य, दौर्बल्य पैदा होते हैं। 'अति सर्वत्र वर्जयेत्'। प्रत्येक इंद्रिय का जो उचित विषय है, वही उसका आप्यायक, तर्पक, 'भोज्य' है। केवल जिह्वा का ही भोज्य, 'रस'-मय पदार्थ, नहीं है। कान का भोज्य सुरदायक शब्द है, आँख का आनंदकारी रूप-रङ्ग, त्वचा का, प्रमोदवर्धक स्निग्ध, मरुण, कोमल स्पर्श, घ्राण का, आह्लादक सुगंध। किसी भी इंद्रिय का अपने 'भोज्य' के, 'अर्थ' के, साथ, मिथ्या-योग, अथवा चिरकाल तक अ-योग, अथवा अतियोग हो, तो व्याधि उत्पन्न होगी। जैसे समग्र शरीर में, विपमाशन, अनशन, और अत्यशन से। यह वैद्यक का सिद्धान्त है। मधुर गीत वाद्य मंजुल वर्ण आकृति, मुदु स्पर्श, उत्कृष्ट स्वाद, उत्तम सौरभ—किसी के भी अतिमात्र सेवन से, तत् तत् इंद्रिय पहिले तो कुंठ हो जाती है, फिर व्याधित। जैसे पैर का तलवा, जो जन्म के समय, शरीर के दूसरे भागों के चमड़े से अधिक कोमल होता है, वह पीछे, सयानी अवस्था में, बहुत चलते चलते, मोटा और कर्कश हो जाता है, और अति चलाई पर बेचाई, गोखरू, आदि से रुग्ण हो जाता है। इसलिये जो मनुष्य इंद्रियों की और चित्त की स्वस्थता और मृदु-वेदिता ('सेन्सिटिवनेस') बनाये रहना चाहते हैं, उनको किसी भी 'विषय' के मिथ्या-योग, सर्वथा अ-योग, तथा अति-योग, तीनों से बचना चाहिये।

अस्तु। प्रकृत अभिप्राय यह है कि जैसे जिह्वा का रस 'सौहित्य' में प्रधान है, वैसे ही मन का रस 'साहित्य' में।

निगमकल्पतरोर्गलितं फलं शुक्रमुखादमृतद्रवसयुतम् ।

पिबत भागवतं रसमालयं मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः ॥

वयं तु न वितृष्याम उत्तमश्लोकविक्रमे ।

यच्छृण्वतां रसज्ञानां स्वादु स्वादु पदे पदे ॥ (भागवत)

अर्थात्,

वेदकल्पतरु पै उपज्यौ फल, शुक्रमुख छूड़ गिरायौ ।

बह्यौ सुधा-‘रस’, पियौ ‘रसिक’ सब जब लगि लय नहि आयौ ॥

चरित पुनीत सुनत हरि के नित नित चित तृप्ति न जोहै ।

पद पद मे जाके निसरत ‘रस’ ‘रसिकन’ के मन मोहै ॥

कोई-कोई, गिने-चुने, ग्रंथ ऐसे महाभाग है, श्रीमद्भागवत, महाभारत, वाल्मीकीय रामायण, तुलसी रामायण, जिनमे ‘रस’ भी भरा है और स्वास्थ्यवर्द्धक आधिशोधक तोपक-पोपक सदाचारशिक्षक ज्ञान भी ।

नैपाऽऽतिदुःसहा क्षुन् मां त्यक्तोदमपि वाधते ।

पिवन्तं त्वन्मुखाम्भोजाच्च्युतं हरिकथाऽऽमृतम् ॥ (भागवत)

अर्थात्,

शुक सौं कहत परीक्षित राजा, अनशन बरत धरे,

तन झुरात दुःसह पियास मोहि जानिहु नाहि परै ।

जब लौ बदन-कमल तैं तुम्हरे हरि गुन-‘रस’ निसरै,

तौन अमृत कौ मन मेरो अति लोलुप पान करै,

स्थूल देह की सुधि विसारी सब सूक्ष्म प्राण भरै ।

‘रस’ क्या है ?

उसके कै भेद हैं ? उनमे परा-अपरा-जाति का परस्पर

सम्बन्ध है या नहीं ?

‘रस’ क्या है ? ‘अस्मिता’ का अनुभव, आस्वादन, रसन ही ‘रस’ है । इसका प्रतिपादन आगे किया जायगा । इस स्थान पर इतना कहना पर्याप्त होगा, कि पांच इंद्रियों के पांच विषयों मे, जिह्वा के ही विषय को ‘रस’ कहते हैं, और जिह्वा का पर्याय

'रसना' है। जल का गुण 'रस' है। स्या रसा पदार्थ, सूखी जिला पर रस दिया जाय, तो कुल स्वाद न निकलेगा। जिला भी आर्द्र हो, पदार्थ भी आर्द्र हो, तभी स्वाद आवेगा। जैसी 'तृप्ति' स्थूल शरीर की जल से होती है, वैसी अन्न से, अथवा वायु से भी, नहीं होती, यद्यपि प्राण के धारण के लिये वायु अधिक आवश्यक है। इस लिये मानस स्वाद का, आस्वादन का, बुद्धिपूर्वक विशेष प्रकार के अनुभवन का, भी संकेतन 'रस' शब्द ही से किया गया है। और जैसे भोज्य पदार्थ तीन राशियों में बाँटे जा सकते हैं, सुरस, कुरस, और नीरस, वैसे ही वाक्य और वाक्य-समूहरूप काव्य भी।

'साहित्य' शब्द का साधारण अर्थ ऊपर कहा। तदनुसार साहित्य-शास्त्र का अर्थ है। जैसे सब प्रकार की गिनतियों का शास्त्र 'गणित', ग्रह-नक्षत्रादि की गतियों का 'ज्योतिष', रोगों की चिकित्सा के उपायों का 'आयुर्वेद', वैसे ही सब प्रकार की कविताओं का शास्त्र 'साहित्य-शास्त्र' है। जो पदार्थों का राशियों में, जातियों में, संग्रह और सन्निवेश कर के, उन के कार्य-कारण-संबंध को अनुगमों और नियमों के रूप में बतावे, सिखावे, 'शासन' शंसन करे, और जिस के ज्ञान से मनुष्य के ऐहिक अथवा पारलौकिक अथवा उभय प्रकार के व्यवहार में सहायता मिले, भविष्य का प्रबन्ध किया जा सके, "ऐसा करने से यह फल मिलेगा, इस लिये ऐसा करना चाहिये, ऐसा नहीं", वह 'शास्त्र'। जिस शास्त्र से काव्य का तत्त्व, रहस्य, मर्म, मूल रूप, तथा उस के अर्वांतर अंग, सब परस्पर व्यूढ, परस्पर सम्यक्, रूप से जान पड़े, और जिस से कविता के गुण-दोष के विवेक की शक्ति जागे, तथा अच्छी कविता करने में सहायता मिले, वह 'साहित्य-शास्त्र'।

शास्त्रि यत् साधनोपायं पुरुषार्थस्य निर्मलम् ।

तथैव बाधनाऽपायं, तत् शास्त्रम् अभिधीयते ॥

चतुर्विध पुरुषार्थ में से किसी पुरुषार्थ के साधन का उपाय, और बाधन का अपाय अर्थात् विघ्नों को दूर करने की युक्ति, जो बतावै वह 'शास्त्र'। पुरुषार्थों के अधीन संसार के सभी विषय हैं, सभी उचित उपयोग से साधक, अनुचित प्रयोग से बाधक, हो सकते हैं।

संस्कृत में भरत मुनि का 'नाट्यशास्त्र' इस विषय का आकर-ग्रंथ और आदि-ग्रंथ भी माना जाता है। बहुत अन्य ग्रंथ छोटे-मोटे लिखे गये हैं। आज काल पढ़ने-पढ़ाने में दंडी के 'काव्यादर्श', आनंदवर्धन के 'ध्वन्यालोक', मम्मट के 'काव्य-प्रकाश', विश्वनाथ के 'साहित्य-दर्पण', का अधिक उपयोग देख पड़ता है। इन के आधार पर हिन्दी में भी अच्छे-अच्छे ग्रंथ बने हैं और बनते जाते हैं।*

कविता का प्राण 'रस' है, यह सब ने माना है। शब्द और अर्थ उस के शरीर हैं। शब्दालंकार, अर्थालंकार, उस के विशेष अलंकरण हैं। 'रसं वा सौन्दर्यं वा अलं पूर्णं कुर्वन्ति इति अलङ्काराः'—जो रस को, सौंदर्य को, बढ़ावे, पूरा करें, वे अलंकार। पर यह याद रखना चाहिये कि—

अस्ति चेद् रससम्पत्तिः अलङ्काराः वृथा इव ।

नास्ति चेद् रससम्पत्तिः अलङ्काराः वृथैव हि ॥

यदि रस की सम्पत्ति पूरी पूरी है तो अलंकार चाहे हों

* 'साहित्य-दर्पण' की एक उत्तम टीका, हिन्दी में, श्री शालग्राम शास्त्री साहित्याचार्य ने लिखी है, जो सं० १९७८ में लखनऊ में छपी है।

उस के छः भेद बताए हैं—स्मित, हसित, विहसित, अवहसित, अपहसित, अतिहसित। 'एको रसः करुण एव, निमित्तभेदात्' कई प्रकार का हो जाता है। इत्यादि। जैसे प्रत्येक स्थायी भाव के साथ एक स्थायी रस, वैसे प्रत्येक संचारी या व्यभिचारी भाव के साथ एक संचारी या व्यभिचारी रस होता है। अब प्रश्न यह है कि रसों में 'सामान्य'-'विशेष', 'परा'-'अपरा' जाति, है या नहीं?*

जहाँ तक देखने-सुनने में आया, और विद्वानों से पूछने पर जान पड़ा, इस विषय पर किसी ग्रन्थकार ने विचार नहीं किया, कि यह सब रस सर्वथा परस्पर भिन्न और स्वतन्त्र हैं, अथवा इन में भी राशीकरण हो सकता है, 'परा' 'अपरा' जाति का संबंध इन में भी है। किसी-किसी ने रसों की संख्या घटाने-बढ़ाने का यत्न तो किया है। यथा, 'वात्सल्य' रस दसवाँ है, ऐसा कोई मानते हैं। परमेश्वर की, अथवा किसी भी ईश्वर की, नववा 'भक्ति' के रस को भी अलग मानते हैं। कोई कहते हैं कि सब रस चमत्कारात्मक 'अद्भुत' के ही भेद हैं। पर विद्वल्लोकमत ने नौ को ही मान रक्खा है, और जो नए बताए जाते हैं उन का इन्हीं में इधर-उधर समावेश कर लेता है। पर इन नौ का जन्म कैसे; एक से दो, दो से चार, इत्यादि क्रम से, पर वा अपर 'सामान्यों' की, ये नौ 'अपर' जाति या 'विशेष' संतान हैं; या नहीं; इन प्रश्नों पर विचार नहीं मिलता। और बिना 'विशेषों' और 'अपरा जातियों' को 'सामान्य' की अँकवार में संग्रह किये, चित्त को सन्तोष नहीं।

*इस विषय की चर्चा दूसरे अध्याय, "हिन्दी-साहित्य", में थोड़े में की गयी है। उसी का कुछ विस्तार इस लेख में किया जाता है।

यदा भृतपृथग्भावन् एकरथम् अनुपश्यति ।

तत एव च विस्तारं प्राणं सम्पद्यते तदा ॥ (गीता)

पृथक्ता को एकता में स्थित, एकता को पृथक्ता में विस्तृत, जब पुरुष जान लेता है, तब उस का ब्रह्म अर्थात् वेद अर्थात् ज्ञान संपन्न, संपूर्ण, होता है, तथा तब पुरुष अर्थात् जीव ब्रह्ममय, ब्रह्मरूप, निष्पन्न हो जाता है ।

इसलिये इस प्रश्न पर विचार करना उचित है ।

‘रस’ पदार्थ सब नौ रसों का ‘सामान्य’ स्पर्श ही है । ‘रस’ के स्वरूप की भी मीमांसा करने से स्यात् पता चले, कि इस एक के सद्यः नौ की पृथक्-पृथक् उत्पत्ति हुई, अथवा एक से दो या तीन, और दो या तीन से चार या छः या नौ, इस क्रम से ‘परा अपरा जाति’ और ‘विशेष’ के रूप से जन्म हुआ ।

‘रस’ का मुख्य अर्थ ‘जल’ ‘द्रव’ है ।

सहस्रगुणम् उत्सृष्टुम् आदत्ते हि रसं रविः । (रघुवश)

जैसे सूर्य, जो ‘रस’ अर्थात् जल पृथ्वी पर से सोखता है, उस का सहस्र गुना वर्षा काल में लौटा देता है, वैसे सच्चा सदाचारी राजा, जो बलि अर्थात् कर प्रजा से लेता है, उस सब को उसी प्रजा की भलाई के लिये प्रजा पर ही व्यय करता है, अपनी आरामतलवी और ऐयाशी बदमाशी में नहीं ।

अमरकोष में जल के पर्यायो में ‘घनरस’ है ।

आम का रस, ईख का रस, पान का रस, अनार, अंगूर, नारंगी आदि का रस—यह सब उस के ‘विशेष’ हैं । रस के ‘आस्वादन’, चपण, (फारसी में ‘चशदिन’), धीरे धीरे चखने से, जो ‘अनुभव’ हो, उस को भी ‘रस’ कहते हैं ।

यदि भूखा वच्चा जल्दी-जल्दी आम खा जाय, तो उस को ‘स्वाद’ तो अवश्य आवेगा ही, पर भूख की मात्रा अधिक और

खाद की मात्रा कम हो तो 'रस' नहीं आवेगा। खा चुकने पर जब उस के मुँह पर मुस्कराहट और आँखों में चमक देख पड़े और वह कहे कि 'बड़ा मीठा था', तब जानना चाहिये कि उस को 'रस' आया। खाते वक्त भी, कवलो को जल्दी जल्दी निगल न जाय, एक एक लुकमे को ज़वान पर देर तक रख कर, चुभला कर, चवा कर, चर्वण कर, उस का ज़ायका ले, और पहिचाने और कहे कि इस का ऐसा और उमदा (या खराब) ज़ायका है, तौ भी उस को 'रस' (या 'कुरस') आ रहा है।

ऐसे ही, दो मनुष्य, क्रोध में भरे, एक दूसरे पर खड्गों से प्रहार कर रहे हों, तो दोनों का 'भाव' रौद्र अवश्य है, पर उनको रौद्र का 'रस' नहीं आ रहा है; किन्तु, यदि एक मनुष्य दूसरे को गहरा घाव पहुँचा कर और बेकाम कर के ठहर जाय और कहे—'क्यों, और लड़ोगे, फिर ऐसा करोगे, अब तो समझ गए न?' तो उस को रौद्र 'रस' आया, ऐसा जानना चाहिये। दो लड़के कुश्ती लड़ते हैं; शोर करते हुए, हाँफते हुए, दाँत पीस कर, एक दूसरे को गिरा देने, हरा देने, के जतन में तन मन से लगे हैं, उन को 'वीर-रस' नहीं, 'वीर-भाव' है। पर एक लड़का दूसरे को पटक कर अलग खड़ा हो जाता है और कहता है 'क्यों कैसा पटका'! अब इसको 'वीर-रस' आया; दूसरे को लज्जा या क्रोध का 'भाव' हुआ; लड़ते समय दोनों को 'वीर-भाव' था, लेकिन अगर, लड़ते वक्त भी, बीच बीच में, मुस्कराते हुए, एक दूसरे से कहें कि 'देखो अब तुमको पटकता हूँ', तो उस उस समय उनको 'वीर-रस' भी आ रहा है। किसी दुःखी दरिद्र को देख कर किसी के मन में करुणा उपजे और उस को धन दे, वा अन्य प्रकार से उस की सहायता करे, तो दाता तो करुणा का, दया का,

दुःखी को शोक में अनु-रूपा, अनु-मोक्ष, अनु-शोक, (अंग्रेजी में 'सिम-पैर्थ') का 'भाव' हुआ, पर 'रस' नहीं आया, यदि सहायता कर चुकने के बाद उस के मन में यह वृत्ति उत्पन्न हो—'कैसा दुःखी था, कैसा दरिद्र था, कैसा रूपापात्र था', तो जानना कि उस को करुण रस आया। महापुरुष की कथा को सावधान सुनना, और उसके प्रति भक्ति का 'भाव' उपजना भी, 'रस' नहीं, पर मन में यह वृत्ति उदित होना कि 'वाह, कैसे अलौकिक उदार महानुभाव चरित है, इनके सुनने से हृदय में तत्काल कैसी उत्कृष्ट भक्ति का संचार होता है, कैसे सात्विक भाव चित्त में उदित होते हैं'—यह 'रस' का आना है। किसी को किसी दूसरे से किसी विषय में तीव्र ईर्ष्या, मत्सर, का 'भाव' उत्पन्न हो, पर उसके वश हो कर वह कोई अनुचित कार्य न कर बैठे, और उस भाव की वर्त्तमानता में ही, अथवा उस के हट जाने या मंद हो जाने पर, अपने से या मित्रों से कहे—'कैसा दुर्भाव था, क्या-क्या पाप करा सकता था', तो जानना कि उसको ईर्ष्या का 'रस' आया। पहलवान अपनी भुजा को देखता, ठोकता, और प्रसन्न होता है, अपने बल का 'रस' लेता है। सुंदर स्त्री पुरुष अपने रूप को 'दर्पण' में ('दर्प-यति इति दर्पणः') देख कर आनंदित होते हैं, 'मैं ऐसा रूपवान्, ऐसी रूपवती, हूँ', अपने रूप का 'रस' लेते हैं।

जैसे वच्चे तीती वस्तु को चीख कर 'सी-सी' करते हैं और फिर भी चीखना चाहते हैं, अर्थात् यदि अति मात्रा में तीतापन नहीं है तो उस में दुःख मानते हुए भी सुख मानते हैं, सो दशा साहित्य के उन रसों की है जिन के 'भाव'—यथा भय, वीभत्स, आदि—'दुःख'-द भी है, पर उन के 'स्मरण' में ('सुख'-मय नहीं तो) आनंद-मय 'रस' उठता है।

क्यों सुख में भी जीवात्मा को 'आनन्द' मिलता है, और दुःख में भी (सुख नहीं) 'आनन्द' मिलता है, तथा भयानक और वीभत्स आदि कथाओं में क्यों 'रस' मिलता है—इस का विस्तार से विचार करने का यत्न, "दि सायंस आफ़ दि इमो-शन्स" नाम की अंग्रेज़ी में लिखी पुस्तक में, मैं ने किया है। थोड़े में, 'मैं हूँ', आत्मा को अपने अस्तित्व का अनुभव करना ही, 'आनन्द' है। परमात्मा सब साऽन्त भावों का 'विद्या' द्वारा निषेध कर के 'मैं मैं ही हूँ, मैं से अन्य कुछ भी नहीं हूँ', अनन्त 'आनन्द' का सदा एकरस अखंड स्वाद लेता है। जीवात्मा, 'अविद्या'-द्वारा साऽन्त भावों को आँढ़ कर, 'मैं यह शरीर हूँ', शरीर की सभी अवस्थाओं और क्रियाओं से अपने अस्तित्व का अनुभव करता है, चाहे वह अवस्था या क्रिया सुखमय हो या दुःखमय हों; चल्कि, दुःख में अपने अस्तित्व का अनुभव और तीव्र हो जाता है; प्रसिद्ध है कि सुख का वर्ष दिन बराबर, दुःख का दिन वर्ष बराबर। तथापि, काम-क्रोध आदि क्षोभात्मक भावों में अपने अस्तित्व का अनुभव अधिक तीक्ष्ण होता है। 'काममय एवाऽयं पुरुषः', 'चित्तं वै वासनात्मकम्'। 'काममयः' अर्थात् 'इच्छामयः', अर्थात् 'इच्छान्तर्गत-सर्वप्रकारक-काम-क्रोध-लोभादिमयः जीवात्मा'। अत एव, इच्छा, वासना, तृष्णा, के क्षय से मोक्ष अर्थात् परमात्म-भाव सिद्ध होता है। सुख दुःख दोनों से (विशेष अर्थ में) 'आनन्द' होता है ("जो मज़ा इन्तिज़ार में देखा, वो नहीं बसलियार में देखा"; "धिपदः सन्तु नः शश्वत् तत्र तत्र जगद्गुरो, भवतो दर्शनं यत् स्याद् अपुनर्भवदर्शनं।")। काव्यादि में भयानक वीभत्स आदि के वर्णन से आनन्दात्मक स्पृहणीय 'रस', दो प्रकार की विरह प्रकृतियों के, तवीयतों के, लोगों को उड़ता है, और वे

उसको शोक से, रुचिपूर्वक, न्यूनते पढ़ते हैं। एक किम्ब वह जो अपने ऊपर भयकारक वीभत्सोत्पादक बलवान् की सत्ता का 'स्मरण', आवाहन, कल्पन, कर के, वह रस चरते हैं जो रस को अपने बल का प्रयोग दुर्बलों को पीड़ा देने के लिये करने से होता है।

विद्या विवादाय, धन मदाय, शक्ति परेषा परिपीडनाय ।

परस्य, साधोर्विपरीतमेतत्, ज्ञानाय, दानाय, च रक्षणाय ॥

दूसरी प्रकृति के लोग, पीड़ित, भयभीत, वीभत्सित, के भावका अपने ऊपर, उद्भावन चितन कर के, उसके साथ अनुकम्पा के कष्ट रस का, और दुष्ट के ऊपर क्रोध घृणा आदि के रस का, आस्वादन करते हैं, और सचमुच दुःखी इस लिये नहीं होते कि निश्चय से जान रहे हैं कि यह सब मिथ्या कल्पना है, कहानी है, वास्तव में यह कष्ट हम को नहीं है।

निष्कर्ष यह कि अबुद्धिपूर्वक, अनिच्छापूर्वक, 'स्वाद' नहीं, किंतु बुद्धिपूर्वक, इच्छापूर्वक, 'आस्वादन' की अनुशयिनी चित्त-वृत्ति का नाम 'रस' है। 'भाव' (क्षोभ, संरंभ, संवेग, आवेग, उद्वेग, आवेश, अंगरेजी में 'ईमोशन') का अनुभव 'रस' नहीं है, किंतु उस अनुभव का 'स्मरण', प्रति-संवेदन, 'आस्वादन', 'रसन', रस है। 'भावस्मरणं रसः'। और आस्वादन का रूप यह है—'मै क्रोधवान् हूँ (अहं क्रोधवान् अस्मि'), 'मै (अहं) करुणावान् हूँ (अस्मि)', 'मै शोकवान् या अनु शोकवान् हूँ', 'मै भक्तिमान् हूँ', 'मै ईर्ष्यावान् हूँ', 'मै बलवान् हूँ', 'मै सुरूप हूँ'। अर्थात् 'मै हूँ'—यही रस का सार-तत्त्व है 'रस-सामान्य' है।

ऐतरेय ब्राह्मण में क. - " पुरुषे त्वेवाविस्तरामात्मा,
स हि प्रज्ञानेन सम्प तं वदति, विज्ञातं पश्यति,

(पशवः) न विज्ञातं वदन्ति, न विज्ञातं पश्यन्ति, ... ” । पशु जानते हैं, देखते हैं, बोलते हैं; पर यह नहीं जानते कि हम जान, देख, बोल रहे हैं । मनुष्य जानता, देखता, बोलता है, और साथ ही यह भी जानता है कि हम जान, देख, बोल रहे हैं । इस लिये पुरुष में आत्मा का आविर्भाव सब प्राणियों से अधिक है, उस में ज्ञान भी है और प्रज्ञान भी है । आत्मज्ञान का आरम्भ, मनुष्ययोनि में पहुँच कर, जीव को होता है । इसी लिये “मोक्षस्तु मानवे देहे” । ऐसा ऐतरेय ब्राह्मण में कहा तो सही कि पशु “न विज्ञातं वदन्ति”, पर इसको भी “वैशेष्यात् तु तद्वादः”, सापेक्ष उक्ति जानना चाहिए । पशु सर्वथा इस प्रकार के ‘प्रज्ञान’ से रहित ही हैं, ऐसा भी नहीं कह सकते; क्योंकि वे ‘खेलते’ हैं, और ‘खेलना’, ‘क्रीड़ा’, ‘लीला’, का मर्म ‘आत्मानुभव रस’ ही है । मुँह से, व्यक्त वाणी से, वे यह नहीं कह सकते हैं कि हम को यह-यह अनुभव हो रहा है, पर ऐसा कह सकने का बीज उन में है अवश्य; वल्कि व्यक्त नहीं तो अव्यक्त अस्पष्ट विविध प्रकार की ध्वनियों से, आवाजों से, कहते भी हैं, कुत्ते के, खेलने के मिथ्या भूँकने और गुर्राने में, औ सचमुच गुस्से के भूँकने और गुर्राने में, बहुत भेद होता है । ऐसे प्रज्ञान के और कह सकने के बीज का पशुओं में भी होना उचित ही है, क्योंकि वे भी तो परमात्मा चैतन्य की ही कला हैं । और यह सब अनन्त जगत् (‘पुनः पुनः गच्छति, जंगम्यते, सदा गच्छत्येव, इति जगत्’), अनन्त संसार (‘संसरति इति’, चलता ही रहता है), परमात्मा की लीला, क्रीड़ा, रसाऽऽस्वादन, आत्मानुभव ही है ।

लोकवत् तु लीलाकैवल्यं । (ब्रह्मसूत्र)

क्रीदन्निवैतत् कुरते परमेष्ठी पुनः पुनः । (मनु)

स्वाभाविक चाग्ना ('इन्स्टिक्ट') से मनुष्य 'नाटक' के साथ 'गेलना' का प्रयोग करते हैं। अंग्रेजी में भी 'ड्रामा' को 'प्ले' कहते हैं। 'नटना' का अर्थ 'बनना'। 'गेलना' का अर्थ जान बूझ कर कोई बनावटी काम, मन बहलाव के लिये, करना, 'सचमुच नहीं, मानो ऐसा'। ठीक यही अर्थ 'मा-या' का है। 'या मा', जो है नहीं, पर मालूम होती है कि है। जगन्नाटक, परमात्मा की बाल-लीला ही है। वह इसका सदा रस लेता रहता है।

जानना, इच्छा करना, क्रिया करना, और इसको अनुभव करना, पहचानना, प्रत्यभिज्ञान करना, प्रज्ञान करना, कि हम में ज्ञान, इच्छा, क्रिया हो रही है—इस बुद्धि-वृत्ति को विविध दर्शनो में विविध नामों से कहा है। यथा—अनुव्यवसाय, प्रतिसंवेदन, प्रत्यभिज्ञान, प्रत्ययानुपश्यता, निजबोध, प्रत्यक्ष चेतना, आलयविज्ञान प्रभृति। इनमें 'प्रस्थानभेद से दर्शनभेद' के न्याय के अनुसार सूक्ष्म-सूक्ष्म भेद हो सकता है, पर मुख्य आशय एक ही है, अर्थात् बहिर्मुखीन विगेष वृत्तियों के साथ-साथ, उन में अनुस्यूत 'अहं अस्मि', 'मैं हूँ', इत्याकारक अखंड एक-रस निर्विशेष अंतर्मुखीन वृत्ति।

बाह्य पदार्थों के अनुभव के साथ साथ यह आत्मानुभवरूपिणी वृत्ति सत्-विद्यमान है, चित्त-चेतन है, आनंद-सुखमय है। इस 'मैं हूँ' में जो 'आनंद' का अंश (अंग, अवयव, कला, मात्रा, रूप, भाव, पहलू) है वही 'रस' बुद्धि है, उसी का पर्याय 'रस' है। इसी लिये उपनिषदों में आत्मा के विषय में कहा है, "रसो वै सः", "स एष रसानां रसतमः", "रसं ह्येवाऽयं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति", "कृत्स्नो रसघन एव", "सद्घनोऽयं चिद्घन आनन्दघनः", "आत्मनस्तु कामाय सर्वं वै प्रियं भवति",

“सोऽयमात्मा श्रेष्ठश्च प्रेष्ठश्च”, “आङ्गिरसो अङ्गानां हि रसः”, “प्राणो हि वा अङ्गानां रसः”, “एष हि वा अङ्गानां रसः”, “स एवाऽयं मुख्यः प्राणः”, “आपयिता ह वै कामानां भवति य एतदेवं विद्वानक्षरमुपास्ते”, “को ह्येवाऽन्यात् कः प्राण्यद् यदेव आनन्दो न स्यात्”, “सैषा आनन्दस्य मीमांसा भवति” । ‘अहम् अस्मि’—यही सन्मय, चिन्मय, आनन्द-रस-मय है। आत्मा का, किसी ‘अनात्मा’ के वहाने से, (‘विद्या’ में अनात्मा के नि-पेध प्रतिपेध से, ‘अविद्या’ में अनात्मा के आ-सेध उप-सेध से) अपनी सत्ता का आस्वादन—यही रस, लीला, क्रीड़ा, नटन है। कविता में श्रेष्ठ नाटक इसी कारण से है, “काव्येषु नाटकं श्रेष्ठम्”, कि नाटक में प्रत्यक्ष ही पात्र ‘वनते’ हैं, अपने को अपने से अन्य ‘वनाते’ हैं; ‘बुद्धिपूर्वक, लीला से, माया से (‘या-मा’) जो नहीं हैं वह ‘वन’ जाते हैं, और उस में अधिक रस मानते हैं, अधिक आनन्द पाते हैं। ऐसा क्यों होता है, परमात्मा को, ब्रह्म को, ब्रह्म में, ब्रह्म से, मा-या क्यों भासती है—यह वेदान्त का गूढ़तम प्रश्न है। इसका पुराना उत्तर, नये शब्दों में, ‘समन्वय’ नामक ग्रन्थ के अन्तिमाध्याय में, तथा ‘दि सायंस आफ़ पीस’ नामक अंग्रेज़ी ग्रन्थ में, देने का यत्न किया गया है।

‘चैतन्य’ का परोक्ष नाम ‘आत्मा’ है, ‘अपरोक्ष’ नाम ‘अहम्’ है। ॐ भी उसका नाम है, पर थोड़ा ‘अव्यक्त’ सा है : ।

❀ इस विषय पर मैंने अपने ‘समन्वय’ नामक ग्रन्थ के अन्तिमाध्यायों में—‘प्रणव की पुरानी कहानी’ और ‘महासमन्वय’ में—कुछ विस्तार किया है। तथा ‘प्रणव-वाद’ और ‘दि सायंस आफ़ पीस’ नामक अंग्रेज़ी ग्रन्थों में प्रणव के अर्थों पर विस्तार से विचार किया है।

'अहम्'—यह दिन-दिन के व्यवहार में कुछ अधिक व्यक्त जान पड़ता है। संस्कृत वर्णमाला का आदिम अक्षर 'अ' और अंतिम 'ह' है। इन दोनों के बीच में अन्य सब अक्षर हैं। अक्षरों के संयोग में सब वाक्य हैं, जो अनन्त प्रकार के ज्ञान, इच्छा, क्रिया के वाचक बोधक हैं। तत्रशास्त्र में एक-एक अक्षर से एक-एक तत्त्व की, एक-एक पदार्थ की, जिनका वर्णन साख्य आदि दर्शनों में किया है, सूचना होती है। यह भी देखने की बात है कि यदि मुह खोल कर साँस ली जाय, तो भीतर खींचते समय प्रायः 'अ' की सी ध्वनि होती है और बाहर छोड़ते समय 'ह' की सी आवाज़ होती है, तथा बोलने की क्रिया सब श्वास ही की क्रिया है, हाफता हुआ आदमी बोल नहीं सकता, साँस को रोके हुए, अंतःकुम्भक या वहिःकुम्भक किये हुए भी बोल नहीं सकता, श्वास को धीरे धीरे छोड़ते हुए ही वर्णों का उच्चारण कर सकता है, इस हेतु से भी जीव का 'अ-ह-म्' नाम उचित है, 'स्वरं श्वासं अनु', सब स्वर के साथ साथ, अव्यक्त या व्यक्तरूप से, 'म्', 'अनुस्वार', भी नासिका से आती जाती साँस के साथ, लगा ही रहता है। 'अहम्' इस आद्य अंत्य (और सर्वव्यापी मध्य) अक्षरों के संयोग से आत्मा की निगूढ सर्वज्ञता सूचित होती है, तथा यह भी कि "अहम् एव सर्वः", "मयि स्थितमिदं जगत् सकलमेव", सब पंचविंशति, षड्विंशति, पटत्रिंशत् प्रभृति तत्त्व एक 'अहम्' के, 'मै' के, भीतर हैं, 'मै' किसी के भीतर नहीं है। इस विश्वंभरता विश्वोदरता की 'भूमा' के, बड़ाई के, परम महत्त्व के, आस्वादन से बढ़ कर कौन आनन्द-रस-आस्वादन हो सकता है? जो भी कोई, कुछ भी, रस-आनंद है, वह सब इसी की छाया है।

इति नानाप्रसंख्यानं तत्त्वानां कविभिः कृतम् ।

सर्वं न्याय्यं युक्तिमत्त्वाद् विदुषां किमसाम्प्रतम् ॥ (भागवत)

कवियों ने तत्त्वों की संख्या नाना प्रकार से की है; सभी युक्ति-युक्त हैं; समुझदार पुरुष सब का समन्वय कर ले सकते हैं ।

इस 'अहम्' मे, 'अस्मि' मे, आनन्द का अंश 'रस' है, ऐसा कहा । यहाँ एक धोखा होने का भय है । ऊपर कहे 'विद्या' और 'अविद्या' के भेद से उस का निवारण हो जाना चाहिये । तौ भी दूसरे शब्दों मे दुहरा देना स्यात् अच्छा होगा । 'अहम्' नाम परमात्मा (वा प्रत्यगात्मा) का भी है, और जीवात्मा का भी । दोनों मे एकता होते हुए भी जो भेद है वह प्रायः प्रसिद्ध है । देश-काल-द्रव्य आदि से परिच्छिन्न, अवच्छिन्न, परिमित, विशेषित, आधिभौतिक शरीर की उपाधि से उपहित, चैतन्य को जीवात्मा कहते हैं । इन सब से अतीत चैतन्य को परमात्मा कहते हैं । ऐसे ही एक 'अस्मिता' परमात्मा की, और एक 'जीवात्मा' की, होती है । पुराणों मे, दर्शनसूत्रों मे, बताया है, कि परमात्मा मे विद्या अविद्या दोनों भासती है । अनंत आत्मा अपने को शान्त, टाड़-मांस का बना शरीर, मान ले, तो इसे 'अविद्या', अर्थात् सीधी चोली मे, मूर्खता, कहना चाहिये । पर अपनी ही 'माया' से परमात्मा इस 'मूर्खता' मे पड़ा हुआ 'भासता' है, सबमुच पड़ा नहीं है, इससे 'अविद्या' बनावटी है, नाटक है, लीला और क्रीड़ा है । जैसे दूब मे से 'पोर' निकलती है वैसे अविद्या मे से भी 'पर्व' निकलते हैं । पहली पोर स्वयं 'अविद्या', दूसरी 'अस्मिता', तीसरी 'राग', चौथी 'द्वेष', पाँचवीं 'अभिनिवेश' (दृष्ट से, आग्रह से, शरीर मे निविष्ट हो जाना, घुस जाना, धँस

जाना, ‘मैं यह हाड़-मांस ही हूँ’, ‘यह बात यों ही है’, ‘जो बात मैं मानता कहता हूँ वही ठीक है’) । इस लिये ‘पंच-पर्याय’ अविद्या । ‘विद्या’ के साथ रहनेवाली ‘अस्मिता’, पारमात्मिक, पारमार्थिक, अस्मिता । ‘अविद्या’ के साथवाली ‘अस्मिता’, सांसारिक, व्यावहारिक, जैवात्मिक । ‘मैं साऽन्त पदार्थ नहीं हूँ, मैं मैं ही हूँ, मैं से अन्य कुछ नहीं हूँ’,

‘अहमेव, न मतोऽन्यत्’ (भागवत) ।

‘मत्त परतर नाऽन्यत्’ (गीता),

‘यत्र नाऽन्यत् पश्यति स भूमा’ (वृ० आ० उपनिषद्)

—यह ‘विद्या’ । ‘मैं यह शरीर हूँ’—यह ‘अविद्या’ ।

जैसे पारमार्थिक अस्मिताऽऽनुभवरूपी ‘रस’, पारमार्थिक ‘आनन्द’, ब्रह्मानन्द का पर्याय है, वैसे ऐहार्थिक व्यावहारिक अस्मिताऽऽनुभवरूपी ‘रस’, लौकिक काव्यसाहित्य से संबंध रखनेवाले ‘आनन्द’, विषयानन्द, का पर्याय है । यह आनन्द उस आनन्द की, यह रस उस रस की, छाया है, नकल है ।

सर्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मय ।

वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदर ॥

लोकोत्तरचमत्कारप्राण कैश्चित्प्रमानृभि ।

स्वाकारवदभिज्ञत्वेनाप्यमास्वाद्यते रस ॥

(साहित्य-दर्पण)

सत्त्वगुण का चित्त में उद्रेक होने पर, जो अनुभव, अखंड, स्व-प्रकाश, आनन्दमय, चिन्मय, ब्रह्मास्वाद का सगा भाई, अनुभूत होता है, जिस में कोई दूसरा वेदनीय पदार्थ छू नहीं गया है, अलौकिक लोकोत्तर चमत्कार ही जिस का प्राण है, जिस को कोई कोई विशिष्ट बुद्धिवाले प्रमाता ही अनुभव कर सकते हैं, जो अनुभव करनेवाले से अभिन्न जान पड़ता है, जैसे अपना

... ..

... ..

... ..

... ..

जाना, ‘मैं यह हाड़-मांस ही हूँ’, ‘यह वात यों ही है’, ‘जो वात मैं मानता कहता हूँ वही ठीक है’)। इस लिये ‘पंच-पर्वा’ अविद्या। ‘विद्या’ के साथ रहनेवाली ‘अस्मिता’, पारमात्मिक, पारमार्थिक, अस्मिता। ‘अविद्या’ के साथवाली ‘अस्मिता’, सांसारिक, व्यावहारिक, जैवात्मिक। ‘मैं साऽन्त पदार्थ नहीं हूँ, मैं मैं ही हूँ, मैं से अन्य कुछ नहीं हूँ’,

‘अहमेव, न मतोऽन्यत्’ (भागवत)।

‘मत्त परतर नाऽन्यत् (गीता),

‘यत्र नाऽन्यत् पश्यति स भूमा’ (वृ० आ० उपनिषत्)

—यह ‘विद्या’। ‘मैं यह शरीर हूँ’—यह ‘अविद्या’।

जैसे पारमार्थिक अस्मिताऽऽनुभवरूपी ‘रस’, पारमार्थिक ‘आनन्द’, ब्रह्मानन्द का पर्याय है, वैसे ऐहार्थिक व्यावहारिक अस्मिताऽऽनुभवरूपी ‘रस’, लौकिक काव्यसाहित्य से संबंध रखनेवाले ‘आनन्द’, विषयानन्द, का पर्याय है। यह आनन्द उस आनन्द की, यह रस उस रस की, छाया है, नकल है।

सत्त्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मय ।

वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदर ॥

लोकोत्तरचमत्कारप्राण कैश्चित्प्रमातृभि ।

स्वाकारवदभिन्नत्वेनाऽयमास्वाद्यते रस ॥

(साहित्य-दर्पण)

सत्त्वगुण का चित्त में उद्रेक होने पर, जो अनुभव, अखंड-स्व-प्रकाश, आनन्दमय, चिन्मय, ब्रह्मास्वाद का सगा भाई, अनुभूत होता है, जिस में कोई दूसरा वेदनीय पदार्थ छू नहीं गया है, अलौकिक लोकोत्तर चमत्कार ही जिस का प्राण है, जिस को कोई कोई विशिष्ट बुद्धिवाले प्रमाता ही अनुभव कर सकते हैं, जो अनुभव करनेवाले से अभिन्न जान पड़ता है, जैसे अपना

बड़े ध्यान से, और रसिकता तथा साहित्यज्ञता और मातृता का अभिमान छोड़ कर, यदि साहित्यदर्पणकार ब्रह्मान् देखते, तो उनको स्पष्ट विदित होता कि नटखट (? 'नट' के ऐसा जान बूझ कर 'खटपट' करने वाले) बच्चे, हास्य, रौद्र, शयानक, वीर, अद्भुत, करुणा, और वीभत्स रसों के, उन से, और नट वृत्ति से जीविका करनेवालों को छोड़ कर, प्रायः सभी नयानों से, अधिक प्रज्ञाता और नटयिता होते हैं। बूढ़ों की कल करना, उन को चिढ़ा कर भागना, एक दूसरे को डराना, शूरवीर का अभिनय करना, हाथों से मुह ढाँक कर मिथ्या रोना, ये सब वाद्यावस्था में स्वाभाविक हैं, और रसप्रमातृत्व के प्रमाण हैं। पर, इस में संदेह नहीं कि ऊपर के उद्धृत श्लोकों का अभिप्राय ठीक है, चाहे बहुत सूक्ष्मेक्षिका से अर्थ-परिष्कार और शब्द-परिष्कार करने लगे तो कुछ परिवर्तन करना पड़े। अस्तु।

‘रस’ के अति सेवन के दोष

‘काव्य’ के कई प्रयोजन कहे हैं—

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये ।

सद्य परनिर्वृतये कान्तासन्मिततयोपदेशयुजे ॥

(काव्यप्रकाश)

पर मुख्य प्रयोजन ‘निर्वृतये’, रस का आनंद ही है। व्यवहारज्ञान नितान्त उपयोगी है, पर वह काव्य के आनुपंगिक ऐतिहासिक अंग का फल है, जैसे ‘निर्वृति’ इतिहास-पुराण के काव्यांग का फल है। हाँ, यदि काव्य का अर्थ कोई भी लेख, संदर्भ, या निबंध किया जाय, तो अवश्य उद्धृत श्लोक ठीक हो सकता है। उस पर भी कहना होगा कि अन्य सब प्रयोजक फल, यश, धन, आदि, गौण हैं, और निर्वृति-साधकता और

करुणादावपि रसे जायते यत्परं सुखम् ।
 सचेतसामनुभव. प्रमाणं तत्र केवलम् ॥
 किं च तेषु यदा दुःख न कोऽपि स्यात्तदुन्मुख. ॥

(साहित्य-दर्पण)

करुण आदि रसो मे भी बड़ा 'सुख' मिलता है, इसका प्रमाण 'सचेत', 'सहृदय', लोगो का अनुभव ही है, यदि सुख न मिलता तो इसकी ओर उन्मुख क्यों होते ।

करुण रस की कहानी कभी-कभी बच्चे तक शौक से सुनते हैं । ग्रामगीत तो अधिकांश अत्यन्त करुणाजनक होते हैं, जैसी करुणा 'उत्तररामचरित' मे भी मिलना कठिन है । उन्हे ग्राम की खिरियाँ बड़े चाव से गाया करती है । यदि उन गीतो से दुःख ही होता तो क्यों सुने, गाए, पढ़े जाते ? पर यह भी व्यक्ति व्यक्ति की प्रकृति पर आश्रित है । कोई अति कोमल, मृदुवेदी बालक, स्त्री, पुरुष ऐसी करुण कथा को नहीं सुन सकते ।

पिकाद्वने शृण्वति मृद्गहूटकृतैर्दशामुदञ्जकरुणे वियोगिनाम् ।

अनास्थया सूनकरप्रसारिणी ददर्श दून स्थलपद्मिनी नल. ॥

(नैपथचरित)

कोकिल, बिन्दुड़े हुए प्रेमियो की करुण कथा, जंगल से कह रही थी, जगल उस को ध्यान कान लगा कर सुन रहा था, और भौरो की गूँज से हुंकारी भर रहा था । पर स्थल पद्मिनी को इतना दुःख हुआ कि वह सुन न सकी, और फूल के हाथ फैला कर उस ने कोकिल को मना किया । कवि ने यहां तो उत्प्रेक्षा ही की है, पर एक मानव-प्रकृति के अनुकूल ही की है । इसके विरुद्ध, दूसरी प्रकृति के लोगो मे, कहीं-कहीं, कभी-कभी ऐसा भी देखा गया है, जैसा 'नीरो' नामक 'रोम'-राज्यके सम्राट् (ईसा की पहिली शताब्दी मे), तथा उस देश

रक्षक और भक्षक. देव और दैत्य, के बीच में बहुत सूक्ष्म अंतर है। "श्रुरस्य धारा निशिता दुरत्यया"। थोड़ी भी भूल हुई और विष्णु के पार्षद, हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्ष हो गए, दैत्य-योनि में आ गिरे। इस लिये इस मार्ग पर बहुत सावधानी से चलना चाहिए। परिष्कृत, संस्कृत, 'रस' के थोड़े आस्वादन तक संतोष करना. चटनी, अचार, खटाई, मिठाई से पेट न भरना, उसी मात्रा में इनका सेवन करना जितने से प्रधान भोज्य—काव्य के पुष्टिकारक अंग, इतिहास आदि—के भोजन को रुचिकर बनाने में, और उसका पाचन करने में, सहायता मिले। तथा इस ओर ध्यान सदा रखना, कि काव्य और नाटकों के धीरे, उदात्त, ललित, शांत, दक्षिण, नायक-नायिकाओं की परिष्कृत सुरस रीति-नीति, बोल-चाल, हाव-भाव का अनुकरण यथाशक्य यथोचित अपने जीवन में किया जाय, शुद्ध, क्षोभालु, नीच, उद्धत, अमद्ग, शठों का नहीं। पुरुषार्थ के साधक व्यवहार का ज्ञान इतिहास से मिलता है। उसका निचोड़ पुरानों ने यों कह रखा है।

रामवद् आचरितव्यम्, न रावणवत् ।
 अष्टादशपुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम् ।
 परोपकार पुण्याय, पापाय परपीडनम् ॥
 स्वयं कृतं स्वेन फलेन युज्यते ।
 नाऽधर्मश्चरितो लोके सद्यः फलति गौरिव ।
 शनैरावर्त्तमानस्तु कर्त्तुं मुंलानि कृतंति ॥
 अत्युग्रपुण्यपापानामिहैव फलमश्नुते ॥

मर्यादा पुराण, प्रमाण पुराण, राम के ऐसा आचरण करो, रावण के ऐसा नहीं. अठारह पुराणों में व्यास जी ने बात दो ही कही है, परोपकार से पुण्य होता है और परपीडन से पाप

जो जो उस की विरोधक हानिकारक है उन की ओर 'द्वेष', 'क्रोध', और 'अपकर्षण', 'प्रक्षेपण', के भाव तत्काल अवश्य उत्पन्न होते हैं ।

मुनेरपि वनस्थस्य स्वकर्माण्यनुतिष्ठत ।

उत्पद्यन्ते त्रयः पक्षा मित्रोदासीनशत्रवः ॥ (महाभारत)

वानप्रस्थाश्रमोचित अपने धर्म कर्म में लीन, जंगल में रहनेवाले, मुनि के भी तीन पक्ष उत्पन्न हो ही जाते हैं, मित्र, शत्रु और उदासीन ।

जब तक शरीर और उस के पोषण की इच्छा और आवश्यकता है, तब तक चाहे कितनी भी विरक्त मुनि-वृत्ति से रहे, मनुष्य के—मित्र, शत्रु, और उदासीन—तीन प्रकार के पास-वर्ती हो ही जाते हैं । राग का विषय मित्र, द्वेष का विषय शत्रु, दोनों से रहित, तटस्थ, उदासीन । जो अपने को सुख दे वह राग का विषय, दुःख दे वह द्वेष का विषय । 'सुखाद् रागः', 'दुःखाद् द्वेषः', (योग और वैशेषिक सूत्र) ।

इच्छाद्वेषात्मिका वृष्णा सुखदुःखात्प्रवर्तते ।

वृष्णा च सुखदुःखाना कारण पुनरुच्यते ॥ (चरक)

सुख-दुःख । राग-द्वेष ।

सुख-दुःख क्या है ? 'अहम्' की वृद्धि का अनुभव सुख, और हास का अनुभव दुःख । "नाल्पे वै सुखमस्ति, भूमैव सुखम्, यत्र नान्यद्विजानाति स भूमा" । (छांदोग्य)

सर्वं परवशं दुःखं, सर्वमात्मवशं सुखम् ।

एतद्विद्यात्समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः ॥ (मनु)

'अपने' को, 'आत्मा' को, 'दूसरे' से कम जानना, दूसरे के अधीन जानना, यही दुःख है । "पराधीन सपनेद्दुःखं नास्ति" ।

राग और द्वेष के तीन तीन मुख्य भेद ।

राग के तीन भेद होते हैं, तथा द्वेष के भी—

गुणाधिका 'न्मुदं' लिप्सेद्, 'अनुक्रोशं' गुणाधमात् ।

'मैत्रीं' समानादन्विच्छेत्, न तापैरभिभूयते ॥

महतां 'बहुमानेन', दीनानां 'अनुकम्पया' ।

'मैत्र्या' चैयात्मतुल्येषु, यमेन नियमेन च ॥

इत्यादि । (भागवत)

• सम. समानोत्तम मध्यमा-धम ।

सुखे च दुःखे च जितेन्द्रियाशय ॥

'दयां' 'मैत्रीं' 'प्रश्रय' च भूतेष्वद्धा यथोचितम् ॥ (भागवत)

दीनेषु 'दयाम्', समेषु 'मैत्रीम्', उत्तमेषु 'प्रश्रयम्' ।

(श्रीधरी टीका)

हीयते हि मतिस्तात, हीनै सह समागमात् ।

समैश्च समतामेति, विशिष्टैश्च विशिष्टताम् ॥ (महाभारत)

मैत्री करुणा-मुदितो-पेक्षाणा सुख-दुःख-पुण्या-पुण्यविषयाणां भावना-
तश्चित्तप्रसादनम् । (योगसूत्र)

अकृ'त्वेर्ष्यां' विशिष्टेषु, हीनानन'वमान्य' च ।

अकृत्वा सदृशे 'स्पर्धां', त्व लोकोत्तरतां गत ॥ (महाभारत)

सतुल्या-तिशय-ध्वंस यथा मण्डलवर्तिनाम् । (भागवत)

तुल्ये 'स्पर्धां', अतिशये 'असूया', ध्वंसालोचने 'भयम्' । (श्रीधरी)

तथा दोषा । तत्त्रैराशयम् । राग द्वेष मोहार्थान्तर्भावात् । रागपक्ष

कामो, मत्सरः, स्पृहा, तृष्णा, लोभ इति । द्वेषपक्ष. क्रोधः, ईर्ष्या,

असूया, द्रोहोऽमर्ष इति । मोहपक्षः मिथ्याज्ञानं, विचित्रवित्ता, मानः,

प्रमाद इति । आसक्तिलक्षणो रागः, अमर्षलक्षणो द्वेष, मिथ्याप्रतिपत्ति-

लक्षणो मोह । (न्याय-भाष्य)

राग-द्वेष का और भावों तथा रसों का सम्बन्ध ।

अब देखना चाहिए कि साहित्यशास्त्र के ग्रंथों में नौ रसों के मूल जो नौ स्थायीभाव कहे हैं, उन का इस आदिम इन्द्र राग-द्वेष और तदुत्थ त्रिक-द्वय से कुछ संबंध है या नहीं । क्रम से 'स्थायी भाव' और 'रस' ये हैं—

रति-र्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भय तथा ।
जुगुप्सा विस्मयश्चेत्य अष्टौ प्रोक्ताः शमोऽपि च ॥
शृङ्गार-हास्य-रुणा रौद्र-वीर-भयानका ।
शोभ-सो-ऽद्भुत इत्यष्टौ रसाः शान्तस्तथा मत ॥
रसावस्थ पर भाव स्थायिता प्रतिपद्यते ॥
विभावेनानुभावेन व्यक्त सञ्चारिणा तथा ।
रमतामेति रत्यादि स्थायिभाव सचेतसाम् ॥

(साहित्य-दर्पण)

नौ रस 'शृंगार' आदि के नौ स्थायी भाव 'रति' आदि हैं । 'स्थायी भाव' ही विशेष अवस्था में 'रस' हो जाता है । विभाव, अनुभाव, संचारिभावों से व्यंजित, व्यक्तीकृत, 'स्थायी भाव' सचेतसो, सहृदयो, के चित्त में 'रस' हो जाता है । तथा, जब कोई 'भाव', (शोभ, संरम्भ), 'रस' की अवस्था को प्राप्त होता है, तब वह 'स्थायी' हो जाता है ।

भाव ।

यहाँ पर 'भाव' शब्द के पिरय में कुछ कहना उचित जान पड़ता है । धातु के अर्थ से, सभी 'विद्यमान' पदार्थ 'भाव' हैं, 'भवति' इति 'भाव' । पर 'साहित्य' और 'अध्यात्म' शास्त्र के प्रसंग में, 'भाव' का अर्थ है, चित्त की विशेष अवस्था, नो भी ज्ञानात्मक और क्रियात्मक अवस्था नहीं, किन्तु इच्छा के जो दो

अनुभाव, अलंकार, सात्त्विक-भाव ।

मानस क्षोभ के, उत्कट भाव के, कारण, शरीर में जो तत्कृत. तत्कार्य रूप, तत्फल रूप, विशेष दशा उत्पन्न हो जाय, उसको 'अनुभाव' कहते हैं । यथा मुंह लाल हो जाना । (शर्म से या गुस्से से), पीला हो जाना (खौफ से या अफसोस से), गुरीना, गरजना, चीखना, तड़पना, झपटना, भागना, धिधियाना, यौधियाना, मटकना, चटकना, चमकना, झंखना, झीखना, झनकना, पैर पटकना, हाथ मलना, गद्गद होना, 'मगन' (आनंद में मग्न) वा 'मह्व' वा 'निहाल होना, मुस्कुराना, हंसना, रोना, (हर्ष से भी, शोक से भी) आंसू बहाना, ("प्रमदसलिलोत्संगितदृशः"), ताली बजाना. बगल बजाना, कूदना, फुदकना, ज़मीन पर लोटना, कराहना, छटपटाना, तड़फड़ाना, सँवारना. सिंगारना, ढिठाना, चकपकाना, इतराना, तपना, घवराना, गर्माना, ठंडाना, कड़ुआना, खटाना, मिठाना, इत्यादि । कुछ 'अनुभावों' को, संस्कृत-साहित्य शास्त्र में, विशेष संकेत से, अस्तिलाहन्, "स्त्रीणामलंकारा.", स्त्रियों के अलंकार, हाव, भाव, हेला, विलास, विच्छित्ति, विश्रम, विच्योक, कुट्टमित, इत्यादि नाम से कहते हैं । कुछ को 'सात्त्विक भाव' कहते हैं, यथा,

स्तम्भ, स्नेह, (अथ) रोमाञ्च, स्वर-भग, (अथ) वेपथु ।

वैवर्ण्य, अध्रु प्रलय., इत्यर्था सात्त्विका. स्मृता.

अस्ल में यह दशा तभी 'सात्त्विक' कहलाने के योग्य हैं जब तीव्र 'प्रेमा-भक्ति' के भाव और रस से, (जिसका समावेश, 'शृंगार' 'अद्भुत' और 'शांत' के मिश्रण में किसी तरह किया जा सकता है), अथवा 'करुणा' से, उत्पन्न हों । साधारण 'काम' से जब हो, तब तो इनको 'राजस-तामस' ही कहना चाहिये ।

ध्यान करो; 'विसिनोति, व्याप्य वध्नाति सर्वान् इति विष्णुः' । ध्रुव ने ऐसी ही घोर भक्ति की । भगवान् ने दर्शन दिया । तेजो-मय रूप से "आगतसाध्वसः", ध्रुव सहम गया, "दंडवत्" प्रणाम किया, फिर प्रेम और भक्ति से भर कर "दृग्भ्यां प्रपश्यन् प्रपिवन् इवाऽर्भकः चुम्बन्निवाऽऽस्येन, भुजैर् इवाऽऽश्लिषन्", अँखें स्फार स्फार कर आराध्य देवता के अनुपमेय सौन्दर्य को मानो पी जाने का जतन करता हुआ, मानो मुख से चूमता हुआ, मानो भुजाओं से आश्लेषण करता हुआ, "कृतांजलिः" "गद्गदस्वरः" वालक कुछ बोल न सका, "विवक्षन्तं अतद्धिदं", (प्रेम-भक्ति के अनुभाव) । भगवान् ने ॐ कारध्वनिमय, सर्व-वेदमय, कम्बु से, शंख से, वालक के गाल छूए, "ब्रह्ममयेन कम्बुना पस्पर्शं बालं कृपया कपोले", वाग्धारा स्तुति रूप से वह निकली (भक्ति के अनुभाव) ।

त्व नित्य-मुक्त परिशुद्ध-विशुद्ध आत्मा

कटस्थ आदिपुरपो भगवास्यधीश ।

तद् ब्रह्म विधभवम् एकम् अनंतम् आशम्

आनन्दमात्रम् अविकारम् अहं प्रपद्ये ॥

भगवान् ने वालक के मन की इच्छा को पहिचान कर वैसा ही वरदान दिया और अन्तर्धान हुए । उस स्थान पर विन्दुसर नाम का सरोवर हो गया । वालक ध्रुव को देख कर भगवान् के नेत्रों से वहाँ आँसू के वृन्द गिरे थे (कष्टना का अनुभाव) "यतो भगवतो नेत्रान्न्यपतन्नश्रुविन्दवः" । ध्रुव उदात्त मन से, धीरे धीरे, सिर झुकाये, राजधानी की ओर चले, "नाति प्रीतो-ऽभ्यगात् पुरम्" (अपने ऊपर ग्लानि का अनुभाव), सोना फैला था, ठीकरा गाँठ में बाँधा. सायुज्य मोक्ष मिल रहा था, क्षुद्र कल्प-स्थायी राज्य माँगा । खोए हुए वालक को लौटता

पुष्पवाटिका, आदि । भय का आलम्बन विभाव, सिंह, व्याघ्र, सर्प आदि, उद्दीपन. अंधकार, रात्रि, जंगल आदि । क्रोध का, शत्रु, तथा उसकी विशेष चेष्टा । इत्यादि ।

रागद्वेषोत्थ षट्क के शब्दों में स्थायी-भाव ।

थोड़ी-सी सूक्ष्मेक्षिका से देख पड़ता है कि 'काम' के स्थान में 'रति', 'दर्प' के स्थान में 'हास', 'दया' के स्थान में 'शोक' रखे गये हैं । 'घृणा' का पर्याय ही 'जुगुप्सा' है । 'क्रोध' और 'भय' तो बिना रूपांतर-शब्दांतर के ही कहे गये हैं । वच 'उत्साह', 'विस्मय' और 'शांत' । इनकी परीक्षा करनी चाहिये । पर इसके पहले 'हास' के विषय में कुछ आलोचना उपयुक्त होगी ।

हास में दर्प । नारायण-उर्वशी की कथा

बिना 'दर्प' की कुछ मात्रा के 'हास' नहीं होता । दूसरे को 'वेवकूफ बनाना', अपने को 'होशियार बनाना'—यह हँसी का प्रधान अंग प्रायः देख पड़ता है । तीव्र होने से कुरस हो जाती है, ललित होने से सुरस । हँसना—यह दर्प का. सुख का, मानो उवाल है, उमड़ पड़ना है । किसी दूसरे की अपने से छोटाई देख कर, अपनी 'अहंता' की, 'अहंकार' की, सद्य और अतिमात्र 'वृद्धि' से जो दर्प होता है. वह दर्प. 'अमान्तमिवांगेषु', मानो अपने अंगों में न अमा सकने के कारण, 'हास' हो कर बाहर निकल पड़ता है । इसका प्रतियोगी. दुःख से अपनी छोटाई का सद्यः अतिमात्र अनुभव करके, 'सिसकना' है । ये दोनों 'अनुभाव' पशुओं में नहीं देख पड़ते । मनुष्य 'विज्ञानं विजानाति', 'अहम्' को जानता है, इस लिये 'अहंता' के सद्योवृद्धि और सद्योहास से दर्प और शोकसंबंधी 'अपने ऊपर मुदिता' और 'अपने ऊपर

प्रकार से 'मिश्र' रस कह सकते हैं । रागपक्ष मे भी पड़ता है, द्वेषपक्ष मे भी । थोड़ा भी दर्पाश अधिक होने से, 'अवहास' 'अपहास' हो कर, द्वेषपक्ष अधिक देख पड़ने लगता है और लड़ाई शुरू हो जाती है, अंग्रेज़ी मे भी कहावत है, 'जेस्ट आफन पासेज इन्टु अर्नेस्ट' . कारण यही है, कि दूसरे को मूर्ख बनाना—यह हँसी-ठट्टा का मर्म ही है । परस्पर प्रीतिपूर्वक कृत्रिम दर्प का प्रदर्शन ही जब तक है तब तक 'हास' रागपक्ष मे रहता है ।

भक्ति मे पूजा । वात्सल्य मे दया ।

जैसे 'रति' के स्थान मे 'समान' की ओर 'काम', और 'करुणा' के स्थान मे 'हीन-दीन' की ओर 'दया', वैसे ही 'विशिष्ट' की ओर यदि 'भक्ति' का रस माना जाय तो उस का स्थायी-भाव अमिश्र 'सम्मान' 'पूजा' होगा । 'विस्मय' इसके पास पहुँचता है, पर उस मे कुछ मिश्रता जान पड़ती है । यदि 'वात्सल्य' रस अलग माना जाय तो उस का स्थायी भाव शुद्ध अमिश्र 'दया' होगी । 'करुणा' और 'वात्सल्य' मे इतना ही भेद है कि 'करुणा' मे, दयापात्र मे शोक की, और दयालु मे अनु-शोक, अनुकंपा, की, मात्रा अधिक है, और वत्स (वच्छा, वच्चा) तथा वत्सल मे वीजरूपेण ही है ।

उत्साह मे रक्षाबुद्धि । विस्मय मे आदर ।

'उत्साह', 'विस्मय', और 'शान्त' पर अब कुछ विचार करना चाहिये ।

पदे पदे सन्ति भया रणोद्भया न तेषु हिंसारस एष पृथते । (नेपथ्य)
केवल लड़ने की खुजली—यह वीरता नहीं है, प्रत्यूत हिंसारस और हिंस्रपशुता है । सद्-उद्देश्य से धर्मयुद्ध करना

साधु जन, जिस धर्म की सेवा करते हैं, और जिस को अपना हृदय भी मानता है कि यह सच्चा धर्म है—उस धर्म को जानो।

शंका हो सकती है कि राग द्वेष के बिना स्थायी भाव, क्या कोई भी भाव, संचारी, व्यभिचारी, अस्थायी भी नहीं, फिर रस कहाँ? समाधान यही है कि निवृत्ति-मार्ग भी क्रमिक है। सद्यो विदेहमुक्ति की प्रलय निद्रा की कथा न्यारी, उस मे न शम का अवसर है न शांतरस का। क्रमिक निवृत्ति और जीवन्मुक्ति मे 'वैराग्य' 'वैद्वेष्य' क्रम से बढ़ता जाता है। उस के साथ-साथ, सांसारिक भावो और रसो के विरोधी, भावाऽभास और रसाऽभास भी, और पारमार्थिक परमानन्द 'महाभाव' का साथी, तात्त्विक, 'रसघन' का 'रस', "सर्वभूतेषु भक्तिर-व्यभिचारिणी" का 'रस' भी, अनुभूत होते हैं। इस महारस मे अन्य सब रस देख पड़ते है, यह सब का समुच्चय है। ध्रेष्ठ और प्रेष्ठ अंतरात्मा परमात्मा का (अपने ऊपर) परम प्रेम, 'महाकाम, महाशृंगार' ("अकामः सर्वकामो वा"; "मा न भूवं हि भूयासमिति प्रेमात्मनीक्ष्यते"), संसार की विडंबनाओ का 'उपहास', संसार के महातमस् अंधकार मे भटकते हुए दीन जनो के लिये 'करण', ("संसारिणां करणयाऽऽह पुराणगुह्यम्"), पडरिपुओ पर 'क्रोध', ("क्रोधे क्रोधः कथं न ते"), इनको परास्त करने, इंद्रियो की वासनाओ को जीतने, ज्ञान-दान से दीन भ्रांत जनो की सहायता करने, के लिये 'उत्साह' ("युयोध्यस्मज्जु-हुराणमेनः"; "ईश्वरस्य भूतानुग्रह एव प्रयोजनम्". "नमो महाकारुणिकोत्तमाय"), अंतरारि पडरिपु कही असावधान पाकर विवश न कर दे—इसका 'भय'. ("सर्वे वस्तु भयान्वितं जगति रे, वैराग्यमेवाभयम्". "अन्धकारे प्रवेष्टव्यं दीपो यत्नेन धार्यताम्", "भवानां भयं भीषणं भीषणानां", "भीषाऽस्माद्वातः

भावो के बोधक शब्दों में मूल स्थायी भावों की गणना इष्ट हो तो, स्यात् ऊपर के उद्धृत श्लोक को यो पढ़ना अनुचित न हो—

कामो दर्पो दया क्रोधो रक्षागर्वो भयं तथा ।

घृणाऽऽदरौ विरक्तिश्च स्थायिभावा मता इमे ॥

सर्वव्यापिनी अस्मिता ।

अहंकार' 'अस्मिता' की उच्चावस्था 'दर्प' है; इस की मात्रा, अध्यात्मदृष्टि से सब वृत्तियों में, अनुस्यूत है। काम का पर्याय 'कंदर्प' है। 'कं दर्पयति, अथवा कं न दर्पयति इत्यपि'। काम किस के दर्प को रहने देता है? सब को नीचा दिखाता है; तथा किस के दर्प को एक घेर नहीं बढ़ा देता, किस को उद्धत नहीं कर देता? हास के दर्प की कथा ऊपर कही गयी। दया करुणा में भी, दूसरे की सहायता करने की शक्ति मुझ में है—ऐसा सात्विक दर्प छिया है, जैसे काम में तामस, हास में राजस, अपहास अतिहास में तामस-राजस, स्मित हसित विहसित में सात्विक राजस। क्रोध में भी शक्ति-सामर्थ्य जब है, तब दर्प उपस्थित है। उत्साह में, दीन की रक्षा की इच्छा और शक्ति के अपने में अनुभव से, और दुष्ट के तिरस्कार से, अवश्य दर्प की सात्विक मात्रा है। भय में अहं का, अस्मिता का, राजस-तामस रूप है; दर्प का विवर्तन दैन्य है, ऊपर कहा गया है कि दुःख में, 'अहंता-ममता' का वेदन अधिक तीक्ष्ण होता है, सुख में उतना नहीं होता, यह ठीक है कि सुख में जीवात्मा की उपाधि का विकास वा वृद्धि होती है, और दुःख में संकोच वा हास, पर हं-न्याय से, फूलते फूलते हुए भी सुख और उपाधि मानो पतले पड़ते हैं, और सिकुड़ते हुए भी दुःख और उपाधि मानो पिंडित,

घनीभूत, और दृढ़ होते हैं। रसों की मृणा में, अपने उत्कर्ष का अनुभव स्पष्ट है। आदर, विम्वय, जयों की व्युत्पत्ति में ही जान पड़ता है कि उन में अथ और मृणा के भाग मिले हुए हैं। 'ईषद् दग्ः, अथ, नादर । विगत. मय्यो यस्मात्, अथ न विजिष्ट. मयः, विम्वय.'।

यदि छंठ, जंहा, कग्ना वाने, तो म्यात् यों वेठेंगे—श्रुगा-रौट (काम कांध), हास्य कग्ना (हर्ष-शोक, दर्प-देव्य, निरम्कार-दया), शीम-भयानक (गामर्थ्य गर्थ—असामर्थ्य भय, उत्साह-भयगाद्); शीमाम-अद्भुत (मृणा-वद्भुत)। इन सब के अध्यात्म तत्त्वां की चर्चा विम्वय में मेरे अँगरेजी ग्रंथ 'दि सायंस आफ् दि इमोजंग' में की गयी है।

रससंकर ।

रसों के मिश्रण के विषय में ग्रंथकारों ने लिखा है कि इन इन रसों का साथ है, यह-यह विरोधी हैं, इन-इन का संकर कविता में न करना चाहिए, इन-इन का संकर तो सकता है और उचित है। ठीक है। पर परमेश्वर के इस जगद्रूप अनंत नाटक में सभी रसों का प्रतिपद संकर देना पड़ता है। सौहित्य में लवण और मधुर का संकर वर्जनीय है। अम्ल के साथ मीठा भी चलता है, (स लवण) सलोना भी। पर नमक और शक्कर एक में मिलाने से दुस्वाद होता है और चमन करा देता। हौ भी, उत्सर्ग के अपवाद भी होते ही हैं। आम की 'मीठी' बनाने में, नमक भी डाला जाता है और गुड़ भी। हाँ, अचार 'सिद्ध' किया जाता है, या धूप से 'सिद्ध' है, और 'सटाई' में गुड़ भी और नमक भी दोनों हैं। ऐसे ही, साहित्य में "भयानकेन कर्णेनापि हास्यो

विरोधभाक्" । पर जीवज्जगन्नाटक मे सबका संकर बहुधा देख पड़ता है ।

अपने अनुभव की कथा ।

कई वर्ष हुए, माघ-मेला के दिनों मे, 'छोटी लाइन' की रेलगाड़ी सवेरे के समय बनारस से चली । गंगा का पुल पार कर के, प्रयाग मे दारागंज के स्टेशन पर ठहरी । भीड़ उतरी । एक 'टिकट-कलक्टर' ने, टिकट जाँचते हुए, एक डब्बे मे से एक स्त्री और तीन बच्चों को उतारा ।

'एक टिकट मे चार आदमी जाना चाहती है ?'

'सयाने कर टिकट लगत हौ, ई तीन तो बच्चा हैं, माफ है, इनकर टिकट नाहीं लागी ।'

'कैसे न लगेगा ? इन मे से दो तो ज़रूर तीन बरस से ज्यादा हैं, आठ और दस बरस के मालूम होते हैं, तीसरा भी चार-पाँच का नज़र आता है। तुम को सब के लिये अद्धे टिकटो के दाम देने पड़ेगे, नहीं तो जुर्माना और कैद भुगतना पड़ेगा ।'

टिकट-कलक्टर ने स्त्री को बहुत 'डॉटना-धमकाना' शुरू किया । वह बहुत नाटे कद की थी । जाड़े का दिन, सवेरे का समय, गंगा-किनारे के मैदान की ठंडी और तेज़ हवा । उस के तन पर केवल एक फटी धोती थी । बच्चे भी ऐसे ही फटे-पुराने कपड़ो मे लपेटे थे । टिकट-कलक्टर अँगरेजी बर्दी पहनते हैं, उस बर्दी मे रोब अधिक होता है । गवमैटी चपरासी भी 'अफसरों' की शान दिखाना चाहते हैं, जिस को 'खादिम' होना चाहिये वह अपने को 'हाकिम' कहता है, जो नौकर था वह मालिक बन गया है । पहले तो स्त्री डरी, घबराई, फिर बच्चों को देख कर उस को 'क्रोध' और 'उत्साह' हुआ । ज़रा-सी

टिगनी स्त्री ने हेड-कोट वृद्ध पालन-धारी जानकार लोंचोटे टिकट-कलकटर को गिरी के पैसा उलझा खानना बुझना गुरू किया।

'तू हम के जर्माना कौद करके का पे वा ? एक टे इहे फटती लुगरी मोरे नन पर बाध, नोटाग मन होय तो एह के उताप ला। केहूँ भाँन तीन टे बचन के जिपाड़ेला, से जर्माना करिहें, कौद करिहें ! और जो तू कला ला कि तीन यग्ग से जाम्नी होवें, सो यग्ग-ओग्ग का कायदा नाही ही। कायदा हो कि गिरकी से ऊँचा न होय। सो नाप ला कि इनमे से कौटे तो गिरकी से ऊँचा हो।'

देगनेवाला यह लेगक 'डर' रहा था कि कहीं टिकट-कलकटर महाशय इन सब बेचारों को स्टेशन पर रोक ही न ले। (स्त्री और बच्चों को अगले स्टेशन पर उतरना था, पर वहाँ के भी टिकट इसी स्टेशन पर ले लिये जाते थे, और देगनेवाले को भी अगले स्टेशन तक, जहाँ 'लाइन' समाप्त होती है, जाना था)। वह कहना ही चाहता था कि मुझ से टिकटों का दाम ले लो कि टिकट कलकटर की 'मनुष्यता' ने जोर किया, गिरकीवाली दलील पर 'हँस' पड़ा, माना के हृदय को पहचाना, उसके 'वात्सल्य' का क्लायल हुआ, उन सब की अति दौन 'करुण' अवस्था पर उस को 'दया' आई। कहा—'जा माई, 'बहिना' कहना चाहिये था, पर इसकी चाल कम है !)

'को लेकर उधे मे जा बैठ।'

'मुस्कुराती' भी और 'बड़बड़ाती' भी, बच्चों को लेकर जा बैठी।

ले के चित्त मे, टिकट-कलकटर के 'रौद्र' आरम्भ, 'भय', 'उत्साह' और 'वीरता', 'करुण दशा', 'माहँ-

वात्सल्य', दलील पर 'हास', पृथ्वी पर अधिकांश मानवों को अन्न-वस्त्र के विषय में भी घोर दुर्दशा पर 'ग्लानि' और 'वीभत्सा' भी, तथा ईश्वर के 'अद्भुत' नीतिदारिद्र्य अथवा दारिद्र्यनीति पर 'विस्मय' 'आश्चर्य', और अंततः संसार की लीला का विचार कर के 'शांति'—सभी रसों का संकर हो गया !

मनमाना कानून ।

प्रसङ्गतः, इस दैनंदिन दृश्यमान तथ्य का भी उदाहरण एक और मिल गया कि कायदा कानून वही जो उस का मनवाने-वाला गवमैट्टी नौकर चाहै । पहिले 'अद्धा टिकट का दाम देना पड़ेगा'—यह कायदा कानून था. पीछे 'जा, माई, जा'—यही कायदा कानून हो गया ।

आध्यात्मिक कारण । संसारकी अपरिहार्य द्रंढता ।

जान पड़ता है कि परमात्मा करुण रस के आस्वादन के लिये ही रौद्र, भयानक, आदि उत्पन्न करता है ।

असौ गुणमयैर्भावै. भूतसूक्ष्मैर्द्रियात्मभि ।

स्वनिर्मितेषु निर्विष्टो भुंक्ते भूतेषु तद्गुणान् ॥

भावयत्येष सत्वेन लोकान्वै लोकभावनः ।

लीलावतारानुरतो देव-तिर्यङ् नरादिषु ॥

स्वशान्तरूपेष्वितरै. स्वरूपैरभ्यर्घ्यमानेष्वनुकम्पितात्मा ।

परावरेणो महदशयुक्तो एजोऽपि जातो भगवान्यथाग्नि ॥

(भागवत)

अपुने ही शात रूप, अपुने ही घोर रूप,

घोर रूप शातन को अर्दन करतु हैं—

ऐसो देखि करणा ते कम्पित-हृदय होइ,

महत्तत्त्व लेइ हरि प्रकट रूप धरतु हैं,

जंगल में बाँस की आगुल की रागत लीं
 तिन ही में जीव अति देव विगत है,
 कान की दंड करि, गोमय की गोमय करि,
 कण्ठा भव वीरु रम दूनों ही भगु है।
 भागु निर्माण करि, भागु तिन पेट के,
 भागु मय भूषण को गुन रम भागु है,
 भागु मय लोहन की भागुने ही सख तें,
 भावना ध्यान करि मय विधि भावतु है,
 भागु भवतार रम लीलावत विधि रम धेन,
 देवन पशु पक्षिन में, मनुजदु रमांनु है,
 भागु ही बनावत, भव आगु ही विगारत, भव
 भागु ही सदा को मय सधि सधि रागु है।

गाँवों की स्त्रियों के गीतों में, एक-एक कड़ी में, जितना
 करुण रस भरा रहता है — क्योंकि अपने अपराध घोर अनुभव से
 उमड़ कर संचित होता है — उतना, म्यान् आर्य काव्यों को छोड़
 कर, अर्वाचीन काव्यों में, 'उत्तररामचरित' में भी, कठिनाई से
 मिलेगा। बहुत वर्ष हुए, सहधर्मिणी के मुग से कुछ गीत सुने,
 जो उन्होंने ने ग्राम की स्त्रियों से सुन कर याद कर लिये थे।
 सात बहिन और एक भाई में से छोटी बहिन दूर देश के
~~अपराध~~ पर बड़े परिवार वाले कुल में व्याही गई, बहुत वर्षों
~~के बाद~~ छोटा भाई उसको देखने गया। 'स्वजनस्य हि दुःखमग्रतो
~~विदुःखारमिवोपजायते'~~, अपने प्राणी के आगे दुःख के कपाट
 जाते हैं, और आँसू वह चलते हैं। बहिन कहती

सात समुंदर डाँकि भइलें, भैया वीरन् (वीर) ;

सात बहिनिया कै भाय, भैया वीरन् ,

मोरी माई के एकल पूत, भैया वीरन् ,
 मोरे बाबा के प्रान अधार, भैया वीरन् ,
 मन एक कूटो, मन एक पीसो ,
 मन एक सीसो रसोंइया, भैया वीरन् ,
 पछिली लिटियवा, भैया, मोरा रे भोजनवा ,
 ओहू मे देवरवा के कलेवा, मोरे वीरन् ,
 फटही लुगरिया एक मोरा रे पहिरनवाँ ,
 ओहू मे देवरवा के भगहिया, मोरे वीरन् ,
 एतना दुखवा, भैया, वहिनन से जिन कखो ,
 मोर सुनि ससुरे न जेहैं, मोरे वीरन् ,
 एतना दुखवा, भैया, बाबा से जिन कखो ,
 सभवहिं (सभा मे) बैठल पछितैहैं भैया वीरन् ,
 एतना दुखवा, भैया, माई से जिन कखो ,
 मचियहिं बैठल माई रोइहैं, मोरे वीरन् ।

वर्षों का घोर दारिद्र्य-दुःख, अन्न-वस्त्र का दैनंदिन महाकष्ट, इन शब्दों में से उबल कर बह रहा है। जब पहले पहल यह गीत सुने, तब चित्त ऐसा व्याकुल हुआ कि किसी तरह शान्त ही न हो धीरे धीरे, उस व्याकुलता ने और उस के सान्त्वन के यत्न ने मिल कर, मन में नीचे लिखे श्लोकों का रूप धारण किया, उन को लिखा तब मन कुछ स्थिर हुआ. आदि कवि महर्षि वाल्मीकि जी के रचे प्रथम श्लोक के जन्म की कथा अब ठीक समझ में आई, मालुम हुआ कि सच्ची कविता, यथा ग्रामगीत. उत्कट भावों के तात्कालिक उद्गार से ही बनती है।

अहह, वेदि यतोऽसि जनार्दनो, ननु जगज्जनकोऽपि भवन्नवान् ।

स्रवति नाति पयो जननीस्तनाद् यदि न रोदिति वेदनयाऽर्भक ॥

परमनाटककृत् करुणारतिभृशतरं ननु रीद्रमचीकरः ।
 उदयतेऽति विनाऽदयमर्दनं न ननु दीनजने दयनीयता ॥
 अपि रसेषु रसः करुणो घरो, ह्यपि भवान् रसिकोऽसि रसे घरे ।
 अपि ततो जगतां जनकोऽपि सन् भवसि निर्दय एव जनार्दनः ॥

हे भगवन् !, अब मुझे जान पड़ा कि आप क्यों, समस्त जगत् के जनक पिता होकर, जन (नाम दैत्य के भी, और मानव जनता) के (भी) अर्दन करनेवाले भी हो; जब तक बालक रोता नहीं तब तक जननी के स्तन से दूध नहीं बहता । हे परम कवि ! जगन्नाटककार ! भृशतर करुणा का स्वाद लेने के लिये आप घोर रौद्र रचते हो, विना दीन दुर्बल को दारुण पीड़ा दिये, उन में दयनीयता नहीं उत्पन्न होती, इसी लिये जनता के जनक होने हुए जनार्दन भी हो जाते हैं; रसों में करुण रस श्रेष्ठ कहा है, और आप रसिकों में श्रेष्ठ हैं । ”

हाँ, ग्रामगीतों में शब्द-अर्थ का परिष्कार-अलंकार न हो,
 पर—

अस्मि चन्द्रमग्नपतिः अलङ्कारा वृथा इव ।

नास्मि चन्द्रमग्नपतिः अलङ्कारा वृथैव हि ॥

रामावतार की सर्वरसमय कथा ।

अच्छा, यह बड़े जीवज्जगन्नाटक में रस संकर की कथा ।
 त्रिगिंत काव्य की कथा देखिये । ‘मट्टिकाव्य’ का प्रथम
 श्लोक है—

— जैसे ‘आप’ के साथ ‘तौ’ का प्रयोग अनुवाद में दिया है, ‘है’
 का नहीं, वैसे ही संस्कृत श्लोक में ‘भवान्’ के साथ ‘असि’ का प्रयोग
 बुरा-दुर्बल किया है, ‘अस्मि’ का नहीं; कान को कुछ अतिरिक्त मिला जा
 ‘दय’, और रसों में कहीं कहीं मिलना भी है ।

अभून्तपो विबुधसखः परन्तप.
 श्रुतान्वितो दशरथ इत्युदाहृत ।
 गुणैर्वरं भुवनहितच्छलेन यं
 सनातन पितरमुपागमत् स्वयम् ॥

सनातन पुरातन पुरुष, अतिवृद्ध (“कालेनानवच्छेदात्”), ‘शांत’-रसाधिष्ठाता, ब्रह्मांडपति, अतिविस्तृत संसार के असंख्य जीवों के निग्रह-अनुग्रह-प्रग्रह-संग्रह की, और कर्मफल-दान की, अपरिमेय चिंता करते-करते थक गए, उवियाय (उद्विग्न हो) गए । यह सब चिंता दूर फेंक कर, एक बेर मन भर, कैसे खेल लें—यह उत्कट अभिलाषा उठी । “अश्वैः यानं यानं, दुग्धैः पानं पानं, वालैर्लीला लीला ।” आप छोटे बच्चे हो जायें, और दूसरे बच्चों का साथ भी हो, तब दूसरों के माथे भर पेट खेलते-कूदते बने । पर सब माता-पिता एक-से नहीं होने, कोई-कोई तो बच्चों की डाँट-घोट भी किया करते हैं, और पुरुष-पुरातन के माता-पिता होने के लिये ऐसे-वैसे जीव भी नहीं चाहिये, सर्वोत्कृष्ट ही हो । तो ऐसे माँ-बाप ढूँढना चाहिये जो अच्छे से अच्छे हो, सारी पृथ्वी के आदरणीय पूजनीय हों, और बच्चों पर खूब रीझें भी और ‘निहाल’ हो । चारों ओर देखा । करीब-करीब अपने ही इतने बड़े कौशल्या और दशरथ देख पड़े, महाराज दशरथ, “श्रुतान्वित,” सर्वज्ञप्राय, और ज्ञानी ही नहीं, बड़े धर्मी कर्मी, क्षत्रियधर्म राजधर्म के अनुसार परंतप, बड़े शूर-वीर, प्रतापी, दुष्ट शत्रुओं का दमन करनेवाले । वह भी ऐसे-वैसे तलवार चलानेवाले नहीं, “विबुधसख”, इस उच्च कोटि के अस्त्र-शस्त्र का प्रयोग करनेवाले कि इन्द्र भी उन से मित्रता खोजते थे और देवासुर-संग्रामों में सहायता माग लिया करते थे । “गुणैर्वर”, सब श्रेष्ठ-चरिष्ठ गुणों से विभूषित । और “नृप”, पृथ्वी

परमनाटककृत् करुणारतिभृशतरं ननु रीक्षमचीकरः ।
 उदयतेऽति विनाऽदयमर्दनं न ननु दीनजने दयनीयता ॥
 अपि रसेषु रसः करुणो वरो, ह्यपि भवान् रसिकोऽसि रसे वरे ।
 अपि ततो जगतां जनकोऽपि सन् भवसि निर्दय एव जनार्दनः ॥

हे भगवन् !, अब मुझे जान पड़ा कि आप क्यों, समस्त जगन् के जनक पिता होकर, जन (नाम दैत्य के भी, और मानव जनता) के (भी) अर्दन करनेवाले भी हो; जब तक बालक रोता नहीं तब तक जननी के स्तन से दूध नहीं बहता । हे परम कवि ! जगन्नाटककार ! भृशतर करुणा का स्वाद लेने के लिये आप घोर राँद्र रचने हो; विना दीन दुर्बल को दारुण पीड़ा दिये, उन में दयनीयता नहीं उत्पन्न होती; इसी लिये जनता के जनक होने दुष्ट जनार्दन भी हो जाते हो; रसों में करुण रस श्रेष्ठ कहा है, और आप रसिकों में श्रेष्ठ हो । *

हाँ, ग्रामगीतों में शब्द-अर्थ का परिष्कार-अलंकार न हो,
 पर—

अग्नि चंद्रसमम्पत्तिः अलङ्कारा वृथा इव ।

नाग्नि चंद्रसमम्पत्तिः अलङ्कारा मूर्धन्य हि ॥

रामायनार कौं सर्वरसमय कथा ।

अच्छा, यह हुई जीवज्जगन्नाटक में रस संकर की कथा ।
 निर्गमन काव्य की कथा देखिये । 'मट्टिकाव्य' का प्रथम श्लोक है—

— जैसे 'आप' के साथ 'हैं' का प्रयोग अनुवाद में दिया है, 'हैं' का नहीं, जैसे की मम्कृत श्लोक में 'भवान्' के साथ 'असि' का प्रयोग दृष्टिपूर्वक दिया है, 'अग्नि' का नहीं, कान को कुछ अविद्य मय जगत् पर, और पुरुषों में कहीं कहीं मिलता भी है ।

अभून्नृपो विबुधसखः परन्तपः
 धृतान्वितो दशरथ इत्युदाहृत ।
 गुणैर्वर भुवनहितच्छलेन यं
 सनातन पितरमुपागमत् स्वयम् ॥

सनातन पुरातन पुरुष, अतिवृद्ध ("कालेनानवच्छेदात्"), 'शांत'-रसाधिष्ठाता, ब्रह्मांडपति, अतिविस्तृत संसार के असंख्य जीवों के निग्रह-अनुग्रह-प्रग्रह-संग्रह की, और कर्मफल दान की, अपरिमेय चिंता करते-करते थक गए, उवियाय (उद्विग्न हो) गए । यह सब चिंता दूर फेंक कर, एक बेर मन भर, कैसे खेल ले—यह उत्कट अभिलाषा उठी । "अश्वैः यानं यानं, दुग्धैः पानं पानं, बालैर्लीला लीला ।" आप छोटे बच्चे हो जायें, और दूसरे बच्चों का साथ भी हो, तब दूसरों के माथे भर पेट खेलते-कूदते बने । पर सब माता-पिता एक-से नहीं होने, कोई-कोई तो बच्चों की डाँट-घाँट भी किया करते हैं और पुरुष-पुरातन के माता-पिता होने के लिये ऐसे-वैसे जीव भी नहीं चाहिये, सर्वोत्कृष्ट ही हो । तो ऐसे माँ-बाप ढूँढ़ना चाहिये जो अच्छे से अच्छे हो, सारी पृथ्वी के आदरणीय पूजनीय हो, और बच्चों पर खूब रीझें भी और 'निहाल' हो । चारों ओर देखा । करीब-करीब अपने ही इतने बूढ़े कौशल्या और दशरथ देख पड़े; महाराज दशरथ, "श्रुतान्वित, सर्वशप्राय ; और ज्ञानी ही नहीं, बड़े धर्मी कर्मी, क्षत्रियधर्म राजधर्म के अनुसार परंतप, बड़े शूर-वीर, प्रतापी, दुष्ट शत्रुओं का दमन करनेवाले । वह भी ऐसे-वैसे तलवार चलानेवाले नहीं, "विबुधसख", इस उच्च कोटि के अस्त्र-शस्त्र का प्रयोग करनेवाले कि इन्द्र भी उन से मित्रता खोजते थे और देवासुर-संग्रामो में सहायता माग लिया करते थे । "गुणैर्वर", सब श्रेष्ठ-चरिष्ठ गुणों से विभूषित । और "नृप", पृथ्वी

के प्रजापालक सम्राट्, महासमृद्धिशाली, जिन¹ के यहाँ मकपन-मिसरी की कमी नहीं, जो लड़कों को बहुत प्रिय भी है और बहुत उपकारक भोज्य-सार भी है। और सर्वोपरि यह कि उन के संतान नहीं, और संतान के लिये रात-दिन तरसते हैं। बूढ़े आदमी, अपनी आजन्म की बटोरी अकाल को फेंक कर, बेवकूफ होकर, बच्चों पर 'छछाने' हैं, और उन को मनमानी तोड़-फोड़ फेंक-फाँक करने देते हैं। तो, बस, इन्हीं की गोद में जन्म लेना और इन के सिर पर सब खेलना। पुरुष कितना भी बच्चों पर सीधे पर स्त्रियों के प्येना नहीं ही 'छछा' सकते, "उशतीरिव-मानरः", और एक माता जितना प्रेम करेगी, उस का अवश्य तिगुना प्रेम तीन माता करेगी, इस दृष्टि से भी दशरथ ही जँचे, क्योंकि उन की तीन पत्नियाँ थीं। फिर अकेला बच्चा कैसे खेलेगा? साथी चाहियें, साथी बच्चे कहाँ से आवें? अपने चाचूकड़े करवाले। लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न के साथ रामजी दशरथ के घर आए। पुगण-पुरुष खेलने चले, लंग हँमेंगे। कोई बहाना निकालना चाहिये। तो "भुवनहितच्छदेन", राक्षसों को दूर कर के संसार का उपकार करेंगे, आसुरी संपत् को हटाकर देवी संपत् का पुन-भारनवर्य में उर्जायित करेंगे। बहुत अच्छा, भारत-जनता के हृदय में बग-घा अवतार लेकर बहाने को दूर सदा कर लिये। अवतारों को, "परित्राणाय माधुनां, विनाशाय च दुःकृताम्", सब विरुद्ध प्रकारों के महाकार्य करने पड़ते हैं एक ओर रक्षा माधुओं की, एक ओर विनाश पार्ष्णों का उद्योग उनके महाचरित्रों में सभी 'रम' एकत्र देख पड़ते हैं। अद्वैतत्व में और माता-पिता के संबन्ध में 'यान्मन्य' और 'अर्चः' मातापार्ष्ण में ललिततम 'शृंगार'; विविध विधाओं की 'कल्पः' परंपरता में 'वीर', 'गंड', 'नयानक', और 'रणसूत्र'।

की युद्धानंतर 'वीभत्सता', सनातन के पिता खोजने में और भुवनहितच्छल में 'हास्य' और 'अद्भुत'; सनातनता में 'शान्ति'—सभी एकत्र हैं ।

कृष्णावतार की सर्वरसमयता ।

भागवत में कृष्णावतार का भी श्लोक है—

मल्लानामशनिः, नृणां नरवर, स्त्रीणां स्मरो मूर्त्तिमान्,
गोपाना स्वजनो, ऽसतां क्षितिभुजा शास्ता, स्वपित्रो. शिशु ।
मृत्युर्भोजपते, विराट् अविदुषां, तत्त्व परं योगिनाम्,
वृष्णीनां परदेवतेति विदितो रत्नं गत केशवः ॥

रौद्रोऽद्भुतश्च शृङ्गारो हास्यो वीरो दया तथा ।

भयानकश्च वीभत्स शान्त सप्रेमभक्तिकः ॥ (श्रीधरी)

मल्लों के लिये वज्र; साधारण जनता के लिये नरश्रेष्ठ, पुरुषसार, स्त्रियों के लिये मूर्त्तिमान् कामदेव, ग्वालों के लिये अपनी विरादरी के; राजाओं के लिये शासक, माता-पिता के लिये वज्रे, कंस के लिये मृत्यु ही, नासमझों के लिये, 'विकलं राजते', मारे हुए कुवलयपीड हाथी और मल्लों के रुधिर आदि से लिप्त, 'वीभत्स लगते हैं', योगियों के लिये परमतत्त्व के अवतार, वृष्णियों के लिये इष्टदेव—रंग भूमि में प्रवेश किये हुए केशव ऐसे विविध रूप से विविध दृष्टियों को देख पड़े ।

आत्मरस ।

“सोऽयमात्मा सर्वविरुद्धधर्माणामाश्रय”, “यस्मिन् विरुद्ध-
गतयो ह्यनिशं पतन्ति”, “तस्मै समुपद्रवविरुद्धशक्तये नमः
परस्मै पुरुषाय वेधसे”, “यदविद्या च विद्या च पुरुषस्तुभ-
याश्रयः”, (भागवत); “आत्मरतिरात्मक्रीड आत्ममिथुन

आत्मानन्दः स स्वराड् भवति" (छान्दोग्य); "स स्वराड् भवति य एवं वेद" (नृसिंहतापनी), इत्यादि ।

आत्मनोऽन्यत्र या तु स्याद् रसबुद्धिर्न सा ऋता ।

आत्मन. मलु कामाय सर्वमन्यत् प्रियं भवेत् ।

स-यो ध्रुवो विभुर्नित्य एक आत्म'रसः' स्मृतः ॥

आत्मा मे अन्य पदार्थ मे जो रस-बुद्धि होती है वह मिथ्या है, आभास है, सच्ची और आत्यंतिक नहीं; क्योंकि आत्मा ही के लिये तो अन्य वस्तु प्रिय होती है, आत्म-रस ही सचा है।

निष्कर्ष ।

इस 'रसमीमांसा' का निष्कर्ष यह होता है कि, जीवात्मानन्द के लः मुख्य तथा अवांतर अमंख्य मिश्र 'भावों' का आम्वादन—यह काव्यस्माहित्य मे व्यवहृत स्वार्थ 'रस' है। संसार-नाटक का लीला-बुद्धि से प्रवर्त्तन-निवर्त्तन और परमानन्द-परमात्मानन्द का आम्वादन—यह परमार्थ 'रस' है।

सर्वरसमय जगन्नाटककार की वन्दना ।

'र्वाः पुराणमनुशावितारम्,' यं वेदवाक्यानि गृणन्ति भूयः ।

'कस्मिन्नीयी परिभुः स्वयम्भुः', उद्गीयमानोऽस्ति य एवमेभिः ॥

यो ये कल्याणां च तथाऽपिदानां आयश्च कर्त्ता च गुर्गारीयान् ।

नन्दनं कारीयशिरम्मु बाल्ये, नं सर्वभावेन हृदा प्रपद्ये ॥

मृष्टिभ्यनित्यभासं सन्ततं सरलं जगत् ।

लीलासयं सर्वरसं नाटक परमं कवे ॥

कल लीला-सिद्धा च्यक्ति, लीला रसमयी क्रिया ।

स्वस्वभावविभूर्तीनामा मना रगतं रस ॥

रसो रसाना अर्मागी शर्कीनामय रसदा ।

अय-रन्द-रिद्धता इन्द्रावामाश्रयाय च ॥

रसाय, रससाराय, तथा रसघनाय च ।
रसाना च निधानाय, तथा रसतमाय च ॥
रसानामपि सर्वेषा रसिकायैकलाय च ।
प्रेष्टाय, सर्वश्रेष्ठाय, परमानन्दरूपिणे ॥
जगन्नाटककाराय, सर्वपात्रमयाय च ।
सर्वस्य सूत्रधारायाऽप्युपाधाय कवये नम ॥

॥ ॐ ॥

नज़ीर की एक उर्दू कविता

आशिके ज़ार हूँ मैं, तालिबे आराम नहीं,
 नंगो नामूसि दुनिया से मुझे काम नहीं;
 बेमरो-पाई का उश्शाक को खतरा क्या है ?
 असरे इश्क है यह, गर्दिशे अय्याम नहीं;
 आलमे इश्क की दुनिया ही निराली देखी,
 सहरो शाम वहाँ ये सहरो शाम नहीं,
 बे निहायत, जिसका पाया है नहीं पायाँ,
 जिस जगह हम पहुँचे हैं आगाज़ है, अंजाम नहीं;
 क़िस्म दुनिया की मलामत की तुझे क्या है, नज़ीर !,
 आशिकों में तो अकेला तू ही बदनाम नहीं !

(हिंदी अनुवाद)

प्रेमी घोर भयो हूँ मैं तो, नहि सुख छंदन धारो,
 जय अपजय अरु लोक लाज तें नहि कस्य काज हमारो;
 बे मिर पर बान प्रेमिन की, तिन में अर्थ न हेरो,
 यह तो है प्रभाव प्रेम दि की, नहि दिनन की फेरो;
 प्रेम लोह इन सब लोहन तें देख्यो निश्र घनेरो,
 बहूँ के साँज सधेरा नाहीं यह की साँज सधेरो;
 अनि अगाव बिनु याद जगवि यह, अंत कतहुँ न निहारो,
 जहाँ पहुँचन तहाँ आदि हि देखत, नहीं धार नहि पागे,
 लोह कवन की चिन्ता में क्यों दुख्य धिन निहारो !
 प्रेमिन में तो तेरो ही नहि इच्छो नाम निहारो !

४—काम-शास्त्र के आध्यात्मिक तत्त्व

[वात्स्यायन के कामसूत्र के एक हिन्दी अनुवाद के सम्बन्ध में, एक सज्जन के निर्वध से, एक छोटा निबन्ध, संवत् १९८९ वि०, अर्थात् सन् १९३२ ई०, में लिखा गया, उसी का बहुत उपवृंहित रूप यह है ।]

सोऽयमित्यमथ भीमनन्दिनीम्

दारसारमधिगम्य नैपथ ।

तां तृतीय-पुरुषार्थ वारिधे

पारलम्भनतरीम् अरीरमत् ॥ (नैपथचरितम्)

मनुष्य की तीन प्रधान इच्छा—आहार,
परिग्रह, और सन्तान ।

आहारेच्छा—बच्चा पैदा हुआ नहीं कि उसको भूख-प्यास लगती है । उसका मुँह देखते ही, उसका रोना सुनते ही, माता का वात्सल्य, मूर्ति धारण कर के, दूध के रूप में वह निकलता है, और बच्चे का पोषण करता है । गर्भ के भीतर भी माता ने साक्षात् अपने रुधिर से, उसकी नाभि के द्वारा,

ॐ अति सुन्दर राजा नल ने, राजा भीम की अति सुन्दरी पुत्री दमयन्ती को, स्वयम्बर की विधि से, विवाह किया, और तृतीय पुरुषार्थ 'काम' के समुद्र को, एस दारसार रूपिणी नौबा के सहारे, पार किया ।

मे आने पर, पुरुष और स्त्री को, दूसरों के सहारे की आवश्यकता कम हो जाती है। स्वयं दूसरों को सहारा दे सकने की योग्यता होने लगती है। शरीर में विशेष वृद्धि, पुष्टि, रोम आदि की उत्पत्ति (मुख पर, कक्ष में, गुहास्थान के पास), मन वृद्धि और शरीर में विशेष शक्ति, स्फूर्ति, धोभ, चंचलता, देग पड़ती है। और 'संतान' उत्पन्न करने की इच्छा और शक्ति अनुभूत होती है।

प्राप्ते तु षोडशे वर्षे पुत्रं मिश्रवद् आचरेत् ।

शुक्रधरा कला—आयुर्वेद के ग्रंथों में कहा है कि जन्म-काल से ही 'शुक्रधरा-कला' मूर्धा से नीचे बढ़ने लगती है। ज्यों ज्यों नीचे उतरती है त्यों-त्यों अङ्गों में पुष्टि और कान्ति बढ़ती है। चौदहवें सोलहवें वर्ष में, (सामान्य अनुगम से), स्त्री पुरुष के स्तन तक आती है; तब दोनों स्तन कुछ फूलते हैं, पुरुष के भी, स्त्री के भी। कुछ काल के बाद पुरुष के स्तनों की फूलन घट जाती है, स्त्री की बढ़ती जाती है। इस समय से संतान उत्पन्न करने की शक्ति मनुष्य को होती है। पर वह शक्ति अभी सर्वथा कर्षी नहीं है। स्त्री का रजःशय, पुरुष का वीर्यशय, यदि इसी समय से आरम्भ हो जाय, तो शरीर और मन कजा, दुर्बल, बेजोरीन, रोगी हो जायगा, और संतान भी वैसी होगी। छठी-सवें वर्ष में यह शुक्रकला पैर की अंगुलियों तक पृष्ट होती है। 'आ नरोभ्यः प्रथिष्ट' (उपनिषत्)।

यदि समाज के सांसारिक के दिन लौटें, यदि श्रुतता, नीचता, अज्ञानता, अज्ञानता, अज्ञानता की दृष्टि दूर हो, और शुद्धता, आर्यता, और दुर्बलता, अज्ञानता की दृष्टि दूर, यदि राज मान और तदुचित मद् आर, मद् उच्छा, और मद् आचरण समाज में फैले, यदि उच्छा की पूर्ण अर्थात् का फूलन स्त्री पुरुषों में करने मन पर,

कन्या-दूषण और कुमार-दूषण का घोर पाप जो आज काल बहुत हो रहा है बंद हो, तो मनुष्यों के ठिकाने देवों और देवियों का समाज हो जाय, सब तरफ चमकते हुए चेहरे, उज्ज्वल अङ्ग, नीरोग विशाल सुंदर स्त्री-शरीर और पुरुष-शरीर, 'आशिष्ठो, बलिष्ठो, द्रढिष्ठः' (उपनिषत्), और सब शास्त्रों के मर्म को जाननेवाली बुद्धियाँ, चारों ओर देख पड़ने लगें ।

मेधाऽसि देवि विदिताखिलशास्त्रसारा । (दुर्गासप्तशती)

ज्ञानं शौर्यं महः सर्वं ब्रह्मचर्ये प्रतिष्ठितम् । (म० भा०)

अविष्टुतब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममाविशेत् ।

पट्त्रिंशदाब्दिकं चर्यं गुरौ त्रैवेदिकं व्रतम् ।

तदर्धिकं पादिकं वा ग्रहणातिकमेव वा ॥ (मनु)

ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम् । (वेद)

ऐसी मेधा, बुद्धि, जो सब शास्त्रों के सार को जानती है, ब्राह्मण वृत्ति के उचित सच्चा गम्भीर ज्ञान-विज्ञान, क्षत्रिय वृत्ति के उचित सच्चा दुर्वल-रक्षक दुष्ट-तक्षक शौर्य, वैश्य वृत्ति के उचित सच्चा श्री-विस्तारक सर्व-पोषक महस्—यह सब ब्रह्मचर्य पर प्रतिष्ठित है । इस लिये कर्त्तव्य यह है कि विद्यार्थी अवस्था में, ब्रह्मचर्य आश्रम में, वीर्य का ग्राहण, शुक का खलन, अव-किरण, न होने दे, काम का उद्दीपन करनेवाली बातों और क्रियाओं से परहेज करे । माता पिता का, तथा अध्यापक गुरु का, परम कर्त्तव्य है कि इस विषय में पुत्र, दुहिता, शिष्य, की रक्षा करे; दुष्टों की कुसङ्गति से बचावे, तथा ऐसा उपदेश, समझदारी के साथ, विवेक-पूर्वक, दे, कि कन्या और कुमार अपनी रक्षा स्वयं बुद्धि-पूर्वक कर सकें, ऐसे प्रकार से उपदेश न दे कि उस ओर और लुत्कृत यह न ऐसे ही उगावने प्रकार से कि इसका नाम लेते ही भय और कम्प कोनल हृदय में पैदा

मे आने पर, पुरुष और स्त्री को, दूसरों के सहारे की आवश्यकता कम हो जाती है। स्वयं दूसरों को सहारा दे सकने की योग्यता होने लगती है। शरीर में विशेष वृद्धि, पुष्टि, रोम आदि की उत्पत्ति (मुख पर, कक्ष में, गुह्यस्थान के पास), मन बुद्धि और शरीर में विशेष शक्ति, स्फूर्ति, क्षोभ, चंचलता, देग पड़ती है। और 'संतान' उत्पन्न करने की इच्छा और शक्ति अनुभूत होती है।

प्राप्ते तु षोडशे वर्षे पुत्रं मिश्रवद् आचरेत् ।

शुक्रधरा कला—आयुर्वेद के ग्रंथों में कहा है कि जन्म-काल में ही 'शुक्रधरा-कला' सूर्या से नीचे बढ़ने लगती है। ज्यों ज्यों नीचे उतरती है त्यों-त्यों अङ्गों में पुष्टि और कान्ति बढ़ती है। चौदहवें सोलहवें वर्ष में, (सामान्य अनुगम से), स्त्री पुरुष के स्नान तक आती है, तब दोनों स्नान कुछ फूलते हैं, पुरुष के भी, स्त्री के भी। कुछ काल के बाद पुरुष के स्नानों की फूलन घट जाती है, स्त्री की बढ़ती जाती है। इस समय से संतान उत्पन्न करने की शक्ति मनुष्य को होती है। पर वह शक्ति अभी सर्वथा कड़ी रहती है। स्त्री का रजःशय, पुरुष का वीर्यशय, यदि इसी समय में आरम्भ हो जाय, तो शरीर और मन कच्चा, दुर्बल, बेजोशीन, रोमी हो जायगा, और संतान भी वैसी होगी। छतासवें वर्ष में यह शुक्रकला पैर की अंगुलियों तक पुष्ट होती है। 'आ नयेभ्यः प्रविष्टः' (उपनिषत्)।

यदि समाज के सौभाग्य के दिन लौटें, यदि शुद्धता, नीचता, अंध विश्वास जायों की हवा दूर हो, और गुणता, आर्यता, और गुणवत्ता जायों की हवा बंधे, यदि सज्जन और तदुक्ति सद् भाव, सद् कला, और सद् आचरण समाज में फैलें, यदि उच्चरत्न की पूर्ण अर्थवि का फलन स्त्री पुरुषों में करते वन पर

कन्या-दूषण और कुमार-दूषण का घोर पाप जो आज काल बहुत हो रहा है बंद हो, तो मनुष्यों के ठिकाने देवों और देवियों का समाज हो जाय, सब तरफ चमकते हुए चेहरे, उज्ज्वल अङ्ग, नीरोग विशाल सुंदर स्त्री-शरीर और पुरुष-शरीर, 'आशिष्ठो, वलिष्ठो, द्रढिष्ठः' (उपनिषत्), और सब शास्त्रों के मर्म को जाननेवाली बुद्धियाँ, चारों ओर देख पड़ने लगें ।

मेधाऽसि देवि विदिताखिलशास्त्रसारा । (दुर्गासप्तशती)

ज्ञानं शौर्यं मह. सर्वं ब्रह्मचर्यं प्रतिष्ठितम् । (म० भा०)

अविधुतब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममाविशेत् ।

पट्त्रिंशदाढिदकं चर्यं गुरौ त्रैवेदिकं व्रतम् ।

तदर्धिकं पादिकं वा ग्रहणातिकमेव वा ॥ (मनु)

ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम् । (वेद)

ऐसी मेधा, बुद्धि, जो सब शास्त्रों के सार को जानती है, ब्राह्मण वृत्ति के उचित सच्चा गम्भीर ज्ञान-विज्ञान, क्षत्रिय वृत्ति के उचित सच्चा दुर्बल-रक्षक दुष्ट-तक्षक शौर्य, वैश्य वृत्ति के उचित सच्चा श्री-विस्तारक सर्व-पोषक महत्स्—यह सब ब्रह्मचर्य पर प्रतिष्ठित है । इस लिये कर्त्तव्य यह है कि विद्यार्थी अवस्था में, ब्रह्मचर्य आश्रम में, वीर्य का प्लावन, शृंग का खेलन, अव-किरण, न होने दे काम का उद्दीपन करनेवाली बातों और क्रियाओं से परहेज करे । माता पिता का, तथा अध्यापक गुरु का, परम कर्त्तव्य है कि इस विषय में पुत्र, दुहिता, शिष्य, की रक्षा करे, दुष्टों की कुसङ्गति से बचावै, तथा ऐसा उपदेश, समझदारी के साथ, विवेक-पूर्वक, दे कि कन्या और कुमार अपनी रक्षा स्वयं बुद्धि-पूर्वक कर सकें, ऐसे प्रकार से उपदेश न दे कि उस ओर और छुट्टल पड़े न ऐसी ही डरावने प्रकार से कि इसका नाम लेते ही भय और कम्प घोलल हृदय में पैदा

हो जाय । इस प्रकार से विद्यार्थी अवस्था में, कुमारानस्था कन्यानस्था में, शुक्र (पुरुष-वीर्य) शोणित (रजस्, स्त्री वीर्य) का मध्य कर के, और शरीर और बुद्धि को सुपुष्ट कर के, तब गृन्थाश्रम में प्रवेश करे, और विवाह कर के न्याय-प्राप्त शास्त्र-समन धर्म-संगन काम-शुभ का, रति का, प्रीति का, संतति का, अनुभव कर । उच्चम प्रकृति के जीवों के लिये, उपनयन से आरंभ कर के, ब्रह्मचर्याश्रम की पूरी अवधि छत्तीस वर्ष कही है; द्वितीय श्रेणी के लिये, अठारह, तीसरी कोटि के लिये, नौ; अथवा जो निश्चा सीपना चाहता हो, उसके प्राप्त हो जाने तक ।

पंजा सांभोग्य गमाज का न होने से, सात्त्विक भावों के नाश और मकुचित, क्षीण, न्यून हो जाने से, प्रत्युत, दुर्भाग्य के उदय में, राजन नामस भावों के विकास और प्रसार हो, काम के सम्बन्ध में, स्त्री-पुरुष के परस्पर व्यवहार के विषय में, नितान्त उद्वेगलता, निर्गर्हाता, अश्लील भाषण, हस्त-मैत्रुन में आगम कर के वेद्योगमन, परदारगमन, नृत्यान्कार, कुमार-दूषण, कन्यादूषण तक, छोटे और बड़े, घोर, घोरतर, घोरतम, दुर्गाचार पापाचार के प्रचार से, फल यह है कि निर्वृद्धि, दुर्बुद्धि, विस्मय, कुम्प, विविध पशुओं की प्रकृति के, विविध शारीर और मानस रोगों से ग्रस्त, पाप्मन-स्नेह-रहित, गद्गावर्तन, विश्वासहीन, दयाशून्य, कलहशील, कामी, क्रोधी, लोभी, भेद, पायस, सर्वालु, ईर्ष्यालु, शोभालु ही बनने से स्त्री और पुरुष अपने अपने देह परने हैं । स्त्री और पुरुष के तिन तिन गुणों अथवा दोषों से कभी कभी गुणवती या दोषवती मन्तान होती है । इस वा वर्तन सुश्रुत में किया है जो आगे लिखा जायगा ।

शुभाप रज्य श्यायवा लम्बानं इसान्धवा ।
 इत्यनेन च युक्तिवु मत् 'दास्यते' इत्येवमे ॥

युवा युवती के अंगों पर, मोती के आच, पानी, छाया, आभा, चमक, के ऐसी तरलता, जो देख पड़ती है, उसको 'लावण्य' कहते हैं। 'आभा लवणखण्डे या तद्वत्तारल्यम् अन्तरा', ऐसा कहते तो 'लावण्य' शब्द का अर्थ अधिक स्पष्ट होता; लवण, लोण, नोन, नमक के टुकड़े के ऐसी चमक। हिन्दी में 'स-लोनी-सूरत' कहते भी हैं। सो आज काल ऐसी लावण्यमयी आकृति देखने को जल्दी मिलती नहीं, न युवा में, न बालक बालिका में, मध्यायु और वृद्धों की कथा दूर, आंखें खोजती रह जाती हैं। शुककला की रक्षा से ही यह चमक शरीर पर उत्पन्न होती है; सो रक्षा नहीं होती याने पहिनने में भी तरह तरह की चुट्टि और अलंयम होते हैं। इसी से व्यक्ति और समाज 'अ-दर्शनीय' हो रहे हैं, दर्शन के अयोग्य और 'सम्यग् दर्शन' से शून्य।

बहुत थोड़ा सा भी विचार करने से स्पष्ट देख पड़ता है कि सच्चे सात्त्विक धर्माऽनुकूल काम-शास्त्र की, काम सम्बन्धी अच्छे ज्ञान की, गृहस्थ और गृहिणी को कितनी भारी आवश्यकता है। संतान का उत्कर्ष, अतः समाज की उन्नति, सब इसी पर आश्रित है।

जैसे यह 'सन्तान की, 'प्रजनन' की, इच्छा जन्मसे कई वर्ष पीछे व्यक्त होती है, वैसे ही, साधारण रीति से, मरण के बहुत पहिले, शरीर के जरा से जीर्ण होने पर, लुप्त हो जाती है।

तीनों की मूल वासना—परमात्मा का काम-
संकल्प—उससे तीनों की उत्पत्ति।

यह तीन कामना, एषणा, इच्छा, 'आहार' की, 'परिग्रह' की, (मिथः, परस्पर, स्त्री पुरुष के प्रसंग से, मिथोभाव से, मिथुनता से, दो दो के जोड़ा जोड़ा साथ से, परस्पर 'रति' से,

'मैथुन' से) 'संतान' की, मनुष्य की मुख्य इच्छा, तृष्णा, वासना है। अथवा यो कहना चाहिये कि एक ही मूल 'वासना' (मूल 'काम-सकलप', 'माया', 'अविद्या', 'अज्ञान', 'अस्मिता') की तीन पार, पर्व, हैं। इनका आध्यात्मिक रूप—'अहं स्याम', 'अहं बहु स्याम', 'अहं बहुधा स्याम'—तैसा है। अर्थात् 'मे होंऊँ, रहा बना रहूँ', 'मे बहुत (परिमाण में बड़ा, लम्बा, चौड़ा, मोटा, ताजा, धन दौलत वाला, सब प्रकार की सम्पत्ति में बहुत) होंऊँ', 'मे बहुधा (सख्या में बहुत बड़ा, अनेक रूप वाला, बहुत शक्ति वाला, बहुत प्रकार का, बहुत तरह का, बहुत पुत्र पात्र वाला, बड़े परिवार परिजन किन्नर वाला) होंऊँ'।

लोक, वित्त, दार (वा मुत) की एषणा—भेद के उपनिषद् में इनको 'लोकैषणा—वित्तैषणा—दार-मुतपणा' के नाम से कहा है। जैन दर्शन में 'आहारमंजा—परिग्रहमंजा—मैथुनमंजा' के नाम हैं। बौद्ध दर्शन में 'भवतृष्णा—निमवृत्तृष्णा—कामवृष्णा'। फारसी में 'जमीन—जर—जन'। अंग्रेजी में 'वाइत—वेल्थ—विमेन', अथवा 'फूड—डॉक्टर—स्पॉर्त', अथवा 'होगा—पॉजिटिवनेस—गेट्स' भी कह सकते हैं। देवी साखत में 'आशांछ्या, घनेच्छा वा, गतीच्छाऽपितु वा मवेन'—कह्यं कहा है। चरक संहिता (मृत स्यात्, अ० ११) में 'प्राणैषणा—वृत्तैषणा—पार्लोकैषणा' के नाम से इनकी चर्चा की है। अतः भेद से दर्शन में भेद होता है। विक्रिया दार की दृष्टि से 'प्राणैषणा' में 'आशांछ्या' और 'कामैषणा' अंतर्गत समझना चाहिये क्योंकि अविकारांग योग इन्हीं दो के पुरुष योग से होते हैं। 'प्राणैषणा' के स्थान पर 'लोकैषणा' नाम का उल्लेख भी दृष्टि से पड़ता है और हममें 'आशांछ्या', 'अहं स्याम', 'पार्लोकैषणा', अंतर्गत हैं क्योंकि जैसे 'प्राणैषणा'

इस 'लोक' में अन्नमय-प्राणमय-कोषात्मक स्थूल शरीर के बने रहने का साधन है, वैसे उत्तम कर्मों से कमाया 'यशस्' मनोमय-विज्ञानमय कोषात्मक सूक्ष्म शरीर का 'आहार' होकर, 'परलोक' में उसकी स्थिति का साधन होता है। इसका विस्तार करने का यहां अवसर नहीं। दूसरे ग्रंथों में किया है। निष्कर्ष यह है कि, स्थूल शरीर की दृष्टि से जो आहारेच्छा, धनेच्छा, रतीच्छा है, वह सूक्ष्म शरीर की दृष्टि से सम्मानेच्छा, ज्ञान-संग्रहेच्छा, (शास्त्रैषणा), ऐश्वर्येच्छा, अर्थात् इज्जत, इल्मी दौलत, हुकूमत (अधिकार, आज्ञा-शक्ति, ईश्वर-भाव) है।

इन तीन इच्छाओं की पूर्ति यदि उचित मात्रा में, उचित प्रकारों से, न्याय से, धर्म से, कायदे से, की जाय, तो संसार के सब उत्तमोत्तम सुख मनुष्य को मिलें, और उसके लिये पृथ्वी पर स्वर्ग आ जाय। यदि इनकी पूर्ति न की जाय, अथवा अति मात्रा में, अनुचित मात्रा में, दुष्ट प्रकारों से, अन्याय और अधर्म से की जाय, तो संसार के घोरतम दुःख मनुष्य को भोगना पड़ता है, और भूतल ही उसके लिये साक्षात् नरक हो जाता है।

अहंता, ममता, आत्मीयता—इच्छा की पहिली काष्ठा, आहार की एषणा—यह 'अहंता' ('अस्मिता', 'अहं-भाव, 'अहंकार') का मूल रूप है। दूसरी काष्ठा, परिग्रह की एषणा, ('स्वत्व', धन-दौलत, मिटकीयत, 'जायदाद', 'प्रापर्टी' की)—यह 'ममता' का रूप है। तीसरी काष्ठा, पति पत्नी-द्वारा सन्तान की एषणा, 'आत्म-संतानन' की चाह—यह विशेष रूप से

६ अंग्रेजी भाषा में लिखे 'दि सायस आफ दि इमोशनस', 'दि एसेन्शियल युनिटी आफ रिलिज़न्स', 'एन्शेन्ट दर्सेस माउर्न सायन्टिफिक सोशलिज़्म', तथा 'वाटेंपोररी इलियन फिलासफी' में।

'काम' कहलाती है। संस्कृत में 'तन्' धातु का अर्थ तानना, फेलाना, खींचना, बढ़ाना, विस्तार करना है। इसी से हिन्दी शब्द 'ताना (-वाना)' और तौत, तथा संस्कृत शब्द 'तन्व', तन्तु, आदि बने हैं। 'आत्मनः', ('अत्तनो', 'आपणो'), आत्मा का, अपने शरीर का, दूसरे शरीरों की 'संतति', 'ताँता', शृंगला, उत्पन्न कर के, 'तानना' ('ताना'-वाना के ऐसा फेलाना), लम्बा करना, मानो अमर बनना है। वंश ('वांस' में से जैसे पर्व से पर्व, पोर से पोर, निकलती चली आती है धँगे) जीना, बढ़ता, फैलता रहा, तो मानो 'मे' ही अनन्त काल तक जीना, बढ़ता, फूलता, फलता रहा। मेरे 'आत्मीय', मेरी 'आत्मीयता', मेरे पुत्र पौत्र प्रेम्ण किकर, बढ़ते रहे, तो मेरी आत्मा ही, 'मे' ही बढ़ता रहा। 'अहंता-ममता आत्मीयता'।

जीव की संसार-यात्रा के दो अर्ध-मार्ग— प्रवृत्ति और निवृत्ति।

मा न मृगन्ति, भूयामम, इति प्रेम आत्मनि-दृश्यते। (पंचदशी)
 मैं कभी नाश न पाऊँ, मदा विद्यमान रहूँ—तंगा प्रेम आत्मा का अपने लिये सर्वत्र देना पड़ता है। 'अधिया' के वश में आया जीव, इन वासना कामना को, आहार द्वारा अपने शरीर को पृष्ठ का के, परिग्रह-सम्पत्ति द्वारा अपने को बढ़ा 'बढ़' बना के, संतति द्वारा (शरीर-परम्परा द्वारा) अपने को 'अधिया' करके, 'अनेक-प्राह-उप-वन्द-नेत्र' का के, और 'अनेक-प्राह-उप-वन्द-नेत्र' को स्थायी कर के, मिथ्या अमरता प्राप्त कर के, मिथ्या रूप से पूरा करना चाहता है।
 यह के स्थान में देखाए होने पर, 'अधिया', आत्म-विद्या, पारम-हंसात्म्य इस मिथ्या वासना को छोड़ कर, मि-कामना में बस

को मिटा कर, त्याग से परिग्रह को हटा कर, और तपस्या से आहार को घटा कर, अधो-रेतस् भाव को छोड़ कर, ऊर्ध्व-रेतस् भाव का ग्रहण कर, पुनर्चार ब्रह्म-चर्या कर के, ब्रह्म के, परमात्मा के, अपने, शाश्वत सत्य नित्य अजर अमर स्वरूप को पहिचान कर, सासारिक भय से, मृत्यु के भय से, मुक्त होकर, सचमुच अमर होकर, इस प्राकृतिक वासना को तत्त्वतः पूरा करता है।

वही 'अस्मिता', अनित्य शरीर से बँध कर, एषणा-त्रय, मुमुक्षा-लोभ-काम, के रूप में परिणत होती है। वही, नित्य आत्मा से सम्बद्ध होकर, जीव को एषणा से अतीत, परे, सच्चे, स्वरूप में स्थित कर देती है।

आत्मा का अविद्या-विद्या से, ब्रह्म का माया से, क्यों और कैसा सम्बन्ध है, वासना का, 'आ-शय' का एषणा का, काम-संकल्प का, क्या तात्त्विक स्वरूप और हेतु है—इसका विचार अन्यत्र किया गया है।-

इन तीन एषणाओं की विवर्तिनी, विपरीतिनी, 'मुमुक्षा' को 'मौक्षैषणा' के नाम से चौथी एषणा कहे तो उचित ही होगा।

शरीर-यात्रा में, संसार-यात्रा में, जीव को दो रास्तों पर चलना पड़ता है, (१) प्रवृत्ति मार्ग और (२) निवृत्ति मार्ग। (१) घर से बाहर जाना, दूर-दूर देशों में भ्रमण करना तरह तरह के सुख-दुःख भोगना, जीव का संसार में अधिकाधिक पड़ना, घुलना, लिप्त होना, सांसारिक सुख-दुःखों का अधिकाधिक अनुभव करना, (२) फिर थक कर, उपरत हो कर, घूम पड़ना और घर लौटना, संसार से मुँह फेरना, उसको छोड़ना।

प्रवृत्ति मार्ग पर, 'नन्धेयणा' के अंतर्गत इन 'स्वार्थ'-आत्मक तीन इच्छाओं की प्रवृत्तता रहती है। ऐसा रहना नैसर्गिक है, प्राकृतिक, फिन्नती, कुटनी, और मर्यादा के भीतर, उचित और आवश्यक भी, है। निवृत्ति मार्ग पर क्रमशः, धीरे धीरे, इनका क्षय, और माक्षेयणा के अंतर्गत 'परार्थ' आत्मक 'परमार्थ' अर्थात् अगाध कवल्य (आहारस्थानीय), आत्मज्ञान योगनिभृति (विद्यास्थानीय), भक्ति तन्मयता (कामस्थानीय), का उदय और प्रागल्भ्य जाना, स्वाभाविक, उचित, आवश्यक है।

इन चार पण्यणाओं का, (अथवा दो मुख्य पण्यणाओं के अंतर्गत छ अथवा चार पण्यणाओं का) दो मार्गों से, चार पुरुषार्थों से, चार श्रेय-कर्मों पितृ आत्म कृपा से, चार वर्णों से, चार आश्रमों से, चार शास्त्रों से प्राप्त सम्बन्ध है—इसके जानने बिना शिक्षितता 'शिष्टता', सम्पन्न नहीं होती। इस विषय का विस्तार अन्यत्र किया गया है।

दोनों मार्गों के लक्ष्य और उनके साधन बताने वाले शास्त्र ।

यहाँ इनका कहना प्रसक्त है कि मानव जीवन के दो मार्गों के दो मुख्य 'अर्थ' (पुरुषार्थ) हैं। प्रवृत्ति मार्ग का अर्थ-उदय, निर्मित अर्थ, अर्थ-श्रेयस (सुवि. बोध, निर्माण, अपवर्ग)। अ-प्रवृत्ति मार्ग का अर्थ—(कर्म-का-उत्पत्ति, 'अर्थ'-) अर्थ, अर्थ, काम। अर्थ-उदय का अर्थ है—आत्मदर्शन तथा परम धर्म, अर्थ-श्रेयस (अर्थ-उदय) तथा परम अर्थ, ('अर्थ-आत्मार्थ', इति शब्दे)

१. 'अर्थ-उदय' अर्थ-श्रेयस से, तथा 'अर्थ-आत्मार्थ' अर्थ-श्रेयस से।

सर्वभूतभक्ति रूपी परम काम, (सर्वभूतसेवा, 'सर्वलोकहिते रतिः', 'भूतप्रियहितेहा') ।

अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम् । (याज्ञवल्क्य)

इन पुरुषार्थों के साधन का उपाय बताने वाले, 'शासन' करनेवाले, सिखानेवाले, 'शास्त्र', इन्हीं के नाम से प्रसिद्ध है— धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, कामशास्त्र, और मोक्षशास्त्र (जिस के अन्तर्गत दर्शनशास्त्र, योगशास्त्र, और भक्तिशास्त्र है) :- इन सब के तत्त्वों को, सिद्धान्तों को, यथा-शक्ति, यथा-सम्भव, जानने से ज्ञान सुसम्पन्न होता है, और संसार-यात्रा का, अल्पतम दुःख और अधिकतम सुख से, निर्वाह हो सकता है ।

आजकाल मिलनेवाला, धर्मशास्त्र का प्रधान सर्वाङ्गीण ग्रन्थ 'मनुस्मृति' माना जाता है, तथा अर्थशास्त्र का चाणक्य-कृत 'अर्थशास्त्र', तथा कामशास्त्र का वात्स्यायनकृत 'कामसूत्र', तथा मोक्षशास्त्र का 'प्रस्थानत्रय' ('उपनिषत्', 'भगवद्गीता', वादरायणकृत 'ब्रह्मसूत्र'), पतञ्जलिकृत 'योगसूत्र', नारद (अथवा शांडिल्य) कृत 'भक्तिसूत्र' । न्याय, वैशेषिक, मीमांसा, और सांख्य के सूत्रों को भी ब्रह्मसूत्र और योगसूत्र का अङ्ग ही माना जा सकता है ।

दोनों का ऐकान्तिक लक्ष्य—सुख । सुख का मूलरूप, तथा दो अवान्तरूप ।

तत्त्वतः, अंततो गत्वा, पुरुष का 'अर्थ' एक ही है—सुख । अर्थ्यते, याच्यते, इष्यते, इति अर्थः । जो चाहा जाय, मांगा जाय, वह अर्थ । जीवमात्र सुख चाहते हैं, दुःख से सब भागते

। इन चार शास्त्रों का वर्णन, अध्याय १ में किया गया है ।

हैं। सुख की लिप्सा, दुःख की जिहासा, यही मनुष्य की सभी मानस और शारीर प्रवृत्तियों का एकमात्र हेतु है।

सर्वेऽपि जीवास्तु सुखे रमन्ते,

सर्वे च दुःखाद् भृश मुद्दिजन्ते । (म० भा०)

सर्व पराशं दुःख सर्वम् आत्मवशं सुखम् । (मनु)

परवशता ही दुःख, आत्मवशता ही सुख है। आत्मा का राज्य, स्वराज्य, 'अस्मिता' की पूर्ति, यही सुख है, जैसा उक्त कहा है, "मैं जो चाहूँ वही हो"। दूसरे का, पराये का, राज्य, पर-राज्य, दूसरे के मन का, मेरे मन के विरुद्ध, होना, यही दुःख है। काम-चेष्टा में, स्त्री-पुरुष के परस्पर परिचय में, सा जगत् लज्जा सकावट छोड़ कर, इस मन्त्रमुक्तता का पराकाष्ठा, एक दृष्टि में, देय पत्नी है, जो चाहते हैं सो करते हैं। इसी लिये मैं तुम शक्ति के अभाव को, होवन्व वंभ्यान्व को, स्वाध्याय स्त्री पुरुष अन्वय दुःख मान लेते हैं। इसी लिये उपनिषद् में भी कहा है "सर्वेषां आनन्दानां उपस्थः एव एकायनम्", मा आनन्दों का एकमात्र टिकाना उपस्थ-उन्डिय है; उपस्थ शब्द, स्त्री के भी, पुरुष के भी, सुख शब्द के लिये व्यापक शब्द है। एक दृष्टि में, योग-पुरुष के परस्पर आधिगम में सभी पाँचों अनेन्द्रियों का (यत्कि पाँचों कर्मेन्द्रियों का भी) एक साथ प्रवर्तन नश्वर आनन्दन होता है, उक्त लिये कामदेव का एक लक्षण 'संचसायक' कहा जा सकता है, यद्यपि शौर हेतु भी प्रसिद्ध है, दूसरी दृष्टियों में, यथा,

अपि च अतो हं च मृतं च नवमदिता ।

वीरं च चर्वन् च पर्वन्ने पञ्चमस्य सायदा ॥

यस्येवम उन्मत्तौ च शोषणं त्वयम् नयम् ।

अन्वयः केऽऽ कामस्य पञ्चमस्य, अर्थात् नयम् ॥

रतीच्छा की ऐसी अग्रता उग्रता होते हुए भी, गहिरा दृष्टि से देखने से, यही कहना पड़ेगा, कि आहारेच्छा ही घोरतम है, क्योंकि 'रति' के बिना जीवन दुःखी है, तो आहार के बिना प्राण ही नहीं रह सकता। उपनिषत् ने भी कहा है पुत्रैषणा और वित्तैषणा भी लोकैषणा ही है।

और भी। जिन आनन्दों का उपस्थ एकायन है, वे सब सांसारिक आनन्द हैं, अर्थात् आनन्दाभास हैं। उस परम और सत्य आनन्द की, शांति की, नकल है, छायाभास है, जिसके लिये उपनिषत् में कहा है,

यश्च अकामहत एष एव परम आनन्दः, एको द्रष्टा अद्वैतो भवति, एतस्यैव आनन्दस्य अन्यानि भूतानि नात्रामुपजीवन्ति ।

जब मेरे सिवा कोई दूसरा है ही नहीं, सब का सिरजने, पालने, संहारने वाला नै ही, तब मेरी हुकमत, मेरे ईश्वरभाव, का क्या पूछना? वहाँ तो 'काम' वाकी वच्चा ही नहीं, कामना होना ही तो खंडित होना है, अपूरा अधूरा होना है, किसी दूसरी वस्तु की चाह, किसी चीज की कामी है। 'परिपूर्णस्य का स्पृहा'? परिपूर्ण को न काम है, न मोह है, न शोक है।

यस्य सर्वमभात्मैव धभूत्, तत्र को मोह व शोक एकत्वपक्षुपदयत ।

भूमाएव सुखम् । (उपनिषत्)

आनन्दकी, सुख की, परा काष्ठा यह है कि सब को, सब में, सब जगह, अपने को, आत्मा को, ही देखे, जाने, पहिचाने—कोई पराया है ही नहीं, सब 'मैं' ही हैं सब कुछ 'मेरे' में। 'सुख में, ही है, मैं ही सब कुछ हूँ, 'मैं' सब से दड़ा हूँ, (दतोर्भाव-भूमा) ।

यश्च कामसुखं लोके, यत् दिव्यं नत्सुखम् ।

तृष्णाक्षयसुखस्यैते गार्हत घोहर्ता वराम् ॥ (योगभाष्य)

भौम कामसुग, इस भू-लोक का, दिव्य कामसुख, परलोक स्वर्ग का; यह दोनों, मिथ्या छोटी जीवात्मा की हाड़ मांस में 'अस्मि' वाली तृणा के क्षय के, और सच्ची बड़ी परमात्मा की सब जगत् में 'अस्मि' वाली शांति के उदय के, अजर अमर अपार अनन्त सुग के अणु भाग के भी तुल्य नहीं हैं। लेकिन प्रवृत्ति मार्ग पर, संसारनाटक में, जीव के लिये, सुग के आभास, मिथ्या सुख, इन्द्रियों के विषयों के भोग के सुग का, जो उग सजे सुग की टूटी नकल, प्रतिरूप, प्रतिकृति, प्रतिविम्ब है, अनुभव करना भी आवश्यक है। उसके पीछे, जीवात्मा परमात्मा के 'स भाव' के नियमों के अनुसार, नित्य-अनित्य का 'विशेष' जागने पर, और अनित्य नश्वर पदार्थों से ही की हुई संसार में 'विश्रांति' उत्पन्न होने पर, दूसरा, सच्चा, पारमार्थिक सुग प्राप्त करना भी परम आवश्यक है।

प्रवृत्ति मार्ग का प्रधान पुस्तार्थ काम-सुख, जो धर्म में स्थापित अर्थ (धन-सम्पत्ति) से परिष्कृत हो।

उपरोक्त प्रवृत्ति मार्ग का प्रधान 'अर्थ' काम-सुख ही है। इसमें मात्र 'अर्थ' (सम्पत्ति) और 'धर्म', विशेष हेतु में लक्ष्य लिये गये हैं। उनकी चर्चा करने के परिणाम, 'काम' शब्द के अर्थ बनाना आवश्यक है। वाग्भ्यायन ने कामसूत्र (१ अध्याय २ प्रश्नाय. ११.१२ सू०) में इनका उल्लेख किया है। (१) पाँच इन्द्रियों के पाँच विषयों में जो अपनी प्रकृति के अनुकूल शौचिक, सुन्दर, पदार्थ हैं, उनके अनुभव की इच्छा—यह काम-सम्पत्ति है। अपनी अपनी प्रकृति के अनुकूल—इन्द्रियों के लक्ष्य प्राप्त है कि प्रकृति के अंदर से किर्मा को सदा अधिक प्रकृतिकर है, किर्मा को लीटा, किर्मा को मीठा, किर्मा को काल

कसैला भी, किसी को संगीत प्रिय है, किसी को रूप रंग, किसी को सुगंध, किसी को स्पर्श ।

कुरंग-मातंग पतंग-भृंग-मीना हताः पचभिरप्य पंच ।

नरः प्रमादी स कथं न हन्यते यः सेवते पचभिरेव पंच ॥

हरिन को मधुर गीत, हाथी को सुख स्पर्श, फर्तिंगे को चमकती जोत, भौरे को फूलों का सुगन्ध (तथा मधु रूपी रस भी), मछली को सुखाद कवच, अधिक प्रिय है । मनुष्य को पांचो इन्द्रियों के विषय प्यारे हैं, 'पंच-शर' काम-देव का वह शिकार बनता है, तौ भी प्रत्येक मनुष्य को किसी एक इन्द्रिय का अधिक रस होता है, जिह्वा का रस तो प्रायः सभी को रहता है; इसी लिये "जिह्वा-उपस्थ-रताः", "शिश्न-उदर-परायणाः" शब्द बालिकाल के मनुष्यों के लिये प्रसिद्ध हो रहे हैं । इस अर्थ में 'काम' शब्द, इच्छा, वासना, तृष्णा, एषणा, आदि का, तथा 'अज्ञान', 'अविद्या', 'शक्ति', 'दैवी प्रकृति', 'माया', आदि का पर्याय ही है, सारे संसार का बीज है ।

काम-सामान्य ।

कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि मनसो रेत प्रथमं यदासीत् ।

सतो वंधुमसति निरर्विदन् हृदा प्रतीप्या कवयो मनीषा ॥ (ऋग्वेद)

सोऽकामयत बहु स्यां, प्रजायेय ।

काममय एवायं पुरुष ॥ (उपनिषत्)

अकामस्य क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कर्हिचित् । (मनु)

सनातनो हि सवत्प वाम इत्यभिधीयते ।

सकत्पाभिरुचि वाम सनातनतमोऽभवत् ॥

जगत्पतिर् अनिर्देश्य सर्वग सर्वभावन ।

हृच्छयः सर्व-भूताना ज्येष्ठो रद्राद् अपि प्रभुः ॥

(म० भा०, अनुशासन पर्व, अ० १६१)

काम सर्वमयः पुंसां स्वसंकल्प-समुद्भवः ।

कामात्म्यं प्रवर्तते लीयंते वृद्धिमागताः ॥

(शिव पु०, धर्म सं०, अ० ८)

मनस् का, चित्त का, जीवत्व का, संसार का रेतसु, बीज, 'काम', परमात्मा के निष्काम हृदय मे सदा सदा से आगे वर्तमान है । मनीषी कवियों ऋषियों ने अपने हृदय मे, (वृद्धि अयम्, तस्मान् हृदयम्), हृदय गुहा मे, हृदयस्थ परमात्मा में, गतिपी गोज कर के, सन् के स्वमे बंधु इस असन् को पाया है । परमात्मा के भीतर संकल्प हुआ, कामना हुई, कि मैं एक से अनेक हो जाऊँ, बहुत हो जाऊँ, तब सृष्टि हुई । पुरुष काममय है, उग्रता रूप, उग्रही शक्ति, उग्रही प्रकृति काम ही है ।

वामना वामुदेरस्य, वामिन सकलं जगत् ।

चित्ते वसति यस्मात्, चित्तं वामयते तथा ।

जीव एा दि वामुन्, वामनेयुर्यते तत् ॥

चित्त मे सदा वसती है, गंध जैसे हवा को धैरे चित्त को वामने रहती है, वामु अर्थात् जीव का रूप ही है, इगणिये उग्रता नाम वामना है ।

जगत्कारी जीव का सुप्त (ओम् हुम् गी) इन्द्रियों के रिक्तों के द्वारा ही होना है । जीव जीव को इस सुप्त की कामना नहीं उसकी संसार मे रहने का प्रयोजन नहीं । यह प्रकृति कार्य को छोड़ कर निवृत्ति मार्ग पर पैर रगता है ।

धर्म और अर्थ का प्रयोजन ।

यद वाच सृष्ट पशुधौ चो भी होता है, अर्थ और धर्म मे उग्रता प्रयोजन नहीं सदा के लिये ? उग्रता उग्र पर है । (१) पशुधौ चो पशुधौ चो भी इन्द्रियों माया मे 'अर्थ' का

प्रयोजन रहता ही है, उनमें भी 'परिग्रह' देख पड़ता है, अपनी अपनी मांद, विल, खोते, बसेरे के पेड़, निरामिपो के चरने के और सामिपो के शिकार के जङ्गल, अलग-अलग होते हैं, जिनके लिये आपस में बड़ी बड़ी लड़ाइयां होती हैं। तथा, अव्यक्त रूप से उनमें आपस के समझौते, कायदे कानून, मर्यादा, अर्थात् 'धर्म' भी देख पड़ते हैं, यथा ऋतु-काल में अपने-अपने नर-मादा और, जब तक छोटे अखच्छन्द रहे तब तक बच्चे, एक साथ अन्य ऐसे कुटुम्बों से अलग अलग रहते हैं, तथा एक दूसरे की 'रख' में चरने या शिकार करने नहीं जाते—इत्यादि। (२)

दूसरी बात यह है कि मनुष्य के जीवन में, उसके इन्द्रिय-सुखों में, संस्कार परिष्कार, पशुओं की अपेक्षा से, बहुत अधिक है। यहां तक कि जब तक उचित 'संस्कारों' से 'संस्कृत' न हो तब तक मनुष्य सच्चा 'आर्य' मनुष्य नहीं हो सकता। मनुष्य को, लकड़ी पत्ते मट्टी फूस के झोपड़े से लेकर चांदी सोना जवाहिर से जड़े संगमरमर के करोड़ों रुपये के महल रहने को, जंगली कंद मूल फल से लेकर अति महर्घ दृष्टिम पड्रस लेह्य पेय चोप्य खाद्य खाने को पत्ते से लेकर हजारों रुपये गज तक के शाल-दुशाले कमखाव पहिनने को, सुगंध फूल, और फूलों के सौ सौ रुपये तोले के इत्र, सूंघने को सुन्दर सुवर्ण सु-रूप पेड़ फूल भरे उद्यान, चित्र, प्रतिमा, रत्न के आभूषण देखने पहिनने को, इत्यादि, चाहिये। जीवन के ऐसे परिष्कार संस्कार से ही लक्ष्मी-देवता, श्री, सम्पत्ति, 'अर्थ', चरितार्थ होते हैं। निष्कर्ष यह कि विना 'अर्थ' के मनुष्योचित सुपरिष्कृत 'काम', अर्थात् विषयोपभोगजनित शारीरिक पेंड्रिय सुख, तथा मानस मैत्री स्नेह प्रीति के सहित कौटुम्बिक और सामाजिक शालीनता और शोभा का सुख, सम्पन्न नहीं हो

सकता। ऐसे ही, बिना समाज के संग्रथन, व्यूहन, व्यवस्थापन के, बिना परस्पर आचार व्यवहार की मर्यादा अर्थात् अधिकार-कर्तव्य के, बिना उनके मननाने, पालन करवाने के, उपायों के, अर्थात् बिना 'धर्म' के, 'अर्थ' का संचय और स्थैर्य समाज में किर्गी के पाग हो नहीं सकती। इस लिये 'अर्थ' और 'धर्म' को 'काम' के साथ साथ परम आवश्यकता है।

आहार निद्रा भय मैथुनानि सामान्यमेतत् पशुभिर्गराणाम् ।

(भर्माङ्ग कुतोऽर्थो, सत्यु तद्विशेषः, ताभ्यां विहीनाः) पशुभिः समानाः ॥

(हितोपदेश)

आहार, निद्रा, भय, मैथुन—यह तो पशुओं में और मनुष्यों में समान ही हैं। मनुष्यों में, धर्म, और धर्म से अर्जित, रक्षित, मोक्ष (व्यय किया, स्वर्च किया) अर्थ—ये ही पशुओं की अपेक्षा विशेष है। इन दो से विहीन मनुष्य पशुओं के समान है।

धर्मोऽर्थः, अर्थः कामः, कामाद् धर्मोऽदोषः ।

इत्येवं निर्णयं शास्त्रं प्रयत्ननि रिपञ्चितः ॥ (पञ्च पुराण)

धर्म से अर्थ, अर्थ से काम, काम से धर्म के फल अर्थात् सुख का उद्देश्य—यह निर्णय विद्वान् बुद्धिमान् लोगों ने शास्त्र में किया है। और काम से अधिक अर्थ पर, और अर्थ से बहुत अधिक धर्म पर, जोर इस लिये दिया है कि काम की ओर तो स्वभाव की प्रवृत्ति अन्यथा अपने आप है, उसको पट्टाने ही सम्भव नहीं है, प्रत्युत गंजने और सुगमिष्ठ करने की आवश्यकता है तथा धर्म की ओर जीव की स्वभाव प्रवृत्ति है, इस लिये उसके बढ़ाने की आवश्यकता है।

अथ धर्मोऽर्थः, अर्थः कामः, कामाद् धर्मोऽदोषः ।

इत्येवं निर्णयं शास्त्रं प्रयत्ननि रिपञ्चितः ॥

(पञ्च पुराण)

अकामस्य क्रिया काचित् दृश्यते नेह कर्हिचित् ।
यद्यद् हि कुरुते जतु तत्तत् कामस्य चेष्टितम् ॥
कामात्मता न प्रशस्ता, न चैवेहास्त्यकामता ।
काम्यो हि वेदाधिगम कर्नयोगश्च वैदिक ॥
तेषु सम्यग् वर्त्तमानो गच्छति अमरलोकताम् ।
यथासकल्पिताश्चेह सर्वांन् कामान् समश्रुते ॥ (मनु)
धर्माऽऽविरुद्धो भृतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ॥ (गीता)

मद्य मांस-मैथुन की इच्छा प्राकृतिक है । उसको बढ़ाने का प्रयोजन नहीं । रोकने के लिये, नियमों से मर्यादित करने के लिये, विवाह और यज्ञ आदि की विधि वृद्धो ने बनाई है । बिना काम के, कोई क्रिया, कोई जीव नहीं करता । जो कुछ भी, जो कोई भी, करता है, वह अन्ततः काम की ही चेष्टा है, सुख की लिप्ता से ही किया गया है । वेदों का पढ़ना, वैदिक कर्म करना, यह सब भी काम की प्रेरणा से ही है । पर अतिकाम, काम-मग्नता, यह प्रशंसनीय नहीं । उचित मात्रा, उचित प्रकार, से 'वैदिक' धर्म की, अर्थात् सज्-ज्ञान से, सद्बुद्धि से, 'वेद' से, निर्णीत, व्यवस्थापित 'धर्म' की, आज्ञा के अनुसार जो काम का सेवन करता है, वही सब काम-सुखों को पाता है । धर्म से अविरुद्ध, धर्म सम्मत, जो काम है, वही व्यापक अंतरात्मा को प्रिय है । यद्यो कि "कामात् क्रोधोऽभिजायते", धर्म के विरुद्ध कामाचरण से चारों ओर आसपास क्रोध उपजता है ।

काम-विशेष ।

यहाँ तक काम-सामान्य की चर्चा हुई । अब (२) काम-विशेष को देखना चाहिये । कामदेव का एक नाम पंचसायक है । सुख की इच्छा, पाँच ज्ञानेन्द्रियों के विषयों के उपभोग से,

उद्दीपित भी और पूरित भी होती है, इस लिये यह नाम पड़ा, पेसा पहिले कहा। स्त्री और पुरुष, एक दूसरे के शरीर में, इन पार्वीयों के सार, और उनके उपभोग से सांसारिक सुग की पग काष्ठा का तीव्रतम अनुभव, पाते हैं, इस लिये स्त्री-पुरुष के मिथुन, जोड़े, छद्म, का परस्पर काम, विशेष करके 'काम' का नाम पाता है। स्थूल-शरीर और सूक्ष्म-शरीर, चित्त और देह, दोनों के सभी विषयों में (मूलप्रकृति-परमात्मा के, पार्वीय परमेश्वर के, अनुकारी) स्त्री-पुरुष एक दूसरे के लिये संगार-सर्वान्न हैं।

आपवतो ये तो अन्योऽन्यस्य कामान् गवान् । (छांदोग्य उप०)

जीव, एक ओर, अति लघु सादि गान्ध मूठी भर हाड़ मांस के देह से बंधा हुआ, तद्रूप हो रहा है, दूसरी ओर, अनादि अमल अति महान परमात्मा से बंधा हुआ, क्या परमात्मा ही, है। लोकेर्लोकियान्, शणोरणीयान्, महतो महीयान्—दोनों हैं। उपर कहा कि आत्मवदना ही सुग है, 'मुझसे अधिक, पा मेरे समान भी, कोई दूसरा नहीं है। और क्या, मेरे लिये दूसरा कोई न ही नहीं। मे ही सब से बड़ा, बड़ापन की पग काष्ठा है मे ही सब कुछ है। बड़ापन ही तो सुग है, छांटोई में सुग छर्पे!"

सायं वै सुगमसि, भुमैव सुगम ।

न नगामश्न-परिदश दृश्यते । (उप०)

न नगामोऽन्य-परिद-कृताऽन्य । (गीता)

सांख्यशास्त्र से इस प्रकार से, अर्थ, अर्थ, काम का परि-
क्षण की है।

अन्योऽन्येभ्यो नन । अनायुर्दे सुग विमज्य काम अयो-
नन्दं नगामश्न नयुत-नन्दं शिदर्ये मेरेव । सायं विमज्य-
नन्दं

अर्थान् । काम च यौवने । स्याविरे धर्मं च मोक्षं च । • ब्रह्मचर्यम् एव तु वा-विद्याग्रहणात् ।

अलौकिकत्वाद् अदृष्टार्थत्वाद् अप्रवृत्तानां यज्ञादीनां शास्त्रात्प्रवर्त्तनम्, लौकिकत्वाद् दृष्टार्थत्वाच् च प्रवृत्तेभ्यश्च मांसभक्षणादिभ्य शास्त्रादेव निवारणं धर्मः । विद्या-भूमि-हिरण्य-पशु-धान्य-भाण्डोपस्कर-मित्रादी-नान् अर्जनम्, अर्जितस्य विवर्धनन् अर्थ । श्रोत्र त्वक् चक्षु-जिह्वा-घ्राणा-नाम् आत्मसयुक्तेन मनसा अधिष्ठितानां स्वेषु स्वेषु विषयेषु आनुकूल्यत-प्रवृत्ति काम । स्पर्शविशेषविषये तु अस्य आभिमानिकसुखानुविद्धा फलवती अर्थप्रतीति प्राधान्यात् काम ।

धर्म-अर्थ-काम तीनों को नमस्कार है । सञ्चरित्र सावधान मनुष्य की आयु सौ वर्ष की होनी चाहिये, यदि इन तीनों पुरुषार्थों का सेवन, एक दूसरे से परस्पर बाँध कर, परस्पर विरोध के बिना, बल्कि तीनों को परस्पर सहायक बना कर, मनुष्य करे, जैसे उसको. काल का, आयु का, विभाग करके, करना चाहिये. यथा, बाल्य में विद्या ग्रहण (रूपी धर्म), यौवन (और प्रौढ़ि) में काम (और अर्थ), वार्धक्य में मोक्ष-धर्म, का । (तथा प्रौढ़ावस्था में, प्रतिदिन का विभाग कर के, पूर्वाह्न में धर्म, अपराह्न में अर्थ, सायंकाल में काम, का) । विद्या ग्रहण की अवस्था में ब्रह्मचर्य ही करना चाहिये ।

जिनका फल प्रत्यक्ष नहीं है, जैसे यज्ञ आदि कर्म, उनका शास्त्र की आज्ञा से प्रवर्त्तन. और ऐसे कर्मों का, जैसे मांस भक्षण आदि, जिनका फल प्रत्यक्ष है, निवर्त्तन. यह धर्म है । भूमि, सोना चाँदी पशु, धन-धान्य, वर्त्तन भाड़ा, लकड़ी लोहा का सामान, ओढ़ना विछौना, अर्थात् गृहस्थी का सब सामान, तथा मित्र का अर्जन, और अर्जित का वर्धन, यह अर्थ है । पाँचों इन्द्रियों के विषयों में प्रवृत्ति, यह काम-सामान्य है । विशेष

काम के अन्य अर्थपूर्ण नाम ।

कंदर्प—काम के और भी नाम संस्कृत में हैं। गहुत अर्थपूर्ण हैं। 'सम्यक् कृता' 'अच्छी बनारि हुई', 'संस्कृत' भाषा जैसी ही है। पर निरुक्त शास्त्र का प्रयोग, जिससे प्राचीन अर्थ-गर्भ शब्दों का निर्वचन अध्यात्मशास्त्र की सहायता से हो, प्रायः उठ सा गया है। एक नाम काम का 'कंदर्प' है। इसका दो प्रकार से निर्वचन हो सकता है। 'कंदर्पयति', किराके इन्द्रिय निग्रह, आत्म-संयम, कंदर्प को बचने देता है? किमी कं नहीं, इस लिये कंदर्प ।

नक्षत्राया जातः सुरपतिर् अभृद् अभ्यतनयो
प्रजानायो ध्यामीद् अभजत गुरोर् इहुर् अयलो ।
इति प्राय. को वा न पठम् अपन उकार्यत मया,
श्रमा मद्गणाना क इव भुरनोन्मायप्रियु ॥

(प्रथम चन्द्रोदय)

कामदेव कहता है, 'मैंने सुरपति इन्द्र को गौतम ऋषि की पत्नी अश्विनी का जार बना दिया, चन्द्रमा को अपने गुरु गृह स्वर्ग की पत्नी ताता से व्यविचार करा दिया, स्वयं ब्रह्मा को कल्प 'सैमोन्म' आदि ही शर्मा 'दि मायम भाक ति इमोन्म' के ई ने ही है। पञ्चाय वैज्ञानिकों ने युरोपीय भाषाओं में दिए हुए 'कंदर्प' (होमोसिजिनिस मायम विक्रिया, उन्मादि) के जार के, प्रतीक के रूप में प्रमाणित करने के लिए कहा है—कि यह काम-शास्त्र की अन्वित है। यह शब्द विकृत शब्दों से बना है। यह शब्द 'कंदर्प' से विकृत है, यहाँ तक कि 'कंदर्प' से विकृत कर दिया है। 'कंदर्प' से विकृत कर दिया है, यहाँ तक कि 'कंदर्प' से विकृत कर दिया है, यहाँ तक कि 'कंदर्प' से विकृत कर दिया है।

अपनी बेटी सरस्वती के पीछे दौड़वा दिया; मेरे वाणों को सारे संसार के उन्मथन, मना-मथन, मे क्या श्रम है? मेरा एक नाम मन्मथ है ही ।

व्यवहार दृष्टि से इन सब पौराणिक कथाओं का सीधा सीधा अक्षरार्थ भी बड़ा उपदेश-प्रद है, ये कहने-सुनने वाले को सदा सावधान करती रहती हैं कि संसार में सँभल कर चलो, दर्प मत करो, काम के वेग से डरते रहो, बड़े-बड़ों से बड़ी-बड़ी भूल हो गई हैं, और इसके कारण उनको बड़े बड़े दंड भी मिले हैं, इन्द्र के शरीर में हजार व्रण (उपदंश, गर्मी, के रोग के ऐसे) हो गये; चन्द्रमा को क्षय रोग हो गया, ब्रह्मदेव के पहिले जो पाँच स्त्रिये उन में से एक को रुद्र ने काट डाला, जिस से चार ही रह गये. फिर तुम क्या चीज़ हो! पर आध्यात्मिक आधिदैविक दृष्टि से ये सब रूपक भी हैं। यथा अहल्या का अर्थ है—विना हल चली, विना जीती, भूमि, गोतम का अर्थ बहुत पशु पालने वाला मनुष्य, इन्द्र का अर्थ विद्युत्, चन्द्र का अर्थ जल जब अहल्या के पति गोतम कहीं चले गये थे, अपनी पत्नी की पित्र, भूमि की रक्षा, देख रेख, नहीं कर रहे थे, उस समय विजली बादल के अनुचित (अतिमात्र) स्पर्श से खेती की भूमि पड़ती हो गई, फिर राम जी ऐसे महापुरुष के पाद-स्पर्श से, उस पर घूम फिर कर देखने से, (जैसा राजा और राज-पुरुषों का धर्म है, कि घूम फिर कर प्रजा का निरीक्षण और कष्ट-निवारण करते रहें), और उत्तम प्रबंध करने से, वह भूमि, जो पत्थर ऐसी, ऊसर ऐसी, हो गई थी, फिर से जाग उठी, उर्वरा हो गई, जोती जोई जाने लगी. उसके पुत्र शत-आनन्द हुए। राम जी के “कदमों की चरकत” से यह सब काम हुआ। “रमन्ते जना. यस्मिन् स राम.” ।

तथा वृहस्पति, तारा, चन्द्र, चन्द्र-तारा के पुत्र बुध, पृथ्वी वराह के पुत्र भौम आदि, ये सब समूह में घूमते हुए ब्रह्म अण्ड, गोले, ग्रह नक्षत्र आदि, हैं, जिन में आपस में, कर्गों-वर्ष पहिले, ज्योतिष शास्त्र से सृचना मिलती है, परस्पर महा उत्पात होकर, 'संग्रामे नायकामये', तब वर्तमान सौर सम्प्रदाय की व्यवस्था स्थिर हुई। तथा सरस्वती का अर्थ वाक् है, प्रजा का अर्थ महत्त्व, बुद्धितत्त्व, चाग्मी है, रुद्र का अर्थ क्रोध है, वाक् का दुप्रयोग होने से, चारों ओर क्रोध फैलने से, चाग्मी की दुर्दशा होती है। इत्यादि। इसमें विस्तार का यहाँ अवसर नहीं, प्रसंगवजान् केवल सूचना कर दी।

द्वारा निर्वचन 'कंदर्प' का है, 'कं न दर्पयति', किंग को दर्पयति, दत्त, नहीं करता। कंदर्प का और 'दर्पण', आईना, का साथ है। 'दर्पयति इति दर्पणः', जिन में स्त्री पुरुष अपनी सृष्टि को देख कर संतानें दे और दत्त होते हैं। कर्नार की गीत है, 'सृष्टिं स्या देवे दर्पणं मे, तेरे देवा धरम नहीं तन मे'।

मदन—यह नाम 'मदन' भी है।

सुमन्वतो जीर्ण, अरुणमणि पुरुषविन्दः

अर्जुन उवाच ॥ अथ मदनं त्वं विदुः ॥ मदनः ॥ (नन्दर्पि)

मदन का मत, मदन, विना पुंल, भुजमरा, अगर्जण की मदन में प्रेरित होकर, मन होकर, मृत्ती के पीछे मदन है। नाम मदन यवार्थ है। 'मदन्यति इति मदनः', जो मदन को मदन मदन, कर दे। अग्निमान मान, दर्प, मदन—यह मदन यवार्थ है। अग्नि आकाश से मदन, उगाने मदनमः। अग्नि मदनमदन से मदनः। अग्नि मदनमदन मदनः प्रथमी, अग्नि, मदनः। मदन मदनमदनः मदनमदनः। अग्नि मदनमदन से मदनः अग्नि मदन से मदनमदन का मत

स्त्री वीर्य, पुरुष-वीर्य, उस से वीर्यमद, काममद, ऐश्वर्यमद, मद्य, मदिरा, में भी यही धातु है। मद्य के सेवन से भी 'मद' उत्पन्न होता है। मद्य-मांस-मैथुन आदि का, घोर भयङ्कर वाममार्ग के पंच 'म'-कार में, इसी हेतु से साथ देख पड़ता है। तामस हर्ष के सभी साधन हैं। मद का अर्थ 'हर्ष', 'उद्धतता', तथा 'वीर्य' भी है। दोनों का आशय 'मद्-भाव', 'अहं-भाव', की वृद्धि है। 'कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया, 'मेरे सदृश दूसरा कौन है'। फारसी में भी शेखीवाज आदमी की तस्वीर ऐसे ही लपड़ों से खींची है—“हम् चु मन् दीगरे नीस्त”, जो संस्कृत के “कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया” का ठीक तर्जुमा है। अति वृद्धि से 'उन्माद' हो जाता है। 'शुक्र' नाम ब्रह्म का भी है, वीर्य का भी। ब्रह्म का अर्थ अति बृहत्, अनन्त, परमात्मा भी, वेद अर्थात् अनन्त ज्ञान भी, तथा वृंहणशील, वर्धन सन्तानन शक्ति रखने वाला, वीर्य भी। इन तीनों की प्राप्ति, वृद्धि, सञ्चय, करने वाली चर्या का नाम ब्रह्मचर्य है।

पाके रसस्तु द्विविध प्रोक्तो ह्यधरसात्मकः ।

रससारमयो भागः शुक्रं ब्रह्म सनातनम् ॥

स पर्यगाच् शुक्रम् अकायमव्रणमस्त्राविरं शुद्धमपापविद्धं । (३५०)

ब्रह्मचर्य के गुण ।

अन्न के परिपाक से जो रस उत्पन्न होता है उसका सार सनातन ब्रह्म रूप, ब्रह्मशक्तिमय, शुक्र है। आयुर्वेद का कहना है कि आहार से क्रमशः रस, रक्त, मांस, मेदस्, अस्थि, मज्जा, घन कर, सातवाँ परिणाम वीर्य होता है। आठवाँ परिपाक, वीर्य का परिणाम, तरस्, ओजस्, सटस्, महस्, तेजस्, चर्चस् आदि विविध प्रकार का पेशियां का, इन्द्रियो वा,

हृदय का, मन का, अहंभाव का, बुद्धि का, चल होता है।
ब्रह्मचर्य की, विद्यार्थिता की, अवस्था में, शुक्र का, स्वप्न में,
स्मरण हो जाय तो,

पुनर्मांसेतु इन्द्रियं, पुनरात्मा द्रविणं ब्राह्मणं च ।

पुनरशयो धिग्ण्या यथास्थां कल्पन्तामिहैव ॥ (वेद)

इस मंत्र का, स्नानादि करके, अर्थ की भावना के सहित, जप
करने से सब दोष दूर हो जाते हैं, और फिर चल का संन्य
हो जाता है। इसी मंत्र को बृहदारण्यक उपनिषद् में और
विष्णु में कहा है,

तदभिमुखं, अनु वा मययेत, यन्मेऽथ रेतः पृथिवीम् अस्मात्प्रीति,
यत् ओषधी अति अथरद्, यद् अपः, इदम् अहं तद् रेतः आददे, पुनर्मांसि
पेतु इन्द्रियं, पुनस्तेजः, पुनर्भागः, पुनरसिः, धिग्ण्याः यथास्थानं कल्पन्ताम् ।

अर्थात् जेसा ध्यान और जप करे कि, जो मेरा वीर्य गिर कर
पृथिवी में, ओषधियों में, जल में, मिल गया, उसको मैं फिर
अपने चित्त के चल से वापस लेता हूँ; मेरा इन्द्रिय-चल, मेरा
तेजस, मेरा स्वाभाव, मेरे प्राण की गर्मी, और मेरे सब अवयवों
में रहने वाली शक्तियाँ, अपने अपने उचित स्थान पर वापस आ
जायें। स्पष्ट है कि जेसा ध्यान मन में होवे और रहने में वीर्य
का अवसर और संन्य अपने शरीर में होगा। 'इन्द्रियं' शब्द
वेद में मय से वीर्य का उपलक्षण है। क्यों कि, स्त्री-पुरुष के
पारस्परिक आत्मिक अनभिन्नता प्रेममय समावेशन में प्रत्यक्ष,
वैयर्थ्यमय से सब मय प्रकार के चल का, प्राण का, 'शरीर'
होता है और-सब कर्म-कारण में, चित्त और देह में विद्यमान
उत्पत्ति है तथा, शरीर के मय से सब इन्द्रियों में, सब अवयवों
के इन्द्रिय और मय से चलता है। आयुर्वेद में विष्णु विष्णु है,

त्रिस्थूण शरीरं, आहार निद्रा मलचर्यं इति तिस्र स्थूणा ।

(सुश्रुत, चरक)

'ओजस्' शब्द के दूसरे दूसरे अर्थ भी सुश्रुत, चरक, शार्ङ्ग-धर आदि ने कहे हैं; उनके विवरण का यहाँ प्रयोजन नहीं ।

क्षयरोग ।

यह प्रसिद्ध है कि अति भोग विलास से, बहुत ऐयाशी से, क्षय, तपे-दिक, 'कन्जमूशन', की बीमारी हो जाती है, अमीरों की बीमारी है, इसी से एक नाम इसका 'राज-यक्ष्मा' है । पर बहुत गरीबी से भी यह हो जाती है । वैद्यक में बहुत प्रकार के क्षय, और उनके कारण, कहे हैं, पर विशेष दृष्टि से, दो प्रकार विशेष है, अनुलोम क्षय और प्रतिलोम क्षय । शरीर अथवा बुद्धि के अति व्यायाम, परिश्रम, कर्षण से, तीव्र मानस शोक, क्षोभ, चिन्ता से, स्वास्थ्य की साधारण सामग्री, शुद्ध और पर्याप्त अन्न, जल, वायु, वस्त्र प्रभृति के अभाव से, सर्दी गर्मी या जाने से, प्रजागर से, मन्दाग्नि मन्द ज्वर आदि हो कर, यदि अनुलोम क्रम से धातु क्षीण होने लगे, पहिले रस, तब रक्त, तब मांस इत्यादि, अंत में शुक्र, तो उसको अनुलोम क्षय कहते हैं । अति कामुकता, विषम कामुकता, या अन्य किसी कारण से, वीर्य के क्षय से आरम्भ हो कर रज्ज के क्षय से जो अंत करता है, उसको प्रतिलोम क्षय कहते हैं ।

हस्तमैथुनादि दोष और क्षय रोग ।

हस्तमैथुन दोष विद्यार्थियों में, पूर्व पश्चिम के सभी देशों में, आज काल बहुत फैला जान पड़ता है । इसके अतिमात्र आचरण से भी विविध प्रकार के मानस शारीर रोग और क्षयरोग उत्पन्न होते हैं । पर यदि कभी कदाचित् कोई विद्यार्थी नासमंती से यह

है; यहाँ तक कि विहार और पंजाब की गवर्नमेंटों ने, और उनके शिक्षा-विभाग के डायरेक्टरों ने, सन् १९३४—'५-६ में, तटस्थतात कराई, और इस दुराचार के रोकने के लिये कुछ उपाय सोचा और आदेश जारी किया, पर आदेश के जन्म कुछ ऐसे गोल-गोल थे, कि विशेष कार्यसाधक

जीवन भर इस दाग को मिटाना उसके लिये अमम्भव होगा, समाज में मुँह दिगाना कठिन होगा, प्रियदा होकर चेश्या वृत्ति का ग्रहण करना होगा, या भिक्षा वृत्ति ग्रहण कर के तीर्थ स्थानादिकों की 'धैरागी' आदि मण्डलियों के कुपन्थ सुपन्थ में अपना तन और मन दुबा देना होगा, या 'मिरिन' (मारिशस) देश के ऐसे टापुओं में जाना होगा, जहाँ घटनेगी ब्रह्मिणियों को जाना पड़ता रहा है—यह सब विचार कर के, अपराधिनी युवती के ऊपर, क्रोध के साथ साथ दया भी होती है; पर स्वयं में यही मानना पड़ता है कि प्रत्यायन और दंडन न होने में वे प्रायः पाप बढ़ते ही जायेंगे, तथा प्रकाशन और न्यायोचित निर्णय में, जोड़ पड़ व्यक्ति का जीवन खट्टा या ध्वस्त ही हो जाय, पर समाज को लाभ होगा, अल्पकाल के वेग को रोकने की प्रवृत्ति आदि होगी, समाज की हवा स्वच्छ होगी। यदि समाज में शुभ संस्कार प्रवृत्ति नार अल्पकाल ही, तो ऐसे संतुष्ट व्यक्ति में फिर कोई दाग भी न करे, और उसका जीवन भी परिशुद्ध और निरदोष रहे।

नहीं जान पड़े। 'यूथ्स वेल्फेयर अन्नोसियेशन', अर्थात् 'युवा और बालको की रक्षा के लिये समिति', भी पंजाब में बनी। महात्मा गांधी जी ने भी, सन् १९३५ में, लाहौर के सनातनधर्म कालेज के आचार्य (प्रिंसिपल) के पत्र के उत्तर में, इस विषय पर, देश को उपदेश दिया। इन सब तहकीकातों से विदित हुआ कि स्थान स्थान पर स्वयं अध्यापको ने ही अपने शिष्यों के साथ दुराचार किया। जिसको रक्षक होना चाहिये वही भक्षक हो गया। इस सब से इतना तो ज़रूर हुआ कि जनता का ध्यान इस ओर फिरा, और हवा बदलने की इच्छा और प्रयत्न शुरू हुए। माता, पिता, गुरु—इन तीन के नाम, वेद में, मनुस्मृति में, बहुधा साथ ही लिये जाते हैं। यदि ये ही अपनी संतान की, अपने शिष्य की, हत्या कर डालें, तो क्या उपाय है।

यस्याङ्गे शिर आधाय जन स्वपिति निर्भय ।

स एव तत् शिर छिद्यात् सत्र कं परिदेवयेत् ॥ (म० भा०)

जिसकी गोद में सिर रख कर सोवें, वही उस सिर को काट ले, तो किस पर मरोत्ता किया जाय, किस से परिदेवना, पुकार, की जाय ? पर नहीं, इसका उपाय है, और किया जाना चाहिये, आर किया जा सकता है, यदि गृहस्थ और राष्ट्रभृत्य एकमत और सन्नद्ध होकर यत्न करें। मुख्य उपाय यह है कि (१) समाज की सारी हवा, जो दुर्भावमय, अधर्म्य कामक्रोधादि की इच्छाओं और चेष्टाओं से विपाक्त हो रही है, बट सत्-शिक्षा, सद्-भाव, सत् साहित्य के प्रचार से, शोधनी और बदली जाय जैसी नई पुस्तक की शिक्षा वैसी भावी समाज की सभ्यता वा असभ्यता. (२) पाठशाला, मद्रसा. स्कूल, कालिज आदि को सब्बा 'गुरुकुल' बनाया जाय, विवाहित और सन्तान वाले ही

स्त्री पुरुष अध्यापक बनाये जायें; गुरु और गुरुपत्नी और उनके अपत्य और शिष्य साथ रहें, साथ उठें बैठें, पढ़ें पढ़ावें, चलें फिरें। अपने और दूसरों के अपत्यों को साथ देना कर, सब के लिये, गुरुओं अध्यापकों अध्यापिकाओं के मन में, शुद्ध वात्सल्य के भाव उत्पन्न होंगे, और सब की तुल्य रूप से देना-रेना रक्काँगे और रक्षा करेंगे, दुष्ट कामुकता के भाव किसी के लिये उनके मन में उदय होने न पावेंगे। इसके विरुद्ध, जवान, अनव्याहृत, निस्सन्तान स्त्री, पुरुष यदि अध्यापक होंगे, तो उन में दुष्ट भावों का उपजना बहुत संभव होगा। अतः उपाय यह है कि जिस अध्यापक के सम्बन्ध में विशेष शंका और बदनामी उठे वह नर्त्तन कर दिया जाय; अथवा और साक्षात् प्रमाण आदि की प्रतीक्षा न की जाय, जैसे जाविते फौजदारी में नैकचलनी के लिये सुचलता जमानत की आज्ञा, बदनामी के ही सुवृत्त पर, दे की जाती है। गृहस्थ जनता को, अपनी संतान की रक्षा के लिये, इस विषय में जैसे अन्य विषयों में, यत्कि उमरें बहुत अधिक, सज्जन होनासार सावधान रहना चाहिये। आंग कान पर कर लेना, 'रुम तो पंगी बात सुनना नहीं चाहते', पंगी श्रमणा शर्त्तन इस विषय के विचार करने में दिव्याना मुँह फेर लेना-यह बड़े आश्चर्यों में बहुत देना पड़ता है, पर, इस प्रकार से बड़े आश्चर्यों अधिक भ्रष्ट होने हैं उनके दुराचार समाज का अधिकाधिक भ्रष्ट और दुर्बल और निर्दोष बनते हैं, जिससे वे रोग और बदनामी हैं। इस लिये, पंगी दुराचार को रोकने के लिए उपायों पर, सज्जनों में, परस्पर, ज्ञान और दूर दूर से विचार होना ही चाहिये।

वे न, कि काम और भावना शर्त्तनान्तर्गत है पर १०००

१००० न, शर्त्तनान्तर्गत से इन बातों की शर्त्तन ही है।

एक और विषय की चर्चा इसी स्थान पर करना प्रसंग-
 प्राप्त है। आज काल, अवस्था के परिवर्तन से प्राचीन भारतीय
 शील, शक्ति, सज्जान, स्वयंप्रज्ञता, स्वावलम्ब, स्वातन्त्र्य के ह्रास
 से; पाश्चात्य शक्तियों और विचारों के आक्रमण से, पुरानी
 सभी व्यवस्थाओं मर्यादाओं के अस्त-व्यस्त हो जाने से,
 दूषित ज्ञान, श्रुद्ध विचार, श्रुद्ध आवरण, परतत्रता, परावलम्ब,
 परप्रज्ञता, परानुकारिता, परानुत्तारिता की वृद्धि से, इस
 भारतवर्ष की जनता के जीवन के सभी पार्श्वों, पहलुओं,
 अंगों में, उथल-पुथल, अधरोत्तर, समुद्र की लहरों के ऐसा,
 हो रहा है। समाज-निर्माण, मनुष्य मनुष्य के परस्पर अधिकार-
 कर्त्तव्य, वार्ता-वाणिज्य-रोज़गार, राजनीति-राष्ट्रप्रबन्ध, शिक्षा-
 रक्षा-भक्षा की व्यवस्था, स्त्री पुरुष के परस्पर कामिक व्यवहार
 के, विवाह-पद्धति के, भर्ता-भार्ता, पिता-पुत्र भर्ता-भृत्य, दाय
 आदि, सभी के नियमों में उलट-फेर हो रहा है। इसके
 अंतर्गत, बालक-बालिकाओं, कुमार-कुमारियों, किशोर-किशो-
 रिओं, युवा-युवतियों, तरुण-तरुणियों का, एक साथ उठ बैठ फर,
 रह कर, स्कूल कालिजों में पढ़ना पढ़ाना भी शुरू हो गया है।
 उसके स्वाभाविक गुण-दोषात्माक फल भी होने लगे हैं अवि-
 वाहित विद्यार्थिनियों को गर्भ रह जाना, और ऐसे गर्भ के
 पातन का यत्न करना, चुना जाने लगा है। "कामः स्वभाव-
 वामः"। बिना अवसर के भी काम उत्पन्न ले जाता है, अवसर
 प्राप्त होने पर, तीक्ष्ण प्रलोभन होने पर, फ्या नहीं हो सकता।
 "कं नहि मद्यति सदन"। अति तपस्वी, अपने शरीर को नुखा
 डालने वाले, दूबा पानी पत्ता पी खाकर रहने वाले, विश्वामित्र
 पराशर आदि ऋषियों से भी, स्त्रियों के कमलवत् सुललित
 मुखों को देख कर, मोह में पड़ कर, चूक घुत्तरी होती रही है

साधारण स्त्री पुरुषों की, घी दूध दही उत्तम पुष्टिकर अन्न गाने वालों की, क्या कथा; यदि ऐसे लोग भी इन्द्रिय-निग्रह कर सकें, तो मानो विंध्य पर्वत पौंड्र कर सागर को पार कर ले।

विश्वामित्र-पराशर प्रभृतयः वाता-ऽम्बु-पर्णाऽश्नाः,
तेऽपि स्त्रीमुत्पपंकजं सुललितं हृष्टैव मोहं गताः ।
शाक्यदां दधिदुग्धगोघृतयुतं ये भुंजते मानवाः,
तेषाम् इन्द्रियनिग्रहो यदि भवेत्, विंध्यस्त्ररेत् सागरं ॥

मनु की आज्ञा नीच है,

स्वभाव एव नारीणां नराणां इह दूषणम् ।

मात्रा स्वप्ना दुहिया वा न विविक्तामनो भवेत् ।

बलीयान् इन्द्रियग्रामो विद्वान्मम अपि कर्षति ॥

मानव प्रकृति का यह स्वभाव ही है कि, नर नारी, साक्षात् रूप में, एक दूसरे के चित्त को क्षुब्ध करने हैं, एक दूसरे को दूषित करने हैं; माता, बहिन, बेटों के साथ भी अकेले में न वेदों इन्द्रियों की सेना बलवान हैं; विद्वान् को भी कुगद में ले जाती है।

इस श्लोक पर, एक बृद्ध अग्रज ने आश्चर्य प्रकट किया, कि नारिकेल के स्त्री पुरुषों पर, यहाँ के बर्से-व्यवस्थापकों विवान-कारकों का इतना अविश्वास वा। उनसे कहना पड़ा कि, प्यूटाई के लिये 'प्रीत' शब्द से ही पुरुषों के 'मित्र' में, तथा प्रांग, इटली, ईजिप्ट, गेस, आदि के इतिहास में, तथा एक सुगत यादगाह के सम्बन्ध में, गेस विवा पुरी, भाई-बहिन, के दूराकरण के दशाक्षण मिलने हैं, तथा अन्य बात, इतिहासक ६ राजसूत्र में, गेस पापों के लिये विद्वान् ब्रह्म विवाह के लिये से विद्व होना है, कि गेस सारे पुरुष होते हैं, कभी कभी, इतिहासक में गेसों का दूराकरण करना भी है, मैं मैं ही सापेक्ष प्रमाणों के लिये 'प्रीत' शब्द का प्रयोग करता हूँ।

दूसरे स्मृतिकार ने कहा है,

घृतकुम्भसमा नारी, तप्तंगारसम' पुमान् ।

तस्मान्नर च नारी च नैरुत्र स्थापयेद् बुधः ॥

अविवाहित स्त्री पुरुष को एकत्र रखना, मानो आग और ईंधन को साथ रखना है, ऐसी अवस्था में 'ब्रह्मचर्य' और सचरित्र निवहना प्रायः असम्भव सा है, और प्रायः स्त्री ही की हानि और दुर्दशा होती है ।

अब स्त्रियों की शिक्षा की ओर देश का झुकाव बहुत हो रहा है, और ठीक हो रहा है, पर उसके प्रकार पर गृहस्थों को बहुत गम्भीर विचार करना आवश्यक है । जैसा गम्भीर विचार वालकों की रक्षा के लिये करने की आवश्यकता है, जिसका जिक्र ऊपर किया गया, उससे भी अधिक इसपर ध्यान देना चाहिये ।

यह जो कहा, इसका आशय यह नहीं है कि स्त्रियों को शिक्षा न दी जाय. या स्त्रियाँ पढ़ें में रक्खी जायँ, कदापि नहीं, शिक्षा देना ही चाहिये, परटे की प्रथा हटाना ही चाहिये । कहने का मतलब केवल इतना ही है, कि स्त्री और पुरुष के प्राकृतिक मानस और शारीर भेद को, संसार में, जीवनसंग्राम में, उनके विभिन्न कर्त्तव्यों को, और साथ ही उनके सहधर्मित्व-सहधर्मिणीत्व को भी, ध्यान में न्वृत्त रख कर, शिक्षा रक्षा आदि को प्रबन्ध, विवेक से, मर्यादा बाँध कर, सुव्यवस्थित किया जाय । महाराष्ट्र, गुर्जर द्राविड़, आंध्र आदि प्रान्तों और समाजों में पढ़ाई की प्रथा नहीं है, पर स्त्रियों और पुरुषों के परस्पर दर्शन सम्भाषण आदि के विषय में बहुत मर्यादा बाँधी हुई है ।

ॐ 'दी सायस आफ सोशल आर्गेनिज़ेशन' में, पृष्ठ ४४७ से ५५१ तक, इस पर विस्तार से विमर्श करने का यत्न किया है ।

यनेन्द्रेर विपुलां प्रीतिं तत्र स्त्रीणि विवर्जयेत् ।

विवादं अर्थसम्बन्धं परोक्षे दारदर्शनम् ॥

जिग से स्नेह प्रीति मैत्री चाहे उस के साथ विवाद, वाग-
वृत्तान्त, मत करो, रुपये पैसे का लेन देन मत करो, एक दूसरे
की अनुपस्थिति में एक दूसरे की पत्नी से भेंट मुलाकात मत
करो । यह पुराना श्लोक है, जिससे स्पष्ट निकलता है कि
पारम्पर दारदर्शन की प्रथा भारतवर्ष में गदा रही है, लेकिन
पति की मौजूदगी में ही, गेरहाजिरी में नहीं । तथा, 'जति
सर्वत्र वर्जयेत्' नहीं तो व्यक्ति के, कुल कुटुम्ब समाज के,
जिस में दोष और उपद्रव उत्पन्न होंगे ।

काम-विषयक शिक्षा के प्रकार और प्रचार के सम्बन्ध में कुछ विचार

परिचय में, 'काम' सम्बन्धी लेख, ग्रन्थ, 'शास्त्र', अब बहुत
दिलीप वर्तमान, बहुत ज्ञाने ; इस सब लिखावट को 'सिद्ध
विशेषण', और काम शास्त्र को 'सिद्धकुशल सायंस', 'सायंस
आपका भी कहते हैं । अंग्रेजी में, उस पदार्थ को, 'वि
सम्बन्ध में (सिद्ध-) 'काम' कहते हैं, प्रायः 'सिद्धकुशल सायंस'
कहते हैं । उन्हे 'कल्लिड', आदि शब्द, उनके पर्याय होने
का है, विशेष शब्दों के अन्तर्गत है । 'कल्ल' शब्द की व्युत्पत्ति
अप्रत्यय शब्दों में ली मिलती- यद्यपि सम्बन्ध है कि 'कल्ल'
को, 'कल्ल' सम्बन्ध है । विशेष विशेषण के, केवल 'कल्ल' शब्द
का ही अर्थ है, 'कल्ल' शब्द, होता है । ज्ञान, विद्या पुत्र
पुत्री जैसे शब्दों में 'कल्ल' शब्द का ही अर्थ है, तथा पति पत्नी
का ही अर्थ है । यह कहते हैं । यह सब पुरुष के विशेष विशेषण
शब्द का ही अर्थ है 'सिद्धकुशल सायंस' कहते हैं । जहाँ संस्था है

पापिष्ठ बलात्कार, और एक थोर दर्प और करता और दूसरी थोर थोर भय और दीनता, नहीं है; जहाँ स्त्री-पुरुष को परस्पर काम है, वहाँ शारीर 'रति' भी और मानस 'प्रीति' भी, दोनों ही सम्मिलित रहती है, "कामस्य द्वे भार्ये, रतिश्च, प्रीतिश्च", तौ भी साधारण बोल चाल में, 'काम' शब्द से 'रति' की, 'सुरत' की, 'मिथुनता' की, ओर ही अधिक झुकाव माना जाता है। यहाँ एक बात और विचार करने की है, हिन्दी में 'काम' शब्द का एक अन्य अर्थ प्रचलित है, यह 'काम' शब्द, संस्कृत के 'कर्म' शब्द का प्राकृत अपभ्रंश वा रूपान्तर है, और उसका अर्थ 'कर्म' ही है; इस लिये, यद्यपि प्रसंग से उपयुक्त अर्थ का बोध हो ही जाता है, तौ भी अच्छा होता यदि कोई दूसरा निर्भ्रान्त असन्दिग्ध शब्द मैथुन्य-कामके लिये निश्चित कर लिया जा सकता, और उससे अन्य पद, संज्ञा, संज्ञा-विशेषण, क्रिया-विशेषण आदि, बनाये जा सकते, जैसे अंग्रेजी में 'सेक्स-लव', 'सेक्सुअल', 'सेक्सुअली', 'सेक्सुपेलिटी', आदि। 'सेक्स' शब्द का आगम अंग्रेजी में कहाँ से हुआ, इसका भी ठीक ठीक नहीं चलता, शब्द-कोशों में, प्रायः लैटिन भाषा का शब्द, 'सिकेरी', काटना, इसका मूल बताया जाता है, यह ठीक नहीं, अजब नहीं जो संस्कृत 'शक्', 'शक्ति', से ही इसकी उत्पत्ति हो; क्योंकि सृष्टि करने की पारमात्मिक शक्ति और काम एक ही पदार्थ है। पर, हाँ, जैसे परमात्मा और जीवात्मा में, तात्त्विक पदार्थ होते हुए भी, प्राणिभासिक भेद है, वैसे ही पारमात्मिक सांकल्पिक सूक्ष्म काम में और जैवात्मिक शारीर स्थूल काम में भी भेद है।

'सेक्स' शब्द का संस्कृत में ठीक अनुवाद स्यात् 'लिङ्ग' शब्द हो, दोनों शब्दों के, अपनी अपनी भाषा में, प्रयोग की

उसको 'लिङ्ग' नहीं कहते, 'योनि' ही कहते हैं। सर्जन शक्ति की दृष्टि से, यदि 'सेक्स' शब्द का आगम 'शक्', 'शक्ति', रचना कर 'सकना', से हो, तो 'सेक्स' के लिये 'लिङ्ग' शब्द ठीक होता है, पर उक्त अन्य विचारों से यह भ्रम-कारक होगा। ऐसी ही आपत्ति, 'शक्ति' शब्द के सम्बन्ध में है, यद्यपि 'शक्ति-उपासना' का वाममार्गीय रूप घोर 'कामोपासना' ही है। इस लिये 'काम' और 'स्मर' शब्दों से ही काम लेना अच्छा होगा; उसमें भी, 'काम', 'कामीय', 'कामिक', 'कामिकता', 'कामुक', 'कामुकता' आदि से अधिक विशेष कर इस लिये कि 'काम शास्त्र' शब्द ऋषि-सम्मत है। धर्म-अर्थ-काम का त्रिवर्ग है।

'काम' के दो तीन संस्कृत पर्यायों का उल्लेख किया गया। अमरकोष आदि में ये नाम दिये हैं,

मदनो, मन्मथो, मार, प्रद्युम्नो, मीनकेतन ।

कदर्पो, दर्पको, धनङ्ग, काम, पञ्चशर, स्मर ॥

शवरारिश्, मनसिज, कुसुमेपुद्, अनन्यज ।

पुष्पधन्वा, रतिपति, मकरध्वज, आत्मभू ॥

ब्रह्मसू, विश्वकेतुश्च, वसन्तसख इत्यपि ।

लक्ष्मीसुतः, शिवद्वेषी, विश्वक्सेनात्मजश्च स ॥

प्रत्येक नाम का विशेष अर्थ है, आत्मभू, अनन्यज, ब्रह्मसू, लक्ष्मीसुतः, शंकरद्वेषी, स्मर आदि, आध्यात्मिक अर्थों से भरे हैं, सब के लिखने का यहाँ अवसर नहीं। प्रसक्त प्रयोजन के लिये 'स्मर' शब्द अच्छा जान पड़ता है, इसकी व्युत्पत्ति, भानु-दीक्षित ने, अमरकोष की टीका में, "स्मरयति, उत्कण्ठयति", लिखी है। ठीक है पर यो भी अर्थ लगा सकते हैं—ब्रह्म की, परमात्मा की, 'स्मृति' में, ज्ञान, ध्यान, संकल्प, अवधारण में, समस्त संसार, सर्वथा सर्वदा-सर्वत्र, भूत भविष्य-वर्तमान, स

क्रमो का लङ्घन किये हुए, उनके पार, एक रूप से स्थित रहती है।

परमार्थ तात्विक दृष्टि से, परमात्मा के काम-संकल्प स्मर का यह स्वरूप है।

संसारार्थ व्यावहारिक दृष्टि से, संतान की उत्पत्ति करने वाला, इच्छारूप काम-संकल्पात्मक भाव, 'कान्त-कान्ता-स्मरणेन उद्दीप्यते', कामित स्त्री वा पुरुष के स्मरण से, मानस ध्यान से, जागता है, इस लिये 'स्मर' कहाता है।

ध्यायतो विषयान् (पुंम सगस्तेषूपजायते ।

संगात्) संजायते 'काम', (कामात् क्रोधोऽभिजायते) ॥ (गीता)

केचित्कर्म वदत्येनं, स्वभावमितरे जनाः ।

एके काल, परे दैवं, पुम "काम" उताऽपर ॥

(भागवत, स्कं० ४, अ० ९)

ज्ञान मायां प्रधान च प्रकृति शक्तिमप्यजां ।

अविद्याम् इतरे प्राहुर्वेदतत्त्वार्थचित्तका ॥

(देवी भागवत, स्कं० ८, अ० ३२)

धर्मनूलोऽर्थ इत्युक्त, कामोऽर्थफलमुच्यते ।

सकल्पमूलास्ते सर्वे, संकल्पो विषयात्मक ॥

(महाभारत, शान्ति, अ० १२३) ॥

विषयो का ध्यान स्मरण करने से उनकी ओर इच्छात्मक, कामनारूप, काम पैदा होता है, सनातन संकल्प ही का नामान्तर रूपान्तर 'काम' है, जगत् का पति, अनिर्देश्य, सर्वग, सर्व-व्यापी, सर्वत्रगामी, सर्वभावन, सप्त दृष्टयो मे सोने जागने वाला, रद्र अर्थात् क्रोध का जनक भी और जेटा भार् भी,

॥ पूर्व पृष्ठ १९३-१९४ में इस विषय पर अपर श्लोक भी दिये हैं ।

'काम' है, इमी को कोई स्वभाव कहते हैं, कोई दैव, कोई कर्म; काल, ज्ञान, अज्ञान, माया, प्रधान, प्रकृति, शक्ति, अजा, अविद्या, सब इमी 'काम' के आकारों-प्रकारों के नाम हैं; मानन जाति के लिये, धर्म का फल अर्थ, अर्थ का फल 'काम' है; सबका मूल 'संकल्प' है, संकल्पन 'विषयों' का होता है ।

'काम' की, 'स्मर' की, पेंगी महिमा " है, यदि आध्यात्मिक दृष्टि में देगा जाय । यदि केवल अधिभूत भाव से देगा यत्ना जाय, तो, इमका निपरीत, वैसी ही अगोम इमकी शुद्धता, पशुता, है । यदि अधिदेव भाव से, ज्ञान-विवेक-विचार से, अध्यात्म अधिभूत का समन्वय करके, इमका आराधन किया जाय, तो,

वर्मात्तमं त. कामात्तमि भूतानां भरतवर्षिण । (गीता)

जंजाल है'—यह अन्त में सभी को स्वभावतः कम वेश मालूम हो ही जाता है, वेदान्त के पारगत को भी, और अनपढ़ को भी, 'संस्मरण' का, जगत् के विस्तार का, प्राणियों के वंशानुवंश सन्तान का, भोग विलास का, धर्म और अर्थ का, मूल हेतु काम ही है, सामान्यार्थ 'अविद्या', 'इच्छा', 'वासना', 'माया-शक्ति' के रूप में भी, तथा विशेषार्थ, स्त्री-पुमान् की परस्पर मिथुनता, सग, साथ, सुरत, व्यवय, को इच्छा के अर्थ, और अधिक तीक्ष्ण रूप, में भी। पहिले (पृष्ठ १९७ पर) कह आये हैं, कि वैदिक कर्मकाण्ड का भी प्रयोजक हेतु काम ही है, तथा इसके दोष भी स्पष्ट है, अति काम से अति सन्तान वृद्धि, तथा काम की सेना, क्रोध, लोभ, मोह, भय, मद, मत्सर आदि, की वृद्धि, और परस्पर बड़े बड़े युद्ध और संद्वार।

ऐसे ही, स्त्री-पुं-काम सम्बन्धी शिक्षा, अल्पवयस्को, कम उमरो, को देने न देने में भी उभयतो दोष है। वयस्थो, युवा, युवतियो, विवाहोन्मुखो, विवाहितो, के लिये तो ऋषियो ने काम-शास्त्र बना दिया है ही। छोटे लड़के व लड़कियो के सम्बन्ध में संशय होता है। एक ओर यह आपत्ति है कि, इस विषय का सर्वथा ज्ञान न होने से, बच्चे, बच्ची, कुमार, कुमारी, युवा, युवती, बड़ी बड़ी भूल-चूक में पड़ जाते हैं, क्रूर पापिष्ठो के शिकार बन जाते हैं, और सारी उमर शरीर में रोग, चित्त में विकार, हृदय में धंसा छिपा शल्य, भोगते हैं, अथवा नितान्त दुःशील, धृष्ट, बेहया, कामुक हो जाते हैं दूसरी ओर यह कठिनाई है कि, शिक्षा देने को नीयत से ही, अज्ञान (अज्ञान) भोले, मासूम, कम उमरो से इस विषय की चर्चा की जाती है, तो उनके मन में क्षोभ उत्पन्न होता है; बालको की अपनी अपनी प्रकृति के अनुसार, और शिक्षा के प्रकार के अनुसार.

‘काम’ है; इसी को कोई स्वभाव कहते हैं, कोई दैव, कोई कर्म, काल, ज्ञान, अज्ञान, माया, प्रधान, प्रकृति, शक्ति, अजा, अविद्या, सब इसी ‘काम’ के आकारो-प्रकारो के नाम हैं; मानव जाति के लिये, धर्म का फल अर्थ, अर्थ का फल ‘काम’ है, सबका मूल ‘संकल्प’ है; संकल्पन ‘विषयों’ का होता है।

‘काम’ की, ‘स्मर’ की, ऐसी महिमा * है, यदि आध्यात्मिक दृष्टि से देखा जाय। यदि केवल अधिभूत भाव से देखा वर्त्ता जाय, तो, इसके विपरीत, वैसी ही असीम इसकी क्षुब्धता, पशुता, है। यदि अधिदेव भाव से, ज्ञान-विवेक-विचार से, अध्यात्म-अधिभूत का समन्वय करके, इसका आराधन किया जाय, तो,

धर्माऽनपेतः कामोऽस्मि भूतानां भरतवर्षभ । (गीता)

ऐसे धर्म-सम्मत काम की ही उचित शिक्षा का प्रचार करना आवश्यक है, क्योंकि वह, धार्मिक गार्हस्थ्य द्वारा, उत्तमोत्तम सांसारिक पेटिक और आमुष्मिक दोनों सुखों का साधक है, तथा धर्म-रहित धर्म विरुद्ध काम वैसा ही दोनों सुखों का वाधक और नरक का प्रापक है। छोटे बड़े शिष्यों के वयस् की अपेक्षा से, प्रकार मे भेद होना भी आवश्यक है। यह प्रकार क्या है, उस पर बहुत विचार अनुभवी वृद्धो को करना चाहिये।

ऊपर लिखा कि काम सम्बन्धी चर्चा, विना देश काल-पात्र के विवेक के, करने मे बहुत दोष है। ‘उभयतः पाशाशरज्जुः’ ‘खाय तो पछताय, न खाय तो पछताय’। यह कथा समस्त ‘संसार’-पदार्थ ही की है। ‘दुनिया झूठी है’, ‘माया का

* महिमा शब्द (तथा अणिमा, लघिमा, गरिमा आदि) संस्कृत मे पुल्लिङ्ग हैं, पर हिन्दी मे स्त्रीलिङ्ग ही मानने की चाल चल गई है।

जजाल है'—यह अन्त में सभी को स्वभावतः कम वेश मालूम हो ही जाता है, वेदान्त के पारगत को भी, और अनपढ़ को भी, 'संस्करण' का, जगत् के विस्तार का, प्राणियों के वशानुवंश सन्तान का, भोग विलास का, धर्म और अर्थ का, मूल हेतु काम ही है, सामान्यार्थ 'अविद्या', 'इच्छा', 'वासना', 'माया-शक्ति' के रूप में भी, तथा विशेषार्थ, स्त्री-पुमान् की परस्पर मिथुनता, संग, साथ, सुरत, व्यवाय, को इच्छा के अर्थ, और अधिक तीक्ष्ण रूप, में भी। पहिले (पृष्ठ १९७ पर) कह आये हैं, कि वैदिक कर्मकाण्ड का भां प्रयोजक हेतु काम ही है, तथा इसके दोष भी स्पष्ट हैं. अति काम से अति सन्तान वृद्धि, तथा काम की सेना, क्रोध लोभ, मोह, भय, मद, मत्सर आदि, की वृद्धि, और परस्पर बड़े बड़े युद्ध और संहार।

ऐसे ही, स्त्री-पुं-काम सम्बन्धी शिक्षा, अल्पवयस्कों, कम उमरों, को देने न देने में भी उभयतो दोष है। वयस्थों, युवा, युवतियों, विवाहोन्मुखों, विवाहितों, के लिये तो ऋषियों ने काम-शास्त्र बना दिया है ही। छोटे लड़के व लड़कियों के सम्बन्ध में संशय होता है। एक ओर यह आपत्ति है कि, इस विषय का सर्वथा ज्ञान न होने से, बच्चे, बच्ची, कुमार, कुमारी, युवा, युवती, बड़ी बड़ी भूल-चूक में पड़ जाते हैं, ब्रह्म पापिष्ठों के शिकार बन जाते हैं, और सारी उमर शरीर में रोग चित्त के विकार, हृदय में धंसा छिपा शल्य, भोगते हैं अथवा नितान्त दुःखी, धृष्ट, पेहया, कामुक हो जाते हैं, दूसरी ओर यह कठिनाई है कि, शिक्षा देने को नीयत से ही, अज्ञान (अज्ञान) कोले, मासूम, कम उमरों से इस विषय की चर्चा की जाती है, जो उनके मन में क्षोभ उत्पन्न होता है. बालकों की अपनी अपनी प्रकृति के अनुसार, और शिक्षा के प्रकार के अनुसार,

कभी किसी को भय बढ़ता है, कभी किसी को कुतूहल बढ़ता है, अधिक जानने की, और अपरोक्ष अनुभव कर के जानने की, इच्छा उत्पन्न होती है; और इस रीति से भी वे अनाचार में पड़ जाते हैं।

यूरोप अमेरिका में इस पर बहुत श्रुण्ण-क्षोद हो रहा है, कि अल्पवयस्कों को इस विषय पर कुछ भी शिक्षा देना, या न देना, यदि देना तो किस प्रकार से, किस हद तक। सत्कार की द्वंद्वमयता के कारण, गुण-दोष, पुण्य-पाप, उजेल-अंधेरा, सब जगह परस्पर लगे, क्या एक दूसरे के भीतर पैवस्त, हैं; वही वस्तु, वही क्रिया, एक अवस्था में लाभदायक, दूसरी में हानिकारक, होती है; कोई ऐसा प्रकार नहीं जो सर्वथा शुद्ध केवल गुणमय हो, अथवा निरा दोषमय; देश काल-पात्र-अवस्था-सम्पत्काल आपत्काल आदि देख कर, जिस प्रकार में गुण अधिक, दोष कम, जान पड़े, वही पकड़ना चाहिये।

पात्र-कर्म-विशेषण, देश-कालौ अवश्य च।
 स एव धर्मः, सोऽधर्मः, धर्मो हि आवश्यकः स्मृतः ॥
 अन्यो धर्मः समस्थस्य, विपमस्थस्य चाऽपरः।
 नहि कश्चिद् उपायोऽस्ति गुणवान् एव केवलं।
 न च दोषमयो वाऽपि, तस्माद् ग्राह्यो गुणाधिकः ॥

(म० भा०, शांति)

भारतवर्ष की अवस्था को भी देखना चाहिये। होली पर, दो तीन दिन के लिये, सब मर्यादा छोड़ कर, अश्लील शब्द और गीत गली गली पुकारे और गाये जाते हैं। छोटे छोटे बच्चे तक सुनते और गाते हैं। माँ, बहिन, बेटों की गालियाँ, और जननेन्द्रिय सम्बन्धी अभद्र शब्द, अनपढ़ लोगों के मुह से, और कभी कभी पढ़े लिखे लोगों के भी मुह से, गालियों में, सड़कों

पर, गावों और शहरों में, बच्चों, जवानों, प्रौढ़ों, बूढ़ों के मुह से, अक्सर लुन पड़ते हैं, चिड़ियों की, पशुओं की, कुत्तों वानरों की मैथुन क्रिया, गावों में, शहरों में, बच्चे जवान स्त्री पुरुष सभी को बहुधा देख पड़ती है, काशी ऐसे बड़े तीर्थ स्थान में, मकानों और बागों की दीवारों पर, गज गज़ भर लाम्बे चौड़े हरफों में, 'नामर्त्या की दवा' के इश्तिहार नज़र आते हैं, बच्चों को कुतूहल स्वाभाविक होता है, प्रश्न करते हैं, 'नया बच्चा कहाँ से आया?', 'व्याह क्यों होता है?' 'बड़ी बहिन, व्याह होने पर, दूसरे घर क्यों चली गई?', 'बड़े भाई का व्याह होकर नई स्त्री इस घर में आकर क्यों रहने लगी, 'यह लोग अलग कोठरी में क्यों सोते हैं?' इत्यादि, उनके वृद्ध गुरुजन, विशेष कर माता पिता, जिनके और सन्तान के बीच परा-काष्ठा का प्रेम और विश्वास होना चाहिये, (—और माता और उसका सन्तान के बीच में प्रायः होता भी है, जिसने नौ महीने तक बच्चे को अपने गर्भ के भीतर रक्खा है उससे क्या दुराव बराव हो सकता है, कौन बात छिपाई जा सकती है या छिपानी चाहिये?—), जिन्हीं को उनका उत्तर, शिक्षा के रूप में, उत्तम रीति से, देना चाहिये, वे स्वयं शर्मते हैं, उचित उत्तर जानते नहीं, देते नहीं, बहाने कर देते हैं, भुलावा देने का, बहला देने का यत्न करते हैं, बच्चे समझ जाते हैं कि झुठका दिया, दूसरे लयानों (सजानों) से पूछते हैं, जो बहुधा अनुचित उत्तर देते हैं, कुचाल सिखा देते हैं, उनका चारित्र्य भ्रष्ट कर देते हैं, हिन्दी में 'फोकदारख' आदि के नाम से ग्रन्थ आम तौर से छप और विक्र रहे हैं, जो बहुतायत से रंगीने और पटे जाते हैं, और जिनमें रति-क्रिया का ही वर्णन अधिक रहता है, धर्म्य-काम-विषयक सत्कृत्योक्त सर्वाङ्गीण शिक्षा नहीं साहित्य

मे भी स्त्रियों का 'नखसिख' वर्णन और अनावृत लेख बहुत होता रहा है; 'साइनेमा' मे नग्नप्राय स्त्रियों पुरुषों का प्रदर्शन, पश्चिमी देशों के अनुकरण से, बहुत होने लगा है; पचास साठ बरस पहिले, यूरोपीय विद्वान्, और अंग्रेज़ी पढ़े भारतीय, मध्यकालीन संस्कृत और हिन्दी काव्यों मे ऐसे 'नख सिख' वर्णन को बड़ी घृणा से देखते थे, पर, यूरोप अमेरिका मे तो अब विलकुल हवा बदली है, यहाँ तक कि कुछ वर्षों से, 'न्यू-डिज़म' अर्थात् 'नग्नता' का एक नया पन्थ सा चला है, जिसके अनुयायी स्त्री और पुरुष, मादरज़ाद अर्थात् नवजात बच्चे के ऐसे सर्वथा बखर रहित, एक दूसरे के साथ उठते बैठते नहाते हँसते बोलते खेलते दौड़ते हैं, 'प्रूडरी', अति लज्जा, की आत्यन्तिक कोटि से जो हटे, तो पशुवत् नग्नता की नितान्त निखपता वेशर्मा की दूसरी आत्यन्तिक कोटि से जा सटे; भारत मे भी, हरद्वार, मथुरा, आदि तीर्थ स्थानों मे, स्त्रियाँ (पुरुष नहीं) सब बखर उतार कर गंगा यमुना मे नहाती देव पड़ती हैं; समाचारपत्रों मे, एक ओर कामवर्धक, नग्नप्राय स्त्री पुरुष के चित्र, और वृष्य, वाजीकरण, औषधों के इञ्जिनहार, दूसरी ओर गुप्त रोगों की चिकित्सा के विज्ञापन, बहुत छपते रहते हैं, जिन औषधों के सेवन से दुराचार और रोग प्रायः बढ़ते ही जाते हैं, अनगिनत अल्पवयस्कों का जीवन नष्ट-भ्रष्ट होता है, क्रूर लोभी विज्ञापकों विक्रेताओं की जेबें भरती हैं । साथ ही, अजीर्ण, मंदाग्नि, ज़ोफ़-मेढा, की दवाओं के इञ्जिनहार बहुत रहते हैं; यूरोप अमेरिका के दैनिक साप्ताहिक मासिक पत्रों मे भी, इन्हीं दो से, उपस्थ और उदर से, सम्बन्ध रग्वने वाली दवाओं के, तरह तरह से, नाम और रूप बदल बदल कर, बहुतेरे इञ्जिनहार (पेडवर्टिज़मेंट) रहते हैं ।

निष्कर्ष यह कि, इन विज्ञापनों से भी पुनर्वार यही सिद्ध होता है कि, मनुष्यों की प्रायः नव्वे फी सदी बीमारियाँ, जिद्दा और उपस्थ के दुरूपयोग से ही होती हैं, और इनका दुरूपयोग बहुत हो रहा है।

यह दशा भारतवर्ष की है।

पश्चिम के देशों की हालत का नमूना दिखाने के लिये, अमेरिका के 'करेट हिस्टरी' नामक मासिक पत्र के, सन् १९३७ ई० के सितम्बर महीने के अङ्क में छपे हुए, डाक्टर टोलनाइ के लेख से कुछ अंश का उद्धरण यहाँ पर किया जाता है।

"यूनाइटेड स्टेट्स आफ अमेरिका में, (जिसकी आवादी अब करीब बारह करोड़ के हैं), प्रायः सौ में दस व्यक्तियों (स्त्रियों, पुरुषों) को 'सिफिलिस' ('उपदंश', 'गर्मा') और बीस को 'गोनोरिया' (सोजान) का मर्ज है, यानी कुल आवादी में से प्रायः तीन करोड़ से अधिक ऐसे रोगी हैं। पाँच लाख नये रोगी हर साल होते हैं, अकेले 'न्यू-यार्क' महानगर में (जिसकी आवादी करीब सत्तर लाख है) हर हफ्ते में एक हजार। पागलखानों में पन्द्रह फी सदी 'सिफिलिस-जनित 'पारेसिस' (एक प्रकार के पक्षाघात, लकवा, फालिज) से पीड़ित हैं। अन्धों में पन्द्रह फी सदी, और दुर्बल-नेत्रों दूषित-नेत्रों में चालीस फी सदी, का कारण भी 'सिफिलिस' है। जन्मान्ध वधों में साठ फी सदी की अन्धता का कारण 'गोनोरिया' है। प्रायः दो लाख हर साल 'सिफिलिस' से मर जाते हैं। एक सामाजिक कार्यकर्ता ने अट्टासों छद्म जोजे, तो केवल पाठ कुलों में 'सिफिलिस' नहीं पाया। कितने ही पुरुष नामर्द और कितनी ही स्त्रियाँ बन्ध्या, इन रोगों के कारण हो जाती हैं। युनाइटेड स्टेट्स की गवर्नमेंट का दस करोड़ 'डालर', अर्थात्

तीन करोड़ रुपया (१ डालर = ३ रुपया) सालाना ऐसे रोगियों के इलाज पर खर्च होता है; इसके अलावा साढ़े सात करोड़ रुपया, इन रोगों से अपाहज हो गये रोगियों को ज़िन्दा रखने वाली शालाओं और संस्थाओं पर, तथा पच्चीस करोड़ रुपया सालाना इन मरजों में गिरिफ्तार हुए मज़दूर, काम न करने के दिनों की मज़दूरी के रूप में, खो देते हैं। जो डाक्टर इन मरजों का खास इलाज करते हैं, वे प्रायः घृणा की निगाह से समाज में देखे जाते हैं, (इस हेतु से कि घृणा का रूप लाकर रूप लाने वाला सबको यह जताना चाहता है कि मैं इन सब गन्दी बातों से विलकुल پاک व साफ़ हूँ)। ऐसे डाक्टर अक्सर सचमुच ठग भी होते हैं, एक वर्ष भर दवा करने के लिये एक मरीज़ से प्रायः पाँच सौ से साढ़े सात सौ रुपया लेते हैं; जो अपने को 'स्पेशलिस्ट', विशेषज्ञ, सिद्धहस्त, कहते हैं, वे तो अमीरों का ही इलाज करते हैं, और पन्द्रह सौ से दो हजार तक रुपया माँगते हैं। करीब डेढ़ अरब, यानी डेढ़ सौ करोड़, रुपये की 'पेटेन्ट' दवा, जिनमें अधिकांश इन्हीं रोगों की होती हैं, हर साल बिक जाती है। बहुत से डाक्टर अपने दवा खानों में मुफ़्त सलाह देने की लालच पहिले देते हैं, पीछे जब रोगी उनके चंगुल में फँस गया तब, सैकड़ों रुपये ऐंठते हैं। साठ हजार 'प्राइवेट', निजी, दवाखाने इस प्रकार के हैं; और इनमें प्रायः चार लाख रोगी प्रति वर्ष फँस कर अपना धन भी और रहा सहा स्वास्थ्य भी गँवाते हैं। डाक्टरों और नकली चिकित्सकों का गुट सा बना हुआ है। इलाज के लिये बहुत सड़ पर क्रूर दिला कर भी रोगी ठगे जाते हैं। माता-पिता के इन रोगों से रुग्ण होने से पच्चीस हजार बच्चे प्रति वर्ष गर्भ में ही मर जाते हैं; सौ पीछे दो बच्चों को जन्म से ही ये रोग रहते हैं,

न्यू यार्क के स्कूलों में प्रति वर्ष प्रायः छः सौ लड़के इन रोगों से पीड़ित होने के कारण, संक्रमण (झूत) के भय से, स्कूलों से अलग कर दिये जाते हैं। वेद्योंओं द्वारा ये रोग बहुत फैलते हैं, यह कहना सम्भव नहीं कि न्यू यार्क नगर में (जिसकी आबादी, जैसा पहिले लिखा, करीब सत्तर लाख है) कितनी पण्य स्त्रियाँ हैं, (एक लाख से अधिक का अनुमान ग्रन्थकार अन्वे-पको ने किया है. लन्दन, पैरिस, बर्लिन, वियेना, शिकागो, टोकियो, आदि महानगरों और 'राजधानियों' की सब की ऐसी ही कथा है), सन् १९३४ में साढ़े तीन हजार ('कसब' से, शरीर वेंचने से, जीविका करने वाली) 'बाजवी' स्त्रियों पर, उनके पेशे सम्बन्धी कानूनों के खिलाफ काम करने के लिये, मुकदमे चलाये गये, इनमें से अस्सी फी सदी को संक्रामक गुप्त रोग थे, किसी किसी ने एक एक दिन में बीस बीस पुरुषों के साथ संगम किया था। 'चकला' ('चक्र', 'भैरवी चक्र', 'कसबखाना', अंग्रेज़ी में 'ब्राथेल') चलाने वालों का प्रायः खास खास डाक्टरों से स्यामा-समझौता रहता है। बहुत मटंगा होने से इलाज पूरा पूरा बहुतेरे रोगी नहीं करा पाते। या डाक्टर बनने वाले झूठे ठगों के हाथ में पड़ कर अधिक क्लेश भोगते हैं। ऐसे रोगों के सम्बन्ध में शर्म करना और छिपाना तुलाना स्वाभाविक है, इसी से लुके छिपे डाक्टरों या मिथ्या डाक्टरों के हाथों में बहुधा रोगी पड़ जाते हैं। (वाद्यम् जैसे भी तुआ हो, पर अब यह दशा है कि) इन रोगों का संक्रमण, सौ पीछे पड़ीस तो वेद्योंओं, पण्यस्त्रियों, कसबियों, के साथ संगम से होता है पचास फी सदी विवाहों के द्वारा होता है, जिनमें, अविश-दित अवस्था में दुर्गचार के कारण रण्ण हुई स्त्री ने नीरोग पुरुष से, या ऐसे ही रण्ण पुरुष ने नीरोग स्त्री से, विवाह

किया है; और वाकी पच्चीस फ्री सदी, विवाहितावस्था में परदारगमन परपतिगमन से होता है।”

उस शुद्ध सञ्चरित्र निर्दोष स्त्री, वा पुरुष, के चित्त को कैसा भारी आघात पहुँचेगा, जिसने सरल सप्रेम सविश्वास हृदय से विवाह किया, और फिर जाना कि ऐसी घोर क्रूर वञ्चना उसकी की गई; कैसी मानभंग की, दैन्य की, क्रोध की तरंगें उसके हृदय में उठेंगी, और उसके सारे जीवन को विकारमय कर देंगी। जिस समाज में ऐसा दुराचरण, वञ्चना, और तज्जनक व तज्जनित चित्तविकरण, और अशिक्षित के ऐसा, बढ़ता फैलता जायगा, वह समाज क्यों न नरक में गिरेगा। हावेलक एलिस ने, अपने विशाल ग्रन्थ में, एक स्थल पर लिखा है कि, एक ऐसी वञ्चित स्त्री को इतना क्रोध पुरुष जाति मात्र पर हुआ, उसने सभी पुरुषों को ऐसा शठ धूर्त समझ लिया, कि छत्तीस पुरुषों को लुभा वहाँका कर उनके शरीर में गुह्य रोग का संक्रमण कर दिया। ऐसी ही वञ्चित पुरुषों की कथाएँ हैं। पाप की परम्परा, पाप का वंश, बढ़ता ही जाता है; उसकी प्रतिक्रिया का उपाय एक मात्र यही है कि पुण्य की परम्परा, पुण्य का वंश, बढ़ाया जाय, और वंचितों, पीड़ितों, के चित्त की वहकती आग का शमन, कर्म की गति, प्रारब्ध का दोष, धर्मा का असीम चित्तशोधक पापशालक प्रभाव, समझा कर, किया जाय।

‘आमुरी सम्पत्, शिष्टता, सभ्यता’ की तस्वीर जो ऊपर ‘क्रॉट हिस्ट्री’ के लेख में मिलती है, उससे अधिक घोर चित्रण, गीता में भी नहीं है। यह दशा युनाइटेड स्टेट्स आफ अमेरिका की है, जो अपने को शिष्टता सभ्यता की चोटी पर चढ़ा हुआ, ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी से भी आगे बढ़ा हुआ, मानता है। और

वाद्य सामग्री, कल कारखाने, धन दौलत, पेश इश्रत, वायुयान, जलयान, स्थलयान, वाष्पयान, तैलयान, विद्युद्यान, तडिद् यन्त्र, शतभौम (सौ-मंजिले) भवन, आदि की दृष्टि से है भी। 'जननेन्द्रिय' के इस दुरुपयोग के साथ 'रसनेन्द्रिय' की करतूत को भी याद रखना चाहिये, अकेले ब्रिटेन की, प्रायः साढ़े चार करोर की, आयादी मे, प्रायः साढ़े तीन सौ करोर रुपये की 'शराब' प्रति वर्ष उठ जाती है, ऋदाय' की भी इसी अनुपात से मात्रा है, करोरो पशु-पक्षियों की, मनुष्यों के आहारार्थ, प्रतिदिन हिंसा होती है, दुग्धमर्ण के रूपक से, वाल्मीकि जी ने, लङ्का की वस्ती का दैनंदिन मद्य मांस का भोजन पान दिखाया है; आजकाल के पाश्चात्य नगरों की चर्चों के आगे वह पसँगे मे धूल है, ऐसे पापज्य राजस आहार से, क्रूर काम-क्रोध भाव बढ़ कर, मनुष्यों का परस्पर संहार महायुद्धों मे होना अनिवार्य ही है। (जज लिट्ले आदि) अन्य लेखकों ने लिखा है कि युनाइटेड स्टेट्स आफ अमेरिका मे प्रायः बीस लाख गर्भपात प्रति वर्ष कराये जाते हैं। यूरोप के सभी देशों की कामवेश ऐसी ही दशा है। एक जर्मन लेखक (पेवान प्लोक) ने लिखा है कि जर्मनी मे (जिसकी आयादी, तीस वर्ष पहिले, ग्रन्थ लिखने के समय, प्रायः छ' करोर थी), प्रति वर्ष प्रायः बीस लाख बच्चे 'कानीन अर्थात् अविवाहिता 'कन्याओं' से, पैदा होते थे। जर्मनी मे 'मुटर-मुट्ज-मुंड्ज', अर्थात् ऐसी अविवाहिता माताओं के बाँर उनके बच्चों के पाठाने के लिये सस्थाएँ स्थापन हुई हैं। ब्रिटेन मे भी 'आर्फन होम्स', यतीमखाने, बनें हैं, जहाँ विवाहनाह्य चर्चों को रोग दिसा कर छोड़ जाते हैं। एक दृष्टि से पुण्य कार्य हैं, उचित हैं दूसरी दृष्टि से, दुराचार व्यवहार के पाप

को बढ़ाता है, क्योंकि उसके दुष्फल से जो दण्डरूप क्लेश होता, उसके भय को क्रूर दुराचारी व्यक्तियों के हृदय से मिटाता है, और सारे समाज पर, अथवा यो कहिये कि उसके दयालु सदाचारी अंश पर, जारज संतान के भरण पोषण के भार को फैलाता है, तथा, यतः अविवाहित, दुर्भावसे भावित, स्त्री पुरुष से उत्पन्न सन्तान भी बहुधा दुष्प्रकृतिक होती है, ऐसे सन्तान की संख्या को, और दूषितप्रकृति की मात्रा को, समाज में बढ़ाता है, जैसे भारत में दान की महिमा गाते गाते, सारा देश भिखमंगो से भर गया, और बहुत आवश्यक हो गया कि सन्तोष करने की, दान न माँगने की, और सुपात्र परिश्रमी सुकार्यकर्त्ता को ही दान कहिये, हक या मुआविजा या उज्रत कहिये, भृति वा अर्घ्य कहिये, देने की, महिमा सदा गाई और सुनाई जाय ।

यह बात देखने की है, कि रूस (रशिया) देश में आज काल गर्भपात करा देने का, स्त्रियों को, क़ानून से अधिकार दे दिया गया है; क्योंकि वहाँ का मत यह है कि इस विषय में स्त्रियाँ अपने शरीर पर ईश्वर हैं; जर्मनी में आजकाल यही काम नून से जुर्म बनाया गया है, और इसके लिये कड़ा दण्ड है, क्योंकि वहाँ की नीति यह है कि सेना को बहुत बढ़ाने का प्रयोजन है, और उसके लिये अधिकाधिक संख्या में मनुष्यों की आकांक्षा है, अमेरिका, ब्रिटेन, आदि देशों में, ऊपर से तो यह काम निषिद्ध है, पर, 'महाजन (सर्वसाधारण, 'पब्लिक') का आशय देख कर, इसके विरुद्ध क़ानूनी कार्रवाई प्रायः शिथिल हो गई है। दृष्टि-भेद से व्यवहार में भेद होता है । भारतवर्ष में, राजमहलों, रनवालों, नवाबों हरमों, तथा भक्तिपंथों के मन्दिरो और समागम-

स्थानों में, दुराचार व्यभिचार और रोगसंचार बहुत सुनने में आता है। एक ओर जानी हुई कलावन्त नर्तकी और चारागना, 'तायफा', के विरुद्ध आन्दोलन किया जाता है, म्युनिसिपल बोर्डों में नियम बनने का यत्न होता है कि ये शहर से बाहर कर द्या जायं, दूसरी ओर छिपा व्यभिचार और कला विद्याशून्य पण्यस्त्रियों का रोजगार गली-गली में बढ़ता सुन पड़ता है। वेश्यागामी पुरुषों के ढंड की फ़िक्र नहीं होती।

भारतवर्ष में, सन् १९३४ की गवमेटी रिपोर्ट के अनुसार, समस्त अस्पतालों में चिकित्सित समस्त आतुरों की सम्पूर्ण संख्या प्रायः अस्सी लाख हुई, और उसमें प्रायः आठ लाख रोगी गुप्त रोगों से व्याधित थे, अर्थात् दशमांश। निश्चयेन इससे बहुत अधिक ऐसे आतुरों ने, अस्पताल न जाकर, घर पर ही दवा करा ली होगी, तौ भी इनकी सकल संख्या प्रायः तीस लाख से अधिक न होगी, अर्थात् संख्या में भी, और अनुपात में भी, अमेरिका के दशमांश से अधिक न होगी।

भारत में उन्माद के रोगियों की भी संख्या यूरोप अमेरिका के मुकाबिले, प्रतिशत अनुपात में दशमांश से कम ही है। और भी, यूरोप अमेरिका में ये गुप्त रोग जैसे उग्र, विकट, भीषण, प्राणशतक रूप में देख पड़ते हैं, वैसे भारत में नहीं पर अब इनकी अप्रकृता यहाँ भी बढ़ती जाती है और दुराचार व्यभिचार भी बढ़ते ही सुन पड़ते हैं। कुछ दैर्घ्य डाक्टरों का कहना है, कि 'सिफिलिस', 'उपदश. भारत में पहिले नहीं था, पुर्तगालियों, फ़्रांसीसियों, के साथ यूरोप ने आया, पहिले 'फ़िरंग' रोग के नाम से मशहूर था क्योंकि फ़्रांस देश के वाली फ़्रांसीसी लोग 'फ़्रेच', 'फ़्रांक' कहलाते थे। पर इस में सन्देह है; इन्द्र को, अटल्या के साथ प्रथम ही व्यभिचार के कारण,

को बढ़ाता है, क्योंकि उसके दुष्फल से जो दण्डरूप क्लेश होता, उसके भय को क्रूर दुराचारी व्यक्तियों के हृदय से मिटाता है, और सारे समाज पर, अथवा यों कहिये कि उसके दयालु सदाचारी अंश पर, जारज संतान के भरण पोषण के भार को फैलाता है, तथा, यतः अविवाहित, दुर्भावसे भावित, स्त्री पुरुष से उत्पन्न सन्तान भी बहुधा दुष्प्रकृतिक होती है, ऐसे सन्तान की संख्या को, और दूषितप्रकृति की मात्रा को, समाज में बढ़ाता है, जैसे भारत में दान की महिमा गाते गाते, सारा देश भिखमंगो से भर गया, और बहुत आवश्यक हो गया कि सन्तोष करने की, दान न माँगने की, और सुपात्र परिश्रमी सुकार्यकर्त्ता को ही दान कहिये, हक या मुआविजा या उज्रत कहिये, भृति वा अर्घ्य कहिये, देने की, महिमा सदा गाई और सुनाई जाय ।

यह बात देखने की है, कि रूस (रशिया) देश में आज काल गर्भपात करा देने का, स्त्रियों को, कानून से अधिकार दे दिया गया है; क्योंकि वहाँ का मत यह है कि इस विषय में स्त्रियाँ अपने शरीर पर ईश्वर है, जर्मनी में आजकाल यही काम कानून से जुर्म बनाया गया है, और इसके लिये कड़ा दण्ड रखा है, क्योंकि वहाँ की नीति यह है कि सेना को बहुत बलवती करने का प्रयोजन है, और उसके लिये अधिकाधिक संख्या में मनुष्यों की आकांक्षा है; अमेरिका, ब्रिटेन, आदि देशों में, ऊपर से तो यह काम निषिद्ध है, पर, 'महाजन' (सर्वसाधारण, 'पब्लिक') का आशय देख कर, इसके विलुद्ध कानूनी कार्रवाई प्रायः शिथिल हो गई है। दृष्टि-भेद से व्यवहार में भेद होता है। भारतवर्ष में, राजमहलों, रनवासों, नवाबी हरमों, तथा भक्तिपंथों के मन्दिरोँ और समागम-

स्थानों में, दुराचार व्यभिचार और रोगसंचार बहुत सुनने में आता है। एक ओर जानी हुई कलावन्त नर्तकी और चारांगना, 'तायफा', के विरुद्ध आन्दोलन किया जाता है। म्युनि-सिपल बोर्डों में नियम बनने का यत्न होता है कि ये शहर से बाहर कर दों जायं, दूसरी ओर छिपा व्यभिचार और कला विद्याशून्य पण्यलियों का रोजगार गली-गली में बढ़ता सुन पड़ता है। वेश्यागामी पुरुषों के टंड की फिक्र नहीं होती।

भारतवर्ष में, सन् १९३४ की नवमंटी रिपोर्ट के अनुसार, समस्त अस्पतालों में चिकित्सित समस्त आतुरों का सम्पूर्ण संख्या प्रायः अस्सी लाख हुई, और उसमें प्रायः आठ लाख लोगी गुप्त रोगों से व्याधित थे, अर्थात् दशमांश। निश्चयेन इस सं-
 हृत अधिक ऐसे आतुरों ने, अस्पताल न जाकर, घर पर ही या करा ली होगी, तो भी इन की सकल संख्या प्रायः तीस लाख से अधिक न होगी, अर्थात् संख्या में भी, और अनुपात में भी, अमेरिका के दशमांश से अधिक न होगी।

भारत में उन्माद के रोगियों की भी संख्या यूरोप अमेरिका के मुकाबिले, प्रतिशत अनुपात में दशमांश से कम ही है। और भी, यूरोप अमेरिका में ये गुप्त रोग जैसे उत्र, विकट, भीषण, प्राणघातक रूप में देव पड़ते हैं, वैसे भारत में नहीं पर अब इनकी अयंकरता यहाँ भी बढ़ती जाती है, और दुराचार व्यभि-
 चार भी बढ़ते ही सुन पड़ते हैं। कुछ दैवों डाक्टरों का कहना है, कि 'सिफिलिस', 'उपदश', भारत में पहिले नहीं था, पुर्तगालियों, फरासीसियों के साथ यूरोप से आया, पहिले 'फिरंग' रोग के नाम से मशहूर था, क्योंकि फ्रांस देश के वासी फरासीसी लोग 'फ्रेच', 'फ्रांक' कहलाते थे। पर इस में सन्देह है, इन्द्र को, अहल्या के साथ प्रथम ही व्यभिचार के कारण,

विना 'छूत' से संक्रमण के, सहस्र व्रण हो गये; यह पौराणिक कथा ऊपर पहिले कह आये हैं; उस कथा का शेष यह भी पुराणों में लिखा है, कि 'अहल्या' को जब अपनी घोर वज्रना का हाल, और अपने पति गौतम का क्रोध, देख पड़ा, तो उसको बेहोशी की बीमारी ('सिनकोपी', 'स्टेनस') हो गई, और वह बहुत वर्षों तक निस्संज्ञ पापाणवत् पड़ी रही; (ऐसी बीमारियों का हाल पाश्चात्य डाक्टरों ने भी लिखा है;) राम जी के पैरों के शुद्ध ओजस् ('मैग्नेटिज्म') से होश में आई। तथा, इन्द्र के (इन्द्र शब्द 'राजा' के लिये भी शब्द-कोष में कहा है) अण्डकोष सड़ कर गिर गये; तब देव-वैद्य अश्विनीकुमार ने मेघ के वृषण कतर कर इन्द्र को लगा दिये, तब से इन्द्र का नाम 'मेघ-वृषण' भी हो गया; अर्थात् जो चिकित्सा का प्रकार, अब पाश्चात्य डाक्टरों ने, वानरों, तथा बकरों, भेड़ों, साण्डों, के वृषणों के द्वारा आरम्भ की है, उसकी विस्फष्ट भूचना इस पौराणिक कथा में की है। इस कथा का आधिदैविक अर्थ स्यात् मेघराशि और, 'वर्षति इति वृषणः', वर्षा से कुछ सम्बन्ध रखता हो। प्रसंगवश, इस स्थान पर यह भी लिख देना चाहिये कि दस पन्द्रह वर्ष तो यह चिकित्सा खूब चली; जीते पशुओं के, विशेष कर वानरों के, अंडकोश निकाल कर, उनके टुकड़े काट कर, रुग्ण वा दुर्बल मनुष्यों की जाँघ में या पेट के नीचे के भाग में, चमड़ा चीर कर, उन टुकड़ों को जमा कर, फिर चमड़े को ऊपर से सीं देते हैं, स्त्रियों के लिये मादा पशुओं के रजःकोष ('ओवरी') के टुकड़ों को। पर अब उस में बड़े दोष नज़र आने लगे हैं; कुछ समय तक उत्तेजन के पीछे पहिले से भी अधिक अवसाद और रोग हो जाता है; स्यात् चिकित्सा के वाद यदि सन्तति

हो तो उसमें वैसे पशु की प्रकृति भी अधिक देख पड़ेगी, इस लिये धीरे धीरे उसका अनुष्ठान घटने लगा है। यही दशा प्रायः सभी उग्र 'पौष्टिक' कहलाने वाली अस्वाभाविक औषधों और शुकपान रजःपान आदि चिकित्सा के प्रकारों की है।

यत्तदग्रेऽमृतमिव परिणामे विषोपमम् । (गीता)

पाश्चात्य डाक्टरों का कहना है, जैसे डाक्टर टोलनाइ का पूर्वोद्धृत लेख ही में, कि यदि समाज और शासकवर्ग एक मन हो कर यत्न करें, तो इन गुप्त रोगों की संक्रामकता रोक दी जा सकती है, और चिकित्सा भी बहुत सहज में और सस्ते में हो सकती है। पर आश्चर्य यह है कि कोई पाश्चात्य, वा अथ पौरस्त्य भी, सज्जन महाशय यह नहीं कहते, कि सब एक-दिल होकर यह यत्न करै कि वह दुराचार व्यभिचार ही उठ जाय, नहीं तो कम ही हो जाय, जिसके कारण ये रोग फैले और फैल रहे हैं। प्रायः इन लोगों ने मान रक्खा है कि, 'दुराचार' व्यभिचार को कम करना असम्भव है, तथा यह भी मान लिया है कि, रोग न उत्पन्न होने पावे तो, ये कर्म 'दुराचार-पदवाच्य ही न रहें, निर्दोष हो जाय, या तो सदाचार की कोटि में ही आ जाय, नहीं तो स्वाभाविक आचरण मात्र कहलावें, जैसे प्यास लगने पर पानी पी लेना, भूख लगने पर खा लेना, मच्छड़ काटने पर खुजला लेना, बैसे, शहवत होने पर, किसी पुरुष और किसी भी स्त्री का संगम कर लेना।

यह दृष्टि उनके लिये सही है जिन्होंने ने निश्चय कर लिया है कि, मनुष्य और जगत् केवल आधिभौतिक, 'मेटैरियल', 'फिज़िकल' हैं, तथा मनस्-अहंकार-बुद्धि रूप चित्त, 'माइंड' की उत्पत्ति, 'मैटर', 'मात्रा', जड़ से होती है, जो एक निश्चय से सन्तुष्ट है; जैसा गीता में आसुरी प्रकृतिवालों के वर्णन में कहा है,

अपरस्परसम्भूतं, किमन्यत्, कामहैतुकम् ।

पर बहुतेरों का, इसके विवक्ष्य, यह निश्चय है कि, मनुष्य और जगत् 'आध्यात्मिक', 'स्फिरिचुअल', और 'आधिदैविक', 'स्युपर-फ़िज़िकल', भी है; 'मैटर', 'मात्रा', 'दृश्य', 'जड़' पदार्थ सब, 'आत्मा', 'चेतन', 'चित्' 'स्फिरिट', का क्रीड़नक, खिलौना, क्रीड़ाभूमि, विहारस्थल, विनोदस्थान, लीला का उपकरण मात्र है; 'मैटर', मात्रं, मात्रा शब्द की व्युत्पत्ति ही यह है कि माति, खंडशः क्रमशः प्रकाशयति, परमात्मनः शक्ति, इति मात्रा, मीयते अनुमीयते, प्रमीयते, आविष्क्रियते आत्मशक्तिः अनेन, इति मात्रं; जिसके द्वारा ब्रह्म की शक्ति की, दैवीप्रकृति की, परिमिति, नाप, प्रादुर्भाव हो, जो अनंत अखंड एकरस पदार्थ को, अपनी सांतता खंडता बहुप्रकारता अनेकता से नाप जोष कर क्रमशः खंडशः प्रकट करने का अनन्त मिथ्या यत्न सदा करता रहै, वह 'मात्र', इस मात्रा का आधार, इसकी सत्ता-असत्ता का, इसके आविर्भाव-तिरोभाव का, आधाता विधाता, इसकी सृष्टि-स्थिति-लय का हेतु, चेतन है; न यह कि चेतन का हेतु 'मात्रा', जड़, है; चित् के चित्त बन कर, ब्रह्म के ब्रह्मा बन कर, ध्यान, व्युत्थान, जागरण करने से, यह 'जड़', 'देह', उत्पन्न होता है; उसके निद्रण, शयन, निरोधन करने से यह विलीन होता है। और थव पश्चिम के कितने ही बड़े से बड़े नामवर सायंटिस्ट वैज्ञानिक भी यह मानने लगे हैं, कि 'मैटर'-मात्रा-जड़ के ऊपर प्रभु, हाकिम, अधिष्ठाता 'माइट', 'इंटेलिजेन्स', 'स्फिरिट', मानस, बुद्धि, आत्मा है" । जिनका ऐसा मत है, उनका, अनुबन्ध-रूप,

* सन् १९३४ ई० मे, फ्रांसिस मेसन ने 'दि ग्रेट डिज़ाइन' नाम की पुस्तक प्रकाश की, जिससे विभिन्न वैज्ञानिक शास्त्रों के प्रन्तर्ह यदास्वी वैज्ञानिकों के लेख लपे हैं, जो सब के सब, यह बात मुक्तकंठ कहते हैं।

यह भी मत है, कि ऐसे रोगों का मूल मानस विकार है, और चाहे कितना भी शारीर चिकित्साओं और उपायों से इन रोगों का प्रत्यक्ष प्रादुर्भाव रोका भी जाय, पर सर्वथा न रुकैगा, और दुराचार व्यभिचार का घोर दुष्फल किसी न किसी रूप में, समाज को भोगना ही पड़ेगा। पर खेद और घोर चिन्ता और भय का विषय है, कि पूर्वोक्त 'मैटी-रिचलिस्ट' 'देहवाद' का प्रभाव भारतवर्ष में बढ़ता जाता है, जिसका परिणाम, चार्वाकीय उद्वेगलता और समाजोद्ध्वंस होता है।

यदि यह मान भी ले कि, अब ये रोग किसी स्त्री या पुरुष को, बिना दूसरे की साक्षात् या पारम्परिक छूत के, नहीं होते, तो भी यह प्रश्न रही जाता है कि आदि में आरम्भ कैसे हुआ। पुराणों में आख्यायिका कही है, ब्रह्मा ने देखा कि प्राणी इतने पैदा होते हैं, और मरते नहीं, कि पृथ्वीतल इन से ठस जायगा क्या सार्यगे, कैसे हाथ पैर फैला चला सकेंगे, ध्यान करके मृत्यु देव को उत्पन्न किया, आज्ञा की कि इन प्राणियों को मारो, मृत्यु देव घोर हिला के पाप के भय से, तथा अपयश के डर से, कांपने लगे, बोले कि यह कार्य तुमसे न हो सकेगा, ब्रह्मा को इतना क्रोध हुआ कि आँखों से आँसू गिरने लगे, एक एक वृद्ध में एक एक रोग का विष ('टाक्सिन') कहिये कीटाणु ('माइक्रोब', 'बैसिलस') कहिये, बीज ('सीड', 'जर्म') कहिये, उत्पन्न हो गया ब्रह्मा ने अपने को सरताल दर, चित्त को शान्त कर, मृत्यु को पुनः आज्ञा दी, "इन रोग-बीजों की सहायता से जो कार्य तुम्हारे सुपुर्द किया गया है, उसको करो, बदनामी इन की होगी, पाप भी तुम को नहीं लगेगा, यदि अब भी आना-फानी करोगे तो तुमको भारी दण्ड देगा", मृत्यु को मानना पड़ा। ऐसे ही उत्कट क्षोभ, तीव्र लवेग के धन्य

अवसरों पर, ब्रह्मदेव के शरीर से स्वेद निकला, 'यक्षाणि' और ('फ्रैगोसाइट') 'रक्षांसि' ('वैसिलस') बन गये, बाल गिर गया, 'अहयः', विविध प्रकार के 'सर्पक' हिंसक जीव, सूक्ष्माकार व स्थूलाकार, अणु रूप वा अजगर रूप, हो गये। जिन मनुष्यों के चित्त में राजस तामस भाव और देह में 'रक्षांसि' अधिक, वे 'राक्षस'।

इन सब रूपको के द्वारा, पुराणों ने यह बताया है, कि वैयक्तिक और सामूहिक चित्त में जब घोर विकार पैदा होता है, तो शरीर में उसके प्रतिरूप रोग-बीज, कीटाणु, विष, उत्पन्न होते हैं। योग-वासिष्ठ में कर्कटी की कथा में विरूचिका रोग के, सूची (सूई) के नोके के ऐसे, कीटाणु की उत्पत्ति की कहानी कही है; एवं, मार्कण्डेय पुराण में 'दुःसह-वक्ष्मा', यानी क्षय रोग के कोट, की। पुरुष और प्रकृति का, 'माइण्ड' और 'मैटर' का, स्थूल रूप में अथवा सूक्ष्म रूप से, सर्वदा अविच्छेद्य सम्बन्ध है; एक के बिना दूसरा रह नहीं सकता; एक की अवस्था बदलने से दूसरे की अवस्था भी बदलती है; आयुर्वेद का सिद्धान्त ही है, आधि से व्याधि और व्याधि से आधि होती है; मानसी व्यथा को आधि, शारीर रोग को व्याधि कहते हैं; अन्ततः मूल कारण, जब सारे दृश्य जगत् का, बुद्धि-तत्त्व महत्तत्त्व, ब्रह्मा, 'यूनिवर्सल माइण्ड', 'प्रेनिमा मंडी', 'अकलि कुल', 'रूहि-कुल', है, तो सुतरां नितरां, अवश्यमेव, शारीर रोगों का भी कारण अन्ततः मानस विकार ही होगा। कामीय दुराचार व्यभिचार बलात्कार आदि में, विविध प्रकार के घोर विकार, दोनों प्राणियों के चित्तों में पैदा होते हैं, दर्प के, क्रौर्य के, डोह के, हिंसा के, चौर्य के, ईर्ष्या के, महा साध्वस त्रास के, घोर ईर्ष्य और दुःख के, इत्यादि। इन मानस विकारों से ही साक्षार

शरीर विकार उत्पन्न हो सकते हैं, और निश्चयेन होते हैं। तीव्र क्रोध को दबा देने से, दोतीन घण्टे के भीतर सारा शरीर विलकुल पीला हो गया। पाण्डुरोग, यर्जान, 'जाडिल से रूग्ण हो गया— ऐसा पाश्चात्य डाक्टरों ने, अपना दवा, लिया है यकृत का कार्य तत्काल विगड़ गया। 'टाक्सिसस पैदा हो गये 'सी-क्रोशन्स', उत्तम रखा, के ठिकाने, 'एक्सक्रोशन्स', दुष्ट रस किन्तु, शरीर में घनने लगे इत्यादि। अहल्या और इन्द्र की कथा की भी यही सूचना है, कि बिना संक्रमण के, प्रथम बार हो, दुराचार से महारोग उत्पन्न हो गया। अथ च, माना पिता की मानस वृत्तियों का, और उनके शरीरों के दबे छिपे रागों का, जो दवा के बल चाहे उभरने से रोक भी दिये गये हो, संतति के विसर्ग और शरीर पर प्रभाव अवश्य पड़ता ही है। आगे कहा जायगा कि कैसे दोषों से कैसी संतति होती है।

'अविद्या', 'माया', 'जो नहीं है उसको सच मान लेना, मूर्खता, बेवकूफी, भूल, प्रवृत्ति मार्ग में चलते हुए जीवात्मा की 'प्रकृति' ही है, वहिर्मुख मनुष्य का स्वभाव ही है; उस अविद्या का मुख्य रूप तो यह है, कि अपरिमित अनादि अनन्त निष्क्रिय परमात्मा, अपने को, परिमित सादि सान्त सक्रिय मूठी भर हाड़ मांस का शरीर, मान लेता है, इस महा भ्रम के अवा-न्तर रूप अनन्त है, उन सब में भ्रान्ति का एक भाव यह अनु-स्यूत है, कि आदर्श समझता है कि अपने कर्मों से पैदा हुए क्लेशों का उपाय, प्रतिरोधन, निवारण, मार्जन, मैं नये कर्मों से ऐसा कर लूँगा, कि उन क्लेशों की सर्वथा निवृत्ति उच्छिन्ति हो जायगी, और नये क्लेश न उत्पन्न होंगे, मैं स्वय ही स्वय नृटना रहूँगा। भारी धोखा है। परमात्मा की प्रकृति में 'अविद्या' की तयोनिनी, रोग की दवा, 'विद्या' भी लगी है, इस कारण से

सारे संसार में यह नियम अटल है, कि बिना दाम दिये आराम नहीं, प्रत्येक सुख का मूल्य एक उसी प्रकार का दुःख; मुक्त में कोई चीज़ नहीं, तीव्र सुख चाहो तो तीव्र दुःख के लिये तैयार रहो, सत्कुलीन सदाचारीण मीठे सुख से सन्तोष हो, तो हल्के ही दुःख भी पाओगे; यदि, 'चोरी का गुड़ मीठा', 'स्टोलन ज्वायज़ आर स्वीट', दुराचार व्यभिचार का तीक्ष्ण सुख चाहोगे, तो वैसा ही तीक्ष्ण दुःख भी, कभी न कभी, भोगना ही पड़ेगा।

श्रान्तः समासजन् स्कन्धे शिरसा भारम् उद्वहन् ।

न शर्म लभते, तद्वत् कर्मभिः कर्ममार्जनम् ॥

सुखस्यानन्तरं दुःखं दुःखस्यानन्तरं सुखम् ।

चक्रवत् परिवर्त्तते सुखदुःखे निरन्तरम् ॥ (भागवत)

यत्तदग्रेऽमृतमिव परिणामे विषोपमम् ।

यत्तदग्रे विषमिव परिणामे ऽमृतोपमम् ॥ (गीता)

बोझ को सिर पर होते थका आदमी कन्धे पर रखता है, पर आराम तो नहीं पाता, नये कामों की होगियारी चतुराई में पुराने कामों के दुष्फलों का वञ्चन, बचा जाना, होने का नहीं, दुःख के भोग से ही दुःकर्म कटते मिटते हैं। सुख के बाद दुःख, दुःख के बाद सुख; रथ के पहिये ऐसा यह चक्र सदा चलता रहता है; इसी का नाम संसार-चक्र है; आगे जो बात ज़हर सी कड़वी जान पड़ती है, पीछे फल उसका अमृत सा मीठा होता है; जो पहिले मीठी बह पीछे कड़वी हो जाती है। सुख तो हो, दुःख तो न हो—ऐसा कोई उपाय नहीं। ज्यों ज्यों सुख बढ़ता है, त्यों त्यों दुःख भी। यूरोप अमेरिका का उद्धत, उत्तिक, उद्दाम, महा समृद्धिमान्, महा शौर्यवान्, महा क्रौर्यवान्, अति उत्कृष्ट भी, और अति निकृष्ट भी, जीवन, रावण की लड़ा के

जीवन के सदृश प्रत्यक्ष उदाहरण है।

ग्रंथ के छपने में विलम्ब के हेतु।

(कुछ निज सम्पत्ति, कुछ शास्त्र विषयक. निवेदन)

इस ग्रंथ का पहिला फर्मा (पृ० १-१६), तौर २५-२-१९९३, वि० (८-६-१९३६ ई०) को छपा, ओर पद्रहवा (पृ० २२५-२४०), तौर १७-९-१९४४ वि० (१-१-१९३८) को। उन दिनों, भारत की केंद्रीय व्यवस्थापक सभा ('सेंट्रल लेजिस्लेटिव असेम्बली') का सदस्य, सयुक्त प्रांत के सात नगरों की जनता की ओर से, निर्विरोध 'निर्वाचित' ('वृत्त') हो जाने के कारण, नई दिल्ली ओर शिमला में ('श्यामला' देवी के प्राचीन मंदिर के कारण यह नाम चन गया है) प्रतिवर्ष प्रायः पाच महीने मुझे बिनाने पड़ते थे, तथा, वच्चे सात महीनों में भी सभा-सम्यन्धी कार्य, ओर अन्य अनिवार्य कार्य भी, रहता था, ऐसे हेतुओं से, 'पुरुर्यार्थ' के छपने का काम बहुत मंद गति से चलता रहा। मन् १९३८ ई० के अंत में, उस सभा की सदस्यता के त्याग का पत्र, गवर्नमेंट को, मैंने भेज दिया। हिन्दुओं में, अन्तर्वर्ण, अर्थात् भिन्न 'वर्णों' का परस्पर, विवाह, वैय (जायज़, 'ला-फुल') हो जाय, दूषित ओर पर्य विरुद्ध न माना जाय, 'वर्ण' का अर्थ 'पेशा', 'जीविका-वर्म', 'वृत्ति'. समझा जाय, ओर जति का अर्थ 'जन्म'; विवाह के पाँडे, पत्नी का 'वर्ण' वही माना जाय जो पति का हो (जैसे गोत्र), जिस से 'अभयर्ण'-विवाह का लोअन, कलक, लगाहर, ऐसे पति-पत्नी को 'जात-दाहर' न पिया जाय, समान-शील-व्यमनता ओर समान-वृत्तता ही असली सच्ची 'स-पर्णता' समझी जाय, जो ही मनु ओर प्रपियों का स्मृतियों का आशय है, ओर हिन्दू-समाज ओर हिन्दू धर्म, दिन दिन, अधिकाधिक हीन क्षीण न किया जाय-इसके लिये, व्यवस्थापक सभा से एक विधान (इन्त, 'रेजट') बनवाने का मैंने बहुत प्रयत्न किया। कार्य प्रमाणों का नष्ट किया,

ऐतिहासिक उदाहरण एकत्र किये, महात्मा गांधी, पंडित मोतीलाल नेहरू, देशबन्धु चित्तरजन दास प्रभृति जैसे, तपस्वी, विद्वान्, आत्मत्यागी, देशभक्त, वर्तमान काल में भारतीय महा-जन-ता के सर्वाद्यत नेताओं के कुटुम्बों में, जो ऐसे विवाह हुए और हो रहे हैं, उनका दृष्टान्त दिया। दैनिक अंग्रेज़ी और हिन्दी पत्रों में, इस विषय का ज्ञान फैलाने के लिये और जन-मत को इस ओर झुकाने के लिये, बहुत से लेख छपवाये, पत्रों में भी, जिस कांग्रेस-दल ('पार्टी') का मैं सदस्य था, उसके ही बहुतेरे सदस्यों ने इस ओर उपेक्षा की, और कुछ ने स्पष्ट वैमत्य बतलाया, जैसे 'सनातन-धर्म' की पुकार करने वाले दलों ने, यद्यपि अन्य दलों के कुछ सदस्यों ने, और देश की बहुतेरी संस्थाओं ने, और मान्य गण्य सज्जनों ने, मेरे विचार और अनुष्ठान का अनुमोदन किया। इस कारण से मेरा सब प्रयास, व्यवस्थापक सभा में, व्यर्थ और निष्फल हो गया, और मेरा प्रस्ताव, गवर्नमेंट की ओर से (प्रायः राजनीतिक हेतुओं से) विरोध होने के कारण, गिर गया। पर, देश में, दो वर्ष तक, इस विषय पर बहुत चर्चा हुई, और लिखे-पढ़े, विचारशील, नये समय की नयी अवस्था के पहिचानने वाले, लोगों पर इसका असर हुआ, यहाँ तक कि बहुत से संस्कृत-पाठीयुवा विद्यार्थियों, और कुछ प्रौढ़ और वृद्ध पंडितों, पर भी, इस बुद्धि-संमर्द और क्षुण्ण-क्षोद का प्रभाव पड़ा, और वे "(जीविका-) कर्मणा वर्णाः" के सिद्धान्त के कम-बेश पक्षपाती हो गये; इतना लाभ हुआ, और इसी आशय का एक विधान, केवल आर्य-गमाजी हिंदुओं के लिये, व्यवस्थापक सभा में बन भी गया।

त्याग-पत्र का हेतु

इस प्रकार से, अपने परिश्रम की अकृतार्थता वा स्वल्प कृतार्थता के अलावा, व्यवस्थापक सभा में कोई अन्य ठोस काम भी, प्रजा के स्यायी सचेतन का, होते हुए, मैंने नहीं देखा। गवर्नमेंटी सदस्यों में हठ और वितंडा, और प्रजा-वृत्त सदस्यों में विवाद और जटप, और दोनों में उन्ही उन्ही बातों, तर्कों, प्रतिपत्तियों, का पुनः पुनः पिटपेपण, और समय का बहुत अपच्यय

देगा। और भी, न तो प्रजा-वृत्त सदस्यों में दूर-दर्शिनी, शिष्ट-सम्राहिणी, दुष्ट-निग्राहिणी, समाज के सब अंगों के समन्वित कल्याण का ध्यान रखती, बुद्धि से, कोई सर्वांगीण विधान बनाने की प्रवृत्ति ही देखी, न उनको, यदि चाहते तो भी, कोई भी विधान, भला या बुरा, 'वाइस-राय' (उप-सम्राट्, स्थानीय सम्राट्) की स्वीकृति के बिना, बना डालने की शक्ति ही गवर्मेन्ट ने दे रखी थी, अन्तिम अधिकार, हा य नहीं का, सब 'वाइस-राय' के ही हाथ में था और है, 'प्रजा-वृत्त व्यवस्थापक सभा'—यह केवल ढांग और अर्थ-शून्य नाम मात्र है। हा, शासन-सम्बन्धी विविध विषयों पर, सभा में, गवर्मेन्ट की सदस्यों से, प्रश्न करने का अधिकार प्रजा-निर्वाचित सदस्यों को मिला है और इस के सुप्रयोग से, तथा वाद-विवादों के प्रवाह में भी, शासकों के अनाचारों का उद्घाटन, और दुःशासन की पोल का प्रकाशन, जनता के समक्ष हो सकता है, और कुछ न कुछ होता रहा है, जिससे भारत की जनता को, शासन-प्रकार ('काम आफ गवर्मेन्ट') के बदलने और 'स्व-राज' की प्राप्ति के यत्न में, जाग्रत्, सजग, सावधान, दृढ़, रक्षित गया है, स्यात् गवर्मेन्ट की अकसरो के हृदयों में भी, कभी कभी, कुछ त्रपा लज्जा (शर्म) कुछ क्षणों के लिये जाग उठती हो।

स्व-राज योजना का अभाव

परन्तु, सबे 'स्व-राज्य' की कोई सर्वांगीण योजना वा रूप-रेखा, कांग्रेस के वा अन्य किसी दल के, नेताओं ने, भारत जनता के सामने, आज तक, कभी नहीं रक्खा। यदि रखते तो उस से समग्र जनता को विस्पष्ट ज्ञान होता, कि 'स्व-राज्य' यह वस्तु है, उस का यह अर्थ है, इस में समाज की ऐसी ऐसी सु-व्यवस्था करने में, प्रत्येक मनुष्य को पेट भर खाना, पीठ भर कपड़ा, शिर पर छाना छप्पर, उचित गार्हस्थ्य-जीवन, उचित कलत्र-पुत्र-सुख, उचित काम-दाम-आराम, तथा अपनी रचि और छुट्टि के अनुसार 'श्रम' नाम के वा अन्य किसी नाम के किसी पदार्थ का द्रष्टे भजन करने का अवसर, दिना दूसरे के भोजन भजन में विहित विधे, नि

जायगा, और उनके शरीर की तथा चित्त की स्वार्थी भी और परार्थी भी भूख-प्यास उचित परिमित मात्रा में तृप्त हो सकेगी। ऐसी योजना देश के सामने रखने के लिये, आज बाईस वर्ष (१९२१ ई०) से मैं निरन्तर दैनिक साप्ताहिक मासिक पत्रों में, तथा पुस्तक पुस्तिकाओं में, रटता रहा हूँ, तथा महात्मा गांधी आदि नेताओं से ज़वानी भी और पत्र-द्वारा भी कहता रहा हूँ, और केंद्रीय व्यवस्थापक सभा में भी सूचना करता रहा। ऐसी योजना से सारी जनता को बहुत उपयोगी, उत्तम शासन और समाज-व्यवस्थापन सम्बन्धी शिक्षा मिलती, उन की विमर्श-बुद्धि जगती, परस्पर विचार-निमित्त करते; 'स्व' का सच्चा अर्थ (अधम 'स्व' नहीं, उत्तम 'स्व') स्व-अवलम्बन स्व-शासन स्व राजन का सामर्थ्य पते, हिन्दू-मुस्लिम का कलह मिटता; मेल, सहायन, 'एकता', बढ़ता; जिस एकाके लिये सभी नेता नायक चिह्नाते पुकारते रहे, पर जिसका गुर, (रहस्य, राज) किसी ने भी ठीक ठीक नहीं पहिचाना, न बताया, न काम में ला सके—वह गुर सब को प्रकट और विदित हो जाता; 'स्व-राज', 'स्व-तंत्रता', 'पूर्ण-स्वतंत्रता' आदि शब्द, निरे क्षोभ-वर्धक, उपद्रव कारक, विविध, विभिन्न, विरुद्ध, भ्रमावह, 'नारे' (आरव, 'भारो', पुकार, आक्रन्द), प्रत्येक व्यक्ति वा दल वा जात वा सम्प्रदाय के मनमाने अर्थों के आधार, न रह जाते, गवर्मेंट के रूप को बदलने का प्रयत्न सफल होता; क्योंकि, सम्भवतः वर्तमान गवर्मेंट को भी, तथा अन्य देशों की गवर्मेंटों को भी, यह सूझ जाता कि, हाँ, यह योजना युक्तियुक्त बुद्धिसंगत है, और आर्य-शक्रीय बहुसंमत घटाव बढ़ाव के बाद, मान्य अनुमोद्य है; और गवर्मेंट अपना रूप बदलने को स्वयं राजी हो जाती, जिस से 'ब्रिटिश-इण्डियन कामन्वेल्थ वा संघ-राज्य' की स्थापना हो जाती, और वह संघ, क्रमशः अन्य राष्ट्रों के भी शामिल होते जाने से, विश्व-संघ का रूप धारण कर लेता। और भी, तत्काल, ऐसी योजना, जनता के लिये, अन्यकार में दीपक का काम करती; सच्चा, बुद्धि-प्राप्त, बुद्धि-संतोषक, लक्ष्य दिग्दर्शक, भूल

भटक शंका के प्रत्येक स्थान पर पथ-प्रदर्शन करती, (क्योंकि बिना लक्ष्य को, बिना साध्य को, निश्चित और स्थिर किये, उचित साधन का, उचित मार्ग का, निर्णय कैसे हो सकता है?), जोश के साथ होश को, उत्साह के साथ ज्ञान को, तपस् के साथ विद्या को बढ़ा कर, पैरों और पैरवों को सत्-लक्ष्य की ओर, सन्-मार्ग से नयन' करने के लिये दूरदर्शी नयन', नेत्र नेता, नायक, आँख, भी दे कर, उस जोश और उत्साह को दृढ़, बद्धमूल, चिर-स्थायी, कर देती, वर्तमान गवर्मेंट पर, अपना रूप बदलने के लिये, सबदित, उचित, शांत, न्याय्य, अदृश्य, और सफल दबाव डालने की शक्ति देती, उत्साह की ज्वाला को ज्ञान का तैल देती रहती । इस के बिना, जनता का जोश, पुन पुन, अप्रहयोग के लिये, विविध प्रकार के सत्याग्रह के लिये, उभड़ कर, गवर्मेंट की ओर से प्रयोग की गई दमन की कार्रवाइयों से, पुन पुनः, शीघ्र ही, दूर गया; आतशबाज़ी की फुलझरी ज्वालाओं और कणों के ऐमा कुछ क्षणों के लिये चमक कर राख हो गया, और गवर्मेंट को यह कहने का मौका (ध्वंसर) मिलता रहा कि हिन्दू-मुसलमानों में, दृष्ट-अदृष्ट में, तथा अन्य राजनीतिक और साम्प्रदायिक दलों में, ऐकम य नहीं, प्रत्युत बहुत वैमल्य है, इस लिये कांग्रेस की बात सुनी नहीं जा सकती । साधारण मनुष्यों की प्रकृति है, दूसरों पर दोष डालना, अपना दोष नहीं देखना । भारत में, सब दल एक दूसरे को तथा गवर्मेंट को, और गवर्मेंट-वाले इन सब को, ही, पलक लगाते हैं, अपने भारी अरागुण कोई भी नहीं पहिचानते । यूरोप में भी, राष्ट्रों के बीच, यही हाल है । इसी से मानव संसार बलवत्तय युद्धमय हो रहा है ।

राजन्, सर्पमात्राणि परच्छिद्वाणि पश्यसि,
आत्मनो बित्त्वमात्राणि पश्यन् अपि न पश्यसि ।

इन बातों में कामाध्यात्म का मन्वन्

अस्तु, यह सब, भारतीय 'इति-ह-आत्म', क्या 'इति-ह-धर्मि' और 'इति-ह-भवत्', की बात, यहाँ हम 'कामाध्यात्म' के प्रस्ताव में इस

लिखा, कि मानव समाज की सर्वांगीण सुव्यवस्था के बिना, चारों में से कोई पुरुषार्थ, न काम ही, न धर्म, अर्थ, मोक्ष ही, सिद्ध हो सकता है, '(जीविका-) कर्मणा वर्ण.' और 'वयमा आश्रम' के सिद्धान्त पर, समाज की वर्णाश्रम-धर्मात्मक सुव्यवस्था करना ही राजा का परम धर्म है, क्योंकि सब धर्म इसी के अतर्गत हैं ।

वर्णाना आश्रमाणां च राजा सृष्टोऽभिरक्षिता, (मनु) ।

सर्वे धर्मा राज-धर्मे प्रविष्टा., (म० भा० शा०)

तथा, ऐसी ही सुव्यवस्था से, न महज (केवल) भारतवासियों का, बल्कि (अपि तु) सारी दुनिया के सब मुल्कों (देशों) के, सब सत्तन्तों (राज्यों, राष्ट्रों) के, सब आदमियों का भला हो सकता है; और इस वज्रत (समय) जो शरीर जग (दारुण युद्ध) हर तरफ (सब दिशाओं में) जारी (प्रवर्तमान) है, उसकी जगह, सब मुल्कों और क्रौमों (जातियों) में मेल सुहृद्वत् (स्नेह प्रेम) बढ़ सकता है ।

ऐसे विचारों की ओर, केंद्रीय व्यवस्थापक सभा में, मैं ने किमी की रुचि नहीं देखी; "दीर्घं पश्यत, मा हस्वं" की प्राचीन बुद्धि की अवहेला कर के, ह्रस्वदर्शिता अल्पदर्शिता की ही ओर रुचि देली; छोटी छोटी तात्कालिक बातों में ही प्रजा-वृत्त सदस्य लोग प्रायः मन अटकाते थे, और उन्हीं पर बहम मुवाहिसा करने में अधिकांश शक्ति और समय का व्यय कर देते थे, व्यापक और स्थायी लोकहित की बातों पर विचार प्रायः नहीं के बराबर करते थे; और गवमेंटी सदस्यों का तो इष्ट और यत्न ही रहता था, कि अन्य सदस्यों का मन ऐसी छोटी बातों में ही फँसा रहे, सर्वांगीण प्रजाहित की व्यापक और गभीर बातों की ओर न जाय, इस से, मेरे मन उधर में निराश और उदास हुआ, और मैं ने त्याग-पत्र भेज दिया

इन ग्रन्थ की प्रगति में अन्य बाधक, स्व-राज के स्थान में कलि-राज इस के बाद, 'पुरुषार्थ' ग्रंथ का कार्य चलना चाहता था । पर, देश और परदेश की दशा देखते हुए, अंतरात्मा की प्रेरणा से, कुछ अन्य ग्रंथ

विषयक शिक्षा के प्रकार

लिखना उपवाना, अधिक आवश्यक आर अत्रिलक्ष्य (त्वराकाक्षी, फीकी, 'अजेंट', जान पडा । हिन्दू-मुस्लिम का विरोध, दृष्ट-अदृष्ट का द्वेष, 'नीचजात-ऊँचजात' का घेमनम्य, 'जात-जात का द्वेष, राष्ट्रों का द्वेष, युद्ध, रक्तपात, प्राणहरण, द्रव्यध्वंसन, प्रजानाशन का उद्योग, काम-लोभ-मोह-मद-मत्सर का ताण्डव, कलि के निर्मर्याद साम्राज्य का विस्तार, बढ़ता ही जाता था, जिसका मूल कारण, सात्त्विक तात्त्विक धर्म को भुला कर, धर्माभासों और मूढग्रहों में साधारण जनता का प्राण अटकाना ही जान पडता है, जिन धर्माभासों, मूढग्रहों, परस्पर द्वेष बुद्धियों को, सभी प्रचलित धर्मों में, तथा सभी राष्ट्रों में, स्वार्थी, कपटी, दम्भी, लोभान्ध, मदान्ध, आसुरी-सम्पत्-सम्पन्न, अज्ञानमय धर्माभासों और राष्ट्रनायकों ने एक ओर, उत्पन्न किया, सिखाया, फैलाया, और दूसरी ओर, अविवेकी, विश्वासी, श्रद्धाध जनता ने दाँतों से पकड़ लिया और अपनाया । ऐसे महारोग की चिकित्सा का महोपध, सदा से, एक ही रहा है—भूले हुए सद्धर्म के सार का पुन पुन प्रचार । मानव जाति के इतिहास में, जब जब सद्धर्म की ग्लानि हुई, अतद् धर्माभासों और मूढग्रहों के रूप में टके हुए अधर्म का अभ्युत्थान हुआ, तब तब जगदात्मा की तेजो-अश-रूप विभूतियों ने पृथ्वी पर जन्म लिया; भगवान् मनु के कहे हुए धर्म का, देश-काल अवस्था के अनुरूप, स्वयं अनुसरण आचरण किया, तथा पूर्णत वा अशत. उपदेश किया । इन विभूतियों में प्रसिद्धतम, जगद्विख्यात, नितान्त आदृत पूजित व्यक्ति, ये हैं— भारत में राम और वाल्मीकि, कृष्ण और व्यास, गौतम बुद्ध, महावीर जिन, ईरान (आर्यायण, आर्याना, 'फारस', 'पर्सिया', 'पार्थिया') में जर्दंश्त ('जरदुष्ट'), जैसे 'श्वेताश्वतर' ऋषि), फिलिस्तीन (फिलिस्तीन आदि प्रदेश) में मूसा ('मोजेज'), फिलिस्तीन में ईसा, अरबिस्तीन में मुहम्मद चीन में लाओ-त्से और बट्फु-त्से, जापान में 'शि तू' (? 'हिन्दू') धर्म के अज्ञातनामा प्रवर्तक, और भारत में, पुन.,

शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, कबीर, तुलसीदास, गुरुनानक और गुरु-
गोविन्दसिंह ।

अन्य ग्रन्थों का सकलन

इस लिये, इन सब महापुरुषों की, तथा वेदों और उपनिषदों के ऋषियों की, और सूफियों की, सार सार, एकार्थ, समानार्थ, प्रधान प्रधान सूक्तियों का संग्रह करके, 'सब धर्मों की तार्किक एकता' ('दि एसेन्शाल यूनिटी आफ भाल रिलिजनम्') नाम की, अंग्रेज़ी भाषा में लिखी, पुस्तक का, (जिसको, पहिले, छोटे आकार में छपवा चुका था), पूरे एक वर्ष के परिश्रम से, बहुत परिवर्धित, त्रिगुणीकृत, नया संस्करण सन् १९३९ ई० में छपवाया । १-९-१९३९ ई० को द्वितीय विश्व युद्ध का, यूरोप में, आरम्भ हुआ; उसकी विकराल ज्वाला को चतुर्दिक् फैलती देख कर, 'विश्वयुद्ध और उसकी एक-मात्र महौषध— विश्वधर्म पर प्रतिष्ठित विश्वव्यवस्था' (अंग्रेज़ी में, 'दि वर्ल्ड वार एण्ड इट्स् ओनली क्यूर—वर्ल्ड आर्डर एण्ड वर्ल्ड रिलिजन') नाम की पुस्तक सन् १९४१ ई० में लिखा और छपवाया । सन् १९३१ में आरंभ हुए और सन् १९३७ से घोरतर रूप धारण किये हुए और अब तक प्रवर्तमान जापान-चीन युद्ध को, और द्वितीय विश्वयुद्ध की तयारी में व्यग्र यूरोपीय राष्ट्रों को, देख कर, इन्हीं दो ग्रंथों के कुछ आशयों को लेते हुए, किन्तु 'हिन्दू'-नाम धारियों के अन्तर्जातीय कलह को विशेष रूप से ध्यान में रखते हुए, संस्कृत साहित्य के विशेषज्ञ कई पंडित मित्रों के अनुरोध से, संस्कृत श्लोकों में, '(जीविका-) कर्मणा वर्णः' के सिद्धान्त का आर्ष प्रमाणों में समर्थन करते हुए, सन् १९४० ई० में, 'मानव धर्म-न्याय' नाम का, ३५०० श्लोकों का ग्रन्थ लिखा और छपवाया, किन्तु मुझे संस्कृत भाषा का ज्ञान कम, और उस में लिखने का अभ्यास बिल्कुल ही नहीं था, इस कारण, ग्रंथ में व्याकरण आदि की अशुद्धियाँ अधिक हैं इन के सिवा, 'आत्म-शास्त्र' (अंग्रेज़ी में 'दि सायंस साफ दि मेल्स')

नाम का ग्रंथ, सन् १९३८ में, तथा 'योग-सूत्र-भाष्य-कोप' (संस्कृत शब्द और अंग्रेज़ी में अर्थ का, 'योग-कांकाडेंस-डि कूशनरो' नाम का, सूत्र और भाष्य के प्रत्येक शब्द का, अक्षरादि क्रम से, अर्थ-सहित कोप भी सन् १९३८ में, तथा 'दर्शन का प्रयोजन' नाम का हिन्दी ग्रन्थ, सन् १९४० में, उपाध्याय। इन ग्रंथों की पाण्डुलिपियाँ बहुत वर्षों पहिले से लिखी पड़ी थीं, अब चित्त में आया कि विलम्ब न करना, यथाशक्ति परिष्कार परिवर्धन करके छपवा ही देना। इन्हीं पाँच वर्षों में, प्रथमोक्त तीन ग्रंथों के विषयों और आशयों के, बहुत से छोटे मोटे लेख, विशेष विशेष अवसरों पर, दैनिक साप्ताहिक मासिक हिन्दी और अंग्रेज़ी पत्रों के लिये, लिखे।

कागज़ का 'निवारक'

सन् १९४१ में, जून से अगस्त तक, तीन महीने, एक कठिन रोग से, शय्या पर पटा भी रह गया, जिस से, शारीर और मानस शक्तियाँ, शेष आयु के लिये, दुर्बल हो ही गईं। इस सब के पीछे, जब 'पुरुषार्थ' की ओर फिर ध्यान दिया, और, उसको पूरा करने के लिये, दूसरे हुए विचारों की बुद्धि में पुनः एकत्रित करने लगा, तो, 'श्रेयासि बहुविधानि', प्रवर्तमान दारण विश्वयुद्ध के निमित्त, ब्रिटिश गवर्नमेंट की अतिशय खींच के कारण, अन्य सभी जीवन सामग्रियों के साथ साथ, कागज़ का भी एक ओर भारी नियाक (दुर्भिक्ष, प्रचाम) हो गया, और, दूसरी ओर, सोना चाँदी ताँबा आदि धातुओं के सिक्कों और वस्तुओं के मूल्यों को चले जाने, और बाजारों नोटों के दिन दिन अधिकाधिक सख्या में छापे जाने से, धर्माभासों की तरह 'रस्या-आ-भामो' की चारों ओर बहुतायत हो गई, जिसमें प्रत्येक पन्तु का तथा कागज़ का दाम, दिन दूना रात चौगुना उ गूना हो गया। किन्तु किसी प्रकार से, नई दिल्ली के 'सस्ता साहित्य मंडल' के उत्साह से, पर वार्ड, नैनी अमावास्या, सौर २२ माघ, १९९९ वि० (४-२-१९४३ ई०) में पुन आरम्भ किया जा रहा है। 'काल' प्रीति, गच्छति आदि, धार्मिक दृष्टता गया है, ७५ वा वर्ष मौनी अमावास्या को आरम्भ हुआ तब और मन

'मैटल', 'स्परिचुअल') अंग की अधिकाधिक उपेक्षा करते गये हैं। इस अति बहिर्मुख प्रवृत्ति के कारण ऐतिहासिक है; थोड़े में यह कि, जैसे भारत में, धर्माधिकारी कठ-पंडित और कठ-मुल्ला, वैसे ही यूरोप में, कठ-पादरी, धर्म-मज़हब-'रिलिजन' को रोज़गार बना कर, साधारण जनता को मूर्ख कठपुतली बना कर, मिथ्या धर्माभासों और मूढ़ब्राह्मों में फँसाकर, अपनी कामीय लोभीय मदीय क्रोधीय मत्सरीय वासनाओं का घोर तर्पण परिपूर्ण करने लगे, १६ वीं शती ई० के आरम्भ में, मार्टिन लूथर प्रभृति कुछ बुद्धिमान् दीर्घदर्शी मृदुवेदी सहृदय तथा निर्भय निस्स्वार्थ विद्वानों ने खुला विरोध आरंभ किया, (जैसे भारत में, १४-१५-१६ वीं शती ई० में, कबीर नानक प्रभृति संतों ने), जनता का अधिकाधिक अंश उनके साथ होता गया, पादरियों में, राजाओं में, 'महाजन'-जनता के ढलों में, बड़े बड़े युद्ध हुए, अंत में, नये पक्ष की, धर्म के सुधार के लिये, प्रायः विजय हुई, पुराने पक्षवालों की संस्थाओं का सर्वथा उच्छेद तो नहीं हुआ, पर उनके दुराचार कम हो गये, उन्होंने स्वयं अपनी दुष्ट वासनाओं का नियन्त्रण शुरू किया, उनके अनुयायियों की भी आँखें खुल गईं, बुद्धि जागी, अंध-श्रद्धा कम हुई; और चारों ओर, महाजन में, स्थूलेन्द्रियों के प्रत्यक्ष प्रमाण पर प्रतिष्ठित विज्ञान (बहिर्मुख 'सायंस') की ओर रुचि अधिकाधिक बढ़ी। किंतु, देवी-मूल-प्रकृति देवी, संसार के सभी विभागों में, मनुष्य के चित्त में भी, सदा टोलाधिरूट, झलुए पर सवार, रहती है एक पैड् उधर तो एक पैड् उधर, "प्रकृतिः उभय-कोटि-स्पर्शनी, पुरणः मध्यस्थः", एक आत्यन्तिक कोटि ('एकसटीम') से दूसरी, और दूसरी से फिर एक की ओर, झूलती ही रहती है पुरण, आत्मा, दोनों कोटियों को हुए, अपने भीतर रखते हुए प्रकृति देवी को, दोनों कोटियों

खींच कर, मध्य में रखने का यत्न निरंतर करता रहता है; किसी एक कोटि के पार कूद कर, दूसरी कोटि से झूट कर, सर्वथा विनष्ट हो जाने नहीं देता। सुख और दुःख, राग और त्याग, दोनों को, विद्याऽविद्याऽत्मक मूल काम-संकल्प की एक रस्सी के दोनों छोरों पर, हटे हुए भी, सटे हुए भी, बांधे रहता है।

इन के फल

इस पारमात्मिक नियम के अनुसार, अति वहिर्मुख प्रवृत्ति से, और विकास-वादी ('इवोल्युशन-वादी') वैज्ञानिकों के प्राणि-संघर्ष-विषयक कच्चे अधूरे सिद्धांतों के अनुसरण से, यूरोप अमेरिका के महाजन में, तथा उन के अधीन वा अधीन-प्राय पूर्वीय दक्षिणीय देशों की जनता में भी, इन्द्रिय-लौल्य, जिह्वा-उपस्थ-परायणता, राग-द्वेष-विकार, की अत्यन्त वृद्धि हुई; बड़े युद्ध होने लगे; जिस शरीर के सुख के लिये यह सब महा-आयास प्रयास किया गया, सांसारिक जीवन के भोग विलास की, सब प्रकार की, अति समृद्ध सामग्री, दुर्बलों को दवा कर, चूस कर, एकत्र की गई, वही आनन्द नष्ट होने लगा; और धर्मा-भासों के अत्यन्त प्रचार से जो दुष्फल हुआ, उस से भी दाहण-तर दुष्फल, सर्व-धर्म-विरोधी, धर्म-मात्र विरोधी, सार-धर्म-तिर-स्कारी अत्यन्त वहिर्मुख विज्ञान के प्रसार से हुआ; क्योंकि विज्ञान के अद्भुत आविष्कार, परस्पर पोषण-तोषण उत्तंसन-विकाशन के स्थान में, परस्पर शोषण-मोषण उद्ध्वंसन-विनाशन के लिये प्रयुक्त होने लगे।

यह घोर धनर्थ देख कर, अब पुनः, वर्तमान २० वीं शती ई० के आरम्भ से, स्वयं बड़े-बड़े, यशस्वी, अग्रगण्य, वैज्ञानिकों की प्रवृत्ति, सभी पाश्चात्य सभ्यतममन्य देशों में, पुनः आध्यात्मिकता, अन्तर्मुखता, चित्त के शास्त्र, और व्यापक तात्त्विक

मार्मिक सार-धर्म वा धर्म-सार की ओर, दो मार्गों से, फिरी है। इस का सकेत. पृ० २३६ पर, एक टिप्पणी में कर दिया गया है। ये वृद्ध, बहुश्रुत, बहुदर्शी, बहु अनुभवी, विचारशील वैज्ञानिक, पहिचानने और कहने लगे हैं, कि मात्रा ('मैटर') का निर्माता कल्पयिता भी, उस में प्रविष्ट भी, उस से अपृथक् भी, उस से विविक्त विवेचनीय भी, परमात्मा आत्मा ('स्पिरिट', रूह, एहुल्-रूह, आत्मनां आत्मा, जीवात्मनां परमात्मा) भी, कोई वस्तु है, और वे शरीर के ऊपर आत्मा-बुद्धि नतस् की प्रभुता को भी मानने लगे हैं।

अतर्मुसता की ओर वैज्ञानिकों का पुनः पलटना

(१) वैज्ञानिकों की पलटी हुई चित्तनदी की पहिली धारा, प्रथम विश्वयुद्ध (१९१४-१९१८ ई०) के बाद अधिक पुष्ट हुई; अब प्रवर्तमान द्वितीय विश्व-युद्ध की, दस-पंद्रह वर्ष ल, पुनः तयारियों को देखकर, और उस को रोकने का गहादल करने पर भी, उसके आरंभ हो ही जाने से, यह प्रवृत्ति अधिक बढ़ रही है, जिस का सफल, यदि जगदात्मा की मर्जी हुई तो, इस विश्वयुद्ध की शांति के बाद कुछ होगा, कामीय वासनाओं का नियन्त्रण नियमन करने का उपाय, सब से पहिले खोजा और पाया जायगा. और विश्वव्यापिनी मानव-समाज की विश्वव्यापिनी व्यवस्था ('वर्ल्ड फेडरेशन, वर्ल्ड आर्डर') की जायगी। जिला और उपस्थ सबंधी वासनाओं का सब से पहिले; इस लिये, एक प्रायः सब ही प्रकार की वासना, मनुष्यों में परस्पर वैर बढ़ाने वाली, उद्धत हर्ष, मद, मत्सर, क्रोध की विविध विकृतियाँ, इसी की अति वृद्धि से उत्पन्न होती हैं।

कामे जिते जितं सर्वं, जितं सर्वं जिते रसे।

उपस्थीय कामका रस जंत ल. जिला का रस जीत ले, उन पर

क्रावू कर ले, उनको अपने वश मे लावै, उनके वश मे न रहै—
तो सब कुछ जीत लिया ।

स्वार्थी परार्थी वामनाओं का 'नियमन' ही, मर्कथा उच्छेद नहीं

'वासनाओं' का 'नियमन'—यह शब्द याद रहै, काम, क्रोध, लोभ, मोह (भय), मद, मत्सर आदि स्वाभाविक वासनाओं का सर्वथा मूलोच्छेद तो, उनकी प्रतिद्वंद्विनी, उपरति-विरति, शम शांति, तितिक्षा-त्याग, धैर्य, करुणा, मैत्री आदि वासनाओं केभी उच्छेद, अथवा प्रस्वाप, के साथ ही, (प्रस्वाप, क्योकि आत्यन्तिक विनाश और अभाव तो, अव्यय अविनाशी परमात्मा के स्वभाव मे अंतर्गत द्वं-द्वं का, कभी हो ही नहीं सकता), प्रलयावस्था मे ही हो सकता है; जाग्रद् अवस्था मे, सत् शिक्षा और सद्-धर्म-कानून के जरिये (द्वारा), नियमन, नियन्त्रण, सीमितकरण, समयों (शक्तो) से परिच्छेदन अवच्छेदन, ही, संभव, उचित, आवश्यक है।

विना निदान जाने चिकित्सा का दुष्फल

स्वार्थ और परार्थ दोनों प्रकार की वासनाओं को क्रावू मे लाना; अंदाज़ से ही, परिमित मात्रा मे ही, उनका आस्वादान करना, उनके ऊपर सद्बुद्धि का अधिकार स्थिर करना—यही सब सदाचार का मूल है। इसको न पहिचान कर, इस के परित, पच्छिम मे, कच्चे वैज्ञानिक यह यत्न करते रहे हैं, कि जल उपस्थ-सम्बन्धी, इंद्रिय-लौल्य-प्रेरिणी, अधम-स्व-वर्धिनी, अशुभ स्वार्थी वासनाएं यथेष्ट तृप्त की जायं, पर दुष्फल न हो; चटनी-अंघार चख लेने, मांस-मत्स्य ग्राह्य लेने, गर्वित-शगव पी लेने, के ऐसा, दुराचार-व्यभिचार यथेष्ट होता रहें, पर अधिवाहिताओं को गर्भ न रह जाय, उपदंश (आतशक, 'गर्मी') मूत्रशुच्छ्र. (मूज़ाक), आदि रौट रोगों का संक्रमण न होवे

पात्रै, गर्भ यदि रह जाय तो उसका पातन सरलता से हो जाय, यदि नाजायज़, अधर्म्य, विवाह-वाह्य वच्चा हो ही जाय और स्त्री वा पुरुष उसकी हत्या न करके, उसे छिपाकर, रात में गिर्जा-घर के द्वार पर, या सड़क पर, या अनाथालय के पास, छोड़ आवै, तो उसका पालन पोषण किया जाय— इत्यादि । पर इसका फल यही हुआ है कि, ऐसे दुराचारों, व्यभिचारों, बला-त्कारों, कन्या-दूषणों, बालक-दूषणों, स्त्री पुरुषों के नर-मादा पशुओं के संग मैथुन की वृद्धि ही होती गई, दुष्फल भी नहीं रुक सके, उग्र संक्रामक रोग अधिकाधिक फैलते ही गये, वस्ती, अर्थात् मनुष्य-संख्या, की अत्यंत वृद्धि हुई, सामाजिक तिरस्कार बहिष्कार के भय और लज्जा से, तथा परस्पर ईर्ष्या मत्सर क्रोध आदि से, आत्मघात तथा नवजात शिशुओं की हत्याएं बहुत बढ़ी, और अंततः, अतिकाम के साथ अति लोभ और अति मान के मिल जाने से, विश्वव्यापी सौद्र युद्ध पुनः पुनः हो रहा है । पाश्चात्य डाक्टरों ने स्वयं लिखा है कि यूरोप अमेरिका में स्यात् ही कोई स्त्री वा पुरुष इस युग में होगा जिसका शरीर, वा कुल, वा वंशपरम्परा, इन संक्रामक रोगों की दूत से सर्वथा मुक्त और शुद्ध हो । पर इन से कोई भारतवासी, शुद्धमन्यता और अहंकार का रस चखने के लिये, यह न समझ बैठे कि भारत जनता में ऐसे पाप नहीं हैं, भारत की, तथा अन्य पूर्वोक्त देशों की भी, स्यात् कुछ कम, यही बात जान पड़ती है विशेष कर, वित्तवालो और उच्चमन्य जातियों में, पर टीक पता नहीं चलता, क्योंकि पच्छिम में तो इन विषयों पर वैज्ञानिकों ने स्पष्ट लिखना छापना, कुछ बात से, आरंभ कर रक्खा है और उन देशों की गवर्नमेंटों ने भी 'कनीटान' 'कमेटी' आदि, समय समय पर, बनाई है, जि इन विषय

मेंट को यह विचार हुआ कि इस घोर व्यवसाय को रोकने के लिये, नया कानून बना कर, पुलिस को विशेष अधिकार दिया जाय। दस्तूर के मुताबिक, इस के बारे में, भारत के सब प्रान्तों के कुछ-कुछ आदमियों से राय पूछी गई।

जनता का भृत्य या जनता का स्वामी ?

मुझ से भी पूछा। पाश्चात्य देशों में भी, जो इस प्रकार के व्यवसाय, 'सेक्स स्लेव ट्राफिक' के नाम से, होते हैं, उन का, मैं ने, उत्तर में हवाला दिया; यह बतलाया कि यद्यपि पाश्चात्य देशों में भी, जनता (महाजन, 'पब्लिक', प्रजा) में भी और 'जनता-भृत्य' ('महाजन-भृत्य', 'पब्लिक-सर्वेंट', 'सार्वजनिक-भृत्य', राज-भृत्य, राष्ट्र-भृत्य) में भी, नेक नीयती की कमी है, परन्तु भारत में तो बहुत ही कमी है, और इस के सिवा यह महा आपत्ति है, कि यहाँ, 'पब्लिक-सर्वेंट' अपने को 'जनता का भृत्य' (स्वादिम) नहीं, प्रत्युत 'पब्लिक-मास्टर', 'जनता का स्वामी' (हाकिम) समझता है। पश्चिम में, प्रत्येक राष्ट्र के भीतर, दोनों का, 'पब्लिक-सर्वेंट' और 'पब्लिक का', लक्ष्य प्रायः एक होता है, अर्थात् सार्वजनिक सुख-समृद्धि, उसके विरुद्ध, यहाँ भारत में दोनों के लक्ष्य, परस्पर विपरीत हो रहे हैं, अर्थात् राष्ट्र-भृत्यों का समुदाय तो, एक-दूसरे पर संप्रथित, अपने दल का भला चाहता है, नित्य-नित्य अपनी शक्तियों और अधिकारों में वृद्धि करता रहता है, प्रजा को अधिकाधिक दबाये रखना चाहता, और रखता, है, और प्रजा, हज़ारों 'जात', 'पंथ', 'धर्म', 'किर्तियों' में विभक्त होकर, अपना-अपना पृथक्-पृथक् क्षुद्र अल्पकालिक स्वार्थ ही मानना चाहती है, जिस का फल यह है कि, कानूनो द्वारा पुलिस को जो भी अधिकार इम्तिनियार दिया जाता है, उस का दुरुपयोग ही होता है, काम के सगे भाइयों का, लोभ क्रोध आदि का, उत्प्रेरक होता है, उत्क्रोच (रिश्वत, घूस) और प्रजा-पीटन की भी, तथा दृष्ट कर्मों और व्यवसायों की भी, वृद्धि ही होती है; अन्त में, मैं ने यह सूचना की, कि वर्तमान बट-प्रधान (नाज़ीगन-ट-हिन्द, 'टंटियन-पीनल-कोड') में जो अपराध (जुर्म, 'क्राइम')

गिनाये हैं, और उन की सज़ा के लिये जो अधिकार राष्ट्र-भृत्यों को दिये गये हैं, उन्हीं का यदि नेकनीयती से उपयोग प्रयोग किया जाय, तो भैरवी-चक्र का यह रोजगार सहज में (सरलता से) बंद कर दिया जा सकता है, इस के लिये नये कानून और विशेष अधिकारों की कोई आवश्यकता नहीं है। जहाँ तक मुझे मालूम है, कोई नया विधान तो नहीं बना, पर इस विशेष घोर व्यवसाय की कुछ रोक होने के भी लक्षण देख नहीं पड़े।

राजभृत्यों की वृद्धि और दुष्टता, प्रजा का हास

पुलिस के, मजिस्ट्रेटों के, सभी विभागों (सींगो) के सभी गवर्मेंटों नौकरों के, अधिकार इख्तियार घटाते रहना, प्रजा के हकों को घटाते रहना—यही लक्ष्य, अधिकतर देशों के शासक दलों (गवर्मेंटों) का चिरकाल में हो रहा है, भारत में तो अत्यंत ही, कलियुग का यह एक प्रधान लक्षण है, कारण भी हैं, वार्य भी हैं, अन्योऽन्य अनुग्रह करते हुए अनर्थों की परंपरा यो ही घटती जाती है, एक दिन, अपने असह्य बोल से आप टूट पटती है, नष्ट होती है, तब, पुन, 'मत्य' के 'युग' (जमाना, 'पीरियट,' 'ईपोक,' 'एज') को अवसर मिलता है, शासक और शासित में परस्पर स्नेह, प्रीति, विधाय, सहायन, समर्थन, प्रकृति स्वभाव-गुण कर्म के अनुसार तब मनुष्यों का समाज में व्यवस्थापन, होता है। आज काल जो विष भरी हवा नरिसनार में बह रही है, उम्र के कारणों-कार्यों में एक मुख्य यह है, कि 'धर्माऽनपेक्ष काम', और 'वामशास्त्र के आध्यात्मिक तरवों' का तथा सत्त्वाम और दुष्ट-वाम के रूपों, लक्षणों, परिणामों, नुफत-दुष्फलों का, यथातथ्य ज्ञान ध्यान नहीं है, अतः यदि है तो भी विद्यामद, धर्ममद, धनमद से नत्तो में, शान्तन के अधिकारों और बलों को पाये हुआ में, अतः अधिनार और बल का दुष्ट पापिष्ट प्रयोग करने का अधिकाधिक अवसर पाते हुआ में, धर्म्य वाम से विरति, अधर्म्य काम से आनक्ति, अधिशायिक देख पड़ रही है। "चोरी का गुह नहीं,"

("स्टोलन् ज्वायज़् आर् स्वीट्"), इस लिये, अधिकारी जन, स्वयं चोरी के गुड के आस्वादन के लालची होकर, अपराधियों (मुद्रिमो) के साथ सहानुभूति भीतर से, और टंड देने से दया का दिखाव ऊपर से, करने लगे हैं, पच्छिम के देशों में इस की शिकायत, बीच बीच, समाचार पत्रों में देख पडती है । भारत वर्ष का भी एक ताजा नमूना देखिये ।

काशी के दैनिक पत्र 'आज' के सौर ९ फाल्गुन, १९९८, वि० (ता० २१ फरवरी, १९४२) के अंक में, नीचे लिखे आशय की सम्पादकीय टिप्पणी छपी है—

एक अत्यन्त खेदजनक मामिला

"काशी के एक खेदजनक मामिले की ओर हम स्थानीय अधिकारियों का, विशेष कर ज़िला मजिस्ट्रेट का, ध्यान दिलाना चाहते हैं । गोपी नामक चार वर्ष के बालक पर एक सत्रह वर्ष के युवक द्वारा अस्वामिक अन्याचार, (अगस्त, १९४१ ई०, में) किया गया । विचारक मजिस्ट्रेट का राय में अपराध सिद्ध हो गया । सिविल सर्जन की राय में एटके को उस अपराध के कारण अत्यन्त कष्ट भोगना पडा है । अपराधी के घर में लोगों की आर्थिक अवस्था मजिस्ट्रेट की राय में अच्छी है । लड़के की मा के कथनानुसार, जब उम ने अपराधी के बाप और चाचा को उम के अपराध में सूचित किया, तो उन्होंने ने उसे ही मार डालने की धमकी दी । इतनी बातें विचारक मजिस्ट्रेट अर्लाउट्टीन साहब के प्रैमले में ही मान्य होती है । इतने पर भी आप ने अपराधी को प्रथम अपराधी और प्रथम मिन (अल्प-वयस्क) समझ कर केवल दो वर्ष सखरित्र रहने का मुल्तफ़ा, वह भी बंदल दो सौ रुपये का, ले कर छोड़ दिया । एटके की माँ को, जो बहुत ही गरीब है, और श्री राजकृष्ण बाबू उमकी महायत्ना न करने तो श्रद्धालु तब पँच भी न गवनी, कुछ भी हर्जाना नहीं दिलाया । क्या यह न्याय है ? क्या प्रथम अपराधी के सम्बन्ध का कानून ऐसे ही दुश्चरित्रों के लिये बनाया गया है ? दंत लगाने की धारा

का उपयोग यदि ऐसे मामिले में न किया जाय तो वह है किस काम के लिये ? हाल में ही हाई कोर्ट ने एक लडकी की हत्या करने के अपराध में एक स्त्री की सजा, केवल उसी स्त्री समझ कर कम सजा देने के कारण एक जज की निन्दा कर के, तीन साल से बढा कर दस साल कर दी है । नतलज यह कि ऐसे मामिले में स्त्री, दस उम्र, प्रथम अपराध, आदि बातों का विचार करना उचित नहीं है । इन अधिकारियों का ध्यान इन बातों की ओर दिला कर साग्रह अनुरोध करते हैं कि वे इस मामले को, सजा बढ़ाने के लिये हाई कोर्ट तक ले जाने का कष्ट स्वीकार करें ।'

बाद में श्री राजकृष्ण ने दर्याफ्त करने पर मात्स्य हुआ कि, निहायत गरीब मजदूरिन के चार वर्ष के नादान बच्चे गोपी (कसरवानी बनिया) पर, २४ अगस्त १९४१ ई० को, वारसी नाम के सत्रह वर्ष के (सोनार) युवा ने यह अतिक्रूर दारण अपराध किया, हाल मालुम होने पर श्री राजकृष्ण ने पुलिस में रिपोर्ट २९ अगस्त को की, पुलिस ने जब मुजरिम की तलाश की तब वह फरार हो गया, गोपी कुछ दिन अस्पताल में रहा, रोज रोज की रोटी कमाने की फिक्र के सबब से, नौकरी छोड़ कर मा अस्पताल में बच्चे की फिक्र नहीं कर सकती थी, राजकृष्ण जी की प्रार्थना पर दूसरे डाक्टर देखते रहे, गोपी के गुदा-स्थान में भारी जखम हो गया, सट गया, मल-विमर्ग में द्रुत बह होता था, सारे खून में उसका जहर फैला, आसँ करीब करीब अर्धी हो गई । भागे हुए मुज्रिम वारसी का माल मता जब अदालत के हुक्म से पुर्र हुआ तब वह रुद हाज़िर हो गया । इन कारणों से, तथा अन्य कारणों से, देरिया, कुछ पुलिस थाने में, कुछ बचहरो में, होती रही, उनकी बजह से जुर्म की तारीख से करीब चार महीने बाद, सुझदमा अदालत में पेश हुआ, १२ फरवरी १९४२ को मजिस्ट्रेट ने फेमला बिद्या, जिनकी वैफि-यत 'भाज' पत्र से टैबर उपर लिखी गई । श्री राजकृष्ण ने, जिला

मजिस्ट्रेट से, ज्ञाचिते से दर्रिस्त भी किया, कि सज़ा बढ़ाने के लिये मुकद्दमा हाईकोर्ट में भेजा जाय ; पर इसी बीच, मुज्रिम काशी ने सिशन जज के यहाँ मुचल्के के खिलाफ अपील की, और जज ने (शायद फ्रैसले में कोई कानूनी नुक्स पा कर) मजिस्ट्रेट की तजवीज़ और फ्रैसले को रद्द कर दिया । नतीजा यह हुआ कि काशी विल्कुल छूट गया, गोया उसने यह महापाप किया ही न हो ।

और नमूने देखिये । इस मामिले के कुछ पहिले, बनारस में ही, एक तीस वर्ष के जवान (क्षत्रिय) ने, एक तीन वर्ष की नादान मासूम दूध मुही बच्ची पर बलात्कार (जिना विल् जन्न) किया, घोर ब्रण, किमी किसी तरह, टांका बगौरा दे कर, डाक्टरो ने अच्छा किया, जान बच गई, मगर इस राक्षस मुज्रिम को सिर्फ पांच बर्स की कैद हुई, जब शायद दायमुल्-हब्स (हमेशा के लिये 'काला पानी') की सज़ा होनी चाहती थी ।

इन दोनो मामिलों के कुछ ही दिनो बाद, एक माठ बर्स के (ब्राह्मण) नर-पशु ने, एक नौ-बर्स की बालिका पर बलात्कार किया, और केवल तीन बर्स कारावास का दंड पाया, इस मामिले को, रिश्तत बगौरा दे ले कर, टवा देने की भी कोशिश की गई; पर बात ज़ाहिर हो गई, और पुलिस का एक आदमी थोड़े दिनो के लिये मुअत्तल भी हुआ, जो गैर मामूली बात है ।

देश की वर्त्तमान दशा में, मिया इम के क्या किया जा सकता है, कि मनु का वाक्य याद करके, जगदात्मा अंतरात्मा के आगे सिर झुका कर प्रार्थना की जाय, कि श्री राजकृष्ण के जैसे मनुष्य, अपराध-पीडितों की सहायता करने वाले, और घोर अपराधियों को दंड दिलाने का यत्न कर के समाज के आचार की शोधन की चिन्ता करने वाले, अधिक संख्या में उत्पन्न हों, और शामकों को, नीच और दूषित बुद्धि के ब्याप्त में, त्रिवेकिनी बुद्धि मिले; और समग्र जनता का ध्यान ऐसी बटनाओं की

ओर, आंर उन को रोवने के कर्त्तव्य धर्म की ओर, पुन पुन दिलाया जाय, और अधिकारियों की कर्त्तव्य-विमुग्धता का उद्घाटन किया जाय, और इस कर्त्तव्य के लिये, नगर नगर मे, सर्वजनीन हृदय वाले सज्जन, समितिया बनावै ।

अदृष्ट्यान् दृष्टयन् राजा, दृढ्याश् च एव-अपि-अदंढयन्,
अयशो महद्-आप्नोति, नरक चाऽधिगच्छति, (मनु),
(पापानि पापिना, यस्माद्, अस्य राज्ये तु, भूरिश
विपर्यन्ते, विनश्यति शिष्टा, राष्ट्र च नश्यति ।)

जो राजा दृढनीय को दृष्ट न दे, और अ दृढनीय को दृढ दे, वह अपने को और अपने नारे राज्य को नरक मे गिराता है, क्यों कि पापी उस के राज्य मे बढ़ते है, गटाचारी घटते है और थोटे ही दिनों मे, नारी समाज-व्यवस्था बिगड जाने से राज्य नष्ट भ्रष्ट होता जाता है ।

भारत मे राजस्मचारियों तथा साधारण प्रजाजनो की दशा

कुछ अपना निजी अनुभव यहाँ लिख देना अनुचित न होगा । सन् १८९० से १८९९ ई० तक, मैं ब्रिटिश-भारत गवर्नमेन्ट वा सयुक्त प्रान्त मे नौकर रहा, इस के बाद मैं ने इस्तीफा दे दिया, १८९९ से १९१४ तक सेट्रल हिन्दू कालिज, बनारस वा अर्धतनिक मंत्री (सेक्रेटरी) रहा, उस सन्धा के ओर उस की शाखा प्रशाखा, लटको के स्कूल, लटकियों के स्कूल रणगीर संस्कृत पाठशाला, छात्रावास (बोर्डिंग हाउस) आदि के आरम्भण, र्धन, पोषण आदि मे, और इस कार्य के लिये 'ब्रिटिश' भारत और 'भारतीय' भारत (देंशी रियासतो) मे, पुण्य शोक धी ऐनी विमेंट के, तथा अन्य बन्धुओं और मित्रों के, साथ परिभ्रमण और परिभ्रमण करता रहा, इस के पश्चात्, १९१५ से वार्नी विश्वविद्यालय वा, और १९२१ से श्री दिवप्रसाद गुप्त जी के दान से आरम्भ किये और महात्मा गांधी के हाथ से खोले हुए वार्नी विद्यापीठ वा, कुछ वर्षों तक सचिव, सहायक, और बाद मे तदन्व्य गुन-चित्तक आज तक, रहा हूँ । १९२३

से १९२५ तक, कागी के म्युनिसिपल बोर्ड का 'चेयरमैन' रहा, और लडके लडकियों के म्युनिसिपल स्कूलों को देखता सुनता रहा। डिप्टी मजिस्ट्रेट की हैसियत से, ताजीरात-हिद (भारतीय ढढ-विधान, 'इटियन पीनल कोड') में लिखित बहुत प्रकार के अपराधों की तहकीकात, मुज को, डेपुटी मजिस्ट्रेट की हैसियत से करनी पड़ी। इस लिये मुझे मालूम है कि सर्कारी नौकरों में भी, तथा प्रजा जनो में भी, शासकों और शासितों दोनों में, एवं अध्यापकों और अध्यापितों दोनों में, जमाना भी गुनाना भी रिश्तत लेना देना, तथा बलात्कार से भी, डरा धमका के भी, प्रलोभन आश्वासन विश्वासन कर, फुसला कर, धोखा दे कर, प्रेम प्रीति दिखा बढा कर के भी, उपस्थ-सम्बन्धी अनाचार दुराचार और घोर अपराध भी होते रहते हैं। इन में से अधिकांश, विविध हेतुओं से, 'छोपो, तोपो, गोपो,' हो जाते हैं, और, भीतर भीतर, समाज के चित्तों और शरीरों में जहर फैलाते रहते हैं, अत्पात्र, अदालतों में, ('अदल', न्याय, का स्थान, 'न्यायालय' का नाम तो है, न्याय का काम कम) कचहरियों में, पहुचते हैं, और अखबारों में चर्चा पाते हैं; उम अत्पात्र में से भी कुछ ही मामिलों में अपराध सिद्ध होता है, और 'न्यायपति' 'न्यायाधीश', 'मुजविज', 'हाकिम' 'मजिस्ट्रेट', 'जज' की निजी प्रकृति और रुचि और भाचार-विचार के अनुसार अपराधी दंड पाता है। यह, भारत देश, भारतीय समाज, की, इस युग (जमाने) में, दुर् अवस्था अ-व्यवस्था है।

पाश्चात्य देशों की दशा

यूरोप अमेरिका की, उपमध्य-मध्य-जीवनांश ('सेन्सुअल लाइफ') की दशा का हाल पहिले कुछ लिखा जा चुका है। जैसे अपने निजी अनुभव की चर्चा ऊपर किया, वैसे एक मित्र के निजी अनुभव को जो उन को बर्ता हुआ, (मैं भारत से बाहर नहीं घूम सका हूँ), यहाँ लिख देता हूँ। "अमिदं विदुषां अनादिलं, सुदृढा च स्पृहा च पश्यतां"

(नैपथ) कुट अपनी आख, अपने हृदय से, कुछ अन्य आस मित्रों की आख और हृदय से, देख कर दुनिया का हाल जाना जाता है। ये मित्र, भारत के गिने चुने, 'हाइसोटों के ऊँचे पहुँचे हुए उन 'एटवोवेटों' में एक है जिन की साजाना अ.मदनी तीन चार लाख रुपये तक की लगी जाती है, उमर भी इन की मुज से आठ दस वर्ष ही कम है, नाम करने का काम नहीं। पिता और ज्येष्ठ पुत्र साथ ही त्रिलोचन यात्रा को गये, ज व देश की राजधानी महा नगरी "पेरिस" में तथा ब्रिटेन देश की राजधानी महत्तर नगरी 'लंदन' में थिएटर सैनिमा का तमासा देख कर रात में बाहर निकले, बुल-खी के ऐसे अच्छे साफ कपड़े पहिने एक रू ने एक जोर से पिता की एक गॉह, दमरी आर से पुत्र की दमरी गॉह, धीरे से खीच कर दान में फुमकी क्रिया, "मेरे साथ चलिये, रात रहिये", जान लुटा कर भागे। बुल-ग्रध के वेश में वेस्त्राण विचरती है, पढ़े की प्रथा न होने से, 'बुल-खियों' में भी व्यभिचार वेपर्द होता है, भारत में, पढ़े की जग में होता है। वास्व्यायन काम-सूत्र में राजाओं के और उन के रनिवानों अवरोधो के व्यभिचारों का वर्णन किया है। पजाबी श्री क० ए० गोबा की दो पुस्तकें, दस पट्टा पर्यं हुए छपी, 'अकल सैम (शैम)' और 'दि पैंग-लोजी थाफ प्रिसेज' नाम की। 'अकल सैम', यु स्टे अमेरिका-निवानों का, हास्य और रनेह मिश्रित उप-नाम हो रहा है, जैसे ब्रिटेन-निवानों का, 'टामी ग्रेकिंस', और फ्रान्स-निवानों का, 'जैक् वान-हाम', 'शैम' का अर्थ है, 'दाग्भिक'। मिन् मेयो नाम की एव यू स्टे अमेरिका की ने 'मदर इलिया' नाम की एक पुस्तिका इन दो पुस्तकों के पहिले छपा था, केवल-दोषज्ञ-पतिता, दोष-ग्राहिणी दृषित-चित्ता हेतिका दन कर भारत जनता की जुरार्यों ही दिखाने हुए। (यह भी कहा जाता है कि भारत जनता की स्वराज्य के लिये अयोग्यता दिखाने को, किन्हीं दमनों की प्रेरणा महायता से, 'प्रचारार्थ' 'प्रोपैगैण्डा' के लिये), उम ने यह पुस्तक छपा। उम के उत्तर में 'अकल शैम' पुस्तक लपी, इन में ए स्टे अ की

जनता का दोषोद्घाटन वैसा ही किया गया है। दूसरी पुस्तक में भारत के राजा महाराजों नवाबों के दुराचारों, भ्रष्टाचारों, घोर अत्याचारों, प्रजापीडनों का रूप अंशतः दिखाया है। प्रायः पचास वर्ष हुए होंगे, एक 'महाराजा' ने 'दि डायरी आफ ए महाराजा' नाम की पुस्तक अंग्रेजी में स्वयं लिख कर, किसी पश्चात्ताप के वश, छापी थी, उसमें स्पष्ट लिखा था कि, 'घोर से घोर भी ऐसा कोई महापातक नहीं जो हम महाराजों ने न किया हो वा ज़ करते हों'। इंदौर, अलवर, नाभा आदि के राजा महाराजा, इधर बीस पचीस वर्ष के भीतर, गदियों से उतारे गये, उन के निकाले जाने के कारण सब को मालुम है, खुले हुए हैं; नाभा के राजा का, और उस समय के पटियाला के महाराजा का, परस्पर घोर संघर्ष हुआ था, पटियाला पर ब्रिटिश गवर्नमेंट ने प्रकट कोप किन्हीं कारणों से नहीं किया; पर एरु प्रजा स्नेही सज्जन ने, अंग्रेजी में, एक बड़ा ग्रन्थ का ग्रन्थ, मयूत सहित, चित्र सहित, छाप दिया, इत्यादि। सब देश सब काल में यही हाल रहा; कभी कम, कभी ज्यादा। कहाँ तक कहा लिखा जाय; जैसा ऊपर कहा गया, जहाँ कहीं भी ऊपर की अच्छी चमकती शोभना त्वचा छीली जाय, वहाँ भीतर बीभत्स रक्त, मांस, वसा निकल पड़ती है। पर हाँ, त्वचा का सौंदर्य लावण्य भी एक वस्तु है ही, उस को भी नहीं भूल सकते। यदि दोष है, तो गुण भी हैं; 'साय तो पठताय, न साय तो पठताय', तो 'कम साय और गम साय, तत्र देश में माना जाय'।

अपराधों के दंडों की चार मुख्य राशियाँ—'चातुरद्वयम्'

दंड के विषय में भगवान् मनु की आज्ञा, उसी सर्व-व्यापक सर्व-संग्राहक सर्व-नियामक सर्व-समन्वायक सर्व-उपदेशक सर्व-मर्यादक अत्यात्मनाम्न के अनुसार, जिस के सिद्धान्तों पर कर्मणा चातुरर्ण्य और वयसा चानुगधर्म्य प्रतिष्ठित हैं, दंडों के भी, सत्त्व-रजस्-तमो-अत्यक्त गुणों के अनुकूल, चार मुख्य प्रकारों की सूचना की है, (अति तामस्य) अयम पशु-व्रृत्ति और पाशव घोर साहसों अपराधों के लिये, त्रिविध प्रकार

के शारीर दड, छेदन, भेदन, कर्त्तन, ताडन आदि, लोभी (तामस) प्रकृति और अपराधो के लिये, धन दड (जुमाने) उद्धत (राजस) के भी, कुछ प्रकार के उक्त दोनो, तथा कारावास मे बन्धन, सपरिश्रम, ('रिगरस् इम्प्रिजनमेंट', 'कैदि-ग-मशक्त), दासता आदि, (कुछ सार्विक) मृदु स्वभाव के लिये, जिन से, ऐसे ही किन्नी विशेष कारण से, अचानक भूल से, सहसा क्रोध सहसा काम से, जनित अपराध हो गया हो, जो पश्चात्ताप और प्रव्यायन करता हो, अरने किये पर शर्माता लजाता हो, और प्रायश्चित्त करने को तयार हो, उस के लिये तीन, पाच, सात, पद्रह, इक्कीस दिन का उपवास, चाट्टायण, कुच्छू सातपन आदि, (जो भी, प्राद रहै, सरल नहीं है, शरीर को और चित्त को बहुत सताप पहुचाते हैं, तथा भविष्य के लिये सदाचार मे निष्ठित और शुद्ध भी बनाते हैं), सूचित, विहित, उचित है ।

'तृतीया प्रवृत्ति'

ऊपर कहा कि प्रेम प्रीति दिखा बटा कर, आदरासन विश्वासन प्रलोभन दे कर, भी अनाचार होते है , स्त्री-पुरुष के बीच भी, पुरुष-पुरुष और स्त्री-स्त्री के बीच भी । यदि स्त्री-पुरुष दोनो वय प्राप्त वयस्थ है, अदिवारित है, और परस्पर, जान बूझ कर, प्रीति से आगे चलकर 'रति' 'सुरत' भी किये है, तो प्राय किसी भी देश मे, भारत मे भी, 'कानून' से, उन मे से किन्नी वा दड नहीं होता, सामाजिक बहिष्कार 'जात बाहर' आदि की कथा न्यारी, यह तो जहा जैसी आचार-सम्बन्धी एवा कभी हो, फौली हो, वैसा होता है । पुरुष-पुरुष मैथुन, वा पशु के साथ (वि-गोनि) स्त्री वा पुरुष के मैथुन, वा दड, कानून, अस्मर देशो मे अद्य तक विहित है । परंतु, पुरुष-पुरुष मे, यदि प्रेमपूर्वक, घनिष्ट सख्य और स्नेह के साथ, न वेधत बहिरंग (स्पर्श मात्र वा हस्त-मैथुन आदि) अपि तु (अ-गोनि) अतरंग मैथुन भी हो (गुदा, शुभ्र, आदि से) तब पश्चिम मे तो यही एवा अधिकाधिक यह रही है कि शान्त्य दानि

की ओर से, तथा समाज की ओर से, इस की उपेक्षा ही की जाय, दंड न किया जाय। वैज्ञानिक दृष्टि से यह जाना गया, और माना जा रहा है, कि ऐसी एक 'होमो-सेक्सुल' 'इंटर्मीडियेट सेक्स' प्रकृति ही होती है; और जब त्रैवी महाप्रकृति ने उन का भी रूप धारण किया है, तो उन को भी अपने स्वभाव के अनुकूल जीवन-निर्वाह करने देना चाहिये; इस शर्त में कि किन्हीं दृमरो को, जो साधारण प्रकृति के हों, हठेन इस 'अप्रकृतिक' प्रकार (ऐव-नार्मल, अमाधारण-प्रकृति) की ओर खींचा न जाय। पाश्चात्य देशों में, 'ट्रैम्प', 'होबोज़', 'ऐपाश', स्थिर गृह-रहित ब्राह्मणों (नटों कंजरो) के ऐसे भ्रमने वालों में भी, तथा शिष्ट सभ्य का रूप रखनेवालों में भी, तथा, मरस' 'नन्स' 'स्टुडेन्ट्स' में भी, तथा फोजी विपालियों में भी, ऐसे अमाधारण प्रकृति वाले जीव कुछ होते हैं। बेश-वारियों, ब्रैरागी-उदायियों, 'साधु-मडलियों', विद्यार्थियों, शिष्ट सभ्य मयाने जाचों में, भारत में भी ऐसे होते हैं। पूर्व पश्चिम दोनों में, इन वर्गों में, केवल अमाधारण-प्रकृति वाले थोड़े, तो पापिष्ठ प्रकृति वाले बहुतेरे होते हैं। काम-सूत्र के एक अधिकरण में 'तृतीया प्रकृति' की चर्चा की है, तथा 'औपरिष्टक' (सुख) मैथुन और गुदा-मैथुन की, संस्कृत में, पुरयधत् स्त्री को 'पोटा', और सविन पुरय को 'भ्रुकुंम' कहते हैं। ऐसे शब्दों का भाग्य, नये पाश्चात्य विज्ञान के द्वारा ही अब लिखा जा सकता है; इन सब विषयों पर प्राचीन काल में, संस्कृत में, विस्तीर्ण ग्रन्थ थे; इस की सूचना वास्पायन के उपलब्ध काम-सूत्र में किया है; पर अब वे गुप्त लुप्त हो रहे हैं।

जिन मित्र मज्जन के, परिम्य और लंदन की अभागिनी रूपार्जीवाओं के व्यवहार के, अनुभव का हाल ऊपर लिखा, उन में, दृमरी मुलाक़ात में, यह भी मुना; सुगदावाट के पास नवाव रामपुर की राजधानी रामपुर नगर में वे द्वितीया राम में गये, एक ऊँच अरुमर के यहां टिके, एक मुद्रदमें की पेगी और कारंवाट्ट देवी; 'माल' की 'चोरी' का मामिला

था, मालूम हुआ कि 'माल' का मानी—एक पुरुष का रक्खा हुआ, 'विवाहिता-स्त्री' के ऐमा, एक 'माशक', और 'चोरी' का अर्थ यह कि उस को कोई दूसरा आदमी बहका कर 'निकाल' ले गया था, रामपुर रिमान्त में, यह 'रखना' जुर्म नहीं था, बहका कर निकाल भगाना जुर्म था, जैसे अंग्रेजी भारत में विवाहिता स्त्री को । यह घटना प्रायः दीस पच्चीस वर्ष पहिले की है । इस के बाद, रामपुर में दंडविधान कुछ बहला गया या नहीं, यह दर्यापत और मालूम करने का अवसर मुझे नहीं हुआ । 'सिपाही युद्ध १८५७-८ ई० के बाद, अवध में कर्नल करी कमिश्नर रहे ; फौजदारी मुकदमों का फैसला भी करते रहे, अंग्रेजी गवर्नमेंट के बनाये इंडियन पीनल कोड' के अनुसार इस दंड-विधान पर एक शरह भी उन्होंने छपवाई, उस में ऐसे अपराधों की दृष्टायत की चर्चा की है, नवग्री में, यह कर्म, अपराध नहीं समझे जाते थे । 'पीनल कोड' में इस को 'अन-नैचुरल्-आफेन्स', 'जुर्म खिलाफ घजा फित्री', 'अप्राकृतिक अपराध', कहा है । एक 'माशक' के लिये, दो 'अशिकों' में, लाठी छुरे चलने और कतल तक हो जाने के मामिले, अंग्रेजी अमलदारी की फौजदारी अदालतों में, कभी कभी अते ही रहते हैं, मुझे, मेनपुरी जिले में, १८९४-५ ई० में कुछ ऐसों की तहकीकात नजिस्ट्री हंभियत में कर के, मिशन जज की कचहरी में भेजना पटा था । 'वाइरल' (यहूदी 'तौरंत) में खिया कि, चलन प्रार्धान समय में 'सोटोम' नाम का नगर, इस जुर्म की बहुत बल के कारण, वैदी बाप से ध्वस्त होगया, सब जाव फापाण हो गये । अर्थात् नगण मूर्तों का लब्दा पक्षाघात में भर गये, जसे प्राणदी बधामे गंतमवे नाप में उन की पत्नी 'अत्त्या ध्यनिवारिणी' प धर' हो गई । अंग्रेजी के शब्द 'सोटोम' का मूल यही वाइरल की कथा है । इत्याना विधान में एष्य मानुषितमें दो उन के 'दहित' में 'गुणम' 'गिल्मा' मिलते हैं (जसे हिंदुओं को अत्त्या) इत्यादि । एम सब में विहित होता है कि नना देरी कालों में (दर्श-

मान युग में ठीक ही 'अप्राकृतिक' कहलाती) 'तृतीया प्रकृति' कम बेश होती रही है। वानरों में प्रत्यक्ष देख पड़ती है।

भारत के अधःपात का एक प्रधान कारण

अपने ही किये जिन महापातकों के हेतु से भारत-जनता, भारत-धर्म, भारत-देश, का ऐसा अधःपात हुआ, और अधिकाधिक होता जा रहा है, उन में यह दाक्षिण व्यवसाय, अवला-यातना का, तथा अन्य प्रकारों से भी बहुतेरा अपमान और पीडन, स्त्रियों का, एक प्रधान महापातक है, जिस के कारण यह देश नितान्त पराधीन, परायों की जूतियों के तले, पड़ा हुआ है; छटपटाता है, पर कुछ भी कर नहीं सकता, अत्यन्त विवश है; क्योंकि अपना आचरण, अपना 'स्व'-भाव, नहीं शोधता, प्रत्येक मनुष्य, प्रत्येक टल, प्रत्येक जात, प्रत्येक पन्थ, दूमरों को ही बुरा कहता है, सब दुःखों के लिये दोष देता है, और अपने को सर्वथा भला और गुणमय मानता बखानता है।

राजन्, सर्पपमात्राणि परच्छिद्राणि पश्यसि ;
 आत्मनो विल्वमात्राणि पश्यन् अपि न पश्यसि ।
 यत्र नार्यन्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः ;
 यत्र-एतामन्तु न पूज्यन्ते, सर्वासूत्राऽफलाः क्रियाः ।
 शोचन्ति जामयो यत्र, विनश्यति-आशु तत्कुलं ;
 यत्र-एतामन्तु न शोचति, वर्धते तद्दृष्टि सर्वदा ।
 जामयो यानि गेहानि शपन्ति-अ-प्रतिपूजिताः ;
 तानि कृ-या-हत्तानि-इव विनश्यन्ति समन्ततः ।
 तन्माद्गुणाः सदा पूज्याः, भूषणाऽच्छादनाऽशनैः ,
 भूतिशामेद् नरैर् नित्यं, मन्त्राण्यु उन्मवेपु च ।
 मनुष्यो भार्यया भर्ता, भर्ता भार्या तथा-एव च ,
 यस्मिन् एव कुले नित्यं, कल्याणं तत्र वै ध्रुवं ।

समों में छोटे छिद्र दूमरों के देखने हों; बेल में बड़े छिद्र

अपने नहीं देखते हो। जिस कुल, परिवार, वंश, समाज में, स्त्रियों का अनादर अपमान किया जाय, स्त्रियों को पीटा दी जाय, जिस को घे रोती विलपती सिम्कती स्त्रियाँ जाएँ, वह कृत्या (कोमना, 'कर्स', मानस-अस्त्र) से विद्युत् विजली से मारे हुए के ऐसा, सद्य नष्ट हो जाता है।

घोर दानिकारक जोये नारे

विना 'स्व'-कीय 'स्व'-भाव शुद्ध किये 'स्व-राज' 'स्व-राज' का थोथा शोर करना, अर्थशून्य व्यर्थ अपार्थ अनर्थ 'नारे (घोष, आक्रन्द, पुकार) लगाना चिल्लाना, नितान्त मूर्खता है और अधिक पराधीनता और दुःखो का हेतु है। जब 'स्व-राज्य' के 'स्व' का ठीक अर्थ जनता जान लेगी कि क्षुद्र-'स्व'-अर्थ-(स्वार्थ-) कामी नहीं, राजस-तामस-कामाऽत्मक अधम-'स्व'-वाले नहीं, पर-अर्थ-कामी सर्वजनीन-हित-कामी, सात्त्विक-कामाऽत्मक निस्स्वार्थी परार्थी उत्तम-'स्व'-वाले, लोक हितैषी, विद्वान्, अनुभवी, परिपक्व धयस् और बुद्धि के, समाज के सब अंगों के अच्छे और जरूरी पेशों के यथोचित पोषण की नीयत रखते हुए, और सच्चे वर्णाश्रम धर्म के द्वारा समग्र समाज की उत्तम सु-व्यवस्था करने का उपाय भली भाँति सोचे विचारें और जाने हुए मनुष्यों का राज्य ही मन्त्रा 'स्व'-राज्य है, क्योंकि हम सर्वजनीन हित के साधने का उपाय सत्य-वर्ण-आश्रम-धर्म-रूपिणी समाज-व्यवस्था ही है, जब ऐसा होगा, तब ही जनता का 'स्व-राज्य' दृष्ट या घोषण करना म्नाऽर्थ होगा, और कृताऽर्थ भी होगा, अन्यथा नहीं। विवेक-पूर्वक, अल्प-स्व-अर्थी स्वार्थी 'काम' का नियमन, सीमित-परण—यह, हम ननु-मार्ग का पहिला पद (कदम) है। यदि सब लोग अपने दोष और पराये गुण अधिग्रहेंगे अथवा कमसे कम अपने भी और दूसरों के भी गुण भी और दोष भी देखें, तो सब दलह शांत हो जाय, नन्द्युग का राज्य हो जाय, कलियुग भाग जाय। अपने तो गुण ही, दूसरों के दोष ही, सब लोग देखेंगे हैं, इसी से दलह का उद्रेक और कलि रु। नान्द्रात्य हो रहा है। अग्नेज, जर्मन को जर्मन

ब्रिटेन आदि पाश्चात्य देशों की दशा

सन् १९४२ में, ब्रिटेन के स्वास्थ्य-विभाग के एक बहुत ऊँचे अधिकारी ने, जनता को सावधान करने के लिये, अपने विभाग के कार्य की कठिनता के उल्लेख की आड़ में, यह चेतावनी दी कि ब्रिटेन में, और विशेषतः लंदन महानगर में, एक नया संकट बढ़ गया है; अविवाह्यता युवतियों में 'वेनीरियल डिजीज', गुह्येन्द्रिय-सम्बन्धी रोग, की बहुत वृद्धि हो गई है, क्योंकि वे, युद्ध में ब्रिटेन की सहायता करने के लिये अमेरिका से आये हुए सैनिकों के साथ, निःशंक होकर 'अतिथि सत्कार' के भाव से, उनका मन प्रसन्न रखने के लिये, स्वच्छंद विचरती हैं और सिनेमा गृहों में तथा अन्य मन-बहलाव के स्थानों में घूमती फिरती हैं। अमेरिका से आये हुए सैनिकों पर, ध्वनि से, दोष मढ़ा गया; पर ब्रिटेन की स्त्रियों के चित्त की दशा का भी प्रदर्शन उसी

अंग्रेज को, जापानी, चीनी को; चीनी, जापानी को; रूसी, जर्मन को; जर्मन, रूसी को; अंग्रेज, रूसी को; रूसी, अंग्रेज को, हिन्दू, मुसल्मान को, मुसल्मान, हिन्दू को; हर एक, दूसरे ही को बुरा समझता है और पुकारता ललकारता है, जगत् में शांति, अहिंसा, और सत्य का राज, सत्ययुग, कैसे हो ? यदि, मारा-मारी करने के पगल, सब लोग मिल कर शांतिमार्ग से सलाह करें, अपने-अपने काम-जीव को दबावें, अपने दोष को भी देखें, दूसरे के गुण को भी देखें, एक दूसरे की जरूरतों को समझें, और उन को मुनासिब हद तक पूरा करने में मदद दें, तो ये सब झगड़े आम्नानी से निपट जाय। वही पुरानी वान, "आमपूर सर्वभूतेषु न पश्यति न. पंजिन"; पर वनता नहीं; प्रत्येक देश में, काम, जीव, लोभ, गर्व, द्वेषों की आँसों में ही शांति समूह और उन का अनुयायी अर्थविकांश मनुष्य-समुदाय उदना रहता है।

ध्वनि से होता है। स्वयं ब्रिटेन के सैनिक, जो युद्धकाल में, अपने देश में तथा अन्य देशों में ऐसी ही कर्तव्य करते रहे हैं, उसका भी इन्हीं प्रकारों का वर्णन, स्वयं अंग्रेजी ग्रन्थों में मिलता है; तथा भारतीय और अन्य-देशीय सैनिकों का भी युद्धकाल में सदा से यही हाल रहा है; 'वीर्यमद' का तांडव, हत्या, स्त्रियों पर बलात्कार, लूट, ध्वंसन, सभी प्रकारों से, साथ ही साथ, होता है। योगभाष्य में, "वितर्क-वाधने प्रतिपक्ष-भावनं" (सूत्र २-३३) पर, वितर्कों का रूप लिखा है—'वैरी को मार डालूंगा, इस कार्य के लिये झूठ भी बोलूंगा, इस का धन दौलत सब लूट लूंगा, इस की स्त्रियों से व्यवसाय (मैथुन) करूंगा, इसके माल-मत्ता का मालिक बन जाऊंगा'। शहरों और ग्रामों में पद पद पर देख सुन पड़ता है कि अमद्द मनुष्य आपस में क्रोध से लड़ते हैं, तो मार पीट के साथ साथ एक दूसरे को मा बहिन बेटी की और अ-योनि-मैथुन की गाली भी देते जाते हैं, तथा ऐसी स्त्रियां भी जब लड़ती हैं, तब एक दूसरे को अश्लील शब्दों में तरत तरत के व्यभिचार के और वि-योनि मैथुन के दोष भी लगाती जाती हैं। 'उपस्थीय' काम के विकारों का, उन से उत्पन्न अति विचित्र, अति अप्राकृतिक, अस्वाभाविक क्रियाओं का, घोर अपराधों, पापों, रोगों का, हत्याओं, विट-वृत्तियों, वेद्यों-वृत्तियों, पुरुष-पुरुष मैथुनों, स्त्री-स्त्री मैथुनों, मनुष्य पशु मैथुनों का, राजाओं,

१ ऊपर पृ० २५५ पर चेतावनी दी जा चुकी है, याद रहे कि इन सब धर्म विरुद्ध दुष्कर्मों की, अ-योनि-मैथुन (मुख में या गुदा स्थान में), वि-योनि-मैथुन (नर-मादा पशुओं के साथ) सम-उपस्थ-मैथुन (अंग्रेजों में 'होमो-सेक्सुएलिटी'), अर्थात् स्त्री-स्त्री के, पुरुष-पुरुष के, मैथुन), आदि की चर्चा काम-शास्त्र में की है, और स्मृतियों में इन के लिये, अपराधों के

अनुरूप, छोटे-बड़े प्रायश्चित और दंड भी विहित हैं। जो लोग इसकी ओर थोड़ा भी ध्यान देंगे, उनको तुरत पता लग जायगा कि ऐसे अनाचार कितने फैले हुए हैं; और बहुतेरे सयानो प्रौढ़ों को मालूम भी है ही, यद्यपि जल्दी इसकी चर्चा सब के सामने नहीं करते; जो स्वयं भले हैं, वे शर्मा-शर्मा से, 'लोक-लाज' से; जो स्वयं दुष्ट हैं, वे तो छिपाकर अपना पाप बटाते रहते हैं, और मन में भले आदमियों का क्रूर अपहास भी करते हैं, और पकड़े जाने के भय से भीत भी रहते हैं। भारतीय तथा अन्य देशीय सेनाओं के अफसर और डाक्टर अच्छी तरह से जानते हैं कि सिपाहियों में, जो अपने कलत्र पुत्र आदि से, वा सब प्रकार की स्त्रियों से, स्वकीया, परकीया, वा चेश्याओं से, अलग पड गये हैं, इस प्रकार के अयोनि वियोनि मैथुन बहुत होते हैं। यहाँ हाल, बड़े-बड़े यंत्रालयोकारखानो कर्मन्तो का है, जहाँ पुरुष ही पुरुष, वा स्त्री ही स्त्री, एकत्र होती हैं। यही हाल, अयोनि मैथुन का, स्कूलों कालिजों का और वहाँ के अध्यापकों का है; इसकी चर्चा, पहिले, १० २०८-२१६ पर, कुछ की जा चुकी है। यह सब दोष पूरब के भी पच्छिम के भी सभी देशों में, घोर घोरतर रूप से सदा रहे हैं, और बढ़ते जाते हैं। मानव-सभ्यता, 'सभा' व्यवस्था, सामाजिक वा सामूहिक जीवन, प्रकट जीवन, ('सिविलिजेशन', 'सोशल-स्ट्रक्चर', 'वे आफ कलेक्टिव आर सोशल लाइफ', 'पब्लिक लाइफ'), का रूप और प्रकार ज्यों ज्यों बदलता है, त्यों-त्यों उसके प्रभाव में, उसके साथ-साथ, वैयक्तिक और कौटुम्बिक जीवन और 'अप्रकट-जीवन' ('प्राइवेट लाइफ') का रूप और प्रकार अवश्य ही बदलता रहता है।

गुरु कुलों की प्रथा, और विद्यार्थी जीवन में ब्रह्मचर्य की महिमा, और आश्रम-व्यवस्था तिस काल और देश में व्याप्त थी, उस में इस प्रकार के अनाचार-दुराचार का संभव कम था। आज काल, बालक-बालिकाओं, युवा-युवतियों, के गृह-अध्ययन की चाल, जो बढ़ते वेग में चल रही है, उस में अविवाहित मैथुन, गर्भाधान, गर्भपातन, गोग-भोग, आत्म-हानन,

रानियो, मंत्रिगो, उच्चाधिकारियो, के व्यभिचारों का; उन के कामीय द्रोपों के कारण चक्रको पेटको (गुट्ट, 'कोटरी') के बनने का, जिन की चर्चा प्रायः साधारण 'भद्र' इतिहास लिखने वाले, या तो अज्ञान-वश, या अश्लीलता के अपयश के भय से, अपने लिखे इतिहासो मे नहीं करते, पर जिन के कारण, देश देश के इतिहास की गति मे बड़े बड़े परिवर्तन हो गये हैं, और हो रहे हैं, और

सहोद (गर्भेण-सह) विवहन, (अन्य से गर्भ रह जाने पर, छिपा कर, दूसरे से विवाह कर करा कर) पति-वचन. आदि, सामाजिक और वैयक्तिक जीवन को आधि-व्याधि-मय नितान्त भ्रष्ट कर रहे हैं, और सामूहिक घोर चित्त-विकार उत्पन्न कर के तीव्र कलहो महायुद्धों के कारण हो रहे हैं।

देश-देश मे, शासकों ने, सेनाओं के साथ, कभी वेश्याएँ रखने की, कभी व्याहुता स्त्रियाँ रखने की, तरह-तरह की आजमाइशें की, पर एक दुष्फल कुछ रका, तो दूसरे दुष्फल, अधिक तीक्ष्ण, उत्पन्न हो गये।

उपर, 'अप्राकृतिक', 'अस्वाभाविक', ('ऐव-नार्मल') आदि शब्द लिखे गये हैं। व्यापक 'सार्विक' 'सामूहिक' दृष्टि से तो महा-प्रकृति, पार-मात्मिक मूल और देवी प्रकृति, के बाहर कुछ हो ही नहीं सकता, पर देश-काल से अवच्छिन्न, परिमित, आपेक्षिक, ('रेलेटिव') स्पष्ट-ग्राहिणी व्यावहारिक दृष्टि से, 'प्राकृतिक', 'स्वाभाविक' ('नार्मल') का अर्थ इतना ही है, कि उस देश और काल मे, वह जीवन प्रकार, वह रहन-सहन, आचार-विचार, बोल-चाल, हुआ-सलाम, रीति-पुरप के परस्पर व्यवहार की मेट-मर्यादा, अधिकतर समाज मे प्रचलित और मान्य हें।

'उपस्थ' शब्द पुरप के लिंग, शिदन, मेट, मेहन, शेष, वा भी वाचक हैं, तथा स्त्री के लिंग, योनि, भग, नग्न मन्दिर, वा भी, योनि भी दोनों का, पर स्मृति यही है, कि 'लिंग पुरप चिह्न के लिये, 'योनि' स्त्री-लक्षण के लिये कहा जाता हें।

जिन का ठीक ठीक हाल जाने बिना, इतिहास की गति के पलटे समझ में नहीं आते, इन सब का गवेषण और वर्णन, इस विषय के पाश्चात्य गवेषकों ने बड़े परिश्रम से किया है, और बड़े बड़े बृहत्काय, पांच पांच, सात सात, दस दस, जिल्दों के आकर-ग्रन्थों में किया है। ऐसा करने के कारण, शुरू में, ऐसे लेखकों को बहुत कठिनाइयाँ और दुर्दशाएँ भी झेलनी पड़ी, और कच-हरियों से दंड भी सहना पड़ा, पर अंत में, जनता ने, तब पीछे 'जजों' प्राइविवाकों ने भी, पहिचाना, कि इन को दंड नहीं, आदर देना चाहिये; मनुष्य-जीवन के प्रधान अंग के शास्त्र की नीवी उन्होंने पुनः डाली है, भारतवर्ष के लुप्तप्राय प्राचीन विशाल काम-शास्त्रीय वाङ्मय का (जिस के कुछ ही बृहत्काय ग्रन्थों का नाम वात्स्यायन के उपलभ्यमान अतिस्वल्प 'कामसूत्र' के आरम्भ में लिया गया है) पुनः नये रूप में उज्जीवन किया है, ज्ञान विज्ञान बढ़ाया है, अंधेरे में प्रकाश किया है।

अब इस विषय पर, पश्चिम में, हज़ारों छोटे और मोटे ग्रन्थ निकल चुके हैं और निकलते जाते हैं, और प्रायः सभी राष्ट्रों में, एक एक, दो दो, वा अधिक, प्रतिष्ठित मासिक पत्र भी छपते रहते हैं; जैसे अन्य शास्त्रों के। पर मनुष्य-प्रकृति की हंढमयता के हेतु, नये ज्ञान विज्ञान का घोर दुरुपयोग भी बढ़ता जाता है। इन पाश्चात्य ग्रन्थों में, जो अति काम वा विषम काम से प्रेरित पापों का वर्णन मिलता है, उसको पढ़ कर, हृदय टहल जाता है; यह पृथ्वी नहीं, माझान् नरक है, यहाँ जान पड़ने लगता है; ऊपर का कोमल चमड़ा ज़ग सा छीलें, नी नीचे मल ही मल देख पड़ता है; स्त्री और पुरुष, परस्पर, जितना सनाते हैं, उस में अधिक यातना यमराज की दंतधानी में भी नहीं हो सकती है; आपात-नर्मणीय, देखने मात्र को ऊपर से चिकना, स्निग्ध, भीतर

नितांत मलमय, चित्त भी, शरीर भी, धारण करना नहीं अच्छा, छोड़ देना ही अच्छा, ऐसे वैराग्य के उत्कट भाव, मृदु-वेदी सुकुमार चित्त के जीव के भीतर उत्पन्न होते हैं। परंतु,

महामाया-प्रभावेण, मसार-स्थिति कारिणा ,

महामाया की पूर्वार्धरूप अविद्या देवी के प्रताप से, अथ च पगर्धरूप विद्या देवी की आज्ञा से,

अनासक्त. फले नित्य, कृत्य कर्म समाचर,

• (परेषा सेवनार्थाय, ऋणोद्धाराय चात्मन), (गी०)

फल की इच्छा आशा में मन खँटकाये बिना, कर्त्तव्य कर्म करो. दूसरों की सेवा सहायता कर के अपने देव-ऋषि-पितृ-ऋणों को चुकाने के लिये तथा दूसरों पर अपराध और दुष्कर्म कर के इस जन्म और पूर्वजन्म में काढे-ओढे ऋणों का, दूसरों के लिये दुःख उठा कर, मानो दंड भोग कर, निर्यातन निर्मोचन करो तथा वेदांत के इस सिद्धांत को याद कर के, कि सृष्टि में पुण्य और पाप की मात्राएं, अंततो गत्वा, कांटा-तौल तुल्य है, पुनः कार्य में लगना पड़ता है। अन्न से खाद, और खाद से अन्न. पैदा होते ही रहते हैं। संसार-चक्र का अर्थ ही यही है।

यु० स्टे० अमेरिका में इस समय (१९४३ ई० में) प्राय ५० वर्ष वयस् के वृद्ध, शारीरशास्त्र, प्राणिशास्त्र, सचेतनशास्त्र ('बायोलोजी' 'फिसियोलोजी') के एक अप्रग्रण्य विद्वान्, जोर नये नये आविष्कार करने वाले उपलब्ध, श्री अलेक्सिस फरेल नाम के विद्वान् विद्यमान हैं। आपने 'नांदल' पुस्तक, तथा अन्य राष्टों से भी धारणा की उपाधियां पाया है। सन् १९३७ में इन का एक ग्रन्थ, 'मेन—दि अनूतोन्' ('पुरुष—अज्ञान') छपा। बहुतेरे पाश्चात्य उत्कृष्ट विद्वानों के निदानों का हवाला देती हुई, तीन सौ पृष्ठ की इस पुस्तक की पुस्तक और चंगा-

वनी यही है, कि आधुनिक सभ्यतम मनुष्य अन्य बहुत विषयों को जानता है, पर 'अपने' को ही ठीक ठीक नहीं जानता, 'आपने' ('आत्मानं') को आप 'अज्ञात' है, और 'माडर्न सिविलिज़ेशन' ('नूतन पाश्चात्य शालीनता सभ्यता'), अधि-आत्म से अति विरक्ति और अधि-भूत में अति आसक्ति अनुरक्ति के हेतु, सारहीन, निस्सत्व, पोली, विनाशोन्मुख हो कर, अन्धकूप में गिरने जा रही है; तथा इस आसन्न विपत्ति से बचने का एकमात्र उपाय यही है कि, अधि-भूत की अति रुचि का नियमन, नियंत्रण, मर्यादन (सर्वथा उत्सादन नहीं) किया जाय; और अधि-आत्म की प्रसुप्त उच्छिन्नप्राय रुचि पुनः जगाई जाय। सो उन का, तथा सब देशों के सभी विचारशील, विवेकी, दूरदर्शी, शांतिप्रिय, अध्यात्म और अधिभूत का यथोचित समन्वय चाहने वाले सज्जनों का, यह भय सत्य हो ही गया; और १-९-१९३९ को यूरोप में, प्रजाविनाशी विश्व-युद्ध गुरु हो ही गया। साढ़े तीन वर्ष हो गये, एक ओर प्रजा की यमयातना, दूसरी ओर युद्ध की तीव्रता और उग्रता, बढ़ती ही जा रही है; कोई लक्षण समाप्ति के नहीं देख पड़ते। अपने भीतरी कलहों से छिन्न-भिन्न जीर्ण-शीर्ण इस अभागे भारतवर्ष में भी अन्धस्वार्थ, अन्धकलह, पराकाष्ठा का दम्भ, दैन्य, छल-कपट, मिथ्यावादिता, दगावार्ज़ी, परस्पर नितान्त अविश्वास, शंका, भय, चापलूसी, चर्च-ज़वानी, चाटुकारिता, का राज्य हो रहा है। पर, जैसे वृद्ध शरीर में, अनुभव से एक बुद्धि और प्राण की अवशिष्ट सूक्ष्म ज्योति मी. जग देवी की मखी सहचरी व्याधियों की मंडली के साथ साथ, अन्त तक कुछ न कुछ बनी रहती है, वैसे ही आत्म-विद्या, अध्यात्म-विद्या, योग-विद्या की कुछ थोड़ी सुसूक्ष्म स्वल्प प्रमा आमा अब भी जहां तहां भारत में बच रही है। ऐसे

भारतवर्ष में, पंद्रह वीस वर्ष से, यह भविष्य वाणी फैल रही है कि, घोर कष्टों के अनन्तर, संवत् २००० की समाप्ति (अप्रैल १९४४ ई०) के बाद, अस्सी वर्ष का एक बहुत छोटा सत्ययुग के ऐसा अवातर युग होगा । अस्तु, अनादि अनन्त काल और आकाश में जो कुछ हुआ, हो रहा है, होगा, वह सब ही "कामस्य विक्रीडितं", 'अकामस्य, सर्वकामस्य, महाकामस्य, निःकामस्य, मूलकामाधिपते. सर्वकामातीतस्य, देश-काल-क्रिया-रहितस्य अक्रियस्य, सर्वक्रियस्य, अविद्या-विद्या-मयस्य, सर्व-द्वन्द्व-गर्भस्य, सर्व-द्वन्द्व-ऽतीतस्य, लीला-कैवल्य-धारिणः, भगवतो जगदात्मनः परमात्मनः 'कामस्य लीलायितम्'।

महाभारत में पांडव-कौरवीय प्रजानाशक घोर 'महा-युद्ध' ('ग्रेट वार') के कारणों में (यमराज को अजीमांडव्य के शाप और पृथ्वी पर विदुर के रूप में जन्म के) रूपक से भा, और स्पष्ट शब्दों में भी, दो मुख्य कारण कहे हैं ।

आपूर्यत मही कृत्स्ना प्राणिभिर्वहुभि नृश,
अमुरा जज्ञिरे राज्ञा क्षेत्रेषु, (वाच. तथा),

कुछ वर्षों तक राजा धर्मात्मा हुए, प्रजा को सुख मिला; मैथुनीय काम की और मनुष्य संख्या की अति वृद्धि हुई, परस्पर संघर्ष जीवन संग्राम, घोर बल्लह, का बीज, अंशुण निकाल कर बाहर आया और बढ़ने लगा । दूसरी ओर, धर्मात्मा राजाओं के घरों में असुरों दैत्य-राक्षस-जीवों, ने जन्म लिया, अति वीर्य-मद, लोभ, क्रोध, मत्सर आदि के 'गुलाम'. और प्रजा के 'राजा'. संसार में दुःख भर गया. महाभारत युद्ध हुआ । मात्स्य-न्याय चला जैसे मछलियों. एक एक घेर में लारों अंडे देती हैं, फिर एक दूसरे को खा जाती हैं, वह हाल मनुष्यों का हुआ । वही हाल, आज समग्र मानव-जगत् का हो रहा है ।

काहे दुख संसार छयौ रे, काहे दुख संसार छयौ ?
 काम क्रोध मद लोभ मोह भय मत्सर कौ जब राज चलयौ,
 तव ही जग मे दुःख छयौ ।

प्रेम प्रीति मुस्क्यान विनोद रु हंसिवो स्वप्न भयौ,
 हाहाकार, परस्पर नाशन, चहुं दिसि आइ भयौ ।

ऊपर कहा कि प्रवर्तमान विश्व-युद्ध अधिकाधिक फैलता और जगत्-प्रमाथी होता गया है; यहां तक कि अब जल, स्थल, अनिल मे सर्वत्र व्याप्त हो गया है, कोई महा द्वीप या लघु द्वीप इस से बचा नहीं है, साक्षात् रक्तपात और मांस-कर्दम से, वा परम्परया, रण की सामग्री एकत्र करने के हेतु किये गये शोषण मोषण से । पुराणो के देवासुर संग्रामो को भी इस ने मात कर दिया, चारो ओर रुधिर की नदियां बह रही हैं, कोटियां मनुष्यों की शक्ति का, युद्ध के उपकरण, स्थल-यान, जल-यान, अन्तर्जल चरयान, वायु-यान, गोला, बारूद, 'बम', 'टंक', सौ सौ फुट तक लम्बी और बारह बारह हजार मन तक भारी तोपों, का, एक ओर बनाने मे; और दूसरी ओर बिगाड़ने, तोड़ने, फोड़ने, समुद्र और नदियों मे डुबाने मे; घोर अपव्यय हो रहा है; बड़ी बड़ी नगरियां, राजधानियां, बम-बर्षा अग्नि-बर्षा से ध्वस्त कर के, उजाड़ी और खंडहल और गाल के ढेर बनाई जा रही है; जहां जहां पेट्रोल, तेल वास्ट वा 'गेस' के विशाल संचयों (गोदामो, 'गो-डाउन', खज़ाना, गंज) मे आग लग जाती है. वहां वहां ढ़ज़ागें गज़ ऊंची आग की लपटें और कोस कोस ऊंचे ध्रुग के वादल उठते हैं, और बिजली की तड़क और गरज को अनि श्रुद्ध बना देने वाले धड़ाके विस्फोट होते हैं; दम दम. पंद्र पंद्र. बीस बीस, और तीस तीस कनोर रूपयों

की, वा इस से भी अधिक, लागत के' मुसाफिरी और जंगी जहाज़, जल के भीतर से 'टार्पीडो' अस्त्र की मार से, और वायुमंडल के भीतर से 'बम' अस्त्र के प्रहार से, आध आध घंटे में, हजारों मुसाफिरो, सिपाहियो, खलासियो, अपार अन्नादि सामग्रियो समेत डुबा दिये जाते हैं, लाखों मनुष्य, (न केवल युद्ध के पेशेवाले फौजी, बल्कि दूसरे पेशेवाले आदमी, अपने पेशे छोड़कर, मजदूरान् (अगत्या, बेवसी, विवशता से) सेना में भरती किये जाते हैं, और दो तीन महीने में आरम्भिक फौजी 'कवायद' सिखा कर युद्ध में झोंके जा रहे हैं। ये तो मृत्यु के मुख में सशस्त्र वन कर जाते ही हैं इन के अलावा, गांवों और शहरों में बाकी बचे, निःशस्त्र दूसरे पेशे करते हुए पुरुष, घर गिरस्ती का काम करती हुई स्त्रियाँ, स्कूलों में पढते खेलते लड़की लड़के भी, इन शहरों और गांवों पर की गई बमबर्षा, अग्निबर्षा, गोलीबर्षा, से हताहत हो रहे हैं जान खो रहे हैं, वा आमरण. सारी बाकी उम्र के लिये, अंधे, लंगड़े, लूले, बहिरं हस्तहीन, पादहीन, नासिकाहीन, बनाये जा रहे हैं। इस प्रकार से इस घोर काल के ताडव में, पचासों कोटि मनुष्यों

१ जापानी जल-सेना के एक अफसर, किनोआकी-मात्सुओ ने, जापान में, अपनी भाषा में, १९४० ई० में, एक ग्रन्थ उपादा, उम्मा अनुवाद, अंग्रेजी में, "हाउ जापान फ्रान्स टु विन्" नाम से, एज जापान-विद्रोही कोरिया-देशी पुस्तक बिल्सू-हान ने, यु० २४० अमेरिका में १९४० में उपादा, उसके पृ० ४० पर उपादा है कि ४५०००० (पैंतालीस हजार) टन (नारट लाव न) के जंगी जहाज वा मृत्यु नों मिलियन टन बरोर) टालर (दीन मिलियन पौट, वा तीस बरोर रुपया), और पैंतीस हजार टन के सुट बहिरं वा नात बरोर रुपया होता है।

की प्राणशक्ति का, साक्षात् वा परम्परया, दारुण दुर्व्यय दुष्प्रयोग हो रहा है; परम्परया भी, क्योंकि खेती-धारी पशु-पालन वाणिज्य आदि के व्यापारों में, मनुष्य जीवन की आवश्यकीय वा निकामीय वस्तुओं के उत्पादक कार्यों में, जो लगे हैं, उन के उत्पादित द्रव्यों का भी, अन्न-वस्त्र, फल-मेवा, गुड़-चीनी, घी-तेल, लकड़ी-कोयले, धातुओं के वर्तनों का, खनिज-पदार्थों का, ऊन-चमड़े का, औषध का, सभी का, गवर्मेंटों की आज्ञा-शक्ति से, युद्ध के बड़वानल में होम-हवन, सभी देशों में हो रहा है। इस हेतु से साधारण जनता को, एक ओर, आवश्यकीय वस्तुओं का घोर अभाव, नीचाक, प्रयाम, दुष्काल, अकाल, हो रहा है, दूसरी ओर, शासक शक्तियां, गवर्नमेंटें, सोना चांदी ताम्बा आदि धातुओं के सिक्कों को, उनके व्यवसाय व्यापार में सहायक होने के स्वाभाविक कार्य से हटा कर, बाज़ार से खींच कर, युद्ध-सम्वंधी युद्ध-सहायक कार्यों में लगा रही हैं; तीसरी ओर, इन सिक्कों के स्थान पर 'करेसी नोटों' के कागज़ी घोड़े, अपने छापामानों में यथेष्ट छाप छाप कर चौतरफ़ा दौड़ा रही हैं; चौथी ओर, सब प्रकार के कर, 'टिक्स', दिन दूने रात चांगूने करती जा रही हैं। पांचवीं ओर, गवर्नमेंट तो, इस शंका और भय ('सेन्स आफ इंसिफ़्यूरिटी') से कि भविष्य में युद्धोप-योगी किसी वस्तु की कमी न हो जाय, सब प्रकार के अन्न-वस्त्र-खनिज-तेल आदि द्रव्यों के लाखों करोड़ों मनो के विशाल भंडार ('होर्डिट'), अपने ही निर्णीत दामों पर खरीद खरीद कर, स्थान स्थान पर, जमा कर रही हैं, (और आटा वा अन्य खाद्य पदार्थों को, वर्षों आदि में खराब हो जाने पर, 'मुक्त मोल' बेच देती हैं); पर, उम्मी शंका और भय से भीत साधारण प्रजाजनो और दूकानदारों को, अपना निजी ही अन्न आदि का

संचय कर के अपने घरों दूकानों में रख लेने ('होर्डिङ्') के लिये, तथा रोजगी-पैसे का रोजगार ('मनी-चेंजर्स विज़िनेस') करने वालों को भी, छोटे छोटे संचयों के लिये भी नये नये विधान बनाकर कठिन कठिन कारावास और जुर्माने के दंड दे रही है, और 'राशनिङ्' (प्रत्येक मनुष्य प्रतिदिन के लिये इतने ही नियत निर्धारित हिसाब से, अन्न वस्त्र तेल आदि को एक घेर में खरीद सके, 'प्रियाम'), तथा 'प्राइस-कंट्रोल' (मूल्य-नियमन) तथा 'ट्रान्सपोर्ट-कंट्रोल' (एक स्थान से दूसरे स्थान को, अपने ही कुटुम्ब के उपयोग के वास्ते भी, वा तिजारती क्रय-विक्रय खरीद-फरोख्त के वासिते भी, लाने ले जाने के नियमन-नियंत्रण वा सर्वथा निषेध) के, नित्य बदलते नियम, प्रजा के चित्त में तीव्र उद्वेग, परीशानी, और किं-कर्त्तव्य-विमूढ़ता पैदा करने वाले, निकालती रहती है' । ऐसी अवस्था में, प्रजा

१ याद रहे कि इन सब प्रकारों की कार्रवाहियाँ, प्रजा के शोषण पीटन की, और राजाओं, नवायों, शासकों के स्वार्थ-साधन और स्वेच्छा-पूरण की, जब से इतिहास का पता चलता है तब से, पूरब के भी पच्छिम के भी देशों में सदा होती रही हैं, कभी कम, कभी ज्यादा, पर उन के नाम और रूप बदलते रहे हैं । प्रजा जनो, शासितो, में भी, परस्पर शोषण शोषण का, विविध रूपों में प्रब सदा होता रहा है, कभी थोड़ा, कभी बहुत । यदि पिछले जमानों के मुकाबिले (अपेक्षा से) अब कुछ भेद है तो शायद (स्यात्) इतना ही कि अब 'कायदे-वानून में जायज', 'ला-फुल-नेस', 'विधि-अनुमत' वी ऊपरी दम्भात्मक शिष्टता (तहजीब) अधिक दिग्याई जाती है । पहिले तो राजा नवाय बादशाह महाराजा लोग, पूरब में, और 'राबर्ट बैरन्स (लुटेरे 'शामक') आदि पच्छिम में, खुले अधखुले रूप से दस्तु-शोषक होते थे, पूरब में अब भी है, 'नागा-

के कष्ट का क्या कहना है? देश का साधारण दैनंदिन जीवन नितरां उलट-पलट गया है, अस्तव्यस्त और त्रासमय हो रहा है। सशस्त्रों को एक प्रकार का घोर कष्ट, तो निःशस्त्रों को दूसरे प्रकार का घोरतर कष्ट, पृथ्वीमात्र में भर रहा है; यह सब, सभी राष्ट्रों के शासकों के भी, और सामान्य प्रजा के भी, काम-क्रोध-लोभ-मोह-(भय)-मद-मत्सर के अति-आस्वादन से जनित महापातकों और कुनीतियों का फल है। जो अति तीव्र सुख की लालच करते हैं, उन को अति तीव्रतर दुःख भोगना पड़ता है।

ओं, 'उदासियों' 'बैरागियों', विविध-वेश-धारियों के झुंड के झुंड, सेना के ऐंसे, राजाश्रय पाकर, स्वयं जीवन निर्वाह कर, राजाओं का कोप बढ़ाते थे, और हैं। पच्छिम में, कोटिपतियों के 'फाडके' 'कानैरिड्', 'स्पेकुलेटिड्' के रोजगार का भी मर्म वही है जो 'होडिड्' का। 'इंति' के छ' प्रकार, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, चूहों, टिड्डियों पतंगों चिटियों के झुंड, के माघ, 'प्रन्यामन्न' अति पास रहते या यात्रा करते हुए छठ 'राजा' भी (जैमे 'दौरा' करते हुए 'हाकिम' लोग) गिने गये हैं। भर्तृहरि ने भी "विने नृपालाद भय", नरों के जो 'पालक' वे ही भय-दायक 'वालक', जो 'रक्षक' वे ही 'भक्षक' ! और भी पुराना श्लोक है,

नरपतिहितकर्ता द्वेष्यता याति लोके;

जनपदहितकारी द्विष्यते पार्थिवेन,

जो (प्रजा-द्रोही) राजा के मन की करता है, उस में प्रजा दंग करती है; जो प्रजा का भला चाहता है, उस को राजा अपना दुश्मन समझता है। जब काम-क्रोध-लोभ का नियमन, मजे धर्म में नहीं किया जाता, तब हमें ही उपद्रव उत्पन्न होने है; वर्तमान विश्व-युद्ध के कारण हमें ही है।

यत् तद् अग्रे अमृत इव, परिणामे विषोपम ,
 यत् तद् अग्रे विष इव, परिणामे-ऽमृतोपम ।
 धर्माऽनपेत कामोऽस्मि सेवेत् काम अनुद्धतः ।

(गीता, म० भा०)

जो आगे ज़हर जान पड़ता है, वह पीछे आवि-हयात होता है, जो पहिले अमृत मालूम होता है, वह पीछे विष हो जाता है ।

इस लिये, यदि दु.ख में कर्मा चाहो, तो कम सुख में संतोष करो, जितना काम-सुख, धर्म के, कानून के, अनुकूल हो, उतना ही भोगो, बहुत उद्धत हो कर, मद-माते (मद-मत्त, बद-मस्त) हो कर, अति हर्षित होकर, दुराचार व्यभिचार बलात्कार द्वारा 'कंदर्प' के दर्प की गुलामी मत करो ।

कोटियो नहीं, अरबो नहीं, अब खरबो रुपयो से सम्मित. कोटियों कोटि मनुष्यों की प्राणशक्ति और जीतोड़ परिश्रम का जो दारुण अपव्यय, सामरिक और वैनाशिक षायों में हो रहा है, उसके कारण, ब्रिटेन और यू. स्टे अमेरिका ऐसे महा धनाढ्य, रावण और कुबेर की भी समृद्धि को तिरस्कार करने वाले देशों की भी साधारण जनता को, तथा लक्षपतियों, करोड़-पतियों, बड़े भूमिपतियों (जमींदारों) को भी, दिन दिन घटती तंगी, खाने पहिरने के 'नीवाक' 'प्रयाम' से उटानी पड़ रही है'- पच्छिम के अरबगानों में छपी सूचनाओं से ऐसा अनुमान होता है. नितात पादाक्रान्त, पगधीन, परमुखाबलोकी, पररपर कलहाय-मान आभ्यंतर भेदों से छिन्न-भिन्न अभाग्य भारतवासियों की.

१ 'न अस्ति, न अस्ति, हम्भ पा, ऐय वा, अत्तादि, इति वाच्य वदा सर्वत्र ध्रूयते, तदा 'नीवाक' ('श्वेयर्निर्दि' , 'पेमिन), 'अत्तादि-दितरणस्य सकोचन, प्रष्ट यमन 'प्रयाम' ('वंदोत्') ।

वेग से प्रतिदिन वर्धमान सभी आवश्यकीय द्रव्यों की नितांत तंगी की कहानी क्या कही जाय? सब युध्यमान राष्ट्रों के शासकों को 'विजय' (विक्टरी) ही चाहिये, शांति और प्रजा का सुख, किसी को भी नहीं ! अहो माया-विडम्बना !

पश्चिम के ही विद्वानो ने गणना की है, कि यदि इस सब अपवीत दुर्वीत पौरुष शक्ति और महा परिश्रम की, (जिस में, फ़ौजी सामग्री बनाने वाले कारख़ानों के काम में विवश जोती हुई पचासों लाख स्त्रियों का प्राण-परिश्रम भी शामिल है, तुलना, रुपयों में की जाय, तो सब युध्यमान राष्ट्रों का खर्च जोड़ कर, प्रत्येक दिन का अपव्यय, सौ करोर रुपयों के बराबर होता है^१ । पृथ्वी-तल पर, इस समय, प्रायः साठ (६०) पृथक्-पृथक्, 'स्वतन्त्र' कहलाने वाले, तथा स्वतंत्रों के अधीन, राष्ट्र हैं। उन में से इकतीस (३१) एक पक्ष में हैं, और चार (४) दूसरे पक्ष में हैं; प्रथम पक्ष में इस समय (१९४३ के आरंभ में) प्रधान राष्ट्र चार (४) हैं, ब्रिटेन, युनाइटेड स्टेट्स् आफ़ अमेरिका, रूस, चीन ; बचे सत्ताईस (२७), इन चार के सहायक, वा उपनिवेश, वा अधीन (जैसे भारत) हैं, वा गन्तु-विजित (जैसे फ़्रांस, हालंड, बेल्जियम, नारवे, ग्रीस आदि महा-राष्ट्र वा मध्यम श्रेणी के राष्ट्र) हो गये हैं । इनके प्रति-पक्ष में प्रधान राष्ट्र तीन (३) हैं, जर्मनी, इटली, जापान; तथा इनके सहायक छोटे राष्ट्र कई हैं । यह सब प्राण और

^१ यह लिखने-लिखते, यू. स्टे. अमेरिका की राजधानी वाशिंगटन नगर में, ना० २० मार्च १९४३ ई० को सर्कारी द्वावर छपी गई है, कि अकैले यू. स्टे. अमेरिका का प्रतिदिन का खर्च, युद्ध की सामग्री की नैयारी पर (? व युद्ध पर) करीब २८ करोर डालर, अर्थात्, प्रायः ८४ (चौगुनी) करोर रुपये के तुल्य, हो रहा है ।

शक्ति रूपी धन, यदि सत्-प्रज्ञान, सद्-विज्ञान, सद्-धर्म, सद्-बुद्धि, सद्भाव, सदाचार के अनुसार, मानव जीवन के उपयोगी पदार्थों के बनाने में, मनुष्य के उचित और धर्म्य सुख की साधने वाली, आवश्यकीय, निकामीय, विलासीय वस्तुओं के उत्पादन में लगाया जाय, तो समस्त पृथ्वीतल हरा भरा रमणीयतम उद्यान, वाग, हो जाय, सुन्दर घरों से भर जाय; चारों ओर प्रसन्न-मुख, प्रियवादी, हंसते, खेलते. परस्पर प्रीतिमय सौजन्यमय स्त्री पुरुष बालक देख पड़ें: किम्बहुना, पृथ्वी पर स्वर्ग उतर आवै।

यह सब वर्तमान इतिहास, 'कामाऽध्यात्म' के सम्बन्ध में क्यों कहा? इस हेतु से कि (जैसे पृ० १९३, २२१, प्रभृति पर सूचित किया है) परमात्मा के अंतर्गत मूल-प्रकृति दैवी-प्रकृति रूपिणी अविद्या-अस्मिता का रूपान्तर नामान्तर परिणाम जो काम-संकल्प है, उसी का कार्य समग्र विश्व है। इसी काम के धर्म्य और सात्त्विक रूप से चारों ओर सुख, प्रीति सहायता उपकारिता फैलती है।

धर्माऽविरद्घ कामोऽस्मि भूताना, (प्रीतिवर्धन) । (गी०)

इसी के अधर्म्य और राजस-तामस-भावों से, कामान्धता, क्रोधान्धता, लोभान्धता, मोहान्धता, (भयान्धता, मिथ्या-स्नेहान्धता, किंकर्तव्य-विमृष्टता) मदान्धता, मत्सरान्धता, वा इन्हीं मुख्य प्रकारों के तथा अवान्तर यहुतेरे प्रकारों विकारों के उन्माद, चारों ओर बढते हैं, और फलित वा साम्राज्य पृथिवी मात्र को घस लेता है, जैसा आज फाट प्रत्यक्ष देख पड़ रहा है।

पृ० २२१ पर गीता का जो श्लोक उठाया है, उस में 'जायते' के तीन प्रयोग, तीन भिन्न उपसर्गों के साथ, किये हैं, किसी विषय का ध्यान संकल्पन स्मरण करने से उसमें संग 'उप-जायते' उपजता है; संग से काम 'सं-जायते' समन्तान्, उस विषय के

‘चारो ओर’, मन के ‘आगे’ रक्खे हुए सम्-अग्र विषय से, ‘सं-जाता है; काम से क्रोध ‘अभि-जायते’ जाता है, काम के ‘अभितः’ आसपास, जो कुछ या कोई उसका बाधक जान पड़ता है, उस पर, क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष, आदि उत्पन्न हो जाते हैं। सारा संसार योग के दो सूत्रों की व्याख्या है—“अविद्या-अस्मिता-राग-द्वेष अभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः, अविद्या क्षेत्रं उत्तरेषां” (२, ३४)। पारमात्मिक काम-संकल्प के ही एक अर्ध भाग का दूसरा नाम, ‘अविद्या’ है, दूसरे अर्ध का नाम ‘विद्या’ है; ‘महा-माया’ में दोनों अन्तर्गत हैं; मानव काम का पर्याय, राग है; और क्रोध का, द्वेष है; अन्य सभी सैकड़ों भाव, विभाव, अनुभाव, स्थायी भाव, व्यभिचारी भाव, इन्हीं दो मूल भावों के अवान्तर भेद और शाखा, प्रशाखा, पल्लव, वृन्त, पुष्प, फल रूप कार्य हैं, अविद्या मूल, और ‘अस्मिता’ स्कंध, है। इन का वर्णन, पूर्वगत ‘रस-मीमांसा’ नामक अध्याय में कुछ किया गया है। समस्त मानव इतिहास, (विद्या-मिश्रित) अविद्या-अस्मिता में उपजे हुए, इन्हीं दो राग-द्वेष के स्वार्थी-परार्थी अनन्त प्रकार, आकार, विकार, संस्कारों की कथा है, नाटक, रूपक, लीला, है।

इन हेतुओं से काम के आध्यात्मिक तत्त्व का जानना, मानव जीवन के कल्याण-साधन के लिये, आवश्यक है। यदि बाल्य और यौवन में इस स्वयं का ठीक-ठीक समझना कठिन, किंवा असंभव है, तो वयस्त्रियों, प्रौढ़ों, और वृद्धों को तो अवश्य जानना चाहिये। कि वे अपनी सन्तान को, अगली पुरुष को, समय समय पर, उचित शिक्षा देते हैं, और विविध प्रकारों के अधःपात से बचावें।

१—‘वयस्य’ शब्द का संस्कृत में वही अर्थ है जो अंग्रेजी में ‘सेनर’, ‘अद्वैत टू दि एज आऊ मैजोरिटी’ का; वयःप्राप्त, व्यवहार-अन’, ‘व्यवहार प्राप्तः’, आदि का भी अर्थ यही होता है।

“गर्ं सो गर्ं, अब राखु रती को”

एवं, जो युवा युवती स्वयं भूत-भवद्-भविष्य, पीछे-सामने-आगे, बीते-होते-आते, गुज़रतः-मौजूदः-आइन्दः, पुरात्व-तदात्व-आयति, को कुछ समझने सोचने विचारने की उमर को पहुँच चुके हैं, उन को चाहिये कि निःसंकोच हो कर, अपने हितैपी विद्वान् विशेषज्ञ अनुभवियों से साक्षात् पूछ कर, वा ऐसों के लिखे उत्तम ग्रथों को पढ़ कर, उपकारी ज्ञान पाकर, अपनी और अपनी भावी संतति की रक्षा करै, दुराचार से बचै बचावै, और धर्म्य और समान-शील विवाह कर के, पवित्र गार्हस्थ्य जीवन वित्तवै (‘वि-इत’, ‘वीत’ ‘व्यय’ करै)। यदि, दुर्भाग्य से, भूल हो ही जाय, तो उन्हीं वृद्ध विद्वान् अनुभवियों तथा अच्छे सच्चे वैज्ञानिक चिकित्सिकों के बताए हुए, भूल के दुप्फलों के प्रतीकार के, उपायों को काम में लावै पुनः वैसी भूल में न पड़ने का, पातक प्रलोभनों से सदा लड़ते रहने का, दृढ निश्चय करै, चित्त को घुर्गई से मलाई की ओर, अधः से ऊर्ध्व की ओर, पलटै, स्वभाव को बदलै, दुष्ट से शिष्ट बनै, ‘सवेरे का भटका शाम को घर लौटा, तो भूला नहीं कहाया।’

अपि चेत् सुदुराचार भजते मा अनन्यभाक्,

साष्ट्रं प्य स मन्तव्यं, सम्यग् व्यवसितो हि सः, (गी०) ।

बहुत पातित दुराचारी भी यदि सच्चा पश्चात्ताप, पछतावा, करे (‘अहं-पद-वाच्य परमात्मा पुरपोत्तम कां) ‘अन्-अन्य’ होकर (‘अन्य’ स्व को निषेध कर. मग से छोड़ कर) भजै. (‘मै’. परमात्मा से ‘अन्य’ भिन्न, कोई उपासनीय इष्ट नहीं, अथ च कोई ‘अन्य’ भिन्न पदार्थ ही नहीं, जो कुछ है वह परमात्मा ही है, ‘मै’ ही है. ऐसी भावना सज हृदय में धरे).

तो उसको 'साधु' ही, भला सत्पुरुष ही, जानना मानना चाहिये; क्यों कि अब उसने सम्यक्, समीचीन, अच्छा, पुण्यात्मक, सदाचार रहने का, व्यवसाय, दृढ़ निश्चय, कर लिया है; सब जीवों में 'अपने' को, 'आत्मा' को, देख कर, पहिचान कर, सब के साथ उचित ही 'आत्मवद्' व्यवहार करने का निश्चय कर लिया है।

यदि कभी कदाचित् स्वस्थ तन्दुरुस्त पुष्ट शरीर वाले प्राणवान् बलवान् मनुष्य को, किसी ऐसी भूल से, गुप्त रोग लग जाय, और अच्छे सच्चे वैद्य हकीम डाक्टर से सचा हाल कह कर औषध ले, तो निस्सन्देह जल्द ही अच्छा हो सकता है। मेरे पास कभी कभी ऐसे युवा, परामर्श के लिये, आते रहे हैं; कुछ तो केवल परहेज की, वर्जनीय वस्तुओं और क्रियाओं के वर्जन की, और शुद्ध आहार की, सलाह पर चलने से ही रफ़ा रफ़ा अच्छे हो गये। कुछ, मेरे जाने हुए अच्छे वैद्यों डाक्टरों के नाम मुझ से जान कर, उन के पास जा कर, दवा ले कर, अच्छे हो गये; थोड़े से ऐसे भी हुए जिन्होंने परामर्श में, शर्मा-शर्मों से, बहुत देर कर दी, मर्ज़ को बढ़ा लिया, दुःख भोगने ही रहे, अल्पायु हुए, और यहां ही प्रकृति देवी का क्रण चुका कर परलोक को चले गये। आयुर्वेदिक औषध प्रायः विशेष उपयोगी होते हैं, और प्रायः बहुत महर्घ, महंगे, भी नहीं होते।

“कपटा लोकान् तं वचिरे”

'सच्चे वैद्य डाक्टर हकीम' इस लिये कहा कि, एक और बुभुक्षा देवी, दूसरी और उनकी बहिन गर्धा-नृणा-लायक देवी, के फेर में पड़ कर, शरणार्थियों को भी, कुटिल मार्गों

से धोखा दे कर, धन कमाने के लोभ से, कुछ चिकित्सक, सभी देशों में, भुलावा देते हैं, और रोग बढ़ा तक देते हैं, कि यह दीन होकर सदा हमारे अधीन बना रहै, दवा करता रहै, धन देता रहै। ऐसे कपटी चिकित्सकों की गुटबंदियों और चालवाज़ियों की पोल, समय समय पर, यु. स्टे अमेरिका के पत्र (जैसे 'रीडर्स डाइजेस्ट') खोलते रहते हैं, पर जनता पुनः पुनः उस चैतावनी को भूलती और उनके फेर में पड़ती रहती है। इस लिये, यदि रोग से बचना है तो, भुलाने और झुलाने वाले लोभी कपटी वैद्यो हकीमों डाक्टरों का रूप धरे ठगों से, जो रोगी को अपनी स्थायी दूकान या जमींदारी ही बना लेना चाहते हैं, रोगी को पहिले बचना चाहिये। मेरी जानकारी में ऐसे कई 'अमीर', 'नवाब', 'राजा', 'लखपति' युवा और मध्यवयस्क पुरुष भी रहे हैं, जिनके यहां नित्य कोई न कोई चिकित्सक बैठे ही रहने थे, और उनकी नाड़ी देखते और थर्मामीटर लगाये ही रहते थे, या पच्छिम के नये तरीकों से उनके शरीर के निस्स्यन्दों की, कफ, मूत्र, विष्टा, रधिर आदि की, परीक्षा करते कराते ही रहते थे। दूसरों को भय और आशा, घुटकी और बढ़ावा, साथ ही साथ दे दिला कर अपना स्वार्थ साधने वालों के उदाहरण केवल उन्हीं लोगों में नहीं जो चिकित्सा से जीविका करते हैं, अपितु सभी तरह के रोज-गारियों में देय पड़ते हैं, ज्योतिषियों में, तंत्र मंत्र शास्त्र फूंक वाले में, धर्मशास्त्रियों वकीलों, दूकानदारों, राजमंत्रियों, शासनाधिकारियों, बंकरों, फार्मणियों, विशासन (पेंडु-वर्टिज्मेट) छपाने वालों, सभी में ही मिलते हैं, नवयं परमात्मा की प्रकृति के नियम में ब्रह्म-मयी 'सुधत्-पात्स्नी' हेध-नीति, सुख दुःख दोनों के मिश्रण की, काम कर रही है।

साधारण मनुष्य के लिये यह विवेक करना, कि कौन रोजगारी अधिक कपटी है और कौन उचित मात्रा में ही स्वार्थी है, बहुत कठिन होता है; पर यथाशक्ति यथासंभव ऐसा विवेक करने का प्रयत्न करते रहना, अपने उचित स्वार्थ की पूर्ति के लिये, आवश्यक है।

रोग-शेष से सावधान रहो

यह कहना कठिन है, किसी भी उग्र रोग के विषय में, विशेष कर उपस्थीय दुश्चरित्र से जात रोग के, कि ज़ाहिरा विल्कुल अच्छा हो जाने पर भी, शरीर में कोई भी विकार का 'शेष' नहीं रह जाता, और वाद की संतति पर कोई असर नहीं डालता। मसल मशहूर है कि जवानी की चोट बुढ़ापे में ठंडी हवा लगने पर फिर दर्द करने लगती है। पहिले कह आये हैं, और सब को प्रत्यक्ष ही है, कि संतान का, नये जीव नये प्राण का, 'स्मर' ('स्मरण' से, संकल्प-ध्यान-संग से, जाग जाता, सं-जायमान) काम ही मूल है; इस लिये, इस के गुण का भी, रोग का भी, प्रभाव बहुत दूरगामी और चिरस्थायी होता है; पुगणों और आयुर्वेद और धर्म के ग्रन्थों के कर्म-विपाक-संबन्धी अंशों में विदित होता है, कि इन रोग-शेषों के कारण, पुष्टन दर पुष्टन, परम्-परम्-शृङ्खला में, चर्म, नख, दन्त, आदि के विविध रोग देख पड़ते हैं; 'वाङ्मूल' में भी कहा है कि 'पिता पितामहों के पापों का दंड, पुत्र पौत्रों पर पड़ता है'; उमका आशय, दुष्टों में ऐसी रोग की परम्पराओं से, प्रत्यक्ष प्रकट हो जाता है। इस हेतु, जैसा रोग वैसा ही उमका प्रतिरोधी भेषज होना उचित है; 'दुःस्मरण', दृष्टि ध्यान, अघःपानक राजस तानम भावों की भावना, की चिकित्सा, 'सु-स्मरण', पूत पवित्र और पारन

सात्त्विक ऊर्ध्वनायक भावों का धारणा-ध्यान-समाधान, मानस प्रायश्चित्त, चित्त की तपस्या; इस चिकित्सा और सत्संग से साधित मानस-शुद्धि, मानस-स्वस्थता, लोक-हितै-पिता, मन स्थैर्य, और तदनुकूल आहार-विहारादि शारीर चर्या, दूषित अस्वस्थ देह को भी बहुत कुछ सुधार सकती है, और सुधारती ही है। पहिले कह आये (पृ० २०२, २१४) कि बड़े बड़े ऋषियों से, देवी देवों से, भूल हो जाती है, पर उसको पहिचान कर, पश्चात्ताप-प्रख्यापन-प्रायश्चित्त से, और पहिले से भी कठिनतर तपस्या करने से, उस भूल का मार्जन कर डालते हैं, और इससे उनका महत्त्व और गौरव बढ़ता ही है, घटता नहीं। यह भी विचारने की बात है कि, भूल कर के सुधरना, सच्चा सुधरना है, सयाना (सज्ञान) होना है, कभी भूल न करना, यह तो बच्चों का अयाना-पन (अज्ञानता, अनजान-पन) है। महा-भारत में अणीमाण्डव्य ऋषि और यमराज की कथा के रूपक से यह कहा है, कि पाँच वर्ष तक के बच्चे का कोई कर्म न पुण्य ही है न पाप ही, और ऐसे कर्म के लिये दंड देने को, यमराज को भी, मना किया गया है। 'खाय तो पछताय, न खाय तो पछताय'—तो खाय के पछताय, शानी ज्ञानवान् हो जाय, और दिन दिन कम कम खाय, अन्त में सर्वथा निरीह निःस्वार्थ हो कर, शरीर को भी और ससार को भी छोड़ कर, परम धाम को चला जाय : "स शांति आप्नोति, न काम-व्यामी," "ध्यानात् शांतिर् अनन्तर". (गी०)।

इति-पूर्वक उपाय में पर नत रखने

भूलने वाले के मन में, दुष्फल के कारण अनुभव के कारण, पश्चात्ताप के साथ नम्रता और विनय उत्पन्न होते हैं, तथा अन्य

भूलने भटकने वालों के लिये अनु-कम्पा, सहाय-बुद्धि, सब उप-देश-शक्ति, संचित होती है ; एवं भूल भी सञ्चरित्र और ज्ञान का साधन हो जाती है ; यदि प्रकृत्या चित्त कुछ कोमल हो। यदि कठोर हो, तो फिर फिर ठोकर खाकर, "अनेक-जन्म-संसिद्धः ततो याति परां गतिं", अन्त मे चेतैगा। अविद्या मे से डूबते उतराते, गोते खाते खाते, एक दिन निकल कर ही तो विद्या की दृढ़ भूमि पर पैर धरेगा। "सैकड़ों टांकी खाकर, ढांके से महा-देव बनते हैं"। इस लिये, एक वार वा अनेक वार भी भूल कर के, किसी को भी, कभी भी, सर्वथा हताश नहीं होना चाहिये ; भूल के बाद, पुनः पुनः दृढ़ निश्चय बांधना चाहिये कि फिर ऐसा न होने पावे। याद रहै कि इन वान्शों का उद्देश्य, उन्हीं लोगों को सान्त्वन, ढाढस, देने का है, कि जो अविद्या की विक्षेप-शक्ति से प्रेरित होकर अवुद्धि-पूर्वक कुराह मे पड़ गये हैं ; इनका आशय यह कदापि नहीं है, कि बुद्धि-पूर्वक भी, कोई, इस 'आगे अमृत पीछे विष' का आस्वादन करे।

निश्चिन्त वैकिन्त मन हो जाओ

दृढ़ निश्चय कर के भी सर्वथा निश्चिन्त नहीं होना ; प्रलो-भनो से सजग और डगते ही रहना ; "विरक्तम्मन्यानां भयति विनिपातः प्रतिपदं"; इस अभिमान के फेर मे जो पड़ जाते हैं कि हम तो पड़े अटल विरक्त हो गये, वे पड़ पड़ पर चूकते, लड़खड़ाते, गडों मे गिरते रहते हैं। पहिले (पृ० २७०, २१४) कहा. कि ऋषियों, मुनियों, देवी देवों, प्रजापति ब्रह्मा तक, पर काम ने हमला किया, और मन्पथ से उनको हिला हला चला कर कुमार्ग पर फेंक ही दिया। पुराणों के एक अन्य रूपक मे कहा है कि निव पर भी काम ने चढ़ाई किया ; और शिव

भी केवल अपनी शान्तता शिवता से ही उसको परास्त न कर सके ; तब उन्हो ने काम के सगे छोटे भाई क्रोध को ("कामात् क्रोधो अभि-जायते") अपनी तरफ फोड़ लिया, और उससे सहायता ले कर, दुनियावी भावों की ओर से तीव्र क्रोधात्मक वैराग्य की अग्नि से प्रज्वलित तृतीय चक्षु, प्रज्ञान चक्षु, को खोल कर, उसकी ज्वाला से काम को जलाया ; "वितर्क-वाधने प्रतिपक्ष-भावनं" (योग-सूत्र), परन्तु इस पर भी काम निःशेष नहीं मरा, वीज रूप बना ही रहा , अनङ्ग हो गया ; शिव को उमा-पार्वती (उ-मा, मा-या, संसार-निपेधिनी विद्या, और पार्वती, पर्व-मयी, शरीर की नीवी, मेरु-दंडिका, नाडी-त्रय-मयी त्रिगुण-मयी अविद्या) के साथ धर्म्य विवाह में बांध ही दिया ।

जब निवृत्ति-मार्गियों का यह हाल है, तब प्रवृत्ति मार्गी मनुष्य यदि सचेत, हर वक्त होशदार होशियार, न रहै, तो साधु-वेश-धारी दारीक प्रलोभनों के फदे में फंस जाता है. हल्की सीढ़ी से, ('इतना जरा सा चर लेने में बटहज़मी अजीर्ण का क्या डर हो सकता है'). नीचे नीचे अधिकाधिक गहरी खड़ी श्रेणियों (श्रेणी, धेणी, निः धेणी, नसेनी, स्तर, अग्रेजी 'सीरीज', 'स्टेयर्स'. फारसी 'सतर'. सतह) पर खिसकता उतरता ही जाता है. और, अन्त में, भीषणतम नरक में मुह के चल गिरता है । साधारणतः, प्रवृत्ति-मार्गी ही अन्त-करणिक मानसिक प्राकृतिक प्रवृत्ति यही हांती है. कि "लाभान् लोभ प्रवर्धते".

न जातु काम यानाना उपभोगेन नाम्बति,

एविषा कृष्णदत्तमा एव भूय एव अभिवर्धते, (मनु) ।

लाभ से लोभ और बढ़ता है; धी से आग ज़्यादा; तेज़ बलती है; उपभोग से काम अधिक ज़ोर पकड़ता है; जितना मिले उतना ही थोड़ा।

यत् पृथिव्यां व्रीहियवं, हिरण्यं, पशवः, स्त्रियः,

तत् सर्वं न-अलं एकस्य; इति मत्वा शमं व्रजेत्, (म० भा०)।

पृथिवी भर मे जो कुछ अन्न-धन, गो-धन, सोना, चाँदी, हीरा, मोती, और सुन्दर स्त्रियाँ हैं; वह सब ही यदि एक मनुष्य को मिल जायँ तो भी उसको संतोष नहीं हो सकता है; इसको ख़व अच्छी तरह मन मे बैठा कर समुझदार आदमी को चाहिये कि शांत हो जाय, अत्यंत लोभ लालच तृष्णा, हिर्म तमन्ना, 'ग्रीड', गर्धा, को छोड़ दे। हाँ, 'अति' करने से, अति भोजन आदि से, पाचन आदि की शक्तियाँ थक जाती हैं, अरुचि ग्लानि हो जाती है, कुछ काल के लिये वैराग्य भी होने लगता है; परंतु यदि पूर्वाऽपरदर्शिनी विवेकिनी बुद्धि, पंडा, नहीं जागी है, और उस वैराग्य का पालन पोषण उपोद्बलन नहीं करती है, तो पुनः पुनः हिर्स ही ज़ोर पकड़ेगी; इसी लिये तो पाचकों और पौष्टिकों के इतने अधिक विशापन और इतनी अधिक विक्री, टग लोग कर ही लेते हैं।

निश्चिन्त न रहने के लिए, मनु की यहाँ तक आगा है कि,

मात्रा म्यन्ना दुहिन्ना वा, न विविक्ताऽमनो भवेत्;

वर्त्मान् इन्द्रिय-ग्रामः, विद्वांसं अपि कर्पति; (मनु०)।

माता, बहिन, बेटा के साथ, पुत्र, भाई, पिता भी, अकलं न बैठें; इन्द्रियों का समूह बड़ा बलवान् है; विद्वान्, गुण-शोष

१ अंग्रेज़ी मे कहावतें हैं, "दि मोर वी हैव, दि मोर वी थॉट,"
"दि एंविटाइड्स, दू ग्रो विथ क्वट् डे ग्रीड अपान", इत्यादि।

को पहिचानने वाले जानकार, की भी आँखों पर पर्दा डाल देता है, और उसको धक्का देकर, खींच कर, घसीट कर उत्पथ चला देता है, पापिष्ठ कुचाल में डाल देता है। साधारण लोग, मनु जी के इस आदेश पर अचरज (आश्चर्य) करते हैं, पर जिन्हो ने भारत के इतिहास-पुराणो को, और पश्चिमीय राष्ट्रों और जातियो के इतिहासो को, ध्यान से पढ़ा है; तथा पूर्व पश्चिम की अदालतों में पेश हुए, दंड-विधान की धाराओ ('सेक्शनल्') के, मुकद्दमों का पता रखते हैं, जिन धाराओ में इस प्रकार के ('इन्सेस्ट' के) अपराधों की सजा बताई है; तथा अपने आंख कान बंद न कर के, अपने चारों ओर साधारण गृहों में, छोटे तथा यौवनोन्मुख लड़के लड़कियों में, नासमझी और अज्ञान से, कैसे शोचनीय घोर अनाचार हो जाते हैं—उनका हाल जानते और विचारते हैं, वे मनुष्य. मनु जी की इस दूरदर्शी सूधमदर्शी उपदेश का महत्त्व गुरुत्व समझेंगे। हजारों विधवा स्त्रियां, वा अनव्याही युवतियां, प्रायः 'ऊँच जातो' की, अपने घर वालों के ही दुष्कर्म से गर्भवती हो कर, उन्ही हृदयहीन. क्रूर, नृशंस पुरुष-वृको पुरुष-व्याघ्रो के पंजो से, क्षतविक्षत हो कर, घर के बाहर निकाल दी जाती है, और, या तो कृष्ण नदी में कूदकर डूब मरती है, जहर खा लेती है, फाँसी लगा लेती है, या रोती सिसकती हुई, 'रंगरूट' ('रेफ्रूट') बुली भरती करने वालों के हाथ अपने को बेच कर 'मिरिच' ('मारिशस') या 'पीजी' टापू आदि षो चली जाती है।

राशकपा मनु तुली

इन हेतुओं से यह आवश्यक है कि जो लोक अपनी सतति और अपने समाज का शारीर और दौलद उत्थार चाहते हैं, वे

सदा साऽवधान और 'धर्म-भीरु', अधर्म से डरते, रहें, समय समय पर, यथोचित, अपने को, अपने कुटुम्बियों को, और सहासियों को, चेतावनी देते रहें; विशेष कर यह उपदेश कि, किसी से भूल हो जाय, तो उसके मार्जन शोधन का उचित उपाय करें; हल्की भूल का हल्का मार्जन 'प्रायश्चित्त' (चित्त शोधने वाले व्रत, उपवास, जप आदि) से, भारी रोगजनक भूलों का अच्छे वैद्य डाक्टरों की शरण ले कर; और पुनः वैसी भूल से बहुत परहेज़ करें; और इस घोरतर भूल में न पड़ें कि ऐसी गलतियों का सरलता से शोधन हो सकता है। अक्सर देगा जाता है कि चोर सज़ा से बच गया तो फिर चोरी करता है। मंदाग्नि (जोष-मेदा) का मरीज़, 'पाचक' खा कर, कुछ अन्न पचा कर, परहेज़ नहीं सीखता, बल्कि थोड़ी भी भूख जागने पर, 'रोचक' दवा खा कर, फिर बढ-परहेज़ी करता है; अति-अशन, अधि-अशन, विपम-अशन करता है; (अति-अशन, उचित मात्रा से अति अधिक खाना; अधि-अशन, पहिले का खाया पचा नहीं, और भूख नहीं लगी, तो भी जिह्वालौल्य से पुनः खा लेना; विपम-अशन, जो पदार्थ 'सम' नहीं हैं, वि-पम हैं, वे-मेल हैं, जिनका एक साथ खाना आयुर्वेद में मना है, उनको एक साथ खा लेना); और अधिक बीमार पड़ता है। व्यभिचारी, ज़िनाकार, वेश्यागामी, विपमाचारी मनुष्य, मरज़ की बला में मुन्तला हो कर इलाज करना है, अच्छा हो जाता है; फिर पौष्टिक, वाजीकरण ('गेफ्रोडिसियाक'), औषध खाता है, 'मैपचूषण' बन्दता है; फिर वैसे ही दुःख कम्ता है; खुद ज्यादा बीमार पड़ता है, और चांगे तर्फ 'त्रैवा' (संचारी संक्रामक रोग, 'महामारी', जैसे हैज़ा, प्लेग, इन्फ्लुएंज़ा, 'शानला' वा मम्बिका, विद्युच्चिका, आदि, घंसे

उपस्थीय आतशक, सूजाक. कुष्ठ आदि) फैला कर मर जाता है' ।

वैज्ञानिकों की अतर्मुसता की दूसरी धारा

ऐसे हेतुओं से पश्चिम देश के उच्च कोटि के वैज्ञानिकों की चित्त-नदी, जो अधि-भूत से उलट कर, (सर्वथा नहीं, प्रत्युत उसकी अत्यन्तता, एकस्त्रीमिज्म', से ही), अधि-आत्म की तरफ घूमी है, उस घुमाव की एक धारा की सूचना, प्रसंग-

१ पृ० २२७-२३०, २५५-२५६, और २५६ के फुट-नोट में इसके घोर उदाहरण दिये हैं । पृ० २३४ पर 'मेप-वृषण' शब्द के अर्थ की सूचना की गई है, उसी रूपक के दूसरे अर्थ की सूचना पृ० २०३-४ पर की है, 'तन्त्र-वार्त्तिक' नाम के प्रविद्ध मीमासा-शास्त्र के ग्रन्थ के रचयिता कुमारिल भट्ट ने एक और अर्थ लगाया है, कि इन्द्र के हजार प्रण जो हजार भाँखें हो गईं, वे इन्द्र अर्थात् राजा की सभा के हजार अर्थात् बहु-सख्यक सभासदों की सूचक हैं । पृ० २३४ पर, जिस 'सर्जि-कल-आपरेशन', शल्य-शालाक्य-कर्म, की चर्चा की है, अर्थात् जीवद् तथा वानर-गानरी घे (मेप मेपी, बर्बर बर्करी, उक्षा-गौ आदि घे भी) वीर्यकोष-रज कोष ('टेस्टिकल -'ओवरी') के टुकड़े बाटकर, मानघ पुरप स्त्री की जाघ, या उसके पास, उतर घे निचले भाग पेट में, ऊपरी चर्म बाटकर, उमके भीतर स्ती देना—इस चिकित्सा का आविष्कार, और प्रचार, यूरोप में, वर्तमान २० वीं शती ई० के आरम्भ में, दोरोनाफ नामक जर्मन वैज्ञानिक चिकित्सक ने किया, किन्तु, जैसा पहिले लिख चुके हम प्रचार की चिकित्सा की मरिमा क्षत्र लुप्तप्राय हो रही है । ऐसे ही, अन्य पटुतेरे नर्दान वैज्ञानिक आविष्कारों में, पहिले गुण ही गुण सूझते हैं, पीछे भारी दोष देख पटते हैं ।

प्राप्त विविध विचारों की लपेट में, पृ० २५३ पर आरम्भ कर के, यहाँ तक की गई।

(२) अब दूसरी धारा की सूचना कर देना चाहिये। १९वीं शती ई० के अंत और २०वीं के आदि में, यूरोप में, विशेष कर जर्मनी आस्ट्रिया में, कुछ वैज्ञानिक चिकित्सकों ने, विशेष प्रकार के 'नर्वस् डिस्सीज़ेज़' के निदान का पता लगाने के लिये, शरीर की विकृतियों की परीक्षा कम कर के, चित्त की विकृतियों की जाँच, विविध उपायों से, शुरु किया। 'नर्वस् डिस्सीज़ेज़' में 'न्यूरोसिस' 'साइकोसिस', 'साइको-न्यूरोसिस', 'न्यूरो-साइकोसिस' आदि शामिल किये जाते हैं; अभी तक इन शब्दों के ठीक अर्थ और प्रयोग के प्रकार निश्चित नहीं हो पाये हैं, पर इतना साधारण रूप से निश्चित है कि इन सब में, एक ओर मानस विकार, और दूसरी ओर, ज्ञान-इच्छा-क्रिया का धारक और वाहक जो नाडी-व्यूह है उसका विकार, परस्पर सम्बद्ध रहते हैं। यदि नाडी व्यूह का विकार अधिक है, तो रोग को 'न्यूरोसिस' वा 'न्यूरो-साइकोसिस' नाम देते हैं; यदि मानस विकार प्रबल है, तो 'साइकोसिस' वा 'साइको-न्यूरोसिस'।

चित्त के विकारों की सूक्ष्मेत्थिका करने वाले इन (यूरोप में) आदिम परीक्षकों ने, कुछ अतित्वरा ('उज्ज्वल') से, यह मान लिया कि, सभी मानस रोगों की जड़ में, उपस्थित कार्मिक वाग्नाश्रुतों का किसी न किसी प्रकार का व्याघात वा अवरोध, मूल कारण के रूप में, रहता है; धीरे-धीरे, इस अति-व्याप्ति का संशोधन, पीछे के गवेषकों ने किया।

दोनों वाग्नाश्रुतों के प्रस्थान में भेद है; मार्गों और उपायों में भी फ़र्क है; कुछ अभ्युपगमों (माने हुए मिथान्तों, 'दाइग्नोसिस')

सिस', 'थियोरी', 'अकीदः') मे भी वैदश्य वैमत्य जान पड़ता है । परन्तु लक्ष्य के, मक्सद के, एक ही, अर्थात् रोग का निर्मूलन और स्वस्थता का अनुकूलन, होने से, ज्यो ज्यो दोनो धारा आगे बढ़ती है, और अपनी-अपनी भूल-भटक का शोधन करती है, त्यो-त्यो एक दूसरे के पास आ रही हैं; और आशा होती है कि एक दिन, सर्व-विद्या-प्रतिष्ठा परमात्म-निष्ठा विस्मृत-प्राया ब्रह्मविद्या की सरस्वती की सच्ची झलक पा कर, एक दूसरे से मिल कर, जगत्कल्याणकारिणी गंगा-यमुना-सरस्वती के संगम से वर्धित त्रि-वेणी, महा नदी हो जायँगी ।

“सर्वं सर्वेण सम्यद्ध”, “पडिता समदर्शिन”,
समान नियम, हि एकं विधि, जगति, सर्वदा,
सर्वत्र, आवर्त्तमानं, ये पश्यति, एते हि पटिता,

प्रकृति के सभी विभाग परस्पर सम्यद्ध है. अत, सभी मे, संसार चक्र के सब देशो और कालो मे, जो विद्वान्, एक ही इन्द्राऽत्मक महानियम महाविधि को आवर्त्तमान प्रवर्त्तमान चक्र खाते, देखते पहिचानते हे. वे ही समदर्शी पटित हैं ।

इसके निदर्शन (नमूना, उदाहरण) के लिये, विचार-जगत् के एक और प्रवाह-द्विक की चर्चा यहाँ पुनः की जाती है ।

व्यक्ति वार के 'समक्ति'-(नगाज) वार की ओर

राग द्वेष-क्राम-प्रोध को भी जेठे भाई 'लोभ' नाम के रोग की, (जिसके उद्रेक और प्रकोप को 'इंतिविज्जुअलिरिट केपिट-लिज्म', 'पूँजीपाट', 'प्रलीलाती' कहते हैं, उसकी) चिक्किन्सा के लिये, 'नोशटिस्म', 'समाजपाट', रूपी औषध की परीक्षा तरह तरह से, अनुपानो और प्रवारो मे ग्लोबडल कर के, पिटले सौ वर्षों मे (अर्थात्. स्थूल गणना से, १९ वां शती ई० के

मध्य से) पाश्चात्य देशों में होती रही है; इस बीच में, तीव्र रोग और वीर्यवद् औषध के परस्पर भयंकर संघर्ष सम्मर्द से, विश्व-युद्ध-रूपी जगद्विप्लवकारी घोर ज्वर दूसरी बार मानव-संसार पर चढ़ रहा है, इसका निदान, विशेष काम-क्रोध-लोभ आदि सब का पितामह, एषणात्रय-आत्मक काम-सामान्य है—यह पूर्व ग्रन्थ में बहुधा कहा गया है; अब, इस सब घोर संघर्ष संग्राम के फल के रूप में इस निष्कर्ष निश्च्योत (निचोड़) के लक्षण दिखाई पड़ते हैं कि, सोवियट रूस में, मध्यमावृत्ति-अनुसारिणी, ज्ञानी-शस्त्री-धनी-श्रमी-चतुर्वर्ण (वर्ग-व्यूह)-समन्वायिनी, (वि-अक्ति) 'व्यक्ति'-(सम्-अक्ति) 'समक्ति'-सम्मेलनी, सर्व-वाद-सम्वादिनी, चतुर्विध-जीविका-कर्माऽत्मक-चातुर्वर्ण्यता की नीति और रीति की ओर, उस औषध का रूप अधिकाधिक बढ़ता जाता है, तथा, ऐसे नवीन, प्र-णवीभूत, पुनरुर्जीवित, रूस देश और सोवियेट समाज की आव-

१. 'वि' उपसर्ग में, जिसका एक अर्थ 'विशेष' है, और 'अज्' अनक्ति, धातु में, जिसका अर्थ 'अजन' करना, 'अजना', 'रंगना' है, वि-अक्ति, व्यक्ति, बना है; इमका मूल अर्थ है, अव्यक्त परमात्मा का एक विशेष व्यंजन, व्यक्तीकरण, आविष्करण, अब व्यक्ति शब्द, एक मनुष्य, 'दृष्टिविज्युअल', पुरुष वा स्त्री, के अर्थ में बहुत प्रयुक्त होने लगा है। इमके प्रतियोगी, प्रतिद्वंद्वी, 'समाज' वाचक ('मोक्ष' के अर्थ के मूचक) शब्द की भी आवश्यकता है; जैसे वि-ग्रह का सं-ग्रह, वि-भिन्न का सं-भिन्न, वि-हत का सं-हत, वि-पत्ति का सं-पत्ति है, वैसे ही वि-अक्ति का द्वंद्वी सम्-अक्ति बना लेने में, बहुविध प्रयोग द्वारा, नये (प्रायः पश्चिम में द्वाय आये हुए) भावों के प्रकट करने में सुविधा होगी। 'समाज' शब्द, सं-माथ, अज्, अजति, चरना, सं-यना है।

रणात्मक आचार्यता को मुँह से न मानते, पर मन से तो मानते ही, सभी अन्य देशों पर, उस आचार्यता के प्रभाव की छाप अधिकाधिक छपती जाती है ।

अधि-भूत से अधि-आत्म गुरतर

प्रकृत में (अर्थात् इस प्रकरण में, इस प्रसंग में) यह दर्शनीय और विचारणीय है कि, रोगियों की परीक्षा और चिकित्सा के सम्बन्ध में, पच्छिम के डाक्टर लोग, इधर प्रायः सौ वर्ष से (सन् १८५० ई के पीछे, साधारणतः), मनुष्य के आधिभौतिक शारीरिक (जिस्मानी, 'फिजिकल') अंग (अंश, पक्ष, पटल, 'आस्पेक्ट') पर ही अधिकाधिक ध्यान जमाते आये थे, आध्यात्मिक, मानसिक, चैत्तिक, आन्तःकरणिक (रूहानी, 'मेंटल', 'स्परिचुअल') अंग की अधिकाधिक उपेक्षा करते रहे। पर अब पुन चालीस पचास वर्ष से, विशेष कर जब से फ्राइड नाम के चिकित्सा-शास्त्री ('मेडिकल्-सायंटिस्ट') ने, सन् १९०० ई के आसपास, 'साइको-पेनालिसिन्' नाम के, पच्छिम में नूतन समझे जाने वाले, शास्त्र का प्रवर्तन किया, तब से, रोगों में मानस क्षोभों और विकारों का कितना भारी प्रभाव, अधिदार, और निदानत्व होता है, इस ओर पाश्चात्य वैज्ञानिक चिकित्सकों का ध्यान दिन दिन बढ़ता जाता है। ग्रीक भाषा 'साइकी' शब्द का अर्थ, जीवात्मा, चित्त अन्तःकरण, रूह, 'सोल', होता है, और 'पेना-लाइ-आइन्' का, टीला करना, चुल्लुझाना, जैसे ग्रन्थि (गाँठ) का, 'साइको-पेना-लिसिन्' शब्द का अर्थ, तन्नामक शास्त्र के प्रयोजन और साधनीय कार्य का बोधक है—चित्त की अन्तर्लौन प्रलुप्तपत् अल्पक दुर्लभ अवस्थाओं का, गाँठों का, गूठ गुप्त हृदय-ग्रन्थियों और काम-

जटाओं का, चित्त-वृत्ति-संकरों भाव-संकरों का, छिपे छिपाये मनसतत्वों चित्ताऽवयवों का, अन्वेषण, प्रत्यभिज्ञान, और विश्रुथन, विश्लेषण, विवेचन, विघटन, पृथक्करण, और उन दवी दवाई ग्रन्थियों की उत्पत्ति के गुप्त कारणों का निश्चयन, निर्णयन ।

फ्राइड की कृति की वृत्ति

‘सैको-पेनालिसिस’ के विषय मे, प्राचीन संस्कृत दर्शन शास्त्र की दृष्टि से लिखने का प्रयत्न दूसरे ग्रन्थ मे मै ने किया है^१ । फ्राइड और उनके अनुयायियों के बड़े परिश्रम का, और विविध रोगों के निदानो और गूढ़ मानस वृत्तियों के विविध प्रकारों से अन्वेषण गवेपण और सूक्ष्म अध्ययन का, निर्विवाद-प्राय सारभूत निष्कर्ष इतना ही है, कि सब या अधिकांश मानस रोगों का नहीं, तौ भो जिन पेसे रोगों के कारण सु-निश्चय नहीं है, जिनका कोई अन्य प्रत्यक्ष और स्पष्ट कारण नहीं जान पड़ता, उनमे से बड़ी संख्या का, वा अधिकांश का, निदान कारण, किसी न किसी प्रकार की कामीय वासना, मैथुनीय तृष्णा, ग्तीच्छा, का किसी न किसी प्रकार का व्याघान, प्रति-बन्ध, निरोध होता है । फ्राइड को, तथा उनके शिष्यों को, आग्ममे, यह विश्वास हो गया कि ‘सैकोसिस’ ‘न्यूरोसिस’ ‘साइको-न्यूरोसिस’ आदि रोग, (अपस्मार-उन्माद आदि के बहुविध मानस विकार, ज्ञान-क्रिया-वाहिनी नाडियों के विकारों से कार्यनया वा कारणनया संबद्ध), सभी, केवल कामीय तृष्णाओं की अ-वृत्ति व्या-हनि से होते हैं । धीरे धीरे उन्होंने ने परिचयाना, कि क्रोधाय वासनाओं के व्याघान से भी तीव्र रोग

१ “दर्शन का प्रयोजन” के अ. ५. ३. मे ।

उत्पन्न हो जाते हैं ; और क्रोध, स्त्री पुरुष-मैथुन्य काम के ही भङ्ग से नहीं होता , किसी प्रकार के काम के, इच्छा के, अर्थ-काम, धन-काम, आदर-संमान-काम, स्वच्छन्द-भ्रमण-विचरण-आदि-काम, वा अन्य किसी भी प्रकार से स्व-शक्ति-प्रदर्शन-प्रवर्तन के काम के, (मोक्ष-इच्छा के भी), भंग से भी पैदा होता है , तीव्र भय से भी ऐसे रोग हो जाते हैं, यह निश्चय डाक्टरों को तब हुआ जब उन्हों ने प्रथम विश्व-युद्ध (१९१४-'८ ई) के अस्पतालों में काम किया . पर याद रहै कि, भय भी क्रोध के प्रकारों की एक राशि में पड़ता है, और प्राणैषणा, प्राण-काम, पर आपत्ति आने से उपजता है', यह तो, प्राइड ने अपनी अन्तिम पुस्तक में, संकोच करते, सङ्कुचाते, उकस-पुकस करते. कबूला भी है पर यह कह कर अपनी टेक की रक्षा करने का यत्न भी किया है, कि 'काम शब्द से मतलब उनका केवल मैथुन्य काम से नहीं, अपितु सब प्रकार के काम से है, (जो विस्तृत अर्थ शास्त्र-संगत है) , पर उनके, तथा उनके शिष्यों के, आदिम लेखों और ग्रन्थों से, उनमें इस नये दावे (प्रतिश्रव) की पुष्टि नहीं होती . और उन लेखों ग्रन्थों से पाठक जगत् के चित्त पर यही अंकन ('इम्प्रेडान', अस्तर) हुआ और होता है, कि उनका आशय प्राथमिक लेखों में मैथुन्य काम का ही था ।

१ पूर्वगत 'रस-मीमांसा' अध्याय के पृ० १५०, १६३, जादि पर, इस विषय का विवरण किया है , 'दि नायन आक्र ति हुंसांगन' में विस्तार से , थोड़े में यह कि, जब ए रय देने पाले रात्र पर 'क्रोध' होता है, पर साथ ही उनकी अधिक घटपत्ता और अपनी अज्ञानता का ज्ञान होता है, तब 'क्रोध' का रूपान्तर 'भय' हो जाता है ।

फ़ाइड, यहूदी, और हिटलर

सब को यह मालूम है कि सन् १९३३ ई. से, जब से जर्मनी में हिटलर को पूर्ण अधिकार हुआ और हिटलर-शाही का आरम्भ हुआ, तब से यहूदी ('ज्यू') जाति के लोगों पर भारी आपत्ति विपत्ति आई ; हिटलर ने यह घोषणा कर दी कि जर्मनी पर, इधर चालीस पचास वर्ष के भीतर, जो भी मुसीबतें आईं, वह सब यहूदी जाति के रोज़गारियों के चक्रकों पेटकों (चालवाज़ियों, अमलासाज़ियों, 'इन्ट्रीगज़', 'क्लीक्स्', 'कोटरिज़्') के कारण आईं, इन रोज़गारियों ने, सभी मुख्य धनाढ्य देशों में, यथा ब्रिटेन, फ़्रांस, जर्मनी, रूस, ज़ेको-स्लोवाकिया, यु. स्टे. अमेरिका आदि में, युद्ध की सामग्री बनाने वाले बड़े-बड़े कारख़ाने जारी किये, और सभी देशों के हाथ तुल्य रूप से बँचा, तथा पेश-आराम, भोग-विलास, मद्य-मांस, शराब-कवाब, अश्लील सिनेमा-थियेटर, अश्लील कोक-शास्त्रीय ग्रन्थों के प्रचार से, काम-शास्त्र संबंधी दुष्ट-भाव और असज्-ज्ञान को जनता में फैलाया, जिससे उनमें दुराचार व्यभिचार बहुत बढ़ा, और मानव-संसार की आध्यात्मिक हवा काम-क्रोध-लोभ-मत्सर-कलह से भर गई ; तथा भीतर-भीतर राष्ट्र-नायकों को और जनता को, अर्थात् 'प्रोपेगंडा', अर्थात् प्रचारों, से भरकाया ; जिससे पहिला विश्वयुद्ध भी हुआ, जिसमें जर्मनी मारा पड़ा। यदि 'यहूदी जाति' न कह कर, 'भिन्न जातियों और देशों के थोड़े से धनकुबेरों का एक अन्नागमित्र गुट' कहा होना, तो यह घोषणा अक्षरशः सत्य होती ; बकील लोग, आपस में, मेल रखते हैं, मगर सुबकियों को भरका कर लड़वा देते हैं, और कचहरी में मुकदमा दाख़ल करा कर, उनको चूमने हैं। जब हिटलर ने अपने अधि-

कार की पहुँच के भीतर, यहूदियों का उत्पीड़न और विनाशन आरम्भ किया, तब फ्राइड, जो जात्या यहूदी था, और आस्ट्रिया-वासी जर्मन था, अपने देश से भाग कर ब्रिटेन में आ बसा, ऐसे ही और भी बहुतरे बड़े नामी प्रोफेसर ऐनस्टैन आदि, यु० स्टे० अमेरिका आदि देशों में छितरा गये, जहाँ हिटलर की पहुँच न थी, और साधारण वा दरिद्र कोटि के बहुतरे यहूदी, रूस देश के सोवियेट राष्ट्र की अल्प-अंग-भूत यहूदी-रिपब्लिक में जा बसे, या 'लीग आफ् नेशंस' की अनुमति से ब्रिटेन के द्वारा बसाई हुई, (और अरबों से लड़ाई जाती हुई) फिलिस्तीन-जर्जसलेम की यहूदी-रिपब्लिक को भाग गये ।

सन् १९४० ई० में, लंदन नगर में फ्राइड का शरीर छूटा । पर अंत तक उन्होंने यह नहीं पहिचाना कि मानस एषणा, वासना, कामना, सब, तीन राशियों के भीतर पड़ती है, और प्रत्येक के साथ राग और द्वेष की मुख्य और अवांतर वृत्तियों बँधी हैं, जिनकी चर्चा, इस "कामाऽध्यात्म" नामक अध्याय के आरंभ में (पृ० १७५-१८६ पर) की गई है, और जिनमें से किसी के भी उत्पन्न हो कर खडित होने से मानस और शारीर रोग उत्पन्न होते हैं ।

प्राण के विचार का तय कर

जैसा ऊपर कहा, फ्राइड के विचार में तथ्य यश इतना ही है, अर्थात् (सब नहीं,) कुछ मानस और शारीर रोग, विविध प्रकार के छोटे बड़े उन्माद, दुःखम, मूठ-माह, और उन प्रकार की (चक्के, ईट, परपर के टुकड़े, मल-मूत्र, पादि फेकने की) चेष्टाएँ जो वृद्धा भूत-प्रेत-पिशाचादि की बाधा से कारण समझी जाती हैं, और जो बाल्य और यौवन की वयःसन्धि के

काल में, किशोर-अवस्था ('पेडोलेसेन्स') में, लड़कियों (जो विशेष कर) तथा लड़कों को सताती है—यह सब मैथुनीय काम-वासना के व्याघात से, उत्पन्न होती हैं; तथा, इस किशोरावस्था में अंकुरित होती हुई ऐसी वासनाओं को स्वयं न समझ सकने से, और भयभीत और भ्रान्त होने से, ऐसी असाधारण चेष्टा उत्पन्न होती हैं, तथा, सयानो (स-शानो, प्रौढ़ों, 'पेडल्ट्स') की दर्प-पूर्ण कामीय चेष्टाओं को देख कर, बालक-बालिकाओं वा किशोर-किशोरियों के हृदय में साध्व्य (हृदय), उद्वेग, कम्प, होने से उत्पन्न होती है ।

इस विषय का समग्र तथ्य

सम्पूर्ण तथ्य का जो अंश फ्राइड के ध्यान में नहीं आया, वह यह है कि, न केवल उपस्थीय काम के, अपितु, जीव के भीतर बैठे सर्व-वासना-मय सर्व-इच्छा-मय मूल-काम-सामान्य के किसी भी उद्विक्त प्रचंड विकार के, विशेष काम-क्रोध-लोभ- (मोह)-भय-मद-मत्सर आदि के उद्वेग से, ऐसी विकृतियाँ और अस्वाभाविक चेष्टाएँ होने लगती हैं जो साधारण जन के समझ में नहीं आती, और उनको हैरान परीशान, चिंताग्रस्त, विचित्र और किंकर्तव्य-विमूढ़ कर देती हैं । जिन विचारशील सज्जनों को स्वयं अपने जीवनारम्भ में ऐसे विकारों का अनुभव हो चुका है, और जो उनको सर्वथा भूले नहीं हैं, वे इन चेष्टाओं के हेतु को समझते हैं, और विकृतियों को पुनः स्वस्थ करने में सहायता दे सकते हैं । प्रायः सभी चिकित्सक लोग ऐसे विकारों का कामीय वासनाओं से सम्बन्ध जानते हैं; और स्थूल रीति से तो साधारण जन भी इसको पहचानते हैं । अपरिचित ग्राम-स्त्रियाँ, इस सम्बन्ध को, प्रायः अव्यक्त बुद्धि

('प्रातिभ' बुद्धि, 'इन्द्रियुद्देशन') से ही जानती है, यौवनोन्मुख किशोर किशोरियों की असाधारण नवीन चेष्टाओं को देख कर झट समझ जाती है, और (अनावृत ग्रामीण शब्दों में) कहती है कि अब ये वैवाहिक (मैथुन) क्रिया के योग्य हैं और उसको चाहते हैं । "प्राप्ते तु षोडशे वर्षे पुत्रं मित्रवद् आचरेद्", जब बेटा सोलह वर्ष का हो जाय, तब उसके साथ बराबरी के मित्र के ऐसा व्यवहार करना चाहिये, इस प्रसिद्ध श्लोक का भी संकेत यही है कि, स्थूल रीति से सभी जनता जानती है कि सोलह वर्ष के बाद किशोर को युवा समझना चाहिये ।

यदि सम्पूर्ण तथ्य को संस्कृत शब्दों में एकत्र कहना हो तो कुछ मध्यकालीन और अर्वाचीन कवियों के तथा प्राचीन ऋषियों के वाक्यों का संकलन करना चाहिये , यथा,

कुशः काणः खञ्ज श्रवण-विकल पुच्छ-रहित
 गणी पूय-क्लिप्त कृमि-बुल शतैर् आवृत-तनु
 धुधा क्षामो जीर्णः पिटरव-कपालाऽर्पित-नालः,
 शुनी अन्वेति श्वा, एत अपि निहति-एव मदन (भर्तृहरि) ।

सूया भूखा वृद्धा लंगड़ा लूला, विना बान, विना पूँछ,
 घायल, सड़ा, कीरों से भरा, हाडी के टुकड़े को गले में पहिने
 हुआ भी कुत्ता कुत्ती के पीछे दौड़ता है, उन्-मत्त पागल करने
 वाला 'मदन', मरे को भी मारता है ।

स्त्री-मुद्रां पप-कोतनस्य परमा, सर्वाऽर्ध-नस्पत्-वती,
 ये मृता प्रविहाय यान्ति बुधिय , स्वर्गाऽदि-एवम इच्छया,
 ते हेत-एव निहत्य निर्दयतर, नग्नीकृता , मुंठिता
 वेचिक् पचशिखीकृतान् च, जटिला काफलिवाश्
 चाऽपरे (भर्तृहरि) ।

काल में, किशोर-अवस्था ('पेडोलेसेन्स') में, लड़कियाँ (का विशेष कर) तथा लड़कों को सताती हैं—यह सब मैथुनीय काम-वासना के व्याघात से, उत्पन्न होती हैं; तथा, इस किशोरावस्था में अंकुरित होती हुई ऐसी वासनाओं को स्वयं न समझ सकने से, और भयभीत और भ्रान्त होने से, ऐसी असाधारण चेष्टा उत्पन्न होती हैं; तथा, सयानो (सज्ञानो, प्रौढ़ों, 'पेडल्ट्स्') की दर्प-पूर्ण कामीय चेष्टाओं को देग कर, बालक-बालिकाओं वा किशोर-किशोरियों के हृदय में साध्यस (हृदस), उद्वेग, कम्प, होने से उत्पन्न होती है ।

इस विषय का समग्र तथ्य

सम्पूर्ण तथ्य का जो अंश फ्राइड के ध्यान में नहीं आया, वह यह है कि, न केवल उपस्थीय काम के, अपितु, जीव के भीतर बैठे सर्व-वासना-मय सर्व-इच्छा-मय मूल-काम-सामान्य के किसी भी उद्विक्त प्रचंड विकार के, विशेष काम-क्रोध-लोभ (मोह)-भय-मद-मत्सर आदि के उद्वेग से, ऐसी विकृतियाँ और अस्वाभाविक चेष्टाएँ होने लगती हैं जो साधारण जन के समझ में नहीं आतीं, और उनको हैरान परीशान, चिंताग्रस्त, विचित्र और किंकर्तव्य-विमूढ़ कर देती हैं । जिन विचारशील सज्जनों को स्वयं अपने याँवनारम्भ में ऐसे विकारों का अनुभव हो चुका है, और जो उनको सर्वथा भूले नहीं हैं, वे इन चेष्टाओं के हेतु को समझते हैं, और विकृतों को पुनः स्वस्थ करने में सहायता दे सकते हैं । प्रायः सभी चिकित्सक लोग ऐसे विकारों का कामीय वासनाओं से सम्बन्ध जानते हैं; और स्थूल रीति में तो साधारण जन भी इसको परिचानते हैं; अर्थात् आम-स्त्रियाँ, इस सम्बन्ध को, प्रायः अव्यक्त बुद्धि

('प्रातिभ' बुद्धि, 'इन्द्रियुद्देशन') से ही जानती है; यौवनोन्मुख किशोर किशोरियों की असाधारण नवीन चेष्टाओं को देख कर झट समझ जाती है, और (अनावृत ग्रामीण शब्दों में) कहती हैं कि अब ये वैवाहिक (मैथुन) क्रिया के योग्य हैं और उसको चाहते हैं । "प्राप्ते तु षोडशे वर्षे पुत्रं मित्रवद् आचरेद्", जब षेठा सोलह वर्ष का हो जाय, तब उसके साथ बराबरी के मित्र के ऐसा व्यवहार करना चाहिये, इस प्रसिद्ध श्लोक का भी मकेत यही है कि, स्थूल रीति से सभी जनता जानती है कि सोलह वर्ष के बाद किशोर को युवा समझना चाहिये ।

यदि सम्पूर्ण तथ्य को संस्कृत शब्दों में एकत्र कहना हो तो कुछ मध्यकालीन और अर्वाचीन कवियों के तथा प्राचीन ऋषियों के वाक्यों का संकलन करना चाहिये , यथा,

कृश काण खञ्ज श्रवण-चिकल पुच्छ-रहित
 व्रणी पूय-क्लिन्न कृमि-बुल शतैर् आवृत-तनु
 क्षुधा-क्षामो जीर्ण पिठरक-कपालाऽर्पित-गल,
 शुनी अन्वेति श्वा, एत अपि निहति-एव मदन (भर्तृहरि) ।

सूखा भूखा वृद्धा लंगड़ा लूला, विना वान, विना पूँछ,
 घायल, सड़ा, कीड़ों से भरा, हाटी के टुकड़े को गले में पहिने
 हुआ भी कुत्ता. कुत्ती को पीछे दौड़ता है. उन्-मत्त पागल करने
 वाला 'मदन', मरे को भी मारता है ।

खो-मुट्टां क्षप-केतनुरय परमा, सर्वाऽर्ध-मम्पन्-इरी,
 ये मृदा प्रविष्टाय यान्ति बुधिय , स्वर्गाऽदि-हाभ-इच्छया
 ते तेन-एव निहत्य निर्दयतर, नग्नीवृता , रुष्टिता
 वेचित् पचशिखीकृतान् प, जटिला वापालिवाश्
 चाऽपरे (भर्तृहरि) ।

काल में, किशोर-अवस्था ('पेडोलेसेन्स') में, लड़कियों (कां विशेष कर) तथा लड़कों को सताती हैं—यह सब मैथुनीय काम-वासना के व्याघात से, उत्पन्न होती हैं; तथा, इस किशोरावस्था में अंकुरित होती हुई ऐसी वासनाओं को स्वयं न समझ सकने से, और भयभीत और भ्रान्त होने से, ऐसी असाधारण चेष्टा उत्पन्न होती है; तथा, सयानो (स-ज्ञानो-प्रौढ़ों, 'पेडल्ट्स्') की दर्प-पूर्ण कामीय चेष्टाओं को देख क-वालक-वालिकाओं या किशोर-किशोरियों के हृदय में साध्य (हृदस), उद्वेग, कम्प, होने से उत्पन्न होती है ।

इस विषय का समग्र तथ्य

सम्पूर्ण तथ्य का जो अंश फ्राइड के ध्यान में नहीं आया, वह यह है कि, न केवल उपस्थीय काम के, अपितु, जीव के भीतर बैठे सर्व-वासना-मय सर्व-इच्छा-मय मूल-काम-सामान्य के किसी भी उद्विक्त प्रचंड विकार के, विशेष काम-क्रोध-लोभ (मोह)-भय-मद-मत्सर आदि के उद्वेग से, ऐसी विकृतियाँ और अस्वाभाविक चेष्टाएँ होने लगती हैं जो साधारण जन के समझ में नहीं आती, और उनको हैरान परीशान, चिंताग्रस्त, विचित्र और किकर्तव्य-विमूढ़ कर देती हैं । जिन विचारशील सज्जनों को स्वयं अपने यौवनारम्भ में ऐसे विकारों का अनुभव हो चुका है, और जो उनको सर्वथा भूले नहीं हैं, वे इन चेष्टाओं के हेतु को समझते हैं, और विकृतों को पुनः स्वस्थ करने में सहायता दे सकते हैं । प्रायः सभी चिकित्सक लोग ऐसे विकारों का कामीय वामनाओं से सम्बन्ध जानते हैं; और स्थूल रीति से तो साधारण जन भी इसको पहचानते हैं; अपरिचित ग्राम-स्त्रियाँ, इस सम्बन्ध को, प्रायः अन्यत्र बुद्धि

('प्रातिभ' बुद्धि, 'इन्द्रियुद्देशन') से ही जानती है, यौवनोन्मुख किशोर किशोरियों की असाधारण नवीन चेष्टाओं को देख कर झट समझ जाती है, और (अनावृत ग्रामीण शब्दों में) कहती है कि अब ये वैवाहिक (मैथुन) क्रिया के योग्य है और उसको चाहते हैं । "प्राप्ते तु षोडशे वर्षे पुत्रं मित्रवद् आचरेद्"; जब षेठा सोलह वर्ष का हो जाय, तब उसके साथ बराबरी के मित्र के ऐसा व्यवहार करना चाहिये, इस प्रसिद्ध श्लोक का भी संकेत यही है कि, स्थूल रीति से सभी जनता जानती है कि सोलह वर्ष के बाद किशोर को युवा समझना चाहिये ।

यदि सम्पूर्ण तथ्य को संस्कृत शब्दों में एकत्र कहना हो तो कुछ मध्यकालीन और अर्वाचीन कवियों के तथा प्राचीन ऋषियों के वाक्यों का संकलन करना चाहिये ; यथा,

कुश काण खञ्ज' श्रवण-विकल पुच्छ-रहित
 व्रणी पूय-विलस्य कृमि-बुल शतैर् आवृत-तनु
 क्षुधा-क्षामो जीर्ण पिठरक-कपाला-ऽर्पित-गल,
 शुनी अन्वेति श्वा, एत अपि निहति-एव मदन (भर्तृहरि) ।

सूया भूखा वृद्धा लगटा लूला, विना वान, विना पूँछ,
 घायल, सड़ा, पीछों से भरा, हाडी के टुकड़ों को गले में पहिने
 हुआ भी कुत्ता. कुत्ती के पीछे दौड़ता है. उग्र-मत्त पागल करने
 वाला 'मदन', मरे शो भी मारता है ।

खो-मुटा एष-केतनस्य परमां, सर्वाऽर्ध-नम्पत् करी,
 ये मृता प्रविष्टाय यान्ति बुधिय, स्वर्गाऽदि-हाभ-इच्छया
 ते तेन-एव निहत्य निर्दयतर, नग्नीकृता, रुटिता
 वंचित् पचशिखाकृतान् च, जटिला वापगलिवाश्
 चाऽपरे (भर्तृहरि) ।

स्त्री के लिये पुरुष, पुरुष के लिये स्त्री, संसार-सर्वस्व भी है। सब सुख सम्पत्ति का सार भी; इस को त्याग कर स्वर्ग आदि के लोभ से जो स्त्री वा पुरुष असमय विरक्त होना चाहते हैं, उन पर कामदेव की मार पड़ती है, और तरह तरह से विरूप कुरूप बना दिये जाते हैं; कोई, भिक्षु भिक्षुणी नग्न फिरते हैं, कोई मुंडे हो जाते हैं, कोई पांच शिखा कर लेते हैं, कोई जटा बड़ा लेते हैं और भस्म लपेटते हैं; कोई 'अधोरी' हो जाते हैं, नर-कपाल खप्पड़ हाथ में लिये फिरते हैं, विष्ठा तक खा लेते हैं; कोई इन्द्रिय-च्छेदन कर डालते हैं, कोई कनफटें 'अलख'-जगाने वाले हो जाते हैं; तरह तरह के 'वैरागी', 'फ़कीर', कथड़ी गुदड़ी 'सूफ़' कम्बल ओढनेवाले 'सूफ़ी' आदि, विविध पंथों के विविध वेशधारी हो जाते हैं; कोई जंगल घायावान में चले जाते हैं और अकेले पड़े रहने का और कंद मूल फल पर गुज़र करने का जतन करते हैं, कोई शहरों गांवों में भीग मांगते फिरते हैं; इत्यादि।

कामान्द्रये ममवर्त्तताऽधि, मनसो रेतः प्रथमं यद् आसीत्,
 सतो वंशुं अमति निरविन्दन्, हृदा प्रतीप्य, कवयो मनीषिणः,
 (वेद)

इसका अर्थ, पृ० १९३-४ पर लिखा गया है।

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः, (उपनिषा),
 (बन्धाय कामाऽधिष्ठं हि, निष्कामं मुक्तये तथा)।

बन्ध और मोक्ष का कारण मन ही है; काम से भगवन् का; काम से ब्रह्मा, मोक्ष का। हिन्दी कहावत है, "जंगल का मारा जंगल; जंगल का मारा शहर"; अर्थात्, अविद्या का बाद विद्या, विद्या के बाद अविद्या; सृष्टि के बाद प्रलय, प्रलय

के बाद सृष्टि, जागने से थका सोवै, सोने से थका जागै; "एका भार्या, सुन्दरी वा दरी वा" (भर्तृहरि), मनुष्य को एक भार्या चाहिये, या तो सुन्दरी हो, या फिर पर्वत की कंदरा दरी ही हो। गीता में 'काम' शब्द तेतीस बेर आया है।

मञ्जी वर्णाश्रम-व्यवस्था से सर्व-समन्वय

पृ० १९३ के आगे, कई पृष्ठों में, काम-सामान्य और काम-विशेष की चर्चा की जा चुकी है, तथा इच्छा के दो त्रिको, लोक-वित्त-दार- (सुत)-एषणा और आहार-धन-रति इच्छा की भी, जिन्हीं के सम्बन्ध में काम क्रोधादि के बहुविध इन्द्रिय चित्तविकारों की उत्पत्ति होती है। प्रसंग-वश, 'साइको-पेनालिसिस' के वर्णन के साथ, यहाँ, दूसरे शब्दों में, यह आशय दुहरा दिया गया, क्योंकि, आज काल, जहाँ जहाँ आधुनिक पाश्चात्य शिक्षा और विज्ञान आदि का सम्पर्क है, वहाँ वहाँ फ्राइट (और उनके अनुयायी और सशोधक युंग, फेड्लर, आदि) के 'साइको-पेनेलिसिस'-वाद की, और मार्क्स (और उनके अनुयायी और सशोधक, एंगेल्स, लेनिन, ट्राट्स्की, स्टैलिन आदि) के 'काम्युनिज्म-सोशलिज्म'-वाद की, चर्चा, और उन में श्रद्धा, पिंया अन्ध-श्रद्धा, अपरीक्ष्य-विश्वास्तित्ता, गैली-ध्वंसान मेपी-प्रपातवन् गतानुगतिकता, चलन देय पड़ती है। यहाँ इतना और कह देना चाहिये कि, जैसे लेनिन स्टैलिन आदि को, व्यवहारिक (जर्मनी 'प्रैक्टिकल्') अनुभव के बाद, मार्क्स के मत (नय, अभ्युपगम, 'थियरी', सदात) में शोधन परिवर्तन (तर्मीन, 'कर्रेक्शन') करना पड़ा है वैसे ही युंग, फेड्लर आदि को फ्राइट के विचार या परिष्कार करना पड़ा है, और इन दोनों प्रतिसंस्करणों से दोनों ही के विचार और व्यवहार वैदिक दर्शन के आध्यात्मिक निदानों के

(यद्यपि अभी तक 'अ प्रति-अभि-ज्ञात', विना 'पहचाने', रूप से), अधिकाधिक आ रहे हैं, और आशा होती है कि दोनों, निकट भविष्य में, उन्हीं वैदिक सिद्धान्तों के व्यावहारिक-प्रयोग ('प्राैकटिकल् ऐप्लिकेशन')-रूपी वर्ण-आश्रम-धर्मा-उत्तमक समाज-व्यवस्था में, संग्रथित, समन्वित, परिणत हो जायेंगे ।^१

१ मन् १९३४ ई० के अन्त में, मै ने, "एन्शेंट वर्सस माडर्न सायटिफिक् सोशलिज्म" नाम, अंग्रेज़ी में लिखा ग्रन्थ छपवाया; इस में यह दिखाने का यत्न किया कि आज काल, चालीस पचास वर्ष से वा र्सा वर्ष में, पच्छिम के देशों में, जो पूंजीवाद और तत्सहायभूत साम्राज्यवाद, शस्त्रवाद, आदि चल रहे हैं, उनका, और उनके प्रतिप्रांणी समाजवाद-साम्यवाद का, किन अंशों में सादृश्य है और किन अंशों में वैदृश्य, तथा इस नवीन समाजवाद का और भारतीय प्राचीन समाजवाद का कितना सादृश्य वैदृश्य है । ऐसे ही, "थियोमोफिस्ट" नाम के मासिक पत्र में (जो आड्यार, मद्रास, से निकलता है), सन् १९३७ के अंकों में, तथा "दर्शन का प्रयोजन" नाम के हिन्दी ग्रन्थ में, सन् १९४० ई० के अंत में, 'साइको-ऐनालिसिस' की समीक्षा परीक्षा की; इसी समीक्षा का उपवृहण कर के, "एन्शेंट साइको-मिथेम्सिस वर्सस माडर्न साइको-ऐनालिसिस" (अर्थात् 'प्राचीन चित्त-संघटन, मंडलेपण, संवातीकरण, व्यूहन, सम्वन्धन, सम्पूरण, संग्रथन, एकीकरण, और नवीन चित्त-विघटन, विश्लेषण, विश्लथन, अनेकी-करण, का परम्पर सम्प्रधारण, मुक्ताधिया, र्मागत्यन, मतोलन, स-परि-अप-दृक्षा') नाम के ग्रन्थ का आरंभ किया; आशय यह दिखाना था, कि नवीन वाद पंथपाक्षिक अर्थ-सम्प है, और प्राचीन, यवर्गीण, सर्वसंग्राहक, सम्पूर्ण सत्य है; पर यह ग्रन्थ अरुण पड़ा है; अंतगमना की दृष्ट्या दृष्टे, और आयु शेष बुद्धि-शेष परांत हुआ, तो पृग हांगा ।

साधारण रीति से, “आधयो मानसीव्यथाः” और ‘व्याधयो दैहिकीव्यथाः’, ऐसा व्यवहार हो रहा है, आयुर्वेद का निर्विवाद सिद्धांत है कि ‘आधि से व्याधि, और व्याधि से आधि’; एक दृष्टि से, समग्र आयुर्वेद को, तथा सांख्य योग-वेदान्त को, इसी सूत्र का भाष्य कह सकते हैं, योगोक्त विधियों से चित्त का प्रसादन, परिमार्जन, विशोधन, परिष्करण, स्वस्थापन, आधि-शमन, आयुर्वेदोक्त दिन-रात्रि-ऋतु-चर्या से, शौचाऽचार से, विशेष रोगों के लिये विशेष औषध उपचार आदि से, शरीर-शोधन, व्याधि-शमन, आधि-व्याधि के शमन से सत्त्व (प्राण-और बुद्धि) की शुद्धि, परमात्म-स्मृति का लाभ, सब हृदय-ग्रन्थियों का वि-प्र-मोक्ष (विशिष्ट प्रकृष्ट मोचन), परम-शांति-रूप स्थित-प्रज्ञता-रूप निरगतिशय-आनंद की प्राप्ति (छांदोग्य उप०)।

आधि-व्याधि के सम्बन्ध के वैज्ञानिक उदाहरण

व्याधियों के उत्पादन में आधियों के प्रभुत्व को पाश्चात्य वैज्ञानिक कितना मानने लगे हैं, इसके उदाहरण के अर्थ, “दि गैडर्स डाइजेस्ट” (न्यू-यार्क, यु स्टे ज) के अक्टूबर, १९४२ ई० के अंक से कुछ संक्षिप्त उद्धरण यहाँ लिये जाते हैं। इनसे सिद्ध होता है कि न केवल मस्तिष्क और नाडी- (‘नर्व’) व्यूत की आधि-व्याधियाँ, अपि तु सब प्रकार के शारीर रोग, तीव्र मानस शोभ से पैदा हो सकते हैं। टीक. ही है, दात पित्त-कफ, रजस्-सत्त्व-तमस्, (क्रिया-ज्ञान-इच्छा), सभी सदा साथ रहते हैं, नितान्त पृथक् नहीं किये जा सकते हैं, हा, एक समय में एक अधिक व्यक्त और बलवान्, दूसरे दो कम, ऐसा घटाव बढ़ाव ही उनमें होता रहता है, अत एक के विकार का अन्तर भी दूसरे पर पड़ता ही है, “वैशेष्यात् तु तद्वाद. तद्वाद”. विशेष मुख्य

लक्षण की प्रचलता से, वैशेष्य से, वातिक, पैतिक, इलैम्पिक, ऐसे विशेष नाम से रोग कहे जाते हैं; अन्यथा, सभी रोगों में, तीनों के विकार कम वेश देख पड़ते हैं ।

“पन्द्रह सौ रोगियों की परीक्षा, न्यू-यार्क महानगर के एक अस्पताल में की गई; आधे से ज्यादा: के रोग का कारण मानस क्षोभ साबित (सिद्ध) हुआ । नौकरी छूट जानें से, आर्थिक चिंता से, दूसरे के पेट के दर्द का हाल सुनने से, मचली और पेट का दर्द शुरू हो गये, दो सौ पांच रोगियों के पेट में निनाई, मानस क्षोभां से, अधिक चिंता, रोज़गार में नुक़सान, पति पत्नी के गृह-कलह आदि से, हो गये; तीव्र क्रोध के ऊपरी दमन आंग भीतरी जलन से तत्काल ‘हाइ ब्लड प्रेशर’ (रुधिर वाहिनी सिराओं में विकार) हो गया; ‘डायबीटिस’ (बहुमूत्र के विविध प्रकार, ‘इन्सु-मेह’ आदि), यक्ष्मा, दन्तरोग, हृदय के रूप और गति के विकार, आदि, विविध रोग, विविध क्षोभां के कारण, विशेष कर गत विश्व-युद्ध में अप्रकाशित भय के तीक्ष्ण वेग से आंग घर वापस जाने की घोर उत्कंठा से, उत्पन्न हुए । इन अन्वेषणों का यहां तक प्रभाव पड़ा है कि, प्रगतिशील चिकित्सक अब यह कहने लगे हैं—‘किस प्रकार का रोग है, यह जानना कम आवश्यक है; किस प्रकार का रोगी है, यह जानना अधिक आवश्यक है ।’” भारत के, तथा पश्चिम के, चिकित्सकों को यह

1. “Mental conditions can upset normal physical functions, weaken our resistance to infection, and actually cause physical change in vital organs, . . . neuritis, stomach pains, . . . stomach cancer, . . . stomach ulcer, . . . mucous colitis, . . . high blood pressure, . . . tuberculosis, . . . diabetes, . . . arthritis, tooth decay, . . .”

विदित है कि कभी कभी 'जानडिस' (पांडुरोग, कामला, यर्कान, जिसमे यकृत की विकृति से पित्त सारे शरीर में फैल जाता है, और शरीर हल्दी ऐसा पीला हो जाता है), उग्र क्रोध के ऊपरी निरोध और भीतरी विरोध से, एक वा दो घंटे से भी कम में हो जाता है।

काम-विषयक शिक्षा *

बिना सत्य ज्ञान के, दुःख से मोक्ष नहीं

प्रकृत प्रकरण का आरम्भ पृ २६६ पर, "काम विषयक शिक्षा के प्रकार और प्रचार के सम्बन्ध में कुछ विचार", इस

heart trouble (are caused because) most of us bury distressing problems in a secret crypt of our minds (This is what the psycho-analyst calls 'repression') "It is more important to know what sort of patient has a disease, than what sort of disease a patient has", (*Reader's Digest* for Oct. 1942, pp 49-51, New York U S A)

पुनः कुछ निजी निवेदन

"श्रेयानि दत्-विमानि" अर्थात् काम में बहुत दिग्गज होते हैं, १४ जन १९४३, काम को मैं दुर्मी से उठने लगा, तो मूर्च्छित हो गया, सामने रकड़ी हृदयी कुर्सी पर गिरा, नाक से प्राय दो सेर रक्त, अठारह घंटे में, निकल गया, ऐसा डाक्टरों ने अनुमान किया, कठिनाता से रक्त बन्द हुआ, प्राय पन्द्रह दिन में जब फिर शरीर में कुछ प्राण-संचार हुआ, तब दिग्गज छितरे प्रसुप्तवत् विचारों को एगत्र कर के, चारपाई में ही बैठ बैठ कर, ग्रन्थ के कार्य का पुन आरम्भ किया। ऐसी अवस्था में क्या कार्य और कैसा हो सकेगा, यह अन्तरात्मा को ही विदित है। पर 'जय तय स्वामि

शीर्षक से हुआ है। तात्कालिक साक्षात् उद्देश्य इस प्रकरण का वह जान पड़ेगा जिसकी चर्चा पृ० २२२-६ पर की गई है। किंतु व्यापक और गुरुतर उद्देश्य, इस समस्त 'कामाध्याय' नामक अध्याय का, यह है, कि काम-शास्त्र के आध्यात्मिक तत्त्वों का ज्ञान जनता में फैले; विशेष कर गृहस्थों में, जिनके ऊपर नई पुष्ट की रक्षा शिक्षा भिक्षा (वा भक्षा) की जिम्मादारी है। कि वे समय समय पर, अपने बच्चों की बुद्धि, वयस्, स्वभाव, अवस्था आदि के अनुसार, उनको भूलों और दुर्गचारों से बचाने के लिये, उचित हित उपदेश करें। इस लिये, इन आध्यात्मिक तत्त्वों के ज्ञान के अन्तर्गत, तथा उनसे सम्बद्ध, बहुत सी बातों और विचारों का संग्रह यहां तक कर दिया गया। पर प्रतिपक्ष दोनों पर विचार कर के, इस युग (ज़माने) के लिए निष्कर्ष यही है, जैसा पृ० २०८ पर गीता के श्लोक से कहा गया, कि सत्य ज्ञान के प्रचार से ही 'हवा' पवित्र होती है, जनता का हृदय शुद्ध होता है, सारे समाज का भाव और विचार स्यात्विक होता है, और, तदनुसार, आचार भी शुद्ध और स्यात्विक होता है; ऐसे समाज की नई पुष्ट की उचित रक्षा शिक्षा भिक्षा, अनायासेन, आप से आप, होती रहती है।

इसका प्रमाण, भारत के प्राचीन इति-ह-आस में मिलता है। कचहरियों में गोज़ देखा पड़ता है कि एक ही मामिले में

(श्याम) नवतक श्याम (आना)'; "कर्मणि एवाऽविनाशम् ते, मा पश्येत् कदाचन"। पाठक मज्जन मय दोषों को क्षमा करेंगे; यदि कोई भ्रत इस ग्रन्थ का उद्देश्य उपयोगी उपादेय जान पड़े, तो उसका प्रहण और प्रचार करें; जो दोषयुक्त अनुपयुक्त हों जान पड़ें, उसका त्याग और दूर करना अपरिहार्य है; यह धारणा है।

दोनों पक्ष की ओर से, आंख देखे गवाह परस्पर नितान्त विरोधी साक्षी देते हैं, तब अति दूर भूत काल में, 'इदं इत्थं एव', ऐसा ही हुआ, 'इति-ह-आस', यह निश्चय से कहना कठिन है, तौ भी न्यायालय में न्यायाधीश प्राड्विवाक् निर्णय करता ही है, और उसका निर्णय अक्सर ठीक भी होता ही है। यह देखते हुए, उपलभ्यमान स्मृति, इतिहास, पुराण आदि ग्रन्थों के सहारे से, तथा उन स्मृतियों के आदेशों पर आश्रित जो समयाऽचार आजकाल भी 'हिन्दू'-समाज में चल रहा है, चाहे अस्त व्यस्त रूप ही में, उसके सहारे से, यह अवश्य कह सकते हैं कि प्राचीन काल में, भारत में, अब से बहुत अधिक सात्विक भाव फैला था, और उसके अनुसार नई पुस्तक को शिक्षा मिलती रही।

ब्रह्मचर्य के विषय में प्राचीनकाल की शिक्षा

आश्रमों में, विशेष कर ब्रह्मचारी विद्यार्थी आश्रम के धर्मों के वर्णन में, ब्रह्मचर्य शब्द प्रतिपद आता है, अवश्य ही इसका अर्थ विद्यार्थियों को समझाया जाता था, वेद और उपनिषद् के पापय, पृ० २०६ पर लिखे गये हैं मनु की आता है,

एक शर्यात स्वर्ग, न रेत स्वन्दयेन वयचित् ,
 कामाद् हि स्वदयन् रेतः, हिनन्ति प्रत आत्मन ,
 स्वप्ने मिकत्वा ब्रह्मचारी हि ज शुभ, अबामत ,
 र्नात्वा, अर्ष अर्षयित्वा, त्रिः 'पुनर् मा' इति क्वच जपेन , (न०) ।

एक विलोमि में, कही कही या भूमि पर, ब्रह्मचारी असेर ही स्वयं, दूसरे के साथ नहीं, जान वृत्त कर कही कही दीर्घ

न गिरावै ; यदि बुद्धिपूर्वक गिरावैगा, तो उसके ब्रह्मचर्यव्रत की हिंसा होगी, वह भ्रष्ट हो जायगा, विद्यार्थी को यथेष्ट विद्या नहीं आवैगी ; परन्तु, यदि सपने में, निद्रा में, आप से आप, विना जान बूझ कर इच्छा किये और हस्तमैथुन आदि की वेश किये, वीर्य गिर जाय, तो नहा कर, सूर्य को नमस्कार का, 'पुनर्मा' इस ऋचा को तीन वेर जपे; ऋचा के अर्थ की भावना करता हुआ, "तज्जपः तद्व्यर्थभावनं," (योगसूत्र) विना 'अर्थ' की भावना का जप, 'वि-अर्थ' व्यर्थ है; सात्त्विक भावना-रूप भावनाऽत्मक जप से चित्त शुद्ध होता है। यह सब वात, माता, पिता, वा आचार्य, बत्सल और दयालु भाव से, स्नेहमय शब्दों में, पुत्र को, शिष्य को, समझा देते थे, और इस सम्बन्ध में उसको जो शंका और प्रश्न उठते थे, उनका उर्मा रीति से समाधान कर देते थे। शुक्र, रेत, वीर्य क्या वस्तु हैं, क्यों और कैसे गिरता है, गिरने से क्या हानि है; रक्षा से क्या लाभ है और क्यों, जिस लाभ के लिए उसकी रक्षा, उसका शरीर में संचय, करना उचित है ; यह सब बातें बतलाना ही पड़ता होगा ; और इस रीति से, ज्यों ज्यों विद्यार्थी, किशोराऽवस्था में यौवन की ओर बढ़ता जाता था, त्यों त्यों उसको कामशास्त्र की साधारण और अधिक आवश्यक बातों का ज्ञान अनायास बढ़ता जाता था। सारे समाज में ब्रह्मचर्य के महिमा का शान फैला रहने से, ब्रह्म-चारी की रक्षा स्वतःप्राप्त होगी। पृ. १८१-२ पर और भी श्लोक उद्धृत किये हैं ; उनमें भी इस स्थान पर पुनः देख लेना चाहिये।

यदि बृद्ध द्विर्नर्पी, नेक नीयनी से भी, अच्छे आशय से भी मत् उद्देश्य से भी, अंतर्गन्मा की प्रेरणा से ही, अपने उपदेश हैं और तो भी नई पुद्गल के चित्त में दोष ही उत्पन्न हो, तो कर्म

और सुनने वाले के भाग्य ही का दोष जानना मानना चाहिये ,
और क्या कहा जाय ?

मातृजघा हि वत्सस्य स्तम्भीभवति दोहने, (रघुवश) ।

गाय दूहने के समय, बछ्खे को बांधने के लिये, उसकी माता
गाय का ही पैर स्तम्भ का, खम्भे का, काम देता है ।

अल्पवयस्क को, ऐसे प्रश्नों के उत्तर में, जिनकी चर्चा
पृ० २२५ पर की है, तथा बतलाया जाय, इस विषय पर,
पुन इस अध्याय के 'परिशिष्ट' में, कुछ लिखने का यत्न
किया जायगा ।

ब्रह्मचर्य के गुण

पृ० २०७ पर, इसी शीर्षक का अधिकरण ('मेक्शन', 'टापिक'),
शरीर के तीन स्थूणों स्वभो की, तथा ओजस् की, चर्चा से समाप्त किया गया।
अव-रोह मार्ग से, (अव-रोहण, सर्जन, स-चरण, प्र-वर्त्तन से), अनन्त
ब्रह्म परमात्मा का ही प्रति-बिम्ब, व्यक्तीकृत, वि-वर्त्तित उलटा किया,
स्थूल रूप, 'शुक्र (ब्रह्म सनातन)' है आ-रोह-राम से, (प्रति-सचरण,

पृ० १७७५२, इस 'कामाऽध्यात्म' अध्याय के चारन में बतलाया है
कि पहिले लिये एक छोटे विषय का यह उपरक्षण है उस निबन्ध का प्राय
परम अंग इनके पृष्ठ २०५ तक में समाप्त हुआ, उस पृष्ठ पर, 'ब्रह्मचर्य के गुण',
इस शीर्षक से, एक अधिकरण चारन हुआ, तब पंचम, प्रसाधर, अन्य चतु
शो की चर्चा की गी, उन सब चर्चाओं का परिक्रमा कर, हर परम चर, बिन्दर
पुन 'ब्रह्मचर्य के गुण' की बौर आगया, स्मरण के मौक्य के लिये, इस अधिकरण
में शीर्षक पुन बही दिया जाय है । गति और उल्लाह के अभाव में ब्रह्म
को उपरक्षण बहुत कर ही हो सकेगा ।

प्र-लयन, नि-वर्त्तन, प्रति-सर्जन से), 'शुक्र'-शक्ति को उलटा फेरने से, नीचे उतारने के बदले ऊपर चढ़ाने से, वहिर्मुख के स्थान पर अन्-र्मुख करने से, जीव, पुनः सूक्ष्म सूक्ष्मतर भावों का अनुभव कर लेता हुआ, अव्यक्त परब्रह्म परमात्मा के भाव को प्राप्त करता है। योग विधियों के अभ्यास से निरोध करके, यदि वीर्य-धातु आत्मलीन किया जाय, तो सिद्धियों में परिणत होता है, ऐसी योग ग्रन्थों की सूचना है, वह शक्ति बाहरी कार्यों में व्यय न होकर, भीतर फिरती है, शरीर और मस्तिष्क के सुप्तप्राय चक्रों, पीठों, कन्दों का, दिव्य इंद्रियों का, उद्योग संचालन करती है; स्थूल संतान के स्थान पर सूक्ष्म शरीर का ('त्रिभि-लतीफ' का) निर्माण करती है, जिससे 'से-चर' सिद्धि होती है; 'सं-चित्ताकाश में, विचरण की शक्ति, मानस शक्ति, कल्पना शक्ति, निर्माण द्वारा सब प्रकार के काव्य साहित्य और विविध शास्त्रों के ग्रन्थों का निर्माण होता है, इसी 'से-चर' शक्ति का एक साधारण रूप है। प्राणि-मृष्टि जितनी ही नीचे जाइये, उतनी ही उदर-शिक्षण-परागणता अधिक पड़ती है, दिन रात, आहरण (आहार) और प्रजनन, इन्हीं दो कार्यों में जन्तुओं की शक्ति लगी रहती है, बुद्धि का विकास नहीं होता; मनुष्य वर्ग में आकर, जितनी ही भोजन-सन्तान-कार्यों की रोक होती है, उतनी ही बौद्ध कार्यों की वृद्धि। ब्रह्म-आनन्द का विवर्त्तन काम-आनन्द है; "अपेक्षत वटु म्याम्" "तन् मृष्टा तद् एव अनुप्राशविशत्", "तद् यथा प्रिक्रम भायेंग्रा मंपरिवृक्त-न याक्ष क्रिचन वेद नाऽभ्यन्तरं", इत्यादि वाक्यों में उपनिषदों ने, जीवात्मा-परमात्मा के सम्मेलन का भी, और श्री-पुरुष के यमाश्लेषण का भी, वर्णन किया है, पर यह न भूलना चाहिये कि जीव और ब्रह्म का ऐस्य उत-नम है, मोक्ष है, शुद्ध अमृत है, एक ही निश्चल निश्चय श्रमण्य है; श्री-पुरुष-संगम अग्र-नम अग्रम है, केशव त्रिपाठ अमृताऽनाम है, बहु-रम-रुग्-गूर्ण चंचक क्रियामय अग्रम-न-दिव्य जनन-मण्डल है। कामशास्त्र में मैथुन को अष्टांग कहा है,

स्मरण, कीर्तन, केलि, प्रेक्षण, गुह्यभाषण,
सकलपो,ऽध्यवसायश्च, क्रियानिष्पत्तिर् एव च,

इसके विपरीत, योग भी अष्टांग है, “यम-नियम-आसन-प्राणाश्याम
प्रत्याहार धारणा-ध्यान-समाधय ।” इस विषय का विस्तार, मैं ने
“मानव-धर्म-सार ” नाम के अपने संस्कृत-पद्य-ग्रन्थ में किया है ।

बहुकाम के दोष

स्त्री-वीर्य (जिम्मा नाम रजस् है, पर जो रजस्वला के बहिर्दृश्यमान
'रधिर' से भिन्न है, और जिम्को अंग्रेजी में 'ओवम्' कहते हैं), और
पुरपवीर्य, आहारादि का सार और अहता-ममता काम का विशेष
आधार है । इम्का शरीर में अधिक सचय, और सद्बुद्धि की मात्रा
कम, होने से, ऐश्वर्यमद का प्रधान आविष्कार यह होता है कि पुरुष
बहुत स्त्रियों को व्याह लेते हैं, अथवा घर में टाल लेते हैं । तथा सियाँ,
जिन देशों में ऐसी प्रथा है, बहुत पुरुषों को व्याहती या रखे कर लेती
हैं, अथवा गुप्त जाय बना लेती हैं । पूर्व और पश्चिम देशों के प्राचीन-
अर्वाचीन पुराण-इतिहास में, जो राजा-महाराजा-साम्राज्यो, शाह-शाह-
पादशाह-सुल्तानों, किङ्ग-केसर-एम्पराओं की पथा मिलती हैं, उनसे
मालूम होता है कि एक एक 'अपरोध' ('हरम') में कई कई हजार सियाँ
जक समय समय पर भरते भरते जमा हो जाती थीं । कृष्ण की सोलह
हजार एक सौ आठ सियाँ प्रसिद्ध हैं । उन के बहुत पुराने पूर्वज राजा
रजि की एक हारम लिखी है । यह सब पौराणिक अत्युक्ति हो सकती है,
पर सर्वथा नहीं । ईरान के इतिहास में सैकड़ों और हजारों स्त्रियों के
हरम मिलते हैं । रोम के किसी किसी सम्राट् के भी सैकड़ों के थे ।

१ बारणसि में भी एक देशों की सजा दी है । अरेबो में 'देस्तरगाद'
का 'दिल्ली काफ़ एनन गेरें', हीन का जिन्दी में (पुनर्लिखित पद्य
स्वरूप, १९२१ ई०), दिया के प्रसार पर लाबर ड ।

ईसा से हजार वर्ष पूर्व, यहूदियों के सबसे प्रतापी प्रसिद्ध बुद्धिमान विद्वान् ('दि वाइज़'), किन्तु इस विषय में अन्य राजों के ऐसे दुर्बुद्धि, हज़रत सुलेमान की सात सौ बीवियाँ लिखी हैं। ईसवी पंद्रहवीं शताब्दी में दक्षिण के विजयनगर के साम्राज्य में, एक राजा के अवरोध में बारह हजार स्त्रियों का रहना लिखा है। सोलहवीं शताब्दी में, अति धनसंबंध, अति भोगविलास, अति मांस-मद्या-शहर, अति गर्व के कारण, यह साम्राज्य, सुराज्य प्रबन्ध की बुद्धि और नीति में, तथा श्रुता से प्रजारक्षण की शक्ति में, शिथिल हो गया, इसकी समृद्धि, यूरोप के अभ्यागतों के वर्णन से, युधिष्ठिर की मयनिर्मित सभा और कृष्ण की सुधर्मा सभा की, महाभारत-हरिवंश आदि में लिखित, समृद्धि से भी अधिक आश्चर्यजनक जान पड़ती है, कई पड़ोसी मुसल्मान राजाओं के मिल कर आक्रमण करने से ऐसा विध्वस्त हो गया, कि कुछ वर्षों पीछे उसकी स्मृति भी भारतवर्ष से भूल-सी गई थी। अब इतिहास गवेषकों ने अपनी गौरव बल उस स्मृति को ताज़ा किया है। मुदिरुल से ढाई सौ वर्ष में साम्राज्य जन्मा, बढ़ा, तपा, और, अति काम के कारण ही, समस्त हो गया। हम्पी नामक स्थान में, इस के विशाल गूंडहल मिले हैं।

यह सोलहवीं शती ई० की बात है। ई० मन् १८५७ के विपरीत मंग्राम के पीछे, अवध के नवाब वाजिद अली शाह के साथ, कन्नड़ के पाय मट्टिवायुर्ज को, मान माँ वेगमें गई, ऐसी हिंसा पचास साठ वर्ष पहिले थी। ई० मन् १९०६ में मुज कानों 'मेंट्रल हिंदू कॉलेज' के लिये दान माँगने को, हैदराबाद (दक्षिण) में का अवसर हुआ। वहाँ दो-मंजिले मकानों का एक बड़ा भारी पूजा स्थल के ऐसा, शहर के भीतर देव पडा; लोगों ने कहा कि इस मृतपूर्व निजाम के ब्यालीय की 'महल' थे। लखनऊ में मुर्गी बाजार में बर्न कहा जाना है, कि वाजिद अली शाह के 'महलों' का पूजा था, और उस की बालियों में 'बीरहरग मीला' की जाती थी, इत्यादि

परिणाम जो हुआ प्रसिद्ध है। कुछ वर्ष हुए, कारी के 'आज' अव्वार मे, कुँवर मदन सिंह नाम के एक देशभक्त उच्चवर्गीय राजपुत्र ने, राज-पुताने की एक रियासत के दुराचारों का हाल कई लेखों में छपवाया, और वहाँ के राजा के 'अवरोध' की दशा का भी वर्णन किया।

'अवरोध' शब्द 'रुध्' धातु से बना है, जिस का अर्थ 'रूधना', घेर कर रोकना, जैसे कारावास। अवरोधों में क्या विपत्तियाँ राजा पर पड़ती हैं, तथा राजा के बुरे पर, और उस प्रजा पर जिसके दुर्भाग्य और दुष्कर्म से उसको ऐसे राजा मिलते हैं—यह व्यास वाल्मीकि महर्षि ऐसे इतिहासकारों ने दिखाया है, इन्होंने, कार्य-कारण स्वयं को देखनेवाली सूक्ष्म आध्यात्मिक दृष्टि से, वैयक्तिक तथा सामूहिक मानव-जीवन को, राग-द्वेष, काम-क्रोध, और इन के अवान्तर भावों की ही अनन्त माया-झीटा का प्रवाह पहिचाना और कहा है। कृष्ण के पुत्र साम्य को कैसे अपनी विमाताओं के साथ व्यभिचार करने से बृष्ट रोग हो गया, और कैसे तपस्या से अच्छा हुआ, यह क्या भविष्य पुराण में वही है। तथा कृष्ण के पृथ्वी छोड़ने के बाद उन के अवरोध की क्या दुर्दशा हुई, यह भी प्रसिद्ध है। प्रत्येक अवरोध की प्रायः ऐसी ही दशा होती रही है। आज पास के तत्कालीन लोग जानते हैं, पर इतिहासकार प्रायः नहीं लिखते। क्षत्रियों में कितनी ही रियाँ राजा के मरने पर, या राष्ट्र-विप्लव पर, एक साथ 'सती' स्वयं होती थीं, या जबरदस्ती आग में डाल दी जाती थीं। ऐसी घोर क्रूरताओं का फल सारे समाज का पतन है। इतिहासकारों को ऐसे कार्य-कारण, विरोध रूप से दिखाना चाहिये। अन्यथा, हम विषय में अज्ञान और स्मृति-भ्रंश होने से, उद्धि-नाश और व्यभिचार, देश में, समाज में घातक हैं और अन्त में समाज को पुखाता है। पान-शास्त्र के ग्रन्थकारों को भी ये दोष ध्यान में रख कर ही ग्रन्थ लिखना चाहिये, कि उन के ग्रन्थ, समाज के अध-पात में सहायक न हों।

वात्स्यायन ने काम-सूत्र में ऐसे अन्तःपुरों के व्यभिचारों की कुछ चर्चा की है। पर उनके वर्णन की अपेक्षा वास्तविक अवस्था बहुत अधिक भयङ्कर और बीभत्स रही, और है। इस विषय की विशेष पुस्तकों से उन का हाल जाना जा सकता है।^१

कामीय ईर्ष्या से, न जाने कितनी स्त्रियों, कितने पुरुषों, की हत्या, राजमहलों में की गई है, जहर से, फाँसी से, छुरे तलवार से, बन्दूक-पिस्तौल से, जिन्दा गाढ़ देने और दीवार में चुनवा देने से, अन्तःपुर की गिरफ्तारियों के नीचे मगरों से भरे तालाबों में फेंक देने से, इत्यादि। कितने ही राजवंश, ऐसे ही कारणों से बदल गये हैं, अमली हज़ार मार डाले गये, व्यभिचार के जने, जार-ज, पुरुष, उनके स्थान पर गायों पर बैठा दिये गये, इतिहासों की सूक्ष्मेक्षिका से ऐसी बातों का पता चलता है। एक राजा, अवध-प्रांत के, जिनको मरे प्रायः तीस वर्ष हुए होंगे, कहा करते थे कि 'वारी' (गिरदमतगार) का लड़का राजा, और राजा का लड़का वारी होता है। दैनिक समाचार पत्रों में, मैगुर्नाय ईर्ष्या के कारण की गई हत्याओं के सुक्रहमों की चर्चा अस्पर होती रहती है।

इन सब बातों का यहाँ लिखने का तात्पर्य यह है कि, कामाध्याय अध्येता को चेतावनी की कमी न हो, कि आहार-च्छेदा, परिग्रह-च्छेदा, कामेच्छा के सुप्रयोग में सर्वस सुख, और दुरुपयोग में दुःखमय संतुष्टि को मिलता है। दृष्ट-काम के कारण रावण का महावंश नष्ट हुआ और माने की लंका जली, अत्याहार, अति लोभ, अति बलमत्त गर्वित अति ईर्ष्या से, भीम-दुर्योधन की, अर्जुन कर्ण की, परस्पर प्रतिस्पर्धा से महाभारत का युद्ध हुआ। अति परिग्रह-लोभ से, अति धन-मत्त

^१ श्री कन्दर्वाचार्य गौड की 'द्वि पदोपेक्षी आर इण्डियन सि'...
द्विपदोपेक्षी का नाम, और 'अष्टक दीप' में अतिशय, वी. म. व.
दृष्ट दिग्दर्शक है।

तथा समाजव्यापी इन्द्रिय-लौल्य, भोग-लोलुपता, विषय-मग्नता से, कलह बढ़ कर, १९१४-१८ ई० में, महायूरोप का महा-समर हुआ, जो महाभारत के युद्ध से दस गुना दारुण, रोग संचारक, प्रजा-विनाशक सम्पत्ति-क्षय-कारक हुआ, और अब पुनः, उससे भी अधिक घोर विश्व-युद्ध हो रहा है। महाभारतीय सग्राम में अठारह अक्षौहिणी अर्थात् कोई चालीस लाख आठमी कटे, और यूरोपीय में (युनाइटेड स्टेट्स अमेरिका के विशेषज्ञों की गणना से) एक करोड़ तीस लाख मरे, और इसके पाच गुने छ गुने भूख और बीमारियों से। सब देशों के चिकित्सकों में प्रसिद्ध है कि, नब्बे फ्री सदी रोग, जिह्वा और उपस्थ के अतिलौल्य से और दुरूपयोग से होते हैं, और दस फ्री सदी बाहरी कारणों से।

उचित काम-सेवन की उपयुक्तता।

यहाँ यह भी कह देना चाहिये कि, प्रवृत्ति मार्ग पर, तोनो इच्छाओं की, उचित मात्रा में, उचित रीति से, तृप्ति करना भी आवश्यक है। अस्मय अत्यन्त निरोध से भी दोष उठते हैं, जैसे अत्यन्त ध्युत्थान से। पर इतना जरूर है कि, अति निरोध से जनित आपत्ति प्रायः व्यक्ति ही पर पड़ती है, और अति ध्युत्थान से उत्पन्न, बहुतां पर, इस लिये

१९१४-१८ के विश्वयुद्ध में, मदा चार वर्षों में, यूरोप में एक कोटि तीस लक्ष कटे, १९१८ के अंत और १९१९ के आदि में, मदा चार महीनों में, भारत में, गवनों की गणना से, नाठ लाख, और दन्तुन मदा दरौर, आठमी, 'वार-पीपर', 'इन्फ्लुएंजा' 'न्यूमोनिया ग्रैग' से मर गये, सुन्द काय्य यहा था कि, भारत में, जीवन में आवश्यक वस्तु, अन्न दस्त आदि मदा, यूरोपीय युद्ध के लिये ब्रिटिश गवनेट ने रोक ला, और यहाँ भूख और शान के निवारण के लिये नहीं था।

अति व्युत्थान से अति निरोध कम दुरा जान पड़ता है। अतः
अति निरोध से विविध बीमारियाँ उत्पन्न हो जाती हैं; यथा,

शुक्राश्मरी च महता जायते शुक्रधारणात्, इत्यादि, (वाग्भट),
वीर्य की 'पथरी', शुक्रमेह, क्लीबता, अतिस्थूलता, आदि ।

हाँ, यदि सच्चा वैराग्य हो कर मन मे ही काम-वासना न उठे, व
बहुत कम उठे, तब रोग का भय नहीं है । प्रतिपद, जीवन के सभी
व्यवहारों मे, याद रखने की बात है कि,

प्राथयेन मन्थमा वृत्ति, प्रति सर्वत्र वर्जयेत्,

बीच का रास्ता पकड़ो, अति से सर्वथा, सर्वदा, सर्वत्र, दूर रहो ।
सबको सारी उमर में, हित और मित भोजन की, प्रत्येक इन्द्रिय के अपने
विषयरूपी आहार की, ज़रूरत है । वैसे ही, युवा और प्रांढ़ अवस्था में
स्त्री-पुरुष को हित, मित, धार्मिक, वैवाहिक, रति-प्रीति रूपी परम
आप्यायन तर्पण की भी आवश्यकता है । ऐसे आहार के बिना चित्त में
और शरीर में कृशता, दुर्बलता, आधि-व्याधि, उत्पन्न होती है । उचित
ब्रह्मचर्य पूरा करने के बाद, विवाह और गार्हस्थ्य, साधारण स्त्री पुरुष के
करना ही चाहिये । यह उत्तम है, नियम है । हाँ, अपवाद, कभी कदाचित्त
सभी उमरों के होते हैं । लग्य, दो लग्य, या दम्य लग्य से एक
या पुरुष ऐसा होगा, जो नैष्टिक आत्यन्तिक आसरण शुद्ध ब्रह्मचर्य
योग्य, अपनी प्रकृति से, हो । ऐसे विशिष्ट व्यक्तियों को सच्चे ऋषि
और योगविद्वियों का सम्भव होता है । ऐसे ही कारणों से मनु में क
है कि पूरा ब्रह्मचर्य उत्तम वर्ण का होता है, जिस में ब्रह्म का प
अनुभव और मंचय, समग्र चेत का, ज्ञान-सर्वस्व का, पूर्ण धारण,
जाय, जो इस को साथ सके वही जीव, सच्चा, तपस्वी और विद्वान्
सम्भव, शालग्र होगा, पर यह बहुत कम लोगों के लिये सम्भव
है लिये अस्मर लोगो को, 'नर्दधिकं', अटारह वर्ष में ही, तथा बहु
को, 'वर्दिकं व', नौ वर्ष में ही, अथवा, सर्वसंप्राप्त शक्तों में, 'प्र

गांतिकमेव वा', जो विद्या जिस को विशेष रूप से अभीष्ट हो उस का ग्रहण हो जाने तक ही, ब्रह्मचर्य निवाहना चाहिये ।

काम-जनित उन्मादादि ।

कामवामना के दुष्प्रयोग से परम्परया बहुतो को हानि पहुँचती है, भयंकर सचारी सक्रामक रोग, उपद्रव,^१ फिरग रोग (गर्मी), आदि, शारीर व्याधियाँ समाज मे फैलती है, सतति निर्बुद्धि, दुर्बुद्धि, पागल, पशुवत्, होती है, और मानस व्याधियाँ, उन्माद आदि, भी, प्राय काम द्रोप से होती है, जिन से चारो ओर दुःख का प्रमर्षण विपन्न होता है, और नयी पुष्टतै अधिकाधिक भ्रष्ट, आसुर-प्रकृतिक, पशु-प्रकृतिक, होती जाती है ।

अध्यात्मशास्त्र मे पट्टरिपु, अन्तरारि, के नाम से, प्राय छ चित्त-विकार कहे है—काम, क्रोध, लोभ, मोह (भय), मद, मत्सर । अन्य पाँच को, एक दृष्टि से काम ही की सेना कहा जा सकता है । काम-वामान्य को सन्तति ये निश्चयेन है ।

सगात् सजायते काम, वामात् क्रोधोऽभिजायते,
 क्रोधाद् भवति समोह, समोहात् स्मृतिविभ्रम,
 स्मृतिभ्रणाद् बुद्धिनाशो, बुद्धिनाशात्प्रणश्यति, (गीता) ।

सग से काम, काम से विघात से क्रोध, क्रोध से आँस पर पर्दा, मोह, उन्म के कारण (क्रोध से घरा हो कर, हिंसा या यत्न बरने से क्या अनिष्ट फल होता है, एव) स्मृति वा विभ्रम, उन्म से बुद्धि-भ्रम, उन्म

^१ उपद्रव के विषय में देवी ने उक्त मतभेद है, दोस वाते है कि यह जातशक, गर्मी, फिरग रोग हा है, एतरो की राय है कि फिरग-रोग पुरोधियरो के हा साथ नारद मे क्यदा, उपद्रव, जिम्की चर्य एतरो प्रयो मे है, वर दूसरा ही रोग है ।

से सर्वस्व-नाश—यह अनुचित अति काम के फलों की अनर्थ-परम्परा है। पर काम विशेष से भी क्रोधादिक की, विशेष रीति से उत्पत्ति होती है। कचहरियों में देखो तो मामिले मुकद्दमे, या तो परिग्रह-जायदाद के हेतु, या काम-विशेष के हेतु, देख पड़ते हैं। अस्पतालों में काम विशेष से बरत रोगों से पीड़ित बहुतेरे रोगी मिलते हैं। 'ल्युनाटिक-असैलम', 'मेण्टल हास्पिटल', 'उन्माद-चिकित्सालयों' में, प्रायः काम विशेष से उत्पन्न उन्माद के रोगी होते हैं।

पश्चिम के उन्माद-गवेषकों ने उन्माद के प्रकारों की कई मुफ्त जातियाँ, राशियाँ, बनाई हैं। प्राचीन अध्यात्म दृष्टि से छः प्रधान जातियाँ होनी चाहियें, उक्त छः क्षोभी की 'अत्ति' से। पाश्चात्य गवेषक इन के पास पहुँचे हैं, पर अभी ठीक-ठीक इन तक नहीं आ गये हैं, न उन्होंने ने अब तक इस की खोज की है कि क्यों इतनी ही राशियाँ मुख्य माननी चाहियें। इस पर विस्तार अन्यत्र किया गया है^१। यहाँ थोड़े में इन छः राशियों को सूचना देना उचित है (१) कामोन्माद (पश्चिम के डाक्टर इसे 'परोटो-मेनिया' कहते हैं), (२) क्रोधोन्माद ('होमिसाइडल-मेनिया' ; यदि 'माइडो-मेनिया' नाम रखते तो अच्छा होता), (३) लोभोन्माद ('फ्लेण्टो-मेनिया'), (४) मोहोन्माद, वा भयोन्माद, (इस के लिये 'अंग्रेजी में अभी कोई शब्द तजरीज नहीं हुआ है, 'कोवो-मेनिया' अच्छा होगा), (५) मदोन्माद ('मेगालो-मेनिया'), (६) मन्वगोन्माद, (इसके लिये भी कोई अंग्रेजी शब्द ठीक नहीं हुआ है, 'जालो-मेनिया' प्रायः अच्छा होगा)। अन्य सब प्रकार, इन्हीं छः के अन्तर्गत भेद समझे जा सकते हैं। 'मेनिः', 'मेनयः', शब्द, संज्ञा विनयिकार और उन्माद इच्छा के अर्थ में, ऐतरेय ब्राह्मण में आया है।

^१ 'दि मन्वगोन्माद' तथा 'दि क्रोधोन्माद' तथा 'दि माइडो-मेनिया' के अर्थ में, तथा 'माइडो-मेनिया' विषयक मेरे लेखों में।

पाश्चात्य उन्माद-शास्त्रियों का विचार है कि प्रायः सभी उन्मादों की जड़ में मैथुन्य काम-विकार ही है। यह ठीक नहीं। ऐसे काम से असम्बद्ध अति लोभ, भय, क्रोध, मद आदि भी कितनों का मूल-कारण होते हैं। पर अधिकांश उन्माद का हेतु मैथुनीय काम-विकार है, चाहे काम की अति मात्रा, चाहे व्याहृति, चाहे काम-सम्बन्धी साध्वस, ईर्ष्या, असन्तोष, भय, क्रोध आदि।^१

ससारसुखसर्वस्वे, योषा पु -रागसम्भवे,
खडिना दुर्भगा याति विविधा वै विरक्तनाम ।

काम-प्रेम राग के विषय में जिन स्त्री-पुरुषों की आकाक्षा खडित हो जाती है, उन को तरह तरह के मानस विकार, शका, ग्लानि, उद्वेग, असूया, निराशा, विराग, उन्माद, मूर्छा, देहशोष, कामज्वर, मरण तक होते हैं, इनकी चर्चा पृ० ३०९-३१० पर की गई है। पौराणिक रूपक में, काम-क्रोध-अहंकार के देवता भव-हर-रद्र के गण, प्रमथ भृत्-यक्ष-पिशाच आदि, उन्मत्त-प्राय प्राणी होते हैं, इन्हीं गणों के पृथ्वी पर प्रति-रूपक, विविध-पन्थों के विविध-पेशधारी 'विरक्तों' को समझना चाहिये। इस विषय पर, इधर तीस चालीस वर्षों में, जर्मन जातीय आचार्य, मूअर, फ्राइड, तथा उन के शिष्य प्रशिष्य, युग, गेंडलर, आदि ने, बहुत गवेषणा करके बहुत ग्रन्थ लिखे, इन में, रसमो के घर्णन से, मनुष्य के मन के भीतर दबे लिपे, निरुद्ध, अच्युक्ती-भृत्, काम-विवारों की 'हृदय-ग्रन्थियों', काम-जटाओं का पता लगाने का, एव नया उपसाध, 'नैको-ग्रेनालिस्सिस' के नाम से, खोज कर दिया है। भर्तृहरि के उक्त श्लोक की विस्तृत व्याख्या ही इन

१ ग्रीक भाषा के 'मेनिया' शब्द का अर्थ 'उन्माद' है, तथा 'डीमोन' का 'काम' 'हेस्टीन' का यौरो 'योग्यता' या भय 'मैगाम' का रोग, मत्पन, (अपने को बड़ा जानना अहंकार, शक्तिमान) 'डीमोन' का प्रतिरूपक 'डीमोन' भाषा के 'राहटेरी' या एहदा करना।

उप-शास्त्र को, एक दृष्टि से, मान सकते हैं। यह उप-शास्त्र बहुत उप-योगी है। अभी इस के सिद्धान्त पश्चिम में स्थिर नहीं हो पाये हैं, वार-विवाद-ग्रस्त हैं। पर पूर्वार्थ वेदान्त-शास्त्र, योग-शास्त्र, साहित्य-शास्त्र की सहायता से यदि ये स्थिर कर लिये जायें, तो काम-शास्त्र में, सामान्य-रीति से, इन की मूल बातों का समावेश करना लाभदायक होगा। इस विषय पर, पृ ३००-३०५ पर लिखा आये हैं।

कामशास्त्र; तीन अंग।

जब मानव जीवन के अर्ध भाग, प्रवृत्ति मार्ग, का प्रधान पुरुषार्थ काम है, और उसके पाने की राह, ऐसी सुख-दुःख, आशा-भय, सम्पत्ति-आपत्ति, मानस-शारीर आधि-व्याधि, से पुष्पित-कंटकित है; तो यथा-सम्भवा-फूलों के विक्रमन के भी और काँटों के निष्कामन के भी उपाय सीपना, मनुष्य को परम आवश्यक है। इन दोनों उपायों के सिखलाने वाले शास्त्र का ही नाम कामशास्त्र होना उचित है।

शान्ति यत्साधनोपायं पुरुषार्थस्य निर्मलम्,

तथाएव बाधनाऽपायं, तन्शास्त्रमूढति कथ्यते ।

किन्हीं पुरुषार्थ, धर्म, अर्थ, काम, या मोक्ष, के साधन के उत्तम निर्मल निर्दोष उपायों को, तथा बाधन के अपायों, रोकने, दूर करने, तब प्रसंगों को, यथावै, विज्ञावै, शासन करै—यही शास्त्र की शास्यता है। जो ऐसा करै वही टीक-टीक शास्त्र कहला सकता है।

इस लक्षण को ध्यान में रख कर कामशास्त्र का सर्वार्थांग प्रत्य-तैयार किया जाय तो उस में प्रायः ये अंग होने चाहियें।

१—ज्ञानांग, २—रम्यांग (दृष्टा-भक्ति स्थानीय), ३—कर्मोंग।

ज्ञानांग

अध्यात्म ध्यान

(क) अध्यात्म-ध्यान । (१) पारमार्थिक, पारमार्थिक, दृष्टि में श्री-गुरु-नेद, काम, मति-प्रति, मीदिय, यौवन, श्रम यौवन, के तन्मय

स्वरूप का वर्णन, ये सब क्या हैं और क्यों हैं। (इस के दिग्दर्शन मात्र का यत्किञ्चित् यत्न ऊपर किया गया है, और 'दि सायस आफ पीस' तथा 'दि सायस आफ इमोशन्स' में कुछ अधिक किया है)। अंग्रेजी शब्दों में इस अर्थ को 'दि फिलॉसोफी, आर् मैटाफिजिक्स, आफ सेक्स' कहा जायगा। इस का सकलन, प्रायः वेदान्त-शास्त्र के बल से ही करना होगा। पाश्चात्य ज्ञान में इस में सहायता कम मिलेगी। (२) जैवात्मिक, व्यावहारिक, दृष्टि से, काम के आकार, प्रकार, विकार, आविष्कारों का वर्णन। इस पर संस्कृत के साहित्य-शास्त्र में, तथा पच्छिम के 'दि नैकालोजी ऐण्ड पैथालोजी आफ सेक्स' के अत्र विशाल साहित्य में, बहुत सामग्री है। अंग्रेजी में इस अर्थ को 'दि नैकालोजी आफ सेक्स' कहते हैं।^१

शारीर स्थान

(ख) शारीर स्थान। (१) स्त्री-पुरुष के प्रजनन-इन्द्रियों का, उनके सूक्ष्म अवयवों का, एक एक के विशेष-विशेष रसों का, गर्भाधान और नतान-उत्पत्ति में उपयोगों का, वर्णन।^२ (२) तथा इन के रोगों का,

1 Havelock Ellis, *The Psychology of Sex* 7 vols
Iwan Bloch *The Sexual Life of our Time* (Germany)
1 vol. (Britain) 2 vols Kraft-Ebing, *Psychologie der
Sexualität* etc

२ इस विषय पर, हिन्दी में, वर्णनिक रीति में लिखे जब प्रथम दिलीप लोटे, पटना, विज्ञापकों में, मासिक होता है तब देसने में एव १९५० लागू १० १० का निर्या 'जन्म-निरोध' (१९५० १० गणतन्त्र पुस्तकालय बनारस) यद्यपि नाम 'जन्म-निरोध' है, पर पुरुष और स्त्री का प्रजनन इन्द्रियों का वर्णन, नान आयातों में, विद्वत् रीति, अत्यन्त सिद्धा है, जन्म-निरोध नान-विषय शक्ति का भी प्रतिपादन, प्रामाणिक रीति में किया है। इन के १९५० १०

रोगों के कारणों का, रोगों से बचाये रखने के उपायों, अर्थात्, नित्य शौच के प्रकारों, का । (३) इस सम्बन्ध में, ओपधि-वनस्पति वृक्ष-गुच्छ गुण तृण-प्रतान-वल्ली-रूप-स्थावरोके, तथा विविध जंगलों के, प्रजनन के प्रकारों का वर्णन । तीन प्रकार मुख्य हैं; पहिला प्रकार, अलिंग-अमैथुन, काँ

में, डाक्टर त्रिलोकीनाथ वर्मा का ग्रन्थ, "हमारे शरीर की रचना" (दो बन्द, १०३८-१९४०) देता, इसकी दूसरी जिल्द के अन्त में, स्त्री-पुरुष की प्रजनन इंद्रियों का अच्छा और प्रामाणिक वर्णन किया है, तथा गर्भाधान, गर्भ में शिशु की अवस्था, और प्रसव का भी । वात्स्यायन के काम सूत्र का हिन्दी में अनुवाद, श्री विजयबहादुरमिह ने किया है (महाशक्ति प्रेम, बनारस), उसी के शिष्य, भूमिका के रूप में "कामाऽध्यात्म" का प्रथम लघुरूप लिखा गया था, विजय बहादुर जी ने अनुवाद अच्छा किया है, पाश्चात्य ग्रन्थों के ज्ञान से भी, अनुवाद का, स्वयं स्वयं, उपवृद्ध किया है, और दुराचारों व्यभिचारों के विरुद्ध चेतावनी भी दी है, इन्होंने प्रजनन इंद्रियों का वर्णन भी किया है, जो वात्स्यायन ने सर्वत्र छोड़ दिया है, यद्यपि नामाशेष, विजय बहादुर जी ने नहीं किया, पर निश्चय में विदित होता है, कि उन्होंने, डाक्टर त्रिलोकीनाथ के ग्रन्थ में हा बहुत ही सतर्कता से तद्वर्णन किया है, एक जगह, "सर्मारणी, चाद्रममी, गौरी", इन तीन नाटियों का चर्चा की है, कहाँ से इनका हाल मिला, सो नहीं लिखा; अभी थोड़े दिन हुए, "पंचमायक" नाम का ग्रन्थ मेरे देखने में आया, इसके "नाशी ज्ञान मनु संज्ञ-प्रकरण" में इन नाटियों की चर्चा की है, और कहा है कि, स्त्री-गोत्र की सनीरणी नाम की नाटिका में पुरुषवीर्य पढ़ने में निष्फल होता है, चाद्रममी में कन्या जन्मती है, गौरी में बालक, पर "पंचमायक"-कार ने यह किम प्रमाण पर लिखा, सो यह नहीं मालूम होता, तथा, उस ग्रन्थ में, इन चार पदों का उल्लेख है, वात्स्यायन की बातों में ग्रन्थ, कुछ भी नहीं है । "गौरवर्णन", "अन्तर्गम", "नाट्य-सर्वेषु" आदि अन्य ग्रन्थ भी, जिनमें विजय बहादुर जी ने उल्लेख किया है, वात्स्यायन के कुछ श्रुतियों का शुद्ध अनुवाद ग्रन्थ है ।

प्ररोही, है कितने ही पौधे ऐसे हैं जिन की एक टहनी, काट कर जमीन में गाट देने से, जड़ पकड़ लेती है, तथा जल में रहनेवाले कई चाल के अणु कीट भी ऐसे होते हैं जो फूल कर फटते और दो टुकड़े हो जाते हैं, और प्रत्येक टुकड़ा स्वतंत्र बीटाणु हो जाता है, और फिर फूलता है, फटता है, परम्परा । सृष्टि का दूसरा प्रकार, उभयलिंग-अतर्मथुन, बीजप्ररोही, है, जैसा अधिकांश ओषधि-वृक्षादिको का, इन के फूलों के बीच में जो सूत्र या जीरे निकले रहते हैं, उन में से कुछ पुरुष-लिंग और कुछ स्त्री-लिंग होते हैं दोनों के मुख-भाग को सूक्ष्मेक्षिका से देखने से भेद प्रत्यक्ष जान पटता है, पुरुष-मृत्रो के मुख पर से पराग झट कर, अथवा विविध प्रकार के फनगो (पतंगो) मधुमक्खियों आदि के द्वारा, स्त्री-सूत्रों की नाली में प्रविष्ट हो कर बीज बनता है, पाशव और मानव पुरुष शरीरों में, अल्पकाल रूप से, स्त्री चिन्ह, और स्त्री शरीरों में पुरुष चिन्ह, सभी को होते हैं, और किसी अति प्राचीन युगांतर में उनकी उभय-लिंगता, धर्धनारीश्वरता, का प्रामाणिक अनुमान कराते हैं । इन नव घातों का मक्षेप से पर विशद रूप से, वर्णन होना चाहिये । तीसरा प्रकार, सृष्टि का, भिन्न-लिंग समैथुन है, जैसा इस युग में अधिवारा कीट, पतंग, दश. मक्षिका, सरीसृप, मत्स्य, पशु, पक्षियों में, आर मानवों में हैं । इन के स्वयं के ओर गर्भाधान के प्रवारों का वर्णन होना चाहिये । इस विषय में पाश्चात्य आचार्यों ने भारी परिश्रम से बड़ी गवेषणा की है, और बड़े रोचक और शिक्षक ज्ञान एकत्र किये हैं । किन्हीं किन्हीं प्राणि-जातियों में

१ अर्ध-लिंग प्रजा पूर्व न व्यदर्भन्त ता ता

विभिन्न लिंग-गणनात् अस्मान् तन्नेष्ट-पर ।

पुराणों में वही ११ वि. आदिवाणों के लिंग-गणना है । इन में विचित्रता तथा दुर्लभता के कारण ने भिन्न-लिंग-प्रजा, लिंग-गणना के रूप में वर्णित है ।

नारी, गर्भाधान के बाद, नर को मार डालती है और खा जाती है। किन्हीं में स्त्री-वीर्य पानी पर उतरा आता है, तब नर उस पर पुरुष-रूप छिडक देता है; किन्हीं में, यथा मधुमक्षिका और दीमकों में, एक ही 'रानी' होती है, और वही गर्भ-धारण करती और हजारों बच्चे देती है। जिन में से दस-बीस ही, विशेष प्रकार का पदार्थ सिला कर, नर बन जाते हैं, बाकी नपुंसक और महापरिश्रमी, मधु आदि का सञ्चय करने वाले, शहद का छाता और दीमक की बाँधी बनाने वाले, होते हैं, इत्यादि। यह बात याद रखने की है कि, नर और वानर से नीचे दूतों के प्राणियों में मैथुन काम, बँधे ऋतुओं में, और गर्भाधान के अर्थ, ही होता है। तीसो दिन, वारहो महीने, रति के अर्थ, नहीं होता, जैसा मौभाग्य-दौभाग्य में मानवों में होता है। पुराणों में शिक्षाप्रद स्वरूप में बताया है कि क्यों और कैसे 'नित्यकामवराः स्त्रियः' (अर्थात् 'पुरुषा') हो गये; 'नित्यकाम' होते हुए भी, स्त्रियों को तो प्रत्यक्ष ही 'ऋतु' होते हैं। पाश्चात्य सूक्ष्म 'मायटिफिकर', शास्त्रीय, गवेषणा से विदित हुआ है कि पुरुषों को भी 'नेकिलरु-पीरियाडिमिटी', 'चक्रवन् वीर्याधिक्य-काल' होता है; यथा, वसन्तोत्थव सभी देवों में मनाये जाते हैं, यद्यपि उनके प्रत्यक्ष सात्त्विक भाव वा राजस-भाव से भेदित होते हैं; कहीं अधिक लज्जित और आवृत्त वचनो, नृत्यों, और चेष्टाओं में हँसी उठोली की जाती है, कहीं अधिक अश्लील, अश्लील, अभद्र, अनावृत्त गीतों, आवाजों, और मुद्राओं में। इन बातों का वर्णन भी होना चाहिये। इस अंश का, प्रायः पाश्चात्य ज्ञान के बल से अधिकतर संकलन हो सकता है। अति प्राचीन अतीत युगों में, मानव-जाति में भी अमैथुन और अंतमैथुन सृष्टि होती थी, इसका सूचन पुराणों में, तथा कुछ अधिक स्पष्ट वर्णन अंग्रेजी के 'दि मॉस्ट ट्रास्टिन' नामक ग्रन्थ में मिलता है। इस ग्रन्थ अंत में अंग्रेजी नाम 'दि क्रिस्टियानोसि आन् मेकम' है।

(ग) विवाह के प्रकारों का वर्णन, मुख्यतः तीन । (१) सात्त्विक प्रकृति के उचित, मनुस्मृति के शब्दों में, ब्राह्म-दैव-आर्ष-प्राजापत्य, इन सब का प्रधान और समान अंश यह है कि, वृद्धों की सलाह के साथ-साथ, वर-वधू की भी परस्पर अनुकूलता हो । (२) राजस-प्रकृति के उचित, यथा गाधर्व, अर्थात् स्त्री-पुरुष का परस्पर स्वयम्बरण, और राक्षस, अर्थात् स्त्री का बलात् अपहरण, और आसुर, अर्थात् स्त्री के माता-पिता को धन देकर उसका मोल लेना, आसुर को रजस्-तमस्-मिश्रित भी कहा है, (३) तामस, यथा पैशाच, अर्थात् सोती हुई या प्रमत्त (अनजान, अबोध, प्रमादवाली, बेफिन्न, खेलती, बालिका कन्या, या नशे से गाफिल) स्त्री पर बलात्कार । पौराणिक रूपक में, उमा-महेश्वर, पार्वती-परमेश्वर, गौरा शंकर का जोटा सात्त्विक, भव-भवानी का राजस, रुद्र-काली का तामस । वात्स्यायन ने गाधर्व विवाह को सब से अच्छा कहा है, (जैसी पाश्चात्य शिक्षितों की भी राय है) परन्तु, सात्त्विक राजस तामस प्रकृतियों का विवेक नहीं किया है, इस से वात्स्यायन का मत, भगवान् मनु की सर्वसंग्राहक दृष्टि से ऐकपाक्षिक और अशुद्ध है ।

इन सद् विवाहों और असद् विवाहों के गुण-दोष, सन्तति के उपर प्रभाव, आदि की, धोरे में, विन्तु पर्याप्त सूचना, मनुस्मृति और महा-भारत में की है,

प्रतिनिर्दिष्टे स्वादिवाहं प्रतिष्ठा भवति प्रजा
निर्दिष्टेर्निन्दिता नृणां, तस्मात् नित्यान् विवर्जयेत् ।
ब्राह्मणेषु विवाहेषु चतुर्षु एव, अनुपूर्वश
ब्रह्मचर्यरिपु पुत्रा जायन्ते शिष्टममता,
मपनररगुणोपेना, तदन्ते, यथादिग
पर्याप्तैः, प्रतिष्ठा जायन्ते च जनस्य ।
द्वारेषु स्वदशितेषु, उपनाऽऽनवादिन
जायन्ते, दुर्विवाहेषु प्रमद-वर्ग-मित्य नृणां । (मनु)

अविज्ञातासु च स्त्रीषु, स्त्रीवासु, स्वैरिणीषु च,
 परभार्यासु, कन्यासु, नाऽचरेन् मैथुनं नर ;
 कुलेषु पापरक्षांसि जायंते वर्णसंकरात्,
 अपुमांसोऽङ्गहीनाश्च, स्थूलजिह्वाः, विचेतसः;
 एते चान्ये च जायंते, यदा राजा प्रमाद्यति;
 तस्माद् राजा विशेषेण वर्तितव्यं प्रजाहिते ।

(म० भा०, शांति०, अ० ६०)

भगवान् मनु के, तथा भीष्म पितामह के, ये श्लोक, कामशास्त्र के मन्तक पर सदा लिखे रहने चाहिये, और अध्येता को सब से पहिले ध्यान कर लेने चाहिये, तभी उस का अध्ययन, इस शास्त्र का, निर्दोष और गुणमय होगा, अन्यथा, विपरीत होगा । सात्त्विक विवाहों से, और ग्रीष्म ऋतु के संयोग के समय सात्त्विक भावों के, प्रेममय भावों के, आधिक्य के सात्त्विक मन्तति होती है; राजस्य से राजस; तामस से, तामस । व्यक्ति में, कन्यादूषण से, घोर अप्राकृतिक पश्चात्ति के ऐसे संयोग से, नपुंसक अवस्था हीनांग, स्थूल जीभ वाले, 'बौरहे', 'राक्षस' रूपी, भयानक आकृति के, जीव पैदा होते हैं । आयुर्वेद के ग्रन्थों में इस विषय पर विस्तार क्रिया है । राजा के ही प्रमाद से, ऐसे व्यभिचार आदि प्रजा में फैलने हैं; इस लिये राजा को मावधानी से इन्हें रोकना चाहिए । अपने में भी और दूसरों में भी, "यद्यद् आचरति श्रेष्ठः तत्तद् इदं जनैः" ; जैसा बड़ा करना है, उसी की नकल छोटा करना है । राजा पापी है, तो प्रजा पापी होगी, राजा मद्राचारी है, तो प्रजा भी मद्राचारी होगी ।

पांगणिक रूप में, 'कामस्य द्वे भार्ये, रतिश्च प्रीतिश्च', काम की दो पत्नी, रति और प्रीति । दारिद्र्य-प्रदान और अभिमान-प्रदान 'रति' है; विद्वत्-प्रदान और प्रेम-प्रदान मात्र 'प्रीति' है । प्रेम के पञ्च शब्द, अनुगत, स्नेह, प्रियता, हार्द, भक्ति, दया आदि हैं । भक्ति के केवल दृष्ट्य के ही मध्यम में प्रयोज्य नहीं है । 'भक्तमार्तं भक्त्यै प्र

ऐसी उक्ति उत्तम नायक नायिका के बीच, काव्यों में मिलती है। तथा, दयिता, यह विशेषण प्रिय और सुकुमार भार्या का, प्रसिद्ध है। उत्तम दाम्पत्य वह है जिस में पति-पत्नी, भर्ता-भार्या, (इन शब्दों के यौगिक अर्थ विचारने और हृदय में रखने योग्य है), एक दूसरे के लिये ऐसी कह सकें जैसा दशरथ ने कौसल्या के लिये कहा,

यदा यदा हि कौसल्या दासीवत् च सखी इव च,
भार्यावद् भगिनीवच् च, मातृवत् च उपतिष्ठते,

(वा० रामा०, अयो०, सर्ग १२) ।

शकुन्तला ने दृष्टान्त से,

राजाय प्रविविक्तो भवति एता प्रियवदा,
पितरो वर्मवार्येषु भवति आर्त्तस्य मातर
तस्माद् भार्या पति पश्येत् पुत्रवत् पुत्रमातर
अनरात्मा एव सर्वस्य पुत्रो नाम उच्यते सदा

(म० भा०, आदि० प्र०, १८) ।

अज ने इन्द्रमती के लिये,

गृहिणी, सखि , सती मिथ ,

प्रियशिष्या ललिते बलाविधा, (रघुदश, प्र० ८) ।

सीता ने राम का वर्णन करते हुए, अनसूया से,

कि पुन तौ गुणगण्य , साऽनुमोश , जितेन्द्र
स्थिराऽनुराग र्मान्ना, मातृवत् , पितृवत् , प्रिय

(वा० राम० प्र० स० ११८) ।

दशरथ के लिये दाम्पत्या, दासी भी सखी भी, भार्या, भगिनी, माता भी सब कुछ ही एकात्म में सीटा दात करने वाली सखी, धर्म कार्यों में पिता, दृष्ट में माता, पति के लिये पत्नी सब कुछ होती है,

पिता की अंतरात्मा ही, पुत्र के रूप में, पत्नी के द्वारा उत्पन्न होती है। इस लिये पति को उचित है, कि पुत्र की माता को अपनी ही माता जाने। अज के लिये इंद्रमती, गृहिणी भी, सचिव, मखी, कलाओं में निपटारी थी, सीता के लिये राम, सर्वगुणसंपन्न, परम दयालु, जितेंद्रिय, रित प्रेमी, धर्मात्मा, माता और पिता के ऐसे प्रिय थे।

अद्वैतं मुरादुःखयो अनुगुणं सर्वासु अन्वसासु यत्,
विश्रामो हृदयस्य येन, जरसा यस्मिन् न हार्यो रस,
कालेन आवरणाऽत्ययात् परिणते यत् स्नेहसारे स्थितं,
भद्रं प्रेम सुमानुपस्य, कथ अपि एकं हि तत् प्राप्यते,

(उत्तररामचरित)।

वह स्नेह का सार, मच्चा प्रेम, जिस से, सब अवस्थाओं में, एक को सुख तो दूसरे को सुख, एक को दुःख तो दूसरे को भी दुःख, एक को होता है, थके माँदे हृदय को जिस से विश्राम मिलता है, जिस के रस के बुझापा कम नहीं करता है, बल्कि युवावस्था की लज्जा हट जाने में और अधिक परिपक्व हो जाता है—वह प्रेम, वह स्नेह का सार, प्रेम दम्पतियों को ही, बड़े भाग्य में मिलता है। यौवन (जवानी) में, प्रेम का भी अंश व्यक्त होने से, परस्पर 'आवरण' (पर्दा, त्रपा, द्विजाव) रहता है, वृद्धावस्था में, यदि शुरू में ही रति के साथ सार्विक 'प्रीति' भी प्रचल गयी, तो प्रीति ही प्रीति रह जाती है, जिस में कोई पर्दा नहीं।

उन उत्तम सार्विक परिष्कृत भावों को भूल कर, स्वार्थप्रयत्न में जनउप्राय दण्डों में उन का आभास, राजस स्वभाव के पुरुषों में यों कहते हैं,

कार्ये दागी, रती वेज्या, भोजने जननीममा,

विपत्नी बुद्धिदात्री च, सा नार्या गर्वदर्शना।

गुरुस्वर्ण के लिये दागी, मँथुन में वेज्या रती निम्न, विपत्ति में अन्धों मर्याद देने वाली—ऐसी भावों बहुत दुर्लभ होती हैं।

इस का प्रतिरूप और पूरक द्वितीय अर्ध नहीं सुनने में आता, यदि यह भी कहा जाय तो आभास में सद्-अश अधिक हो जाय, यथा,

कार्ये दामो, रतौ जारो, पोपणो जनको यथा,
विपत्तौ रक्षिता चैव, स भर्ता सर्वदुर्लभ ।

कार्य के लिये गुलाम, रति-प्रसंग में जार (चार, उपपत्ति, विट), विपत्ति में रक्षा करने वाला—ऐसा भर्ता बहुत दुर्लभ होता है ।

‘पुरप’ की ‘प्रकृति’ होती है, पुरप प्रकृतिमान् है, शिव, शक्तिमान् है शिवा, शक्ति है, पुरप धर्मी है, प्रकृति उस का धर्म, उस का स्वभाव, है, इस लिये पुरुष और प्रकृति, शिव और शक्ति, एक ही है । तौ भी दो के मंगे जान पड़ते हैं । यही आदि माया का मूल है । पारमाधिक एकत्व में इसी द्वित्व होने के कारण, उस का अनुकरण स्त्री-पुरपशात्मक द्वित्व में होता है ।

न आत्मान द्वेषाऽपातयत्, तत पतिश्च पत्नी च अभवताम् ।
तस्मात् इद अर्धगलमिव । आपयतो वै नो ऽन्योऽन्यस्य
तमान् सर्वात् । (उप०)

एतावान् एव पुरप यज्जायाऽऽत्मा प्रजा इति ह,
त्रिप्रा प्राहु तथा च एतद्, यो भर्ता सा स्मृता प्रजा (मनु) ।

परमात्मा ने अपने दो टुकड़े कर दिये, एव पति हो गया, दूसरा पत्नी इनो में, अरेला पुरप, अबेली स्त्री, अधरे से होते हैं, पति-पत्नी-सन्तान—यह तीन मिलकर सम्पूर्ण पुरप बनता है, ऋषियों ने कहा है कि जो भर्ता है, वही भोगना है, पति और पत्नी में भेद नहीं ।

यह आदि-निधुन, मूल-जोड़ी, एव दूसरे के लिये समार-सर्वस्व है, इन्द्रिय-गोचर सर्वस्व है, एव हमने के सभी बान्धो, इच्छाओं, वो पूरा

१ दुर्गात्मरती ने पिद्विषा, वेभता स्थिर अथर् रीन्द-परगात्म-स्वित्नी,
देवी के ही रूपान्तर रूप, रूपा, निद्रा एहि पुं, कर्मि, शक्ति आदि वरा है ।

करते हैं। इन्हीं के अन्तर्गत, पति-पत्नी भाव, भर्ता-भार्या भाव, पिता-पुत्री भाव, माता-पुत्र भाव, भ्राता-स्वसा भाव, सखा-सखी भाव, गुरु-शिष्य भाव, स्वामी-दासी और स्वामिनी-दास भाव, गृही-गृहिणी भाव, राजा-सचिव भाव, सभी उत्पन्न होते हैं, सभी इस आदि-वृद्ध-भाव में समाहृत हैं। ऐसे ही, आदर्श मानव-दम्पती के बीच भी इन सब उत्तम भावों की चरितार्थता होनी चाहिये। अनार्य, अभद्र, भद्रेस, अश्लील, अश्रील, पाशव-दम्पती के बीच में जार-वेद्या के भाव भी हों। वे भी पुरुष-प्रकृति के रजस्-तमस् के अधम अंश के उद्गार हैं। मन में अधिक रखने की बात यह है कि आर्गदम्पती को, 'पति-पत्नी', 'स्त्री-पुरुष', भाव, ई, जो अंश शारीर-रति-प्रधान है, उस को (सर्वथा तो त्याग नहीं सकते, पर प्रायः) गौण रखना चाहिये, और अन्य सब भाव जो चित्त-प्रीति-प्रधान हैं, उन को मुख्य रखना चाहिये। तभी कौटुम्बिक सांसारिक गार्हस्थ्य जीवन कल्याणमय होगा; अन्यथा नहीं। रति-प्रीति, शक्ति-भक्ति, दोनों ही चाहिये, पर रति-आत्मिक शक्ति कम, प्रीति-आत्मिक भक्ति अधिक।

त्वं हि सर्वशरीरी आत्मा, श्रीः शरीरेन्द्रियाऽश्रया,
नामरूपे भगवती, प्रत्ययम् त्वं अपाश्रय ;

(भागवत, ३-१६-१३) ।

परमात्मा शिवः प्रोक्त, शिवा माया इति कथ्यते,
पुरुष परमेष्ठानः, प्रकृतिः परमेश्वरी,
मन्ता स एव विश्वात्मा, मन्तव्यं तु मदेश्वरी,
आत्मन् शक्यो देवः, पृथिवी संसृष्टिना,
समुद्रो भगवान् देवो, देवा शैलेन्द्रस्य सता,
इतो वृद्धवर्गे देवो, क्वा नियेवमप्रिया,
मन्तव्यमश्रयं तु वने शर्म्य इत्यमा,
शर्म्यं स्यं शर्म्य वने सुर्वेदुर्गम ;

यस्य यस्य पदार्थस्य या या शक्तिर्उदाहृता,
ना सा विश्वेश्वरी देवी, स स सर्वो महेश्वर ,

(शिव पु०, वायु म०, उ०, अ० ५) ।

परमात्मा पति है, दृश्य जगत् पत्नी है, शरीरी, जीवात्मा, पति है, शरीर पत्नी है मता जाता, ध्याता, पति है, मतव्य, ध्येय, ज्ञेय पत्नी है, आकाश पति है, पृथ्वी पत्नी, समुद्र पति है, वेलातट पत्नी, वृक्ष पति है, लता पत्नी, अर्थ पति है, शब्द पत्नी, द्रव्य पति है, गुण पत्नी, जिस पदार्थ की जो शक्ति कही जाती है, वह पदार्थ महेश्वर, पति, है, और वह शक्ति विश्वेश्वरी, पत्नी है। ऐसे ऊँचे भाव शिष्ट आर्य दम्पती को सदा अपने मन में धारण करना चाहिये ।

(आज, १९४३ ई० में) पचान पचपन वर्ष हुए होंगे, युवावस्था में, मैं ने अपनी गृहिणी से एक गीत सुना, बहुत आदर, बहुत भक्ति, बहुत नमस्कार में अपने हृदय में रस लिया उसी आदर और भक्ति से, नयी पुस्त के बधु-वरो के सार्विक आनंद के लिये, आज, वृद्धावस्था में, उस को याद लिखता हूँ । उक्त पौराणिक आर्ष श्लोको के ही भावों का अनुवाद, सीधी मानी हृदयगम बोली में है, यदि भावों में उतनी सुरता गभीरता नहीं है, तो मिटास उन से अधिक है ।

तू होयो दियना, हम होई याती, तू होयो वागद, हम होई पानी,
तू होयो जगल, हम होई मोरा, तू होयो चदा हमहू चमोरा,
तू होयो हिनगिरि, हम होई गगा, जनम जनम नहि बिहारे गगा ।

पत्नी की गीत की तो हूतनी ही बरियो याद पवती है, पर भाव ऐसा प्रिय है कि पुराण के श्लोको का आशय, हिन्दी के शब्दों में, चाहे टूटे-पूटे ही, अदल-बदल कर, बहने को मन चाहता है ।

तू होयो गगर, हम होई पानी, हम होई प्रेमा, तू होयो जग
हम होई चरन हमहू भुजगा, तू होयो नगर, हमहू नरगा

तूं होयो सरिता, हम होवै नीरा; हम होवै सरवर, तूं होयो तीर,
 हम होवै ध्वजदंड, तुमहु पताका; तूं होयो वादर, (वारिद) हमहु बगल,
 हम होवै बनिका, तुमहु कुरंगा, तूं होयो दीपक, हमहु पतंगा,
 तूं होयो सूत्र, (अ)रु हम होवै टीका, हम होवै पन्था, तूं रथलीला,
 हम होवै प्रानी, तूं होयो स्वांसा, तूं होयो तारा, हमहु अमरा;
 तूं होयो हिरदय, हम होवै पीरा, हम हीवै चेतन, तुमहु शरीरा।

विवाह के वैदिक मंत्रों के उदार उत्कृष्ट सात्त्विक भावों को देखिये,

ॐ, सं ग्रंजंतु विश्वेदेवा, सं आपो हृदयानि (हृदयेऽपि) नौ,

सं मातरिश्वा, सं धाता, स उदेष्ट्री दधातु नौ।

अमो (प्राणो) ऽहं अस्मि, सा (वाणी) त्व, वीर् अहं, पृथिवी तं,

मामाऽहं, अक् त्वं, तौ, एहि, विवहावहे, राह रेतो दधावहे,

प्रजा प्रजनयारहे, पुत्रान् (पुत्रौ) विन्दावहे वहन् (गुर्भौ),

ते (नौ) गन्तु जरदश्या (श्री), संप्रियो, रोनिष्णु, मुमनम्यमानौ।

पश्येम गरद गत, अणुयाम गरद गत,

प्रत्रवाम गरद गत, जीवेम गरद गतं,

मौदेम गरद गतं, भूपेम गरद गतं,

अदीना स्याम गरद गतं, भूयश्च गरद गतान्।

मम जने ते हृदयं दधामि, मम चित्तं अर्जुचितं ते अम्तु,

मम वाच एकमना तुपन्व, प्रजापतिगत्वा निगुनक्तु मथ।

गृभ्णामि ते गोमगत्वाय ह्मन्, मया पया जरदशिर यवाय,

भगो अर्यमा गविता पुरधिर मथं त्वाऽऽर्गार्गपत्याय देवा।

मय देवता, हम दोनों का प्रेम यज्ञार्थ; मय पवित्र जल हमारे हृदय
 को मित्रार्थ; शुद्ध पवन, और बुद्धि के अविद्याना अन्नदेव, पवन देव
 और उत्तम उपदेव हमारी अंतर्गत्ता को दें। मैं प्राण (श्याम) हूँ, तुम
 वाणी मैं आकाश हूँ, तुम पृथिवी हूँ; मैं माम हूँ, तुम अक् हूँ।

आओ, हम दोनों विवाह करें, रेतसू (रजो-वीर्य) एकत्र करें, प्रजा उत्पन्न करें, एक जोड़, उत्तम पुत्र और उत्तम पुत्री; हम दोनों भी, और वे भी, मनुष्य की परम आयु पावें, वृद्ध हो, परस्पर प्रिय, परस्पर रोचिष्णु, परस्पर सुमना, नौ वर्ष, अक्षीण इन्द्रियों से देखें, सुनै, बोलें, जीयें, आभूषण धारण करें, आनन्द करें, अदीन रहै, सो वर्ष से भी अधिक; हम दोनों एक दूसरे के प्रती हों, पत्नीव्रत और पतिव्रता हों, परस्पर चित्त में चित्त मिलावें, एक दूसरे की बात को ध्यान में सुनै, प्रजापति देव हम दोनों को एक दूसरे के साथ राध दे। सांभाग्य के लिये हम दोनों एक दूसरे का हाथ पकड़ते हैं, एक दूसरे की सहायता कर के दोनों परम आयु पावें। सविता, सूर्य देव ने, अपने भग, अर्थमा, पृथा आदि ढादश महीनों के ढादश आदित्य-रूपों में, तथा महादेवी शक्ति देवी पुरधि ने, जो हम शरीर रूपा पुर का आधान, निर्माण, और धारण करती है, इन सब ने हम दोनों को उत्तम गार्हस्थ्य के लिये, और प्रजातन्त्रु का उच्छेद न होने के लिये, सात्त्विक विवाह के बन्धन में बांधा है। ये मंत्र अब भी प्रदिक विधि से किये जाने विवाहों में, पाणिग्रहण के समय पढ़े जाते हैं, तथा अन्य पौराणिक श्लोक भी, जिनमें पति पत्नी एक दूसरे से, चहुत अच्छी-अच्छी प्रतिज्ञाएं करते हैं, पर अर्थ के ओर दर-पध का ध्यान नहीं दिलाया जाता।

प्राचीन युगों में, जब वस्ती कम थी, तब 'पुत्रान्', बहुत से पुत्रों पुत्रों की कामना करना उचित या अब हम कालियुग में, जब वस्ती इतनी बढ़ गई है कि पुत्री माता उत्तम पालन पोषण धारण नहीं कर सकती, उमरमा भार नहीं सह सकती, तब व्याकरण के, "रक्षा-उहा-आगम-लघु अफरोण" नियम के अनुसार 'पुत्रान्' के स्थान पर 'पुत्री' पटना आर (पुत्री च पुत्रश्च पुत्रौ) एक देती और एक देता की आराधना करना उचित और पर्याप्त है, तथा 'यान्' के स्थान पर 'पुत्री', 'सन्निधौ, रोचिष्णु, सुमनस्यमानौ', या 'पुत्री वा न्नी, और 'पति-पत्नी' के भी विशेषण हो सकते हैं।

पच्छिम के विद्यारसिक, विविध ज्ञानों का संग्रह करनेवाले, स्व
वलम्बी, नये शाखों उपशाखों के प्रवर्तक, स्फुरद्बुद्धिमान्, गोपनीय,
जैसा अन्य विषयों में वैसा इस में भी, पृथ्वीतल के सभी देशों, और
सभ्य, असभ्य, और अर्धसभ्य जातियों, की विविध प्रथाओं की तोड़
करके, बड़े बड़े ग्रन्थों में उनका वर्णन विस्तार से किया है। कहीं एक
जाति की सब स्त्रियों का दूसरी जाति के सब पुरुषों से विवाह, अर्थात्
स्वच्छन्द मैथुन, जाति के भीतर के स्त्री-पुरुषों का परस्पर नहीं, (अप्रेती में
इसको 'एन्मो-नोमी' प्रकार कहते हैं); कहीं एक जाति के भीतर के
सब स्त्रियों का उर्मा के सब पुरुषों से अनिच्छद संयोग, किन्तु दूसरी
जाति वालों से नहीं, ('एण्टो-नोमी'), कहीं एक पुरुष का बहुत स्त्रियों
से, ('पार्ली-जैनी'), कहीं एक स्त्री का बहुत पुरुषों से, ('पार्ली-एण्टी'),
कहीं अन्य स्त्रियों और पुरुषों के साथ प्रसंग का अनुभव कर चुकने के
बाद ही विवाह ('एन्मपेरिमेंटल् मैरिज'), कहीं विवाह करने के बाद
स्वच्छन्दता, कहीं गर्भ रह जाने के बाद गर्भाधारक पुरुष और गर्भिणी
स्त्री का विवाह, कहीं आजमाइशी विवाह, अर्थात् कुछ काल तक सम्भोग
के बाद, यदि मन मिला तो, पक्का व्याह, नहीं तो पायबन्ध, ('ट्रैप'
या 'एन्मपेरिमेंटल् मैरिज'); कहीं जाति ('ट्रैप') के मुखिया, प्रथम
नायक, राजा (चीफ), या पुरोहित ('मेडिजन-मैन', 'प्रीस्ट'
'मैजिशन') के द्वारा कन्या को 'क्षतयोनि' और 'पवित्र' कर के किम
अन्य में विवाह, कहीं विवाह हो जाने के पश्चात्, 'प्रथम राष्ट्र' में, एक
एक राष्ट्र के लिये, ('जुम प्राइमी नोर्टी'), नरवधु का राजा, पुर्ण
सम्प्रदायगुरु, का समर्पण; इत्यादि।

१ १८००-०१ ई० के आम पास, बम्बई में एक सुकर
दुआ; इण्डोरे की नजरीत, 'हिस्ट्री आफ दि ग्रेट प्रा
मराजत' के नाम से, एक जिल्द में, किया ने इण्डिया

भारतवर्ष की हजारों जातियों में खोज करने से, स्यात्, सभी नहीं तो बहुतेरे प्रकार मिल जायेंगे। यथा शिमला के पास, सीपी नाम के एक स्थान में प्रतिवर्ष मेला लगता है वहाँ एक पहाड़ी जाति के

हाइकोर्ट ने लिखा कि बह्म सम्प्रदाय के गुरु लोग, गोन्वामी, 'महाराज' कहे जाते हैं, उस सम्प्रदाय में यह रीति है कि भक्त लिप्य लोग नव वधू को, पहिली रात के लिये, सम्प्रदाय-गुरु को नमर्पण करते हैं, बम्बई में इस सम्प्रदाय का जो मंदिर था, उसके गुरु 'महाराज' गोशाई जी को ऐसी एक नव-वधू समर्पित की गई, उस वधू को भीषण 'आतशक' ('Chancie' शब्द का प्रयोग जहाँ ने किया, जिसके स्थान पर अब Syphilis का प्रयोग अंग्रेज़ी भाषा में होने लगा है) तो गया, मन्त्रन्धियों ने दचहरी में, गुरु जी पर मुकदमा चला दिया। (स्यात्, नये पाश्चात्य विचारों के प्रभाव से, महा तामस अध भक्ति को, इस भीषण दुष्फल ने, महाक्रोध में परिणत कर दिया)। अदालत ने 'गोशाई महाराज' को दंड मिला। सारे देश में चर्चा हुई, गुरु लोग भी और भक्त लोग भी शर्माएँ और डरे, और यह दुराचार कुछ कम हुआ, और टिपाया जाने लगा।

दूसरी बह्म गुरु का जो प्रधान मंदिर धीनाथ द्वारा के नाम में प्रसिद्ध, उदयपुर राजपुताना के राज्य में है उस के गुरु ने एक देस्या को, सुली रीति में, रख लिया और, अनुयायियों में शोर मचाने पर उस से एक प्रकार का विवाह भी कर लिया, अन्ततः अधिक आन्दोलन होने पर, गुरु जी गयीं स अलग हुए, और उन के पुत्र उस पर निर्याचे गये। यह मामिला धर हम वर्ष के अन्दर अन्दर हुआ, और आन्दोलनों में इस की बहुत चर्चा रही।

बम्बई के उक्त गुरुओं के मिलसिले में यह भी विदित हुआ, कि देश में, भीतर भीतर यह भी विधास प्रचलित है, कि यदि आतशक मन्त्र

जो पति-पत्नी परस्पर असन्तुष्ट होते हैं, वे आपस में पति पत्नियां प्रविनिमय, बदलौबल कर, लेते हैं, इत्यादि ।

मनुस्मृति में पुनर्भू, सहोद, नियोग, आदि शब्दों से ऐसे प्रकारों सूचना होती है । महाभारत, आदि पर्व, अ० १२८, में अधिक लिखा है,

अनाश्रुता किल पुरा स्त्रिय आसन्, वरानने,
कामचारविहारिण्य स्वतंत्राश्, चारुहामिनि,

का रोगी शुद्ध नीरोग कन्या से प्रसंग करे, तो उसका रोग कन्या का जाता है और वह उस से छूट जाता है, तथा, इम विश्वाम के हेतु भी, बल्लभीय गुरु के वीर पाप के ऐसा पाप, देश में अस्तर होता परन्तु, पाश्चात्य सुपरीक्षित विज्ञान के मत में यह विश्वाम मिथ्या है, पाश्चात्य अनुभव यह है कि नीरोग कन्या को तो रोग जाता है, पर रोगी पुरुष का रोग बना ही रहता है । जैसे मिया विश्वामों के प्रसार में एक हेतु यह भी है, कि यह मिया विश्वाम (न केवल भारत में, अपि तु सभी देशों में) फैल गया है कि जो भोग्य है, परिग्रह ('प्रापटी', मिल्क) है, और पुरुष भोग्य, परिग्रहो, स्वामी । सांख्य-योग-वेदान्त की तथ्य-दृष्टि के विपत्तन अंग में यह मिथ्या दृष्टि कैसे उत्पन्न हुई और फैली, जैसे अन्य मय माता का प्रयत्न और तंत्राल—इम पर विचार करने का यदा आस नहीं, विचारकर्त्ता पाठक स्वयं विचार कर लेंगे । इम मिथ्या-भाष का मनु मनु के एक श्लोक के एक पाठ में, "यो भर्ता मा स्मृताऽङ्गना", से उगना है, दोनों परस्पर मर्याद हैं, भोग्य भी है, भोग्य भी है । ऐसे ही विपत्तन अंग में प्रयत्न 'वर्म', वैदिक, शैव, शक्त, उग्र, इत्यादि, आदि, है भोग्य पापित्त वंश 'वाम-माता' उत्पन्न हो गये हैं, तुम्हें पर, 'वाम-माता' लोग, पंच 'म-कार' अर्थात् 'वाम'।

तासा व्युच्चरमाणाना कौमारात्, सुभगे, पतीन्,
 नाऽवमोऽभूद्, वरारोहे, स हि वर्म पुराऽभवत्;
 तम् अद्यापि विधीयते तिर्यग्योनिगता प्रजा,
 उत्तरेषु च, रम्भोरु, कुरुषु अद्यापि पूज्यते,
 अस्मिन्सु लोके न चिरान, मर्यादा इय, शुचिस्मिते,
 उद्दालकस्य पुत्रेण स्थापिता श्वेतमेतुना ।

प्राचीन काल में स्त्रियाँ अनावृत (बिना रोक-टोक छेक के), कामचार में विहारिणी स्वतंत्र होती थीं, जैसे तिर्यग्योनि पशुओं की, तथा जैसे उत्तरकुर जाति के मनुष्यों में अब तक, यही उस काल में धर्म माना जाता था। बहुत काल नहीं बीता है जब से यह एक-पति-व्रत विवाह की मर्यादा, उद्दालक ऋषि के पुत्र श्वेतकेतु ऋषि ने स्थापित की, जब उन्होंने ने देखा कि उनकी माता को एक दूसरे ऋषि, अपने लिये पुत्र उत्पादन करने के हेतु ले कर जाने लगे, इत्यादि। आज बालपच्छिम में, 'स्वच्छन्दचार', 'फ्री-लव', 'कम्पानियोनेट मैरेज', आदि की प्रथा जोर बर रही है, और इस विषय पर ग्रन्थ प्रकृत लिखे जा रहे हैं, तथा अग्रधारों में यह्न होती रहती है।

सर्वाङ्ग कामशास्त्र में इन सब प्रकारों की, बोटों में, चर्चा तथा प्रत्येक के गुण दोष का दिग्दर्शन होना चाहिये।

अर्थ बड़े आत्मर और आटोप से प्रताते हैं, बौद्धों का 'वज्रयान' यही 'वाम-मार्ग' है, "गुण-समाज-तन्त्र" नामक ग्रन्थ (१९३१ ई०, गात्रप्रदाट औरियेटल् स्टीरिंग) में इस का वर्णन और 'रहस्य' अर्थों के प्रतिपादन का महाद्वान्निष्ठ यत्न किया है, पर जिन्म अर्थ को तुम 'रहस्य' बताते हो वह वास्तविक अर्थ तो सब उत्तम धर्म ग्रन्थों में स्पष्ट लिखा है फिर तुमको इतने आत्मर आरोग्य से उसको 'रहस्य' बताने का क्या प्रयोजन? यह तो बेवकाफ़ उन्मत्त, लाल, कपट, धूर्तता और शक्ल है।

जो पति-पत्नी परस्पर अमन्नुष्ट होते हैं, वे आपस में पति पतिव्रतों विनिमय, बदलौवल कर, लेते हैं, इत्यादि ।

मनुस्मृति में पुनर्भ, सहोद, नियोग, आदि शब्दों में ऐसे प्रकारों सूचना होती है । महाभारत, आदि पर्व, अ० १२८, में अधिक लिखा है,

अनाग्रता किल पुरा स्त्रिय आमन, वरानने,
सामचारविहारिण्य स्वतत्राज, चास्त्राग्नि,

का रोगी शुद्ध नीरोग कन्या में प्रसंग करै, तो उसका रोग कन्या को जाता है और वह उस में छुट जाता है, तथा इस विधाय के होने भी, बल्लभीय गुरु के घोर पाप के ऐसा पाप, देश में अस्मर होते परन्तु, पाश्चात्य सुपरीक्षित विज्ञान के मत में यह विधाय सिद्ध है, पाश्चात्य अनुभव यह है कि नीरोग कन्या को तो रोग जाता है, पर रोगी पुरुष का रोग बना ही रहता है । ऐसे विधायों के प्रसार में एक हेतु यह भी है, कि यह विधाय (न केवल भारत में, अपि नु सभी देशों में) फैल गयी हो गयी है, परिग्रह ('प्रापटी', मित्रक) है, और पुरुष परिग्रही, स्वामी । साध्य-योग-वेदान्त की तथ्य-दृष्टि के विपरीत में यह सिध्या दृष्टि के उन्पन्न हुई और फैली, जैसे अन्य मनुष्य का प्रयत्न और तात्काल—इस पर विस्तार करने का यही प्रसंग विचारनाल पाठक स्वयं विचार कर लेंगे । इस सिध्या भाव का मनु के एक श्लोक के एक पाठ में, "यो अनां मा म्नाश्रयतां गता है, दोनों परस्पर सर्वस्व हैं, भोग्य भी हैं, भोग्य में ऐसे ही विद्वत्त श्रमण में प्रयेक 'वर्मा', वैशिश, यौद्ध, उन्पत्ते, इत्यादि, आदि, के भीतर पापिष्ट घोर 'वाम-मार्ग' का संकेत है, दृष्टने पर, 'वाम-मार्ग' योग, यंत्र 'मन्त्र' आदि का

वेत्ता हैं, कई, चिकित्सक, वा वकील, वा समाजशास्त्री, वा 'माइको-पेनालिस्ट' भी हैं। प्राय सभी लेख ऊँचीकाष्ठा के हैं, एक दो अपरिपक्व बुद्धियों के लेखों को छोड़ कर, प्राय सभी ज्ञान-वर्धक, विचार-कारक, हैं। यहाँ कथा दृमरी पुस्तक के ग्यारह लेखों की हैं। इन तैतालीस लेखों में से दो या तीन को छोड़ कर, सब के अनुभव, विविध अभ्ययन विविध-त्रिपय-परीक्षण, का निष्कर्ष यही है कि, उत्तम पक्ष वही है जो मनु ने कहा है, पर, साथ ही, जब इस 'कलियुग' में उसका अधिकाल पालन प्रायः असम्भव हो रहा है, तो में अमर्या पचासी लटकं लटकियों, विद्यार्थी विद्यार्थिनियों, का ब्रह्मचर्य अविप्लुत नहीं रहता, विशेष कर पश्चिम में, जहाँ युवा-युवतियों के सह-अभ्ययन की रीति फल गटे हैं—जब यह अवस्था है, तब, इन विशेषज्ञों की ग्लाह यह है, कि, मामनशील-व्यसनता को यथाम्भव निश्चय कर के विवाह करें, और बीती भूलों को भुला कर, आगे के लिये, पररपर अ-व्यभिचार, परस्पर पतिव्रत-पत्नीव्रत, वा दृढ़ निश्चय बर वें, सदाचार में जीवन निर्वाह करें, आर मन्तान को यथाम्भव उन भूलों में बचावें।

श्री जेनी ली, १९२० ई० में ब्रिटिश पार्लिमेन्ट की सदस्य हुई, अमेरिका, यूरोप, रूस में बहुत भ्रमण किया, रूस में प्रथम बार १०३० ई० में गई, तबने और भी कई बार गई, ब्रिटिश मिनिस्टों के सेक्रेटेरियट (दफ्तर) में इनको एक जगह भी दी गई थी, परन्तु समाचार-पत्रों में लेख छपाने का स्वातन्त्र्य रहे, हम लिये उन पद को इन्होंने त्याग दिया। १०४१ ई० के अगस्त में इन्होंने एक पुस्तिका छपाई, "अवर ऐलाइट रजिना", चौमठ पृष्ठ की हम छोटी पुस्तिका के आठ अध्यायों में, सोवियट शासन आर रूसी सामाजिक और वैयक्तिक जीवन के मनी मुख्य अंगों की नार नार बातें लिखी हैं, लिखने के प्रकार में, पाठक के चित्त पर यही प्रभाव पड़ता है कि निष्पक्ष रूप लिखा है। पुस्तिका के पृ० २४ पर लिखा है, "एत में, विवाह और तलाक के कानून बड़े बर दिने गये हैं,

निष्कर्ष यही निकलता है कि लाखों वर्ष की आयु में, मानव ने स्त्री-पुरुष-संग के सब प्रकार आजमा डाले, पर अंत में सब से उच्च सांख्यिक प्रकार, अधिकतर सुख और अल्पतर दुःख का, यही है। ब्रह्मचर्य में अविप्लुत अद्विपित युवा, और वैसी ही अविप्लुत अद्विपित युवती कन्या, का विवाह, उनकी समान-व्यसन-शीलता का यथार्थ निर्णय, वृद्धों के परामर्श से तथा परस्पर युवा युवती के रसि प्रेम से, निश्चय कर के, किया जाय, और तब सारी जिन्दगी दूसरे के साथ वफादारी, प्रेमव्रत, अव्यभिचार, से निवाही जाय।

अन्गोन्यस्याऽव्यभिचारो भवेद्ग्रामरणातिक-
एष धर्म समासेन ज्ञेय स्त्रीपुंमयोः पर,

तथा नित्यं यतेयाता स्त्रीपुमौ तु कृतकियौ,
यथा नाभिचरेता तौ वियुक्तौ इतरेतरम्, (मनु) ।

स्त्री-पुरुष, पति-पत्नी, के धर्म कर्म का सार इतना ही है, कि सदा जतन करते रहें, कि एक दूसरे से चित्त कभी न फटे, न हटे, कभी तो पर न मटे, कभी व्यभिचार न करें। पृ० ३०१ पर, टिप्पणीम, वेबमार्क के ग्रन्थ की चर्चा की है, जज लिंड्से की 'दि रिजोल्ट आफ मॉरल यूथ' (१९०० ई०) और 'कम्पानियोनेट मैरिज' (१९२८ ई०) नामक पुस्तकों में, पश्चिम देशों की वर्तमान कामिक और अति कामुक आदमियों का थोड़े से बहुत पूरा वर्णन, तथा गुण-दोष-दर्शन (पर कम मन्तोपहास किया है। इस विषय पर अन्य बहुत से ग्रन्थ, अंग्रेजी में, इन ग्रन्थों का बड़ा छाप है; बहुत थोड़े से जो मेरे देखने में आये, उनमें से दो मिले। इन्ग्लैण्ड में जान पड़े, "मेसज इन सिविलिजेशन" (१००९ ई०) और "दि मेसज लाइक आफ दि अन्-मैरिड ऐजेंट" (१९३५ ई०), पश्चिम देशों में वर्तमान, और दूसरे में ग्यारह, विशेषज्ञों के लेख छापे हैं, इसमें मियों भी हैं, मुख्य भी; विविध नामों और जानियों के ये लेख हैं। अन्व मन्म-शास्त्र, 'साइकालॉजी', के विविध अर्थों के ये विवेक अंग्रेज

वेत्ता हैं, कई, चिकित्सक, वा वकील, वा समाजशास्त्री, वा 'साइको-पेनालिस्ट' भी हैं। प्रायः सभी लेख ऊँचीकाष्ठा के हैं, एक दो अपरिपक्व बुद्धियों के लेखों को छोड़ कर, प्रायः सभी ज्ञान-वर्धक, विचार-कारक, हैं। वही कथा दूसरी पुस्तक के ग्यारह लेखों की है। इन तेतालीस लेखकों में से दो या तीन को छोड़ कर, सब के अनुभव, विविध अध्ययन, विविध-विषय-परीक्षण, का निष्कर्ष वही है कि, उत्तम पक्ष वही है जो मनु ने कहा है, पर, साथ ही, जब इस 'कलियुग' में उमका अविफल पालन प्रायः असम्भव हो रहा है, सौ में अम्मी पचासी लटके लटकियों, विद्यार्थी विद्याधिनियों, का ब्रह्मचर्य अविप्लुत नहीं रहता, विशेष कर पश्चिम में जहाँ युवा-युवतियों के सह-अध्ययन की रीति फल गढ़ें हैं—जब यह अवस्था है, तब, इन विशेषज्ञों की ग्लाह यह है, कि, मामनशील-व्यग्नता को यथासम्भव निश्चय कर के विवाह करें, और दीर्घी भूलों को भुला कर, आगे के लिये, परस्पर अ-व्यभिचार परस्पर पतिव्रत-पत्नीव्रत, वा एद निश्चय कर के सदाचार से जीवन निर्वाह करें, और गन्तान को यथासम्भव उन भूलों से बचावें।

श्री जेनी ली १९२९ ई० में ब्रिटिश पार्लिमेन्ट की सदस्य हुईं, अमेरिका, यूरोप, रूस में बहुत भ्रमण किया, रूस में प्रथम बार १९३० ई० में गईं, तबसे और भी कई बार गईं, ब्रिटिश मिनिस्ट्री के सेक्रेटेरियट (दफ्तर) में इनको एक जगह भी दी गई थी, परन्तु समाचार-पत्रों में लेख छपाने वा रमातन्त्र्य रहे, इस लिये उन पत्रकों इन्होंने त्याग दिया। १९४१ ई० के अगस्त में इन्होंने एक पुस्तिका छपाई, 'अवर ग्लोबल रजिस्ट्री', चौसठ पृष्ठों की इस छोटी पुस्तिका के आठ अध्यायों में, नैतिक-व्यवस्था आर स्वामी-साम्राज्य आर वैयक्तिक जीवन में स्वामी-सुन्दर-उगों की स्वार-स्वार-दाते लिये दी है, लिम्पन में प्रचार में, पाठकों के दिल पर वही प्रभाव पड़ता है कि निष्पक्ष स्वयं लिखा है। इस्तिवा के पृ० २६ पर लिखा है, "एक में, विद्या आर तत्पक्ष में कानून का बर दिया गया है।"

स्त्री और पुरुष का शाश्वतिक संग साथ, और अपने और अपनी मंगल के लिये परस्पर-संबद्ध दृढ-मूल (कौटुम्बिक) जीवन का साधन निर्वाहण—इस समय रूस देश में, यही भावना धारणा चलती है अर्थात्, विविध प्रकारों की परीक्षा और अनुभव कर के, रूसी जनता शासक भी मनु के सिद्धांत के पास पहुँचे है ।

(घ) विवाह सुखमय कैसे हो, इस के साधनों का वर्णन । इस शास्त्र का ठीक नाम तो 'सांसारिक-सुखशास्त्र', वा 'दाम्पत्य-शास्त्र', वा 'गार्हस्थ्य-शास्त्र' होना चाहिये । इस दृष्टि से, इस शास्त्र के ज्ञानार्थ स्त्री और पुरुष के आदर्श शरीरों का वर्णन, चित्रों के साथ, होता चाहिये ।

अर्थस्य मूलं निरुक्तिः, चमा च. कामस्य रूपं च, वगो, वपुश्च. धर्मस्य यागादि, दया, दमश्च, मोक्षस्य चैव उपरम. क्रियास्य ।

काम का मूल, यौवन, रूप-सम्पत्ति, और दृढ शरीर है; अर्थात् नोचा निरुष्ट व्यवहार और वदांश्त, नम्रता, धर्म का, यज्ञ याग उष्ट आर्पण आदि, के द्वारा परार्थ कार्य, दया, और इन्द्रिय दमन, मंत्र का, सब क्रियाओं में उपरम, निवृत्ति । कामशास्त्र की दृष्टि से, कामशास्त्र में इन चार में से प्रथम तीन पुरुषार्थों को नमस्कार किया है, और उनका लक्षण संक्षेप में, किया है, वर पृ० १९८-१९९ पर ऊपर लिखा गया । मोक्ष का तो केवल नाममात्र लिया है, उसको काम शास्त्र में अनधिकृत, अनुपयुक्त, समझा, पर यह ठीक नहीं; साक्षात् सम्मत् नहीं है, किन्तु परम्परया है । अथर्वशास्त्र के मित्रान्त, एक श्लोक अथ्युदय के अन्तर्गत तीन पुरुषार्थों को, और दूसरी ओर नि.श्रेयसशास्त्र के श्लोक पुरुषार्थ मोक्ष को, परम्परया उद्धृत है; उन मित्रान्तों की संज्ञा उपेक्षा करने से, "आम्रवत सर्वमृतेषु" को भुला देने में, न उनमें न अर्थ है, न काम ही, सुमार्थिक रूप से मंत्र गठना है, काम शास्त्र पक्ष का अंश 'मोक्ष' है, वह नहीं पतनार्थ ।

पापों से ही वैराग्य होना उचित है, पुण्यात्मक सांसारिक व्यवहारों से नहीं, पर ऐसे साराग्य को भी धर्म बनाये रहने के लिये, उत्तम अध्यात्म भाव का कुछ न कुछ ध्यान, मन में बना रहना, उपयुक्त ही, किवा एक सीमा तक आवश्यक भी, है, इसी लिये, अक्षरारम्भ के पहिले सभ्या वन्दन सिखाने की विधि है, अभ्युदयाभिलाषी युवा को, मोक्षोन्मुख शास्त्र वेदवृद्धों के दर्शन पूजन से, अति अभिमान, अति काम, अति लोभ आदि नहीं होने पाता, और सभी सांसारिक कार्यों में सहायता और अच्छे उपदेश मिलते रहते हैं। इस लिये वात्स्यायन को अन्तिम पुरुषार्थ की तर्कशा उपेक्षा नहीं करना चाहता था।

कन्या वरयते रूप, माता वित्त, पिता श्रुत,
 बावदा उलमिच्छन्ति, मिश्राक्षमिनरे जना (लोकोक्ति) ।
 कुल च, शील च, सनाथता च, विद्या च, वित्त च, वपुर्, वयध,
 एतान् गुणान् सप्त विचिन्त्य, देवा कन्या युधे,
 शेष उचितनाय, (व्यास-स्मृति) ।

अव्याग्री चोभ्यनाम्नी, एसवारणगामिनीम्
 तनुलोमने सदशना पृथ्वीम् उद्वहेत् रियम् । (मनु)

युवा और कन्या दोनों का कुल, शील, विद्या, वित्त, वपु (शरीर की सुन्दरता और रचरचना), वयस्, अच्छा नाम, अच्छी चाल, आदि का विचार कर के विदाह रिपर करना चाहिये।

रूप—याम का उद्बोधक, घोवन की प्राप्ति के बाद, सब से पहिले सुन्दर रूप है। प्राय अनार्य उर्वाचान सस्कृत-साहित्य में, तथा हिन्दी-साहित्य में, रीति या ही नख-मिर्य-पर्णन देख पड़ता है, यह भी अति-रक्षित, यहाँ तब कि मिथ्या और भठेन। पुरुष शरीर की सोम का वर्णन बहुत कम मिलता है। इस का फल यह हुआ है कि, पुरुष के सुन्दर और अन्य जन के सुन्दर होने की वहाँ चिन्तन नहीं, पुरुष भोक्ता, और रक्ष

भोग्य है, भोग्य ही को सरस होना चाहिये—ऐसा भाव फल रहा है। फलतः सुन्दर पुरुष-मुख कम देख पड़ते हैं, तथा, क्रिया प्रतिक्रिया के नियम से, जब पिता सुन्दर न होंगे तो केवल माता के सुन्दर भी होने से कन्या सर्वथा सुन्दर नहीं हो सकती, इस लिये स्त्रियों का सौन्दर्य भी विरल हो रहा है, और समस्त जाति रूपहीन होती जाती है। पश्चिम देशों में कभी कभी 'स्कल्पटर', प्रतिमाकार, रूपकार, मूर्ति उत्कीर्ण, तथा 'पेण्टर', चित्रकार, लोगों में बहुत रोचक बहस उठती रहती है, इस प्रश्न पर कि स्त्री-रूप निसर्गतः अधिक सुन्दर और स्थायी है कि पुरुष-रूप। मित्त्वान्त यह है कि पुरुष को स्त्री-रूप और स्त्री को पुरुष-रूप अधिक सुन्दर प्रकृत्या जान पड़ता है। इसका आध्यात्मिक कारण योंत हो तो, काम के पारमार्थिक अध्यात्मतत्त्व से सम्बद्ध, स्त्रीय और पुरुष का आध्यात्मिक तत्त्व जानना होगा।

सौन्दर्य क्या है, हम पर, पूर्व में भी, पश्चिम में भी बहुत विचार किया गया है; आध्यात्मिक निष्कर्ष यही है,

यद् यम्य रोचते, तस्मै, तद् एव ननु सुन्दरं,
जो रूप जिमको रचै, उसके लिये वही सुन्दर है।

पुरुष भोक्ता और स्त्री भोग्य—यह भाव अमम्य, अनार्य, अमम्य है। आर्य ग्रन्थों में यह नहीं देखा पड़ता। यदि सीता की शोभा का वर्णन है तो राम की शोभा का उल्लेख अधिक है। कृष्ण के रूप की मूर्तिमा से

२ नर्पि कामीदि ने राम जी के आध्यात्मिक गुणों का भी वर्णन किया है, उनके शरीर के एक एक अंग की भी आदर्श-प्रतिरूप-पुस्तिकाओं का वर्णन किया है। पर सीता देवी के स्त्री-शरीर का वर्णन कैसे करें ?

अने नर्पि शक्य, अशी त्मदयारणा,
अने नर्पि शक्य, अशी शिवाप्रदयणा ।

पुराण इतिहास में बहुत ही प्रसिद्ध है। “विभ्रद् वपु सकलसुन्दर-सन्निधान”, “त्रिभुवनकमन तमालवर्ण”, “नेत्रोत्सव विदधतं नगरांगनानां”, जिस को स्त्री-पुरुष आँख फाट फाट कर देखें, जिस के देखने से आँख थकें नहीं, अर्थात् नहीं। पुराणों में कथा है, स्वर्ग में वहस चली, सब से सुन्दर कौन है, उर्वशी, मेनका, रम्भा आदि अप्सराओं की पंचायत बना कर नारद ऋषि को मध्यस्थ, प्राट्बिवाक्, सरपच, नियत कर, सब लोकों में घूम कर निर्णय करने को इन्द्र ने नियुक्त किया, राजा पुरुरवा की, स्नान के समय, अनऽवृताग, नग्न, देख कर, पंचायत ने निश्चय

इन्द्रजित् ने राम और लक्ष्मण को नाग पाश से बंध दिया ए दोनो भाई मूर्च्छित, निश्चेष्ट, प्राणरहित में, पृथ्वी पर पड़े ए, नीता देवी को विमान पर बिठा कर, उन्ट रिखाने के लिये, गन्धम लाने ए, देख कर, नीता देवी, विहल रोती है, “जो जो लक्षण दृष्टो ने कहा है कि, जिस परती के शरीर में ये लक्षण हों, उसको वैधव्य क्या नही हो सकता, वे मन लक्षण मेरे शरीर में वचमान ए, फिर कैसे यह वैधव्य ?” आर नीता देवी अपने शरीर लक्षणोंका वणन करती हैं। इस प्रकार में महर्षि ने, ऐसे कारण दुःख के समय में, स्वयं देवी के मुख में अपने शरीर का वणन कराया कि किती के चित्त में वान विचार उत्पन्न हो ही नही सकता देना के दुःख में दुःखी एा होना पड़ता है। यह महर्षि का कामण्य, वात्मव्य, उपदेश-प्रादीष्य है। जैसे छोटा बच्चा, अपना माता के माथ स्नान करता हुआ, उसके शरीर को, निष्कार नाव में चिन्ता ए, देने ही, स्नान, इन वर्णन को पा कर, चित्त का नरकार एा पाता ए, बिकर नही।

दया धाली रि नन्दन नाग शान्धा निराश्रै,

नरकार एर नऽदादि विदार - प्रदानि च

विधीन्वा मरान् एा नीतरेना रि वणन

एन कर स्वः शीरम्, एति । नऽनन्तु ह, ६३,

एन • प्राट्बिवाक् एति, क्या नऽवृताग एति ।

भोग्य है, भोग्य ही को सरस होना चाहिये—ऐसा भाव फैल रहा है। फलतः सुन्दर पुरुष-मुख कम देख पड़ते हैं, तथा, क्रिया-प्रतिक्रिया के नियम से, जब पिता सुन्दर न होंगे तो केवल माता के सुन्दर भी होने से कन्या सर्वथा सुन्दर नहीं हो सकती, इस लिये स्त्रियों का सौन्दर्य भी विरल हो रहा है, और समस्त जाति रूपहीन होती जाती है। पश्चिमीय देशों में कभी कभी 'स्कल्पटर', प्रतिमाकार, रूपकार, मृति-उत्कीर्ण, तथा 'पेण्टर', चित्रकार, लोगो में बहुत रोचक बहस उठती रहती है, इस प्रश्न पर कि स्त्री-रूप निसर्गत अधिक सुन्दर और स्थायी है कि पुरुष रूप। विद्वान्त यह है कि पुरुष को स्त्री-रूप और स्त्री को पुरुष-रूप अधिक सुन्दर प्रकृत्या जान पड़ता है। इसका आध्यात्मिक कारण योजना हो तो, काम के पारमार्थिक अध्यात्मतत्त्व से सम्बद्ध, शीतल और पुरुषत्व का आध्यात्मिक तत्त्व जानना होगा।

सौन्दर्य क्या है, इस पर, पूर्व में भी, पश्चिम में भी बहुत विचार किया गया है; आध्यात्मिक निष्कर्ष यही है,

यद् यम्य रोचते, तम्मै, तद् एव ननु सुन्दरं ;

जो रूप जिसको रचें, उसके लिये वही सुन्दर है।

पुरुष भोज्य और स्त्री भोग्य—यह भाव अमम्य, अनायं, अमग्य है। आयं ग्रन्थों में यह नहीं देखा पड़ता। यदि माता की शोभा का वर्णन है तब ही शोभा में उमंगें अधिक हैं। कृष्ण के रूप की महिमा तो

पुराण इतिहास में बहुत ही प्रसिद्ध है। “विभ्रद् वपु सकलसुन्दर-सन्निधानं”, “त्रिभुवनकमन तमालवर्ण”, “नेत्रोल्यव विदधत नगरांगनानां”, जिस को स्त्री-पुरुष आँख फाट फाट कर देखें, जिस के देखने से आँख थकें नहीं, अघायें नहीं। पुराणों में कथा है, स्वर्ग में वहस चली, सब से सुन्दर कौन है; उर्वशी, मेनका, रम्भा आदि अप्सराओं की पचायत बना कर नारद ऋषि को मध्यस्थ. प्राट्-विवाक्, सरपच्च, नियत कर, सब लोकों में घूम कर निर्णय करने को इन्द्र ने नियुक्त किया, राजा पुरूरवा को, स्नान के समय, अनडावृताग, नग्न, देख कर, पचायतने निश्चय

इन्द्रजित् ने राम और लक्ष्मण को नाग पाश से बाँध दिया ए दोनो भार्द मूर्च्छित, निश्चेष्ट, प्राणरहित में, पृथ्वा पर पड़े हे नीता देवा को विमान पर बिठा कर उन्हें दिखाने के लिये, राक्षस लगे ए देख कर, नीता देवी, कितल रोती है, “जो जो लक्षण दक्खी ने कटा हे कि, जिम पत्नी के शरीर में ये लक्षण हो, उमको गेधव्य कमी नहा हो सकता, वे सब लक्षण मेरे शरीर में वत्तमान ए फिर कैसे यह बधव्य?”, आर नीता देवी अपने शरीर लक्षणोंका वर्णन करती हैं। इस प्रकार में महर्षि ने, ऐसे पाठन हुए के समय में, स्वयं देवी के मुख से अपने शरीर का वर्णन कराया कि किमी ये चित्त में काम विकार उत्पन्न हो ए नहा सकता, देवी के हृदय में उनी हो होना पता है। यह महर्षि का कामण्य, वात्सर्य, उपदेश-प्रादोष्य ए। जाने, गेठा बना, अपना माता के साथ स्नान करता हुआ, उनके शरीर को, निर्विकार भाव से देखता ए, उने ही, मन्त्र, इन वर्णन को पढ़ कर, चित्त का उत्कार ही पाता ए विकार नहा।

यथा शक्ती हि गान्धर्व तात् सान्ध्या निरीक्षे,
 चकार एव सडायासि, विकार न प्रदाति च,
 शिषीत्या महापुत्र श्रीशदेवा हि वर्णन
 एतं चरुं शरीरम्, पठित्वा, सत्पुत्र एव ह्य,
 शुभं च प्राप्नुवान् शान्, एतं गवधं शिषीक।

किया कि ये ही सब से सुन्दर है, फिर उर्वशी उन पर, और वे उर्वशी पर, इतने मुग्ध हुए कि विवाह हुआ और चन्द्रवंश बढ़ा। स्नान के समय जाँच इस लिये की गई कि स्वाभाविक लावण्य पर, स्वेद भाँद धुल कर, और भी 'आब', 'पानी', की चमक, आ जाती है। यह हुई पौराणिक कथा। इतिहास में विख्यात सिकन्दर को भी, स्नान के समय, उम के योद्धा देखने को जमा हो जाया करते थे, उसका शरीर ऐसा ही सुन्दर और बलवान् था। उसकी शोभा पर भी, और युद्धनेतृत्व के कौशल पर भी, मुग्ध होकर योद्धा उसके लिए अपने प्राण का बलिदान दिया करते, और उमकी विजयश्री को नित्य बढ़ाते रहते थे, अतः मे, पंजाब देश के राजा पौरव से युद्ध कर के, सिकन्दर की और उस के रणोद्दट भटों की युद्ध-श्रद्धा क्षीण हुई; कामसूत्र, अर्थशास्त्र, पंचतंत्र आदि ग्रन्थ-रत्नों के कर्ता वाल्म्यायन-चाणक्य महामंत्री के बुद्धिबल से समुन्नत चंद्रगुप्त की साम्राज्य-शक्ति की कीर्ति सुन कर, वे और भी हिम्मत हारे, और अपने देश की ओर वापस चले। राजा पौरव की शरीर-सम्पत्ति सिकन्दर में भी किन्हीं अंशों में बँदी चढ़ी थी, ऐसा स्वयं ग्रीस देश के तत्कालीन इतिहास-लेखकों के ग्रन्थों में विदित होता है, गाँदे मान फुट में अधिक ऊँचे थे, हाथों पर मन्त्रार, बिना महामात्र (महाउत) के, स्वयं उमको चलाते दौड़ाने हुए, (जैसे महाभारत में राजा भगदत्त), युद्ध करते थे; ग्रीस

लेखक फ्लूटार्क कहता है कि पौरव, हाथी पर सवार नहीं, बल्कि घोड़े पर सवार जान पड़ते थे; गजराज और नरराज के शरीरों की उँचाई की निष्पत्ति, (अनुपात, 'निस्वत'), से भी, और राजा के हस्ति-संचालन-कौशल से भी, ऐसा जान पड़ता था मानो अश्व पर अश्वारोही आरूढ़ है, दूधे शब्दों में सिकन्दर की हार भी फ्लूटार्क कबूलता ही है। पञ्जाब प्रांत अब भी शरीर-सम्पत्ति की खान है। खेद है कि महा-भारत-ग्रन्थ के बाद, सच्चे, सविस्तर, बहुविषय-संग्राहक, बहुश्रुतता-सम्पादक, सर्वशास्त्रसार, सर्वकार्यरसाधार, नवीन-नवीन इतिवृत्तों से पूर्ण, अतः अधिकाधिक मनोहर और ओजस्वी, इतिहासों के लिखने का स्रोत ही इस अभाग्य देश में बंद हो गया। कामशास्त्र का इतिहास से घनिष्ठ सम्बन्ध है, यह ऊपर सूचना की जा चुकी है। प्रायः सभी असाधारण ऐतिहासिक घटनाओं के करनेवाले, अलौकिक, अति विशिष्ट, धर्मावतारों और अधर्मावतारों, की उत्पत्ति में कोई विशेष आविष्कार किसी विशेष काम-विकार का भी लगा रहता है, यह पुराणों में बहुधा सूचित किया है। आधुनिक पाश्चात्य पौरस्य लेखक अक्सर इस की चर्चा बचा जाते हैं, पर इन से, कार्य-कारण-संबन्ध-ज्ञान में, अभ्येता के, घृष्टि रह जाती है।

अच्छे अर्वाचीन कवियों ने भी, कभी-कभी, पुरुष-नायकों का भी कुछ वर्णन कर दिया है, यथा रघु वा कालिदास ने,

युवा युगवशात्तवाहुर् अमल वपाटवक्ष परिणम्रजधर,

नपु परुषोद अजयद गुर रघुम्, तथापि नाचैरविनयात् अटस्यन ।

वृषभो पर रस्ये जाने वाले युग (जग) के ऐसे मोटे और लम्बे चाटु, भारी बन्धे, भ्रामपेक्षियों से नटध प्रीया इन प्रकार के उल्टे शरीर से, रघु, अपने पिता दिलीप से भी बच गये, विन्तु विनय से नाने दूधे हुए ही रहते थे।

तथा भ्राह्मर्षे ने, नट वा, दून्ने प्रबर से,

अधारि पद्मेपु तदघ्निणा घृणा, क्व तच्छयच्छायलवोऽपि पल्लवे,
तदास्यदास्येऽपि गतोऽधिकारिता न शारदः पार्वणशर्वरीधर ।

राजा नल ने जब यौवन में प्रवेश किया, तब उन के पैरों ने कमलों का तिरस्कार किया, उन के हाथों की सुन्दरता की छाया भी, अच्छे में अच्छे पल्लवों ने नहीं पाया, पूर्णिमा के चंद्रमा की शोभा तो उन के मुँह की शोभा की दार्ढ्या होने के भी योग्य नहीं थी ।

एक अन्य नाटककार ने बहुत ललित शब्दों में, राम और सीता के परस्पर भाव, एक दूसरे के सौन्दर्य के विषय में, विवाह में पहिले के, कहे हैं,

यौवनोद्गमनितातशक्तिता, शीलशौर्यवलकातिलोभिता,
मकुर्चान्ति विक्रमन्ति राघवे, जाननीनयननीरजश्रियः ।
उत्तरज्जय, तरङ्गलोचने, लोचने कमलगर्वमोचने
अन्तु सुन्दरि इल्लिन्दनन्दिनीवीचिउम्बरगभीरम् अम्बरम् ।

तथा मृच्छकटिक नाटक के नायक का वर्णन है,

शोभोन्नत सुगम, अपाङ्गविलामिनेत्र, नैतद् विभाजनम् अशरणदूषणात्,
नागेषु गोषु नुरगेषु तथा नरेषु, नैवाऽकृति सुमदशं विनदानि पृतम् ।
तुलसीदास जी ने श्री हिन्दी-साहित्य में प्रायः आर्य भाषों का प्रदर्शन किया है, यद्यपि रत्नी रत्नी, भक्ति की शक्ति कर दी है ।

आदर्श पुरुष और आदर्श स्त्री के बालक-बालिका, कुमार-कुमारी, युव-युवती, प्रौढ़-प्रौढ़ा, वृद्ध वृद्धा अरम्याओं के चित्र, पर-पर में रहते व द्वेष, प्रियता देखते-देखते विराहित दम्पतियों के मन में ये सब चित्रें क्या जाये कि उन की सम्मान वेगों ही होने लगे । राम और सीता, कृष्ण और रजिमाता, बदराम और रेवती, यमिष्ठ और आंशुली, कर्णक दम्पती, मयराज और मायित्री, बृह और यज्ञोपस की, यज्ञोपस की अरम्याओं की दम्पती या प्रियताओं की पर-पर में पूरा बर्तन

कारक हो, यदि ये तस्वीर और प्रतिमा सचमुच सुन्दर हो। मूर्तिपूजा की युक्तिमत्ता, उपादेयता, चरितार्थता, तभी है जब इष्टदेव की मूर्ति और भाव सुन्दर और सात्त्विक हो, और, 'यो यच्छुद्ध स एव स' के नियम से, उपासक और उस की संतान के देह और चित्त भी ध्यान और भक्ति के बल से, वैसे ही सुन्दर और सात्त्विक हो जायें। खेद है कि मूर्तियाँ प्रायः सुन्दर के स्थान पर भट्टी रहती हैं। त्रीस देग में, दो सहस्र वर्ष पहिले, सौदर्य की उपासना बहुत हुई, और उस समय वहाँ स्त्री-पुरुष बहुत सुन्दर होते थे। उस समय की जो बचो-बुची सङ्गमरमर की टूटी-फूटी भी प्रतिमा, खटहलों में दबी-दबाई मिली है, उनको और उनके फोटो चित्रो या प्रतिकृतियों को देखते आँख नहीं थकती। हिमालय पर्वत की किन्हीं किन्हीं ट्रोणियों में अब भी ऐसी जातियाँ हैं, जिनके विषय में, स्वयं अंग्रेजों ने, अपना जात्यभिमान भुला कर, मुत्तकठ लिखा है, कि इन से जधिक सुन्दर स्त्री-पुरुष अन्यत्र कहीं नहीं है।

१ वात्स्यायन ने, इस प्रकार से, स्त्री और पुरुष के शरीर को सुन्दरता के लक्षण तो कहे गए, उन की पुष्ट इन्द्रियों के परिमाण के भेद से, तान तान भेद लिख दिये हैं, यथा,

शरीरो, वृषो, अश्व, रति नायक विशेषा

नायिका एन सृगी, वरुवा, हरितनी, चेति

(सा-प्रयोगिक अधि०, २ अ० १।)

पीछे के लेखकों ने चार भेद किये हैं,

शरीरो, सृगी, वृषो, वाजी, एण्यारतु चतुर्विधा

पशिनी, चित्रिणी च, शक्तिता, हरितनी, त्विद ।

शरीरो, वा वरुवा, कालना च, एत एतेन चतुर्विधा । इन प्रकार के भेद, मनु ने शरीर रूप की एत अन्विष्ट हरि ने दिये गये हैं मनु उद्देश्योप ही नहीं है, क्योंकि शरीर-रूप-व्यवस्था के शरीर-व्यवस्था के

ऊपर कहा कि शरीर-सम्पत्, वपुष्मत्ता, अब भी पंजाब में बहुत है। अफगानिस्तान में भी है, याद रहै कि मुहम्मद और इस्लाम धर्म के जन्म के पहिले, उस देश का नाम 'गाधार' (अब 'कदहार') था, और वहाँ के ब्राह्मिदे सत्र 'हिंदू' और बौद्ध थे, बुद्ध, चंद्रगुप्त, सिकंदर, अशोक, आदि के समय में, तक्षशिला का विद्यापीठ परम प्रसिद्ध था, पाणिनि, पतंजलि, आदि का जन्म इसी प्रान्त में हुआ, अस्तु। सिख-मटली में कहा जाता है कि महाराज रंजीत सिंह जब हाथी पर निकलते थे, तब सदा हरिसिंह नटवा, उन के हाथी के पुट्टे पर एक हाथ रखे हुए साथ-साथ बात करते चलते थे, जैसे किसी घुटसवार के साथ उस का आत्मीय, उस के घोटे के पुट्टे पर हाथ रखे बात करता चलै, ऐसे विशालकाय थे। इन्हीं हरिसिंह और मेलाराम ने अफगानिस्तान और काबुल फतह किया, हरिसिंह ने उसी युद्ध में अपना शरीर छोटा। एक पंजाबी सज्जन से मैंने

नाचे, रङ्ग, बटना, लटकाता, जमे घट के बरोह, घट वृक्ष को भी न्यग्रोध कहते हैं), पैलार्ड बॉट का जो परिमाण, वही मिर में पेर तक का, जिम का छो, ओर मोठार्ड उंचार्ड भी बराबर हो, वह न्यग्रोधपरिमटल। जिस स्त्री के स्तन काठिन, नितम्ब विनाल कमर पतली हो, वह 'न्यग्रोधपरिमटल'। जिस का शरीर शीत काल में ठण, ओर ग्राष्म काल में ठटा हो, ओर जिस का रंग तपाने सोने के ऐसा हो, वह 'श्यामा'। यद्य श्यामा का अब सावली, काली, नरा, रामायण में साता का यण गार लिखा है।

स्त्री अब पुष्ट आर सुन्दर होने चाहिये तब नारी शरीर में स्तनों का, ओर पुरप शरीर में दाहणों को, शोभा पर, साहित्य में अधिक अद्यात दिया। तबो 'अध्यात्मशास्त्र' का दृष्टि में ऐत तत्ता प ताई, जि गन्ता तो दे चि ने ल रूप से यह भाव बँटा हुआ है कि 'स्त्री शोभा हो चालो दे पालन, उर करे दाहणों में सुदृम्ब और श्यामा का रक्षण, अन्ता हो नरता है, 'पानपेपरा' आर 'भटावाट' 'गदा' १ २०२, इन दोनों में, सुधा विरेचन चिं चो २।

सुना कि अब तक अफगानी लडाकू जातियों की स्त्रियाँ, अपने शोर करते बच्चों को यह कह कर चुपाती हैं कि "हरिसिंह आया, नइवा आया।" ऐसा विशाल शरीर होना असभव नहीं, और किंवदन्ती को हठात् आयुक्ति और मिथ्या नहीं समझ बैठना चाहिये, साढ़े छः फुट के सिए और अफगानी मै ने कई देखे हैं, ७ जनवरी १९३० ई० के 'पायोनिपर' नाम के दैनिक में, (जो उस समय इलाहाबाद से निकलता था), एक चित्र छपा है; इसमें जे० जी० टार्वर नाम का अतिक्रम्य पुरुष, एक हाथी के पुटे पर हाथ रखे, और अपनी दाहिनी कुक्षि में एक साधारण पुरुष को दबाये, दिग्गया है। टार्वर का उन्ध्राय (ऊँचाई) आठ फुट चार इंच लम्बी है, और शरीर की तौल एक हजार पौंड, अर्थात् साढ़े बारह मन। "एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका" में 'जायन्ट्स्' पर लेख है; और दैनिक पत्रों में, समय-समय, ऐसों के हाल छपते रहते हैं। गियन ने, अपने लिखे "रोमम्राज्य के इतिहास" में, मैक्सिमिन नाम के एम्परा का सुप्रमाणित हाल लिखा है, कि आठ फुट में अधिक ऊँचा था, उर्पा अनुपात में मोटा, अति बलवान्, दिन में बीस सेर मांस और तीस सेर मदिरा प्या-पी लेता था; वृकोदर भीम ही था। भारतवर्ष की ऐसी बलशाली भीम, अर्जुन, पौरवों की आवश्यकता है। जैसे सूखे भूखे, मरुट-भ्रातृति, मरुट प्रकृति के, जीव देश में भर रहे हैं, वे भारत का उन्मूलन नहीं कर सकते।

वयम्—नीमरे, उपयुक्त वयम् भी कामोपभोग का आवश्यक अंग है। इम सम्बन्ध में, क्रिय वयम् में विवाह होना चाहिये, इम का भी विचार कामनाम में होना आवश्यक है।

सुखान्तम्य उच्यते तत्र तत्र अन्तरा

इत्यने यद्वृत्तानाम् तत्र यवाम् इह उच्यते ।

मरुट के 'आय', पानी, के गुंठी, लक्षण, नमक, के डले के गुंठी, तत्र तत्र, जो यत्र अंगों पर देख पड़ती है, उमको लक्षण, नमकी,

सलोना-पन कहते हैं। यह पूर्वोक्त (पृ० १८०) शुक्रकला का फल है।
लावण्य और तारुण्य का साथ है। आयुर्वेद, सुश्रुत आदि, में,

पूर्णषोडशवर्षा स्त्री पूर्णविगेन सगता,

इत्यादि से बीस और सोलह वर्ष का वयस्, पुरुष और स्त्री के विवाह
(सगम) के लिये उचित है, ऐसी सूचना की है। इस से कम तो किसी
प्रकार होना ही नहीं चाहिये। इतने वर्ष तक अविप्लुत-ब्रह्मचर्य से रहने
से शरीर में लावण्य तारुण्य की यथा-कथञ्चित् काति की दीप्ति आ जाती
है। पुराणों में, स्वर्ग और नन्दन-वन के आदर्शों के वर्णन में, ऐमा रूपक
बनाया है कि, स्वर्गवासी पुरुषों और स्त्रियों का, पच्चीस और सोलह वर्ष
का, स्थिर यौवन रहता है। मनुस्मृति की प्रचलित लिखी छपी प्रतियों
में पाठ यों देस पडता है,

त्रिंशद्वषोऽष्टेन कन्या दद्याद् द्वादशवापिकी,

त्र्यष्टवषोऽष्टवर्षा वा, यमं सीदति सत्वर ।

तीस वर्ष का पुरुष चारह वर्ष की कन्या से, अथवा, यदि ब्रह्मचर्य
धर्म के अवसाद के भय से त्वरा हो तो, चौबीस वर्ष का पुरुष आठ वर्ष
की स्त्री से विवाह करे। निश्चयेन यह पाठ भ्रष्ट है। पुरुष की अवधियों
तो विज्ञान-सम्मत हैं, पर स्त्री की स्पष्ट ही विज्ञान विरुद्ध हैं। चारह वर्ष
को अनभिन्नक्ताग बालिका से तीस वर्ष के प्रांत पुरुष का, अथवा आठ
वर्ष की अबोध बच्ची से चौबीस वर्ष के तरुण का, संयोग तो घोर बाल-
हत्या और महापातक है।

मैं एक ऐसे कुटुम्ब का हाल रख्य जानता हूँ जहाँ, (१९४३में) कोई
पैंतीस वर्ष हुए होने, एक हष्टष्ट ध्यायामशील (और प्रायः मदाचारी भी)
बीस वर्ष के युवा का दूसरा विवाह, पहिली पत्नी के किसी रोग से मर
जाने पर, एक ठीक आठ वर्ष की बच्ची से कर दिया गया। उस अनजान
बच्ची को, प्रसंग में ही अत्यंत पीटा हो कर, गर्भ भी रह गया, गर्भ की

वृद्धि से अति व्याकुल, वह बच्ची अपने साथ खेलने वाली बालिकाओं से कहती फिरती थी, 'अभी हमें ऐसा नहीं होना चाहिये था', 'अभी हमें ऐसा नहीं होना चाहिये था', सातवें मास असमय प्रसव-वेदना उठी; भयंकर यातना के साथ मृत बालक हुआ; उस को, वह बालिका, अपनी स्तनहीन दुग्धहीन छाती पर दोनों हाथों से चपका कर, परलोक को घसी गई, परमेश्वर से पूछने को, 'आप ने ऐसा क्यों किया', 'आप ने ऐसा क्यों किया', 'मनुष्यों की ऐसी तामस बुद्धि क्यों बनाई'।

अवश्य ही मनु के श्लोक का पाठ भ्रष्ट हो गया है; स्यात् कारण यह होगा कि विदेशियों के आक्रमणों से, अथवा स्वदेशी राजों के ही दुराचार, परस्पर कलह, युद्ध, लूट पाट से, ओर उन की ओर उनके नैतिकों की,

पुरी अस्फुन्द, लुनीहि नन्दनं, मुपाण रत्नानि, हराऽमराऽज्ञता, (माप), नगर पर धावा करो, उस में घुस जाओ, बाग़ बागीचों को तोच गण्डे डालो, सब रत्न और अच्छी चीज़ें लूट लो, और स्त्रियों को उठा लाओ— इस पाशव नीति में भीत हो कर, शास्त्री लोगों ने, कन्याओं की रक्षा के लिये ही उन के ब्याह की उमर कम कर दी, और पर्दे की प्रथा भी चला दी, कि विवाहित हो जाने में स्यात् कम हरी लूटी जायें, कि सामान्य जनता कि साम्यबुद्धि ने पुराणों की भी ब्याह की उमर तदनुसार घटा दी, यद्यपि शास्त्रियों को तीस और बारह, तथा चौबीस और अठार की अग्रमंजयता नहीं सूझी। यदि 'विवाह' का अर्थ 'वाग्दान', गार्हपत्य समझा जाय, तो कम उमर में गार्हपत्य करने में दोष नहीं; यद्यपि गृह है, वाच्य और केंजोर अग्रथा का, कुमार-कुमारी का स्नेह अति सात्विक 'प्रीति'-मय होता है। 'द्विगमन', गौना, की श्रावणी, इत्यादि हेतुओं में चार पर्याय वर्तन अग्रणी 'विवाह' है; उस में, 'प्रीति' के साथ 'द्वि' भी मिलती है।

प्रथमम प्रमाण प्रथम है; सब अन्य प्रमाण उस पर प्रतिष्ठित हैं; वही उन सब की मूर्ति, नींव, प्रतिष्ठा है; आयुर्वेदनाम, प्रथम प्रमाण

सिद्ध है, ऐसे आयुर्वेद शास्त्र से विरुद्ध, मानव-धर्म-शास्त्र कभी नहीं हो सकता, अन्यथा, अ-शास्त्र हो जायगा। आयुर्वेद-सम्मत शुद्ध पाठ, मनुस्मृति के उक्त श्लोक का, निश्चयेन यही हो सकता है,

त्रिंशद्वर्षोऽथ द्वैत् कन्या ह्यथा द्वि-दश वार्षिकीम् ,
त्र्यष्टवर्षोऽष्टिवर्षा वा, यम सीदति सत्वर ।

तीस वर्ष का पुरुष, हृदय-ग्राहिणी हृदय को प्रिय, बीस वर्ष की स्त्री से, अथवा चौबीस वर्ष का 'अष्टि' अर्थात् सोलह वर्ष की स्त्री से, विवाह करे। इस विषय का पाश्चात्य विज्ञान भी अब प्रायः इन्हीं अकों को उचित मानने लगा है। इन अकों के गुण स्पष्ट हैं, शरीर और बुद्धि दोनों पुष्ट परिपक्व हो जायेंगे। मनु के कहे हुए, मध्यम श्रेणी के, अर्थात् अठारह वर्ष के, ब्रह्मचर्य और उपयुक्त विद्याग्रहण का सम्पादन, कुमार कर लेगा, तथा कुमारी भी भविष्य में अपने कर्त्तव्य के साधक और उचित, गृह-कर्म सम्बन्धी ज्ञान, कला, विद्या आदि का सचय कर लेगी, एक दूसरे को देख कर समान-शील-व्यसनता और परस्पर रचि का भी दोनों यथासंभव निश्चय कर लें सकेंगे।^१

१ (निणयसागरीय) उत्तरणकुनटीकोपेत स्मृत, शरीर रथान, अ० १०
मे कहा है 'अथाऽयम पञ्चविंशतिवर्षीय पौटशवर्षा पत्ता आदरेः वि-ध-ध-ध-ध-
काम-प्रजा प्राप्स्यति, इति ।

जनपौटशवर्षीया अप्राप्त पञ्चविंशति,

यदि आपत्तेऽप्यत्र गम, तद्विस्थ ... विदग्धे

जाती वा न पितृ जादरे, वापेत्वा दुपेदि

तरता अत्यावश्याया गर्भपतन न कारयेत् (इति) ।

बाल इति पौटने नारा यावत् व्यति पौट, ...

पुनपौटशवर्षीय पूजा (५७) अनेन ...

शुद्धे गमये, मा, रते, इम ...

एक बात इस स्थान पर याद रखने की है, जिस की सूचना पूर्वोक्त हम कथन से हो चुकी है, कि ब्रह्मचर्य से शरीर में प्राणसंचय और बलसंचय होता है। देखा जाता है कि जिस उमर में प्राणी धीरे-धीरे विसर्जन और संतानन आरंभ करते हैं, उसकी चौगुनी उमर की आयु होती है। कुत्ते बिल्ली दूसरे वर्ष बच्चे देने लगते हैं, सात आठ दस वर्ष में मर जाते हैं; गाय बैल तीसरे चौथे वर्ष में, और बारह चौदह सोलह तक जीते हैं, घोड़े पाचवें वर्ष और बीस वर्ष; सिंह व्याघ्र आदि दस बारह वर्ष और चालीस पचास वर्ष; हाथी 'साठ त्रय पाठा', और दो सौ टाई सौ वर्ष तक जीता है। मनुष्य की वेदोक्त आयु, साधारण रीति से,

वीर्यवन्नं सुत मृते, ततो न्यूनाऽब्दयो पुन

गोमा अण्पायुर् अधन्यो वा गर्भो भवति, नैव वा,

(वाग्भट, शारो० अ० १) ।

श्री याज्ञिक शर्मा आचार्य द्वारा संशोधित सम्पादित मुद्रित के उक्त मन्त्र (१९३८ ई०) के पृष्ठ ३९० पर, ऊपर उद्धृत श्लोकों के नीचे टिप्पणी में लिखा है—“षोडशवर्षा इति तालपत्रपुस्तके पठ्यते, षोडशवर्ष इतीतरेषु एवमिति पुस्तकेषु ।” बृहदारण्यके तु, ‘पुमान् एकविंशतिवर्षं कन्यां षोडशवर्षं देशीया उद्धरेत्, तस्या षोडशवर्षाया पचविंशतिवर्षं पुरुषं पुत्रार्थं यजेत; तदिती प्रातर्वाथो वीर्याग्निना अपत्यं जनयत’, इति पठ्यते” ।

श्री रा.श्वरदत्त मिश्र शर्मा आयुर्वेदान्धार्य के रत्ने “मन्त्र मृत मनुष्यः (१९३० ई०) नामक ग्रन्थ के पृ० ८० पर ‘मन्त्रान्तर्गत’ शीर्षक के अन्तर्गत, १४ श्लोक की, अन्य शीर्षक के मात, लिखा है,

पचविंशत्ये ततो वर्षे पुमान्, तारा तु षोडशे,

समस्तान्पचविंशती नी तानीयान् बृहन्तो मियन् ।

‘मृतमृते’ और ‘मृतमृते’ के पठने के ऊपर बहून् का शिवा शिवा इति इति इति का परीक्षण करने के लिये, न यथा आचार्य है, न के इति इति

‘शतायुर्वै पुरुषः’ है पचीस वर्ष शुद्ध ब्रह्मचर्य निवहै तो यह प्राय सधै । अक्सर लोग कहा करते हैं कि निवहना (निर्वहण) कठिन है तो फिर अधिक जाना भी कठिन है । परन्तु निभना ऐसा कठिन नहीं है , यदि सारे समाज में सच्चा ज्ञान, सच्चे भाव, ब्रह्मचर्य के आदर की वृद्धि, कुमारों कुमारियों की आचारभ्रंश से रक्षा करने की वृद्धि, एक वेर चारो ओर फैल जाय, तो यह बात नितात सहज हो जाय । पति पत्नी के वयस् में, चार पाच से आठ नौ वर्ष तक का अन्तर तो होना ही चाहिये पुरुष का अधिक , इस से बहुत ज़्यादा अन्तर, शास्त्र और विज्ञान के विरुद्ध है , तथा आध्यात्मिक और सामाजिक दृष्टि से भी ।

“भावप्रकाश” नामक वैद्यकग्रन्थ में दो श्लोक कहे हैं,

सद्योमास, नव चान्न, बाला स्त्री, क्षीरभोजन,

पृत, उणोदके स्नान, सद्य प्राणकराणि पट् ,

प्रयोजन ही । पाठक सज्जन स्वयं ही, पक्ष-प्रतिपक्ष के गुण-दोषको विचार करके, निणय कर लें, कि कान अधिक युक्तियुक्त है, मेरा तो विश्वास यही होना है कि यमाऽनाम के फेर में पा कर, वा विदेशियों के आक्रमणों के कारण अस्मिन्-दि, विवर्धित-मति, विकर्त्तव्य-विमृत्, हो कर ‘धर्माधिकारियों’ ने ‘पोटा’ के स्थान पर ‘गारुड’ लिखना लिखाना आरम्भ कर लिया । जो गुण ही गुण का जमाने का, प्रभाव आप निर्णय कर रहा है, लिखित पठित गुणों में, स्वयं निम्नमन्य, निम्नवृत्त, परो ने, विविध कारणों से, विचार का वयस् बहुत बढ़ता जा रहा है । यदि हम विषय के बहुविध अति विविध आचारों, रीतियोंवालों का, जो गारुड ने पूर्व-काल में प्रचलित थे और अब है, वर्णन किया जाय तो व । एतत् ही तद । एक लोक जो वाल्मीकि जी ने एक स्थान पर भी लिखा है । प्रथा में लिखना उचित है,

मन नरत् मरत् न , वयत् एत दिवत् ,

अथाह दि वयत् मन् जगत् मण्डले ।

पूतिमांसं, स्त्रियो वृद्धा, बालाऽर्कं, तरुणं दधि,
प्रभाते मैथुनं, निद्रा, सद्यः प्राणहराणि पद् ।

(कुछ पाठ भेद भी किया जाता है), आशय यह है—ताजा मांस, नया अन्न, (वा धारोष्ण दूध), बाला स्त्री, दूध (सहित, वा स्निग्ध, स्नेह-युक्त, घी-तेल-आदि 'चिकने' पदार्थ सहित, भोजन), घी, उष्ण जल से स्नान, ये छः तत्काल प्राण बढ़ाते हैं । पुराना सड़ा मांस, वृद्धा स्त्री, बाल (अर्थात् कुमार) आश्विन कार्तिक की घाम, अहोरात्र से कम का कच्चा ढही, सवेरे का मैथुन भी और निद्रा भी, ये छः तत्काल प्राण घटाते हैं । "वृद्धस्य तरुणी विषं", "बालाया. जरठो विषं", "यात्रा तु प्राणदा प्रोक्ता, तरुणी प्राणहारिणी", "सद्यः प्राणहरा वृद्धा", आदि अन्य वाक्य भी बहुत कहे सुने जाते हैं । स्वार्थी दुर्बुद्धि पुरुष इन का दुरुपयोग कर के वृद्धावस्था में प्राणवान् बनने की वृत्ता में बाला स्त्री (मोल्ह वर्ष में कम) में विवाह करते हैं ; जो चतुर विशेषज्ञ नहीं हैं उन पर तो उल्टा ही अमर होता है ; अधिक प्राणक्षय होता है, और जल्दी ही मर जाते हैं ; जो चतुर हैं, वे पौष्टिक रसोपधों का सेवन करते हैं, जिन में बाला स्त्रियाँ ही मर जाती हैं, और वे पुनः पुनः प्रियतम करने जाते हैं । काशी के गेयें एक विशेषज्ञ के बारे में, जिन को परलोक गये बहुत वर्ष नहीं हुए, कहा जाता है कि, प्रायः सत्तर वर्ष की उमर में, उ वा मान विवाह गेयें ही लक्ष्मियों में, एक के मरने के बाद दूसरी में किया ; स्वयं कोट उग्र पौष्टिक का सेवन करने थे, जिन में उमर बढ़ाने में इतनी और हय प्रसार की गर्मी उत्पन्न होती थी कि जिनमें उमर के प्रभाव में ही जल्दी मर जाती थीं ; इत्यादि ।

सांख्यिक आचार यह है कि, प्रथम आश्रम में ब्रह्मचर्य, द्वितीय में वैश्याय मैथुन और एक पति-पत्नी-व्रत, तृतीय चतुर्थ में पुनः ब्रह्मचर्य उक्त सङ्ग्राह में संन्यस्य, स्त्री भी पुरुष भी, दीर्घजीवी और स्वस्थ रहते हैं । याद रहे कि स्त्री शरीर के लिये गर्भ-धारण का कार्य भी

परिश्रम और प्राण पर खींच का है, गर्भाऽवस्था में मैथुन प्रायः वर्जनीय ही कहा है। दुनिया जानती है कि गर्भधारण और प्रसूति से स्त्री का यौवन क्षीण होता है, तथा, “वयसि गते क कामविकार”, ढली उमर में काम-विकार, काम-चेष्टा, का अपहास ही होता है। साथ ही एक और वास्तव है, जिस का ज्ञान जनता में कम है, कि वृद्धावस्था के मुख की शोभा, यौवन के मुख की शोभा से किसी तरह कम नहीं है, यदि उचित सदाचारी जीवन से उम्र का आवाहन, निमग्नण, सचयन, किया जाय, हा. वह शोभा, सात्त्विक शांति की शोभा है, यौवन और बाल्य की कान्ति, राजस चापल्य चाचल्य की है। सफेद (श्वेत) बाल, प्रगाढ़ मुख, उज्ज्वल दयामय स्नेहपूर्ण नेत्र, स्वच्छ देह आदि का वार्धक्य में अनुभव यदि दृष्ट हो, तो गार्हस्थ्य और मैथुन को उचित समय से समाप्त कर देना चाहिये। स्त्री के लिये तो प्रकृति ने प्रत्यक्ष अवधि, गार्हस्थ्य (मैथुन) काल की, बाध दी है, अर्थात् पचास वर्ष की उमर के आम पाय मासिक रजो दर्शन का वन्द हो जाना, समझदार सदाचार सुचरित्र पुरुष को भी तदनुसार ‘गार्हस्थ्य’ समाप्त कर देना चाहिये। सात्त्विक काम सब पुण्यो का मूल है, जैसे राजस तामस काम सब पापों का।

उत्तम सतान—सन्तान, विवाह के सुख का बंध और आवश्यक साधन है, जो पति आर पत्नी के प्रेम को परस्पर दृढ़ करता है,

अर्थात् नित्यम्, अरोगिता च, प्रिया च भार्या, प्रियमादिना च,
नश्यद् पुत्रोऽपि च विद्या, षट् भाग्येषु च सत्तानि, राजन।

(म० ग० विदुस्त्विति)

स्याऽऽनाम्नोऽहं च, भावकथा बभूव प्राप्तेन परम्परतऽभयम्,
विभक्त अपि एव तन्न तत्त मे परम्परस्य उपरि पर्तनीयत।

न पर धारोच शरीरयोगः सुखं निश्चितम् एव अतः तदि,
उपात्तन्मीति लोचने उप विरात् सुनर्षरत्नात्तयो (२५०)

अपि बालागनासंगाद्, अपि, साधो, सुधारसात्,
 राज्यादपि सुखायैव, पुत्रस्नेहो महामते ; (योगवासिष्ठ, प्र० १, अ० ८)
 शरीर नीरोग हो, अन्न वस्त्र के लिये अर्थ (आय, आमदनी) की
 कमी न हो, भार्या प्रिया भी हो, और प्रीति करनेवाली मीठा बोलनेवाली
 भी हो, (अर्थात् दो-तरफा प्रीति हो, यह नहीं कि भर्ता तो भार्या पर
 लट्टू हो और भार्या तो मुँह फेरे रहै), सन्तान अनुकूल मनोहर गुण
 वान् हो, तथा इहलोक परलोक की, और चारो पुरुषार्थों की, साधने वाली
 विद्या हो—यह छः बातें बड़े सौभाग्य से मिलती हैं । कुछ लोग इस धोने
 में पड़े हैं कि सन्तान होने से पति पत्नी का परस्पर प्रेम कम हो जाएगा,
 सन्तान के ऊपर चला जायगा; ऐसा नहीं है, प्रत्युत और बढ़ हो जाता है;
 बच्चा एक छोटे हाथ से माता की अंगुली और दूसरे से पिता की अंगुली
 पकड़ कर गटजोड़ा ताजा कर देता है ; उसका स्नेह रेशमी उरी का काम
 करता है, दोनों को एक दूसरे में बाँध देता है ; रस्मी, दो पक्षों में भागी
 आधी बँटी हुई भी, दोनों को एक दूसरे से कम देती है । शिली ने
 अपने बालक रघु को रोद में लिया, उसके स्पर्श से मानों मारे शरीर में
 अमृत भीन गया । दशरथ ने राम को, यज्ञ में विन करनेवाले राज्यों
 के निवारण के लिये, विश्वामित्र मागने आये; दशरथ देना नहीं चाहते
 थे ; क्या कि, नवविवाहिता अतिप्रिया अतिगुन्दर अगवाली अंगना के
 स्पर्श में भी अधिक मुग्ध होने वाला, मुग्धा अमृत के स्वाद में भी अति
 मीठा, राग्य और ऐन्द्रिय के मय भोग-प्रियाओं में अधिक प्यास, अपना
 हा स्नेहमय स्पर्श होता है, कुमार को कैसे जोरिम में डाले ; बस
 मन्त्रज्ञान पर जानें दिया । प्राचीन प्राण श्रुति स्मृति के और अर्थपूर्ण
 वाक्यों के साक्षिण्य साथ कुछ और देणिये; ये भाव विज्ञान-समर्पित की
 हैं, सन्तान विना अपने पुत्र को आर्त्तावाद् देने हैं,

७७ अंगद अंगद प्रजापति, हृदयाद् और उदरयो,

कामाध्याय के अन्तर्गत, कर्मेन्द्र उदर, मं, ७७ ।

पतिर् भार्या सप्रविश्य, गर्भो भूत्वा हि जायते,
जायायास् तद् हि जायात्वं, यद् अस्या जायते पुन , (मनु) ।

शिशोर् आलिंगन तस्माच्चदनाद् अधिकं भवेत् ,
न वाससा, न रामाणा, नाऽपा, स्पर्शस् तथाविध ,
शिशुनाऽऽलिंग्यमानस्य स्पर्श सूनोर् यथा मुख ,
ब्राह्मणो द्विपदा श्रेष्ठ , गौर्वरिष्ठा चतुष्पदा,
गुरुर् गरीयसा श्रेष्ठ , पुत्र स्पर्शवता वर
पुत्रस्पर्शात् प्रियतर स्पर्शो लोके न विद्यते ,

(म० भा,० शकुन्तलोपा०)

आलक्ष्य दत्तमुकुल्यान् अनिमित्तहासैर् ,
अव्यक्त-वर्ण-रमणीय वच -प्रवृत्तीन्,
अकाऽध्रय-प्रणयिनस् तनयान् वहन्तो,
धन्यास् तद्अगरजसा मलिनी-भवन्ति, (वालिदास, शकुन्तला)
अत करणतरुवस्य दम्पत्यो , स्नेहसध्रयात्,
आनदप्रयिर् एवोऽय, अपत्य अभिधीयते ।
अगाद् अगाच्युत एव निजो देहज सत्पसार ,
प्रादुर्भूय स्थित एव बहिश् चेतनाधातुर् एव,
साद्राऽनद-क्षुभित-हृदय-प्रसवेन एव सग
गात्ररूपे यद् अनृतरसप्तोतसा सिंचति एव

(भद्रभृति, ८० रा० चरित) ।

इस प्रस्तुत विषय से अतिप्रसक्त हो अदान्तर विषयो का उल्लेख
यहां आवश्यक है । सन्तान-उत्कर्ष, और सन्तान-निरोध ।

सन्तानोत्कर्ष—पश्चिम के पेशानिव शाश्वतों ने इधर एकात्म स्नात
कर्ष से, ग्रमिक सृष्टि-पिवास दाद ('इष्टोल्मुदान') के विद्यान के साथ
साथ, इस विषय पर, कि अपत्य नुरूप, शक्तिशास्त्री, सृष्टकान्, ईन्ने हों,

और समाज में सौंदर्य कैसे फैले, बहुत विचार किया है, और ग्रंथ लिखे हैं ; एक नया उपशास्त्र बन रहा है, जिसका नाम 'यूजेनिक्स' (ग्रीक 'यु', संस्कृत 'उत्', उत्तम ; लैटिन 'जेनिटम्', सं० 'जन्', प्रजनन) रक्खा गया है । पर इन विद्वान् शास्त्रियों का ध्यान प्रायः शारीर गुणों की ही ओर रहा है ।

पशुओं में, चुन चुन कर, उत्तम रूपवान् वृषभ और रूपवती तथा बहुदुग्धवती गाय के, उत्तम रूप बल वेग वाले अश्व-अश्विनी के, एवं श्या-शुनी के, कुम्कट कुम्कटी के, तथा अन्य पालतू पशुओं के, जोड़ों का संग्रह करने से, मत्तति अधिकाधिक उत्कृष्ट होती है, यह उन्होंने ने प्रत्यक्ष मित्र कर लिया है ; ऐसी युक्तियों से, उन्होंने ने, घोड़ों, कुत्तों, कुम्कटों, बकरियों की, विशेष विशेष कार्य के लिये विशेष उपयुक्त, उपजातियाँ भी तैयार कर ली हैं, यथा बुड़दौड़ी घोड़े, शिकारी घोड़े, भारी छरड़े स्त्री-ने वाले घोड़े, सवारी गाड़ी रींचने वाले घोड़े, आदि, (जिनका उपयोग अब मोटरों के कारण कम होता जाता है), तथा शिकारी कुत्ते, चोरी-दारी कुत्ते, चूहा पकड़ने वाले कुत्ते, बरतान में यात्रियों को बचाने वाले कुत्ते, गिलाने कुत्ते, आदि । ऐसे ही, फूलों, फलों, गाँहों, चावल आदि धान्यों, में, चुने हुए पुमान्-पेशर से पराग लेकर, चुनी हुई स्त्री-केसर के भीतर डालने से, बहुत उत्कर्ष किया गया है ; रंग, गन्ध, स्वाद, परि-मत्त बढ़ाया गया है, तथा नयी नयी किस्में, उपजातियाँ, तैयार की गयी हैं । यह सब प्रत्यक्ष मित्र होते देख कर, इन वैज्ञानिकों की धारणा यह होती रही है, कि सुन्दर यत्नवान् स्त्री-शरीर और पुष्प-शरीर एक-दूसरे से संनति सुन्दर होनी चाहिये । 'नय' (मिर्दान्त, शास्त्र, 'उत्कृष्ट', 'सुन्दर', 'वियरी') से यह ठीक है, पर इसके 'चार' (प्रयोग, व्यवहार, 'व्यवहार', रीति, 'प्रैक्टिस') में कठिनाई है । पहिली बात यह है कि, मानव शक्ति में पर्यवेक कर, जीवन में श्रंत-करण, मनो-वृद्धि-व्यवहार-प्रवृत्ति, श्रंत-मनन, स्व-वृद्धि, अपनी अपनी अलग अलग शक्तियों को

मनमाना करने की इच्छा, एक ओर, और, दूसरी ओर, लोक-समग्र-युक्त 'समाज' (सम अजन्ति जना यस्मिन्) में दूसरों के साथ रहने और चलने की इच्छा, विशेष रूप से विकसित होती है। इससे एक ओर 'काम स्वभाव-वाम' देख पड़ता है, दूसरी ओर 'धर्माऽनपेत कामोऽस्मि भूताना, भरतर्षभ', मनमाना वाम-स्वभाव वाला होते हुए भी काम, धर्म और अर्थ के साथ बंध गया है, सब मध्य कहलाने वाले देशों में, इस समय, विवाह के सम्बन्ध में, क्लानून-क्लायदे, मर्पादा, धर्म, बंध रहे हैं। जिसको एक स्त्री या पुरुष सुन्दर कमनीय जानें मानें, उसको दूसरे कभी कभी ऐसा नहीं समझते। फारसी में कहावत है, "लैला रा ब चश्म मजने वायद दीद", लैला पर मजनु आशिक आसक्त, था; लैला उस में विवाह करना नहीं चाहती थी, मजनु शोक से मरणासन्न हुआ; देश के बादशाह ने दोनों को बुलवाया, देखा लैला में कोई विशेष रूप नहीं, मजनु से पूछा, क्यों ऐसा मरा जाता है, तो उसने कहा, 'लैला को मजनु की आँख से देखना चाहिये'। गाय-बैल का तो, अपने वैज्ञानिक प्रतिमानों के अनुसार, 'विवाह' करने में प्रभुत्व, पश्चिम देश के शास्त्रियों को है, पर मनुष्यों का नहीं। पूर्व देश में, यदि वृद्धों को ऐसा प्रभुत्व है, तो प्रायः उसी अवस्था में जब घड़-वर घय प्राप्त नहीं है, ऐसी अवस्था में उनका स्वरूप व्यक्त ही नहीं है, इस लिये शास्त्रानुसार परीक्षा की रातें पूरी ही नहीं हो सकती, तथा, यदि घय-प्राप्त, परिपक्व-वृद्धि, हो जायें, तो वह प्रभुत्व नहीं हो सक्ता। इस कारण से, तथा मर्पादा के कारण से, मानवों में वैज्ञानिक परीक्षा के लिये यथेष्ट संयोग-विद्योग नहीं कराया जा सक्ता। दूसरी बात देखने की यह है कि, मानव प्रकृति को ध्यान में रख कर, न बँबल शरीर के सौन्दर्य की चिन्ता करना चाहिये, किन्तु चित्त के सौन्दर्य की भाँ। पंचाहिक सुख और मतानोत्कर्ष, दोनों, के लिये आवश्यक है कि, 'समान शील-न्यसनेषु सरदम्', 'विशिष्टाया विशि-ष्टेन तनमो गुणवान् भवेत्', इन न्यायों के अनुसार, वृद्धों के परानशं,

और युवा-युवती को अन्योन्य के प्रति अनुकूलता, दोनों, को मिला कर, सब प्रकार का 'वर्ण', (जिससे व्यक्ति के स्वभाव और तदुचित जीविका का 'वर्णन', व्यञ्जन, होता हो), जिनका 'समान' हो, शरीर भी और मानस भी जिनका सुन्दर हो और मिलता हो, उनका परस्पर विवाह किया जाय। शील, व्यसन, जीविका, आदि के सच्चे 'वर्ण' और 'गुण' के निर्णय में, अध्यात्म-शास्त्र से अनुस्यूत ज्योतिष-शास्त्र से सहायता मिल सकती है। ऐसा होने से विवाह सुखमय होंगे और सन्तानोत्पत्ति भी होगी। इस विषय पर मैंने, "मानव-धर्म-सार." नामक संस्कृत ग्रन्थ में विस्तार करने का यत्न किया है।

ऐसा हो सकना और होना, देश में, समाज में, अनुकूल हवा बँधने, शिक्षा फैलाने, सद्भाव जगाने, की बात है। ऊपर (पृ० ३३५-३३६) उद्धृत मनु महाभारत आदि के श्लोकों में जैसी सूचना की है, यदि राजा उन्नत हो, प्रजाभक्त प्रजाहितचिन्तक हो, स्वयं सदाचार हो और सा शिक्षा का प्रचार करावे, और प्रजा उससे सर्वथा प्रसन्न हो और सा भक्त राजानुयायिनी हो, अर्थात् दोनों परस्पर अनुमत हों, तो परवाना सदा में हो जाय, क्योंकि परस्पर भक्त होने से दोनों अवश्य वरम-भक्त होंगे। आज काल के भारतवर्ष के सामाजिक-जीवन में देखा जाता है कि पाश्चात्य-सभ्यता के लोगों की नरक अधिष्ठाधिक होंगी जाती है, और गुणों की कम। विषय-न्योत्पत्ता, विलास प्रियता, आदि श्लेष शोच-स्पर्धा-अभिमान, वनाङ्गीन के अधार्मिक प्रकार, गृहघोषी के शोचकार, 'फाट्टा', 'रूपनी' आदि के नाम से बोला देनेवाले मित्र-विजयन, अर्जुन-दाराय का अधिष्ठाधिक प्रचार, तथा सैन्य-विजय-कृतानी अस्त्र-विजय आदि में अधिष्ठािक कामोत्पत्ति इत्यर्थों में, जिनमें अधिष्ठािक या उन्नत सैवत के केवल अन्तिम दो-तीन अंग ही सदा उपलब्ध होते हैं, युद्धों से सदा उन्नत जाती, उन्नतों द्वारा ही सदा उन्नत होती हैं, अर्थात् उन्नतों, उन्नतों, उन्नतों की उन्नत

और 'पौष्टिक' औषधियों के इस्तिहार—इन ही की चारों ओर भरमार देख पड़ती है। ऐसी दशा में, इन वर्धमान अज्ञान-जन्य दुर्भाव-दुर्बुद्धि रूप रोगों का उपाय यही है, कि सद्ज्ञान का उपदेश करनेवाले सद्ग्रन्थों का, और उनमें धर्माऽनपेत, धर्मयुक्त, अर्थपरिष्कृत, ललित-कलाओं से परिमार्जित, काम के सद्ग्रन्थों का, अधिकाधिक प्रचार किया जाय।

सन्तान-निरोध—जहाँ एक ओर यूरोप और अमेरिका के शास्त्री, सन्तान उत्कर्षके उपायों की खोज पचास माठ वर्ष से कर रहे हैं, वहाँ बीस-पच्चीस वर्ष से सन्तान-निरोध के उपायों की खोज भी प्रकट रूप से कर रहे हैं। इस खोज के प्रेरक, कई कारण, ऐतिहासिक, आध्यात्मिक, आधिभौतिक, हो रहे हैं। मनुष्य संख्या बहुत बढ़ गई है, भोजना अच्छादन की पर्याप्ति नहीं है, या तो इतने प्राणियों के योग्य पेट भर अन्न और पीठ भर कपटा उपजाने लायक उर्वरा भूमि की मात्रा पर्याप्त न होने से, अथवा शासकों और पूजापतियों के दुष्प्रबन्ध से, या दोनों से, जीवन-सम्राम, परस्पर आर्थिक द्रोह, बहुत बढ़ गया है; यहाँ तक कि हाल के महाशुद्ध में यह आर्थिक लोभ और तज्जनित स्पर्धा और द्रोह, प्रधान कारण हुए, सभ्यता, यन्त्र-प्रधान हो गई है, आधे दिन एक नया यंत्र ऐसा निकलता है, जिस के सहारे एक होशियार आदमी, दस बीस, पचास, सौ तक मजदूरों का काम अकेला कर लेता है, और वे मजदूर बेकार हो जाते हैं, इस से बेरोज़गारी बहुत बढ़ती जाती है। एक ओर, धनिकों में स्वार्थाघता और भोगलोत्पत्ता भी बहुत बढ़ गई है, जिससे अपने ही तन पर, सुख भोग पर, इन्द्रिय-तर्पण पर, सब धन व्यय कर लेना चाहते हैं, और अपत्यो तक वो इस में दिग्भ्रारक मानते हैं,

इन्द्रियपरिग्रहं अधनं सौन्दर्यं एव अपि स इणन्तरम्.

अन्तर एव दिग्भ्रारं दिवागिरि, न व्यर्षेण समुत्सवा प्रज्ज, (सु. ०. १९)

दूसरी ओर, अल्प या मध्यम धन वालों में यह समझ भी बढ़ रही है, कि अपत्य तभी और उतने ही होना चाहिये, जब और जितने अच्छी तरह से पाले, पोसे, पढ़ाये, लिखाये जा सकें। उन्मत्त, 'अचेतन' अर्थात् वीरहे, बावले, 'वैधेय' ('इम्बेसील', 'इडियट', 'मोरन'), आम घाती, तथा पाप-रोगी, गर्मीं सुज्ञाक कुष्ठ आदि संक्रामक ('इन्फेक्शस'), और सान्त्वानिक (आनुवंशिक, 'हेरेडिटरी') रोग वाले मनुष्यों की प्रतिपात संख्या भी प्रतिवर्ष यूरोप अमेरिका में बढ़ती जाती है। इन सब कारणों से इधर अधिकाधिक अगुस्त खुली प्रवृत्ति हुई है, कि ऐसे उपाय उपजात किये जायें, जिन से वर्तमान स्त्री-पुरुषों के काम-सुख में बाधा भी न हो, और उक्त आपत्तियाँ भी बढ़ने न पायें। पहिले कह चुके हैं कि पश्चिम में प्रिवाह की 'धार्मिक' संस्कारता, ('सैक्रामेन्टल फालिटी') उपपोगिता, औचित्य, पर से नागर-वर्ग की आस्था हटती जाती है, और 'प्री-न्यू', स्वच्छन्द, अनियन्त्रित, अनियमित, काम-प्रेम की ओर बढ़ती जाती है; यह आस्था-परिवर्तन और संतान-निरोधोपाय, अन्य कारणों की उपस्थिति में, और भी लज्जित-मन्त्रजूम, परम्पराऽनुग्रही, हो रहे हैं।

निरोध के उपाय आयुर्वेद में भी कुछ कहे गये हैं। अथ पश्चिम में नये, कटे प्रकार के, इंजाट किये गये हैं। चार राशियों में इन उपायों का विभाजन हो सकता है। १ भक्ष्य-पेय औषध, २ लेप्य औषध; ३ जननेन्द्रियों का द्रव्य-कर्म से चिकित्सन, ४ जननेन्द्रियों पर लपेट देने के द्वारा उपकरण।

संतान-निरोध के दो प्रकार हो सकते हैं। १ शुक्र-संगित का संयोग, और गर्भ का आधान, ही न होने पायें; २ आधान हो जाने के बाद गर्भ का श्राव कर दिया जाय।

दार्शनिक तीन प्रकार के उपाय, इन दोनों प्रकार के निरोधों में, पूर्ण देनों में भी, पश्चिम में भी, लोग काम में लाते रहे हैं; पर ये सब न्यायवद्, बहुदोषयुक्त, रोगकारक, बहुधा प्राणहानक, हैं, और अन्य

बूझ कर गर्भस्राव करना कराना धर्म-विरुद्ध, कानून के खिलाफ, अदालत में दंडनीय, भी है। गर्भस्राव के विषय में, पश्चिम में, जनमत अब बहुत बदल गया है, अतः कानून भी अमल में ढीले होते, या रूपत बदलते जाते हैं, नये रूस में तो नियम हो गया है, कि जाने हुए डाक्टरों की सलाह से, विशेष कारण होने पर, गर्भस्राव करा देना जायज़ है। अन्य देशों में भी धीरे-धीरे इस का अनुकरण, प्रकट वा अप्रकट रूप से, होता जाता है। ऐसा होते हुए भी, एक प्रामाणिक लेखक ने पुस्तक में लिखा है कि, केवल युनाइटेड स्टेट्स आफ अमेरिका में, प्रतिवर्ष दस लाख से अधिक गर्भस्राव किये जाते हैं।

चतुर्थ उपाय, रबर के बने हुए बाह्य उपकरणों का, जिन से जननेन्द्रिय वेष्टित हो जाये, कम दोषयुक्त समझा जा रहा है। इसकी चर्चा, 'काट्रासेप्टिव्ज' के नाम से, अखबारों में अक्सर होती रहती है, तथा दूकानदारों के इशितहार भी समाचार पत्रों में अक्सर देख पड़ते हैं। इस विषय पर से समाज ने प्रायः लज्जा या आवरण हटा लिया है, और कानून में भी इसकी दंडनीयता नहीं कही जाती। खुली तरह से विक्री हुई अप्रेज़ी पुस्तकों में, अन्य उपायों के साथ इसकी तुलना समाक्षा कर के, इसकी प्रशंसा की जा रही है। यूरोप में तो बहुत प्रचार इस का है ही, यहाँ तक कि कई देशों में तो शासक वर्ग की ओर से प्रकाश रूप से, अस्पताल आदि के साथ-साथ प्रबन्ध कर दिया गया है कि डाक्टर और डाक्टरनी, इन उपकरणों के उपयोग करने के विषय में आवश्यक शिक्षा, विवाहित स्त्री पुरषों को दें। भारतवर्ष में भी, अप्रवात रूप से, इन उपायों का प्रयोग बहुत होने लगा है, और अब यहाँ की गवर्नमेंट में भी, ब्रिटेन की सरकार या अनुकरण करने का विचार हो रहा है। ऐसी अवस्था में कामशास्त्र के ग्रन्थ में इसके गुण दोष पर विचार करना न्याय प्राप्त है।

विचार का निष्कर्ष यह समझ पड़ता है कि, यदि विवाह की परिधि के भीतर, पति-पत्नी ही, मर्यादित नियमित रूप से इस चतुर्थ उपाय

का प्रयोग करें, तो दोष कम और गुण अधिक देख पड़ेंगे। सर्वथा निर्दोष वा सर्वथा गुणमय तो कोई प्रकार हो सकता ही नहीं;

सर्वाऽरम्भाः हि दोषेण धूमेनाऽभिरिवाऽवृताः, (गीता)।

नाऽत्यंतं गुणवत् किंचित् नाऽत्यंतं दोषवत् तथा, (म० भा०)।

देश-काल-अवस्था को देख कर, जिस आरम्भ में दोष कम, गुण अधिक, देख पड़े, वही करना चाहिये, क्योंकि बिना कर्म-आरम्भ के भी संसार-यात्रा असम्भव है,

न कर्मणा अनारम्भात् नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते, (गीता)।

निरप्यता में भी दोष है, वह प्यता में भी बहुत दोष है। ऊपर कही आपत्तियाँ, वर्तमान मानव जगत् में प्रत्यक्ष हैं; अधिकांश मनुष्य उनमें पीड़ित हैं। काष्ठवन ब्रह्मचर्य भी, इने गिनो को छोड़ कर, मानव शरीर के लिये असम्भव है। ऐसी दशा में, इस युग में, 'रघर' का उपाय, आध्यात्मिक वैज्ञानिक मर्यादाओं का पालन करते हुए, विवाहित पति पत्नी के बीच, कथंचित् उपादेय है। दोष इसके, पाश्चात्य ग्रन्थों में विदित होते हैं, निरोग निश्चित नहीं; मैथुन के प्राकृतिक सम्पूर्णता में निश्चल हो जाने में स्त्री-पुरुष को शारीर और मानस तृप्ति नहीं होती, अमंगल रह जाता है। पौराणिक कथा में, भव-पार्वती के विधिनैष्ठ, अमंगल 'रत', के पश्चात्, पार्वती के कोप, और केवल भव-वीर्य में कार्त्तिकेय के जन्म का आण्डान, हमका निदर्शन है। गर्भाधान का और संक्रामक रोगों का भय कम हो जाने में, अविवाहित युवा-युवतियों में, निर्दोष का उन स्थानों में जहाँ लड़की-लड़के साथ ही स्मृत कालेज में पढ़ते हैं, मैथुन बहुत होने लगा है; तथा विवाहितों में धर्माचार। अतएव, सम्पूर्ण पक्षों में, विवाह-विचारों पक्ष की ओर में शिफायत लगती है, कि वैवाहिक स्त्री-पुरुष धर्म मय और सम्पन्न-प्रतिपादन-माय लक्ष्य हुआ जाता है, और स्त्रियों के परिवारे में भी लज्जा नहीं रह गयी है; दूसरी तरफ, स्त्री-पुरुष

विश्वासी पक्ष की ओर से यह कहा जाता है, कि वैवाहिक आभरण बला-कृत गठबन्धन से सबे प्रेम का वध हो जाता है, पति-पत्नी एक दूसरे से विवाह के थोड़े ही दिन पीछे उद्विग्न हो जाते हैं, और अमेरिका के बड़े नगरों में तो यहाँ तक दशा पहुँची है कि, यदि वर्ष में सौ वैवाहिक गठ-जोड़ा होता है तो पचास अन्योन्य त्याग, गठ-तोड़ा, 'डैवोर्स', होता है। यह सब उथल-पुथल अधिकतर पश्चिम के बड़े नगरों में ही देख पड़ता है, जहाँ जीवन के प्रकार नितान्त कृत्रिम हो रहे हैं, देहात में ऐसा नहीं है, वहाँ विवाह और परस्पर निर्वाह की श्रद्धा अभी भी पूर्ववत् कुछ बनी है, यद्यपि नगर और ग्राम के परस्पर वर्धमान सम्पर्क के कारण अब ग्रामों की हवा भी बदलती जाती है।

पश्चिम के नगरों के सामाजिक कामिक जीवन की भयङ्कर तस्वीर, इस विषय की पुस्तकों से, तथा अखबारों में जो खबरें निकलती रहती हैं उनसे, आँखों के सामने आती हैं। इस प्रकार का जीवन सुगमवह नहीं है, आपात-रमणीय है, थोड़ी सी दूर-दृष्टि से महादुःखावह जान पड़ता है। मानव जीवन के जो विशेष विकास और परिष्कार हैं, वे, बिना मर्यादित अहता ('इरिविजुएलिटि') के (अर्थात् अतः वरणरूप आकार-सृष्टि-मनस् के) उपोद्बलन संवर्धन विकासन के, बिना नियंत्रित परिग्रहात्मक, स्वरवात्मक, अर्थ-सम्पत्ति ('प्रापर्टी') के, बिना नियमित एव-स्त्री एव-पुरुष के विवाह ('मोनो-नोमस मैरेज') के, वे परिष्कार उंची कोटि को नहीं पहुँच सकते। मैथुन-स्वाच्छिद्य पाद का और परिग्रह-विषयक साम्यवाद का, प्रायः साथ देखा पड़ता है। पर यहाँ पुरुषों में देखा पड़ता है। इस ओर जाना, मनुष्यों के लिये मानो प्रतिबन्धन बनना है, ऊँचे से नीचे गिरना है। हाँ, अतिपरिग्रह, बहुविवाह, अन्धकार आदि के अति वैषम्य में भी जैसे ही अति भयंकर छाप है, जैसे अतिव्याम्य में। इस लिये बाँध का रास्ता पकटना चाहिये। जोड़ कर समान-शोच व्यक्तियों का विवाह हो, उनमें बाँध धरना में एव दूसरे का आभरण निर्वाह कर,

का प्रयोग करें, तो दोष कम और गुण अधिक देख पड़ेंगे। सर्वथा निर्दोष वा सर्वथा गुणमय तो कोई प्रकार हो सकता ही नहीं;

सर्वाऽरम्भाः हि दोषेण धूमेनाऽग्निरिवाऽवृताः, (गीता) ।

नाऽत्यंतं गुणवत् किञ्चित् नाऽत्यंतं दोषवत् तथा, (म० भा०) ।

देश-काल-अवस्था को देख कर, जिस आरम्भ में दोष कम, गुण अधिक, देख पड़े, वही करना चाहिये, क्योंकि बिना कर्म-आरम्भ के भी संसार-यात्रा असम्भव है,

न कर्मणा अनारम्भात् नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते, (गीता) ।

निरपत्यता में भी दोष है, वह्नपत्यता में भी बहुत दोष है। उग्रा कही आपत्तियाँ, वर्तमान मानव जगत् में प्रत्यक्ष हैं; अधिकांश मनुष्य उनमें पीड़ित हैं। काष्ठवत् ब्रह्मचर्य भी, इने गिनो को छोड़ कर, मानव शरीर के लिये असम्भव है। ऐसी दशा में, इस युग में, 'स्वयं' का उपाय, आध्यात्मिक वैज्ञानिक मर्यादाओं का पालन करते हुए, विवाहित पति-पत्नी के बीच, कथञ्चित् उपादेय है। दोष इसके, पाश्चात्य ग्रन्थों में विदित होते हैं; निराश्रय निश्चित नहीं; संशुन के प्राकृतिक सम्पूर्णता में विरत हो जाने में स्त्री-पुरुष को शरीर और मानस तृप्ति नहीं होती, अशान्त रह जाता है। पौराणिक कथा में, भव-पार्वती के प्रिनिते-त्त, अयम्पूर्व 'स्वयं', के पश्चात्, पार्वती के कोप, और केवल भव-वर्षिय में कार्त्तिकेय के जन्म का आख्यायन, इसका निदर्शन है। गर्भावान का और संक्रान्त रोगों का भय कम हो जाने में, अविवाहित युवा-युवतियों में, विशेष रूप उन स्थानों में जहाँ लड़की-लड़के साथ ही स्थूल कालेज में पढ़ते हैं, संशुन बहुत होते लगा है, तथा विवाहितों में व्यभिचार। अतएव, समाज पक्षों में, विरह-विश्रामों पक्ष की ओर में शिकायत लगती है, कि वैवाहिक स्त्री-पुरुष वर्ग मात्र और परस्पर-प्रतिपादन भाव लुप्त हुआ जाता है, और स्त्रियों के परिश्रम में भी लज्जा नहीं रह गयी है; दुर्गम लक्षण, स्वाभाविक

विश्वासी पक्ष की ओर से यह कहा जाता है, कि वैवाहिक आमरण बला-कृत गठबन्धन से सच्चे प्रेम का वध हो जाता है, पति-पत्नी एक दूसरे से विवाह के थोड़े ही दिन पीछे उद्ध्विन्न हो जाते हैं, और अमेरिका के बड़े नगरों में तो यहाँ तक दशा पहुँची है कि, यदि वर्ष में सौ वैवाहिक गठ-जोड़ा होता है तो पचास अन्योन्य त्याग, गंठ-तोड़ा, 'डैवोर्स', होता है। यह सब उथल-पुथल अधिकतर पश्चिम के बड़े नगरों में ही देख पड़ता है, जहाँ जीवन के प्रकार नितान्त कृत्रिम हो रहे हैं; देहात में ऐसा नहीं है, वहाँ विवाह और परस्पर निर्वाह की श्रद्धा अभी भी पूर्ववत् कुछ घनी है, यद्यपि नगर और ग्राम के परस्पर वर्धमान सम्पर्क के कारण अब ग्रामों का हवा भी बदलती जाती है।

पश्चिम के नगरों के सामाजिक कामिक जीवन की भयङ्कर तस्वीर, इम विषय की पुस्तकों से, तथा अखबारों में जो खबरें निकलती रहती हैं उनसे, आँखों के सामने आती है। इम प्रकार का जीवन सुरावर नहीं है, आपात-रमणीय है, योही सी दूर-दृष्टि से महादुःखावह जान पड़ता है। मानव जीवन के जो विशेष विकास और परिष्कार हैं, वे, बिना मर्यादित अहता ('इजिबिजुऐलिटी') के (अर्थात् अतः करणरूप आकार-सुष्ठि-मनस्के) उपोद्वलन सवर्धन विकासन के, बिना नियन्त्रित परिग्रहात्मक, स्वस्वात्मक, अर्ध-सम्पत्ति ('प्रापर्टी') के, बिना नियमित एव-रखा एव-पुरप के विवाह ('मोनो-नोमस मैरेज') के, वे परिष्कार ऊँची कोटि को नहीं पहुँच सकते। मैथुन-स्वाच्छद्य पाद का और परिग्रह-विषयक साम्यवाद का, प्रायः साथ देस पड़ता है। पर यही पशुओं में देस पड़ता है। इम ओर जाना, मनुष्यों के लिये मानो प्रतिसचर करना है, ऊँचे से नीचे गिरना है। हाँ, अतिपरिग्रह, बहुविवाह, अन्वहार आदि के अति वेपम्य में भी जैसे ही अति भयकर दोष है, जैसे अतिमाम्य में। इम लिये दाँव का रक्ता पवहना चाहिये। जॉन् डेर, नन्मान-शोल् व्दनगों का विवाह हो, उनसे दाद धरना से एव दूसरे का आमरण निर्वाह करे,

नाता तोड़ने की, तलाक़ की, नौबत न आवै, तथा अतिपरिग्रह का भी लोभ न हो, तभी विवाह में और गार्हस्थ्य में सुख मिल सकता है ।

कुछ लोग, आत्यन्तिक अहिंसा-सत्य-भस्तेय-ब्रह्मचर्य-अपरिग्रह पर जोर देते हैं, उनकी भ्रान्ति इतने से ही प्रत्यक्ष सिद्ध है कि यदि वे स्वयं आत्यन्तिक अहिंसा वा अपरिग्रह का आचरण करें, तो उनका शरीर एक क्षण भी जी न सके । अध्यात्मशास्त्र से सर्वथा सिद्ध है, कि जीव के पूर्वार्ध के दो आश्रमों में, 'बुभुक्षा' की एणुणाद्य की, 'स्वार्थ'-त्रिक की, त्रिमूर्ति का नियंत्रित उपासन, परमात्मा की प्रकृति की, ब्रह्म के स्वरूप की, अनुल्लंघनीय आज्ञा है ; तथा, परार्ध के दो आश्रमों में, 'बुभुक्षा' 'मुमुक्षा' के 'परार्ध' का चर्धमान उपासन । यदि ऐसा न हो, तो सृष्टि चल ही नहीं सकती ; अथ किं, हो ही न सकती । परमात्मा ने स्वयं मूलप्रकृति-देवीप्रकृति-रूपिणी देवी 'अविद्या' (मूर्खता, बेवकूफी) में विवाह किया ; "अनित्य-अशुचि-दुःख-अनात्मसु नित्य-शुचि सुख आत्म-व्याप्ति-अविद्या" ; अपने नित्य-शुचि-सुखमय आत्मता को जान बूझ कर भुला दिया, और अनित्य-अशुचि-दुःखमय अनात्मा, शरीरवादी जीवात्मा, बन गया, खुदा ने खुदी धीवी को मिर पर चढ़ा लिया ! तब सृष्टि के आरम्भ की यह दशा है, तो हाद-माय के मनुष्य के लिये, अपने शरीर को पालते हुए भी, आत्यन्तिक अहिंसा अपरिग्रह आदि की पुरस्कृत करना, अपने को और दूसरों को धोखा देना है । हाँ, विशेष में ब्रह्म अविद्या में, विशेष कारणों में, हिंसा-असत्य-भस्तेय-ब्रह्मचर्य-अपरिग्रहों को आयत्निक श्रद्धा को रोकने के लिये, इनके प्रतिरोधक प्रतिद्वंद्वी शिरोर्या, शिष्टि आदि भावों की आयत्निक पुरस्कार, अपने कर्म दृष्ट तब तब अवस्था न मुरार, उचित और न्याय्य, नैतिक कर्मों, को रोकना है ।

कामाध्य देवों में, विवाहके यम हो यम, या अमर मर्त्य के मर्त्ये, बल ही, बल पर एक दूसरे में द्रव्य (उक्ति) जले हैं, और स्वयं

की कचहरी में दौड़े जाते हैं। उसमें विशेष हेतु यह है कि, 'हनी-मून' की प्रथा के अनुसार, स्त्री-पुरुष, दस पंद्रह दिन, एक दूसरे के साथ निरंतर रहते हैं, सन्ताननिरोधक उपायों का प्रयोग करते हैं, एक दूसरे के शरीर के अनवरत सभोग से सब इन्द्रियों को अति तृप्त, और वीर्यादि रसों के अति व्यय से नितान्त म्लान ग्लान, कर टालते हैं। सुस्वादु, सुमधुर, भोज्य पदार्थों के भी अति भोजन से वमन होने लगता है।

यदि वधू को गर्भ रह जाय, तो उसकी भी ओर वर की भी मनोवृत्ति तत्काल बदल जाती है, गर्भ रक्षा की चिन्ता होने लगती है, चित्त, स्वार्थी से परार्थी हो जाता है। सब सत्कार ही दूसरा और नया हो जाता है, परस्पर स्नेह, दया, रक्षाभाव बढ़ता है। इस लिये, परिमित सख्या में, अपत्य नितान्त आवश्यक है। बिना विवाह के गर्भाधान होने पर, प्रायः यही देखा जाता है, इस देश में भी और अन्य देशों में भी, कि, पुरुष, हृदय-हीन शठता और व्रतता से, स्त्री का परित्याग कर देता है, और स्त्री को, या तो मरण में शरण लेना पड़ता है, या वेश्या आदि वृत्ति में।

इस सम्बन्ध में, इस प्रश्न का आध्यात्मिक उत्तर विचारणीय है कि, वर्तमान युग में, प्रकृति देवता ने, अपत्य-सृष्टि धीर्य विसृष्टि, के आनन्द-सार को उन्हीं इन्द्रियों से क्यों बांध दिया है जिन से मूत्र-पुरीष के उत्सृष्टि के घृणा-सार को भी बाधा है। पुराण और वेदान्त का निर्णय है कि 'मोक्षस्तु मानये देहे', मनुष्य देह में ही पटुच कर जीव को मोक्ष हो सकता है, क्योंकि इसी योनि में उसको यह वृद्धि होती है कि, 'मैं देहा हूँ, कैसे लुहूँ', अन्य शरीरों में इस प्रकार का विवेक और धैर्य नहीं होता। इस विवेक धैर्य या सम्भव तभी होता है जब तीव्रतर हन्त वा, सुख दुःख वा, आनन्द-घृणा वा, साथ ही अनुभव हो, इसके साधन के लिये, प्रकृति देवता ने, मनुज देह में, निज(आत्म)धोषोपयोगिनी प्रत्यक्चेतना के, प्रथमसृष्टि के, समर्थ, वृद्धि भी रक्षायी है और मूत्रेन्द्रिय को आनन्देन्द्रिय भी बनाया है, कि जीव अति-आनन्द से पल्ला रत्न वर

तृतीय चतुर्थ आश्रम में, अति-घृणा, संसार से अति-वैराग्य, की पराकाष्ठा को पहुँच जाय। योग भाष्य में, वैराग्य की दो काष्ठा कही हैं, आरम्भ में 'अपर', और अंत में 'पर'; 'पर वैराग्य' और 'परम प्रज्ञान' 'सोक्ष', एक ही पदार्थ के दो पक्ष वा नाम है।

इस सम्बन्ध में, भर्तृहरि के प्रसिद्ध श्लोक की याद करा देना उचित है,

स्तनी मासग्रन्थी कनकघटवत् श्लिष्यति मुहुः,
 गुरां श्लेष्मस्तावं पिबति चपकं साऽगवं इन,
 अमे'यस्लेदाऽद्रं पयि च रमते स्पर्शरशिकः,
 अहो मोहाऽन्धाना किं इव रमणीयं न भवति ।

यह हुं श्री शरीर की निन्दा और घृणा, पुरुष-दृष्टि में; इसकी पूर्ति के लिये, स्त्री-दृष्टि में पुरुष-देह की भी वैसी ही निन्दा और घृण्यता है, जिसको कहना भर्तृहरि भूल गये,

मागाऽभियंजरं दयं मनुनेऽनिकान्तां,
 आनन्दधाम गणयति अपि मृत्रमारं,
 वीभग्नागपरिर्वर्णं अपि उपास्ते,
 लाला मुधा इव च, गंमद्रमोदमत्ता ।

संगम की इन्द्रता, अमृत-धिष-ता, अन्न-पुरीष-ता, उपादेय इव ता, प्रतिपन्न प्रयत्न है; चित्त जब एक ओर अधिक झुकता है, तब प्रवृत्ति, म-रागता, होती है; तब दृग्गी और, तब वि-रागता और निवृत्ति ।

उक्त प्रश्न के दृग् उत्तर में ममज्ञ में ध्यायितादि क्यों काम का परिणाम, यदि आय-व्यय-मग्न रूप नहीं हुआ तो, परम्या पूरा रूप ही प्रायसा । यह साय 'ई' इन्द्र-निर्माण-शक्ति का, जगत् के इन्द्रात्मक स्वरूप का, फल है । पुण्य-पाप मिले हुए हैं । जीव, या एक और एक दृग्गी और, अन्तर्गत ही रहता है । यदि फल यदुक्त कल्याण द्वारा तब का ।

दिया जाय, तो खट्टा कसैला कड़ुभा होकर, कठवायगा और सड़ जायगा, यदि सूर्य की कल्याणमय किरणों से यथासमय पक जाने पावेगा, तो खाने पर सुस्वादु तुष्टि-पुष्टि-कारक होगा। ऐसे ही दैत्य रति, कामिक शारीर क्षोभ, 'कार्नेल पैशन', यदि मातृत्व पितृत्व के वाल्मल्य में परिणत न होने पाया, बलात् रोका गया, तो विष हो जायगा; विषय-तृष्णा-पूर्ण ब्रह्म-राक्षस, ब्रह्म-पिशाच, अर्थात् ज्ञानपूर्वक बुद्धिपूर्वक पापाचारी, हो जायगा; चारों ओर जार-वेश्या, अप्सरा-गन्धर्व, राक्षस-राक्षसी, पिशाच-पिशाची के भाव को फैला कर समाज को उन्माद में डालेगा और नष्ट भ्रष्ट करेगा।

यूरोप के महायुद्ध में यह भी भीतर-भीतर कारण हुआ है। जो ही अग्नि, मियम के अनुसार, शास्त्र के अनुसार, प्रयोग करने से खाना पकाती है, जाटा (जाडय, जड़ता) दूर करती है, एंजिन में रह कर लाखों यात्रियों और लाखों मन माल असबाब को दूर दूर के देशों में पहुँचाती है, घड़ी अग्नि, दुष्टता या मूर्खता से प्रयोग करने से, नगर के नगर जला टालती है, लाखों मनुष्यों के प्राण ले लेती है, करोड़ों की जायदाद भस्म कर देती है। कामाग्नि का यही हाल है।

मनु ने कहा है,

यरिमन् ऋण सनयति, येन चाऽनन्त्यमूअश्नुते,
स एव धर्मज पुत्र, वामजान इतरान् विदु ।

ज्येष्ठ पुत्र, जो माता-पिता को देव-ऋषि-पितृ-ऋण से छुटाता है, जिसके द्वारा माता-पिता अमरता पा सकते हैं, वही धर्मज पुत्र है, पंडित के पुत्र धर्मज है। इस श्लोक से, आदि प्रजापति, नितान्त प्रजाबल्ल, "वात्मल्ये मनुष्यन्तृणा", (भाग०), अपने घर की बुरि चाहते हुए भी, बहु-प्रजाव पा दोष देखते हुए, सृचना मान कर देते हैं, कि अपय होना भी आवश्यक है, पर बहुत अपय होना अच्छा नहीं। इस कल्याण-पारख धार्मिक उपदेश को मन में रख विवाहित हर्षता को चाहिये कि

संतान उत्पन्न अवश्य करें, पर पाँच सात वर्ष में एक। बीच में यदि शु
ब्रह्मचर्य नहीं बन सके तो, अगत्या, संतान-निषेध के अल्पतम दोष वा
चतुर्थ उपाय को काम में लाना अनुचित नहीं कहा जा सकता। ये
उनके शरीर और चित्त के स्वस्थ रहने की आशा है, और अपत्य-गाम
भी यथावत् हो सकेगा, अपत्य-स्नेह से परस्पर स्नेह भी बढ़ेगा, अपत्य
हित-चित्तन में दिन बीतेंगे, कामाग्नि कम सतावेगी, उसका परिणाम
स्नेह प्रीति में निरन्तर होता रहेगा।

सौशील्य—सबसे उत्तम और सबसे आवश्यक साधन दाम्पत्य मु
का, सोशील्य है। शील के तीन अंग इस सम्बन्ध में कहे जा सकते हैं

मत्र मे पहिला यह कि, पति पत्नी अपने अपने अलग अलग स्व
सुख का ध्यान कम करें, और एक दूसरे के सुख का, अर्थ का, एत
अधिक करें। यह तो, महाभारत (शांतिपर्व) में कहे, शील के मौखिक
सामिक लक्षण का ही अनुवाद मात्र है—'जो अपने लिये न चाहें, न
दूसरे के लिये भी मत चाहो; जो अपने लिये चाहो, वह दूसरे के लिये
भी चाहो'।

दूसरा अंग दाम्पत्य शील का, पहिले अंग का प्रसारण ही है। क
यह है कि एक दूसरे में सर्वथा निर्लज्ज न हो जायें, एक दूसरे की श्रे
धिनय, आदर, कुट लज्जा का भाव गदा बनाये रहें, प्रीति अधिक प्री
रति कम करें। स्वयं वाग्म्यायन ने भी कामसूत्र में यह गवाह दी है,

परस्परानुद्वेग्येन तदुपरं लज्जमानयो ,

स्वकमरगोनादपि प्रीतिर्न परिहीयते ।

अर्थात् मैं भी कडा है,

एक-दूसरे के लिये यद् द्वयोरप्यस्मितता ;

अप्यस्मिते काले, स्वयंभवेण गंगम ।

दोनों का स्मित एक-दूसरे का स्मित है; बिना स्मित एक दूसरे, स्वयंभवेण
स्मितन में स्मित का स्मित है।

पाठक सज्जन !, वृद्धावस्था में, अगली पुस्तक के लिये, वात्सल्य-मोह अधिक हो जाता है, 'वृद्धस्तावच् चिंतामग्नः', यह चिन्ता वृद्धों को सदा सताती रहती है कि बच्चे अच्छे रहें, इन को क्लेश न हो। इस वात्सल्य-मोह से प्रेरित हो कर तुम लोगों की भलाई की उत्कट कामना से, फिर फिर यह कहता हूँ, कि पश्चिम देशों की इस वर्धमान भयानक भूल में मत पडना, यह मत समझना कि स्त्री-पुरुष के शरीरों का संयोग केवल इन्द्रिय सुख की बात है जैसे रटा-मीठा स्वच्छद रुचि के अनुसार खाना, गंध सूँघना, रंग देखना, यह मत समझना, कि इस संयोग से धर्म का, मर्यादा का, ज्ञान-न-कायदे का, कुछ संबंध न होना चाहिये। ऐसा समझना भारी भूल है। साधारण इन्द्रिय-सुख भी, खाना पीना भी, बड़े व्यापक धर्म का, प्राकृतिक भी मानुषिक भी ज्ञान-न-कायदे का, विषय है, यहाँ तक कि 'आहार-शुद्धौ सत्त्वशुद्धि ... ध्रुवास्मृतिः' मोक्ष' (छांदो० उप०), योगाभ्यास और मोक्ष की सीढ़ी का पहिला भी और अंतिम भी उदा, जिह्वा-शिश्न का जय, उदर-उपस्थ का मर्यादित निग्रह, ही है, आहार में भूल करने से प्राण का नाश तक हो सकता है, और बहुधा हो जाता ही है। सात्त्विक आहार से सात्त्विक-बुद्धि, उस से मोक्ष-सिद्धि। वैसे ही, या उस से बहुत अधिक, स्त्री पुरुष के संयोग के विषय में भूल होने से तो महा-समाज के महा-प्राण का सामूहिक नारा हो सकता और होता है। लंबा के, और राक्षस और घानर वशो के, महासंहार का निदर्शन देखा ही है। स्त्री पुरुष संयोग भी ज्ञान-न-कायदे का नितरा विषय है, स्वातंत्र्य का नहीं। इस क्रिया को 'क्षणिक' मत समझो, इस 'क्षण' में अनंत भूतकाल, अनंत भविष्यकाल, भरा हुआ है अनंत प्रत्यक्षता का धार्य, और अनंत सतानुरूपता का कारण, स्त्री-पुरुष का धार्य है। ऐसा धार्य जिस 'क्षणिक' क्रिया से सम्बद्ध हो, वह साधारण वास्तव, सूँघने, गूँबने, छींकने, खांसने बर्षा-सी क्रिया नहीं है, जीव का समग्र अंत कारण इस से सम्बद्ध है। पश्चिम के देशों में, इतिहास

विद्वान् भी माने हुए मनुष्य, पर इस विषय में दुर्विद्वान्, दुर्बुद्धिमान्, अदूरदर्शी, अनध्यात्मवित् लोग, कहने लगे हैं, कि काम सुख में परस्पर ईर्ष्या-द्वेष न करना चाहिए। ये लोग मानव प्रकृति के अध्यात्म तत्व का ओर आँख बंद किये हैं, और, “न ह्यनध्यात्मवित् कश्चित् क्रियाफलमुपाश्नुते” (मनु), समाज को गढे में गिरा रहे हैं। यदि नया जगत और अर्थ स्वभाव के जीव, ये लोग बना सकेंगे, तब उन का विचार स्यात् ठीक हो सकेगा, अन्यथा, मानव-स्वभाव से, जगत की द्वन्द्वरत्मक प्रकृति में निसर्ग से, यह सिद्ध है कि, बिना मर्यादा बाँधे, बिना धर्म की व्यवस्था किये, स्वाच्छ की परिधि और सीमा घेरे, काम से क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष आदि अशुभ उत्पन्न हो कर समाज में घोर उपद्रव मचा करेंगे; और अर्थमय, अर्थमय, जातियों की, और फिर पशुओं की अवस्था की, ओ बापस ले जायेंगे।

तीसरा अंग, दूसरे अंग का सम्पूर्ण और साधन है। परस्पर शरीरोंपभोग में अति न होने पावे, मग्न रति-शक्ति थोड़े ही दिनों में, दिवायि के घन के ऐसी, गर्भ न हो जाय, एक दूसरे का रस समान न हो तब, परस्पर नवीनता मना बनी रहे।

तदेव रूपं स्मणीयतायाः क्षणे क्षणे यत् नानां विधानं; (मान)

जगति मियुने चरती प्व स्मराऽऽगमपागी,

नगम इव मिय मग्भुजाने त्रियुज्य त्रियुज्य गी,

मननम अमृताद् एनाऽऽज्ञागद् यद् आपद् अमोचम,

तद् अमृतमुजां मर्ता मग्भुर् विं शुभुने त्रिभु; (नेपथ)

चक्रवा-न्यदृष्ट ही काम-शास्त्र, स्मराध्यात्म, के पार पहुँचे हैं, तब हमें जो जानने हैं, कि प्रति दिन, संःया में किमुद् बिमुद् कर, मर्ते वृत्त दूसरे के लिये नये हो जाने हैं। नित्य नित्य अमृत फले पाने इष्ट कर, दिवायि के लिये, मनकेर के लिये, की लिये। स्मरणीयता के मर्ते वृत्त है कि प्रति अंग मर्ते जान पड़े, नित्य नष्ट दिवायि।

परस्पर शील बनाये रहने के लिये आवश्यक है कि यह भाव दूर कर दिया जाय कि पुरुष स्वामी और स्त्री दासी ; पुरुष मालिक और स्त्री मिलकीयत जायदाद, पुरुष भोक्ता और स्त्री भोग्य परिग्रह, पुरुष इष्टदेव, स्त्री भक्त उपासिका, नर उच्च, नारी नीच । दुर्भाग्यवश, इधर सैकड़ों, स्यात् सहस्रों, वर्ष से, भारतवर्ष में, तथा अन्य देशों में भी, यह भाव फैला हुआ था और है । यह अब पाश्चात्य देशों में दृग्गतेजी से बदल रहा है, कि दूसरी आत्यन्तिक कोटि तक उसके बहक जाने का भय उत्पन्न हो रहा है । स्यात् इसका ही रूपक, तत्र ग्रन्थों में, यह किया है, कि शिव तो शिव के ऐसे पृथ्वी पर पड़े है और नग्नप्राय, खड्ग-वारिणी, मुटहस्ता काली उनके ऊपर पैर रखकर खटी हैं । यह दोनों आत्यन्तिक भाव, आर्ष काल में नहीं थे, अथवा यो कहना चाहिये कि उपलभ्य आर्ष ग्रन्थों के सात्त्विक अंशों में नहीं देग्य पढते हैं । सत्य और आर्य भाव, जो अनुमानतः आर्ष काल में था, उसको फिर से हृदय में धारण करना और फैलाना चाहिये, अर्थात्, यदि पति स्वामी तो पत्नी स्वामिनी, पति देव तो पत्नी देवी, नर आर्य तो नारी आर्या । देवों और महापुरुषों के नामोच्चारण में, अधिक आदरार्थ, देवों का नाम पहिले और देव का पीछे अब भी लिया जाता है, यथा लक्ष्मी-नारायण, उमा-महेश्वर, सीता-राम । भागवत में कहा है, कि स्त्री और पुरुष परस्पर, तुल्य रूप से, भोग्य, और यधन में टालनेवाली माया के रूप, हैं । महाभारत में, पुरुषसार, अत्युदार, प्रवीर, आजीवन अच्युत ब्रह्मचारी, भीष्म पितामह ने कहा है कि, व्यभिचार जब होता है तब 'नर एवाऽपराधयति', पुण्य का ही दोष अधिक होता है । इन बातों को ध्यान में रख कर, जहाँ जहाँ, अच्छे ग्रन्थों में भी, ऐकपाक्षिक नारी की निन्दा या भोग्यता के सूचक शब्द हो, वहाँ पाठ को शोध देना चाहिये । य.ग. उदाहरणार्थ, भर्तृहरि के श्लोक.

शम्भु-स्वप्न-हरयो (हरिणेशाना) ऽपि च, तन्निबद्ध,

येनाऽभिन्न मनसु (एवमर्जना) एतदास्य,

विद्वान् भी माने हुए मनुष्य, पर इस विषय में दुर्विद्वान्, दुर्बुद्धिमान्, अनूरदर्शी, अनध्यात्मवित् लोग, कहने लगे हैं, कि काम सुख में परस्पर ह्यैर्ष्या-द्वेष न करना चाहिए। ये लोग मानव प्रकृति के अध्याम तत्त्व के ओर आँख बंद किये हैं, और, "न ह्यनध्यात्मवित् कश्चित् क्रियाफलमुपाश्नुते" (मनु), समाज को गढे में गिरा रहे हैं। यदि नया जगत और नया स्वभाव के जीव, ये लोग बना सकेंगे, तब उन का विचार स्थान ही हो सकेगा, अन्यथा, मानव-स्वभाव से, जगत की इन्द्रात्मक प्रकृति से, निमग्न से, यह सिद्ध है कि, बिना मर्यादा बाँधे, बिना धर्म की व्यवस्था किये, स्वाच्छन्द की परिधि और सीमा घेरे, काम से क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष आदि अपश्य उत्पन्न हो कर समाज में घोर उपद्रव मचा करेगा; और अश्रमभ्य, श्रमभ्य, जातियों की, और फिर पशुओं की अपम्या की, भी वापस ले जायेंगे।

तीवरा अंग, दूसरे अंग का सम्पूरण और साधन है। परम्पर शरीर रोगभोग में श्रमि न होने पावे, सब रति-गच्छि भोड़े ही दिनों में, दिवसों के घन के गेयी, रुचि न हो जाय, एक दूसरे का रस समाप्त न हो तब परम्पर नवीनता मदा यनी रहे।

तदेव स्यं स्मणीयताया क्षणे क्षणे यत् नयतां दिनेषु, (मनु)

रगानि मिथुने चक्रौ एव स्मराऽऽगमपारगां,

नयम् इव मिथु गम्भुज्जाने वियुग्य वियुग्य यौ,

गन्तव्यं श्रुत्वाद् एसाऽऽहागद् यद् आपद् अगोचरम्,

तद् अमृतभुजां भर्ता गम्भुर विपं सुभुजे विभुः; (मेघ)

चक्रवा-चक्रुः ही काम-याग्य, स्मराऽऽगम, के पार पहुँचे हैं, हाथ में को जानते हैं; कि प्रति दिन, संख्या में विद्युद् विद्युद् कर, रति पर हमारे के लिये नये हो जाते हैं। नियमित अमृत पान करने पर कर, विद्युत् के कणिकाएँ, सततकर के लिये, ही लिये। स्मणीयता के अर्थ में ही कि प्रति क्षण नये जान पड़े, नियमित लिये।

परस्पर शील बनाये रहने के लिये आवश्यक है, कि यह भाव दूर कर दिया जाय कि पुरुष स्वामी और स्त्री दासी, पुरुष मालिक और स्त्री मिल्कीयत जायदाद, पुरुष भोक्ता और स्त्री भोग्य परिग्रह, पुरुष इष्टदेव, स्त्री भक्त उपासिका नर उच्च, नारी नीच । दुर्भाग्यवश, इधर लैकड़ो, स्यात् सहस्रों, वर्ष से, भारतवर्ष में, तथा अन्य देशों में भी, यह भाव फैला हुआ था और है । यह भव पाश्चात्य देशों में इस तेजी से बदल रहा है, कि दूसरी आत्यन्तिक कोटि तक उसके बहक जाने का भय उत्पन्न हो रहा है । स्यात् इसका ही रूपक, तत्र ग्रन्थों में, यह किया है, कि शिव तो शव के ऐने पृथ्वी पर पड़े है और नग्नप्राय, खड्ग-धारिणी, मुडहस्ता काली उनके ऊपर पैर रखकर खड़ी है । यह दोनों आत्यन्तिक भाव, आर्ष काल में नहीं थे, अथवा यों कहना चाहिये कि उपलभ्य आर्ष ग्रंथों के सात्त्विक अंशों में नहीं देख पड़ते हैं । सत्य और आर्य भाव, जो अनुमानतः आर्ष काल में था, उसको फिर से हृदय में धारण करना और फैलाना चाहिये, अर्थात्, यदि पति स्वामी तो पत्नी स्वामिनी, पति देव तो पत्नी देवी, नर आर्य तो नारी आर्या । देवों और महापुरुषों के नामोच्चारण में, अधिक आढरार्थ, देवी का नाम पहिले और देव का पीछे अब भी लिया जाता है, यथा लक्ष्मी-नारायण, उमा-महेश्वर, सीता-राम । भागवत में कहा है, कि स्त्री और पुरुष परस्पर, तुल्य रूप से, भोग्य, और वधन में डालनेवाली माया के रूप, हैं । महाभारत में, पुरुषसार, अत्युदार, प्रवीर, आजीवन अच्युत द्रष्टाचारी, भीष्म पितामह ने कहा है कि, व्यभिचार जब होता है तब 'नर एवाऽपराध्यति', पुरुष का ही दोष अधिक होता है । इन बातों को ध्यान में रख कर जहाँ जहाँ, अष्टे ग्रन्थों में भी, ऐकपाक्षिक नारी वी निन्दा या भोग्यता के सूचक शब्द हों वहाँ पाठ को शोध देना चाहिये । यथा उदाहरणार्थ, भर्तृहरि के श्लोक

शम्भु-शयम्भु-हरणे (हरिणैः क्षणाना) ऽपि च, तन्निर्गन्ध,
वेनाऽपि श्रुतं सततं (सुहृत्संज्ञया) सुहृत्संज्ञात् ,

वाचाम् अगोचरचरित्रपवित्रिताय,

तस्मै नमो भगवते कुमुमायुषाय ।

द्रष्टव्येषु किमुत्तमं, (मृगदशां) जगति, हे !, प्रेमप्रमत्त गुणैः ।

प्रातःकालेषु अपि किं, तदास्यपवनः; श्रव्येषु किं, तद्वचः;

किं स्वाद्येषु, तदौष्ठपल्लवरस; सृष्टयेषु किं, तत्तनुः;

ध्वजं किं, नवगौवनं (गृहद्वयीः), न सततं सर्वत्र तद्विभ्रमः

(दम्पत्योः परम्परामिति) ।

विरक्ति और निवृत्ति की अवस्था में दोनो प्रकार के दारीयो की समान थीभक्तता भी पृ० ३८० पर कही जा चुकी है ।

वैशाखिक सुखसाधन के प्रकरण के अंत में, पुनरपि यह कहना चाहिये कि, संसार के, मनुष्य के, वृद्धात्मक स्वभाव से उत्पन्न, यदि देवदत्त कभी पति-पत्नी के बीच में सौमनस्य के टिकाने प्रयत्न में सिद्धा हेतु में आ ही जाय, तो अपने अपने चित्त के धोस के प्रसन्न के लिये, परम्पर पाणिप्रत्येक के समय की, पवित्र वैदिक मंत्रों में की हुई (पृ० ३३७-३४३) प्रतिज्ञा को याद करना चाहिये, और यह याद में लाना चाहिये कि केवल अपनी ही रचि ने नहीं, किन्तु माता पिता, माई देवताओं ने, प्रार्थित कर्म ने, भी, यह सम्पन्न जोड़ा है, जो दोनों को एक दूसरे के साथ बाँधा है, और उनका अनादर होगा, उनके सम्पन्न को पीटा होगी, यदि यह सौमनस्य और धर्मन शत्रु, और परम्पर सम्पन्न, मन्त्रप्रत्येक, निराल, सौमनस्य, सौमनस्य न शिरा दिया गया ।

देवदत्त पति-पत्नी विद्वो, न (नैतत्) दम्पत्योः परम्परामितिः ।

नैतत् किं नमो भगवते कुमुमायुषाय ।

जहाँ ईश्वर ने, अपने सम्पन्नता निवृत्त में, 'काम' सम्पन्न गुणों को, 'अहं' और 'अर्थ' मायत गुणों से प्रवेण सम्पन्न है; 'अहं' के साथ, निराल-निराल और विद्वो (विद्वोः) विद्वो

पर भी विचार होना उचित है। आज काल, जिस 'व्यक्तिवाद', 'वैयक्तिकता', 'व्यक्ति-स्वाधीनता' ('इडिविजुअलिज्म', 'इडिविज्युएलिटी', 'फ्रीटम आफ दि इडिविजुअल') की लहर बह रही है, उस पर आरूढ़ व्यक्तियों की दृष्टि से, प्रत्येक स्त्री पुरुष के स्वच्छन्द आहार विहार के हक में अधिकार में, कोई बाधा होना उचित नहीं है। इन दृष्टि से ऐसे विवाहों का कोई नियमन नियंत्रण नहीं होना चाहिये, बल्कि 'फ्री-लव', स्वच्छन्द-'मुक्त-अनवरुद्ध'-काम का (यथा 'वाम-नागियों' में) पोषण होना चाहिये। परन्तु प्रतिपक्ष यह कहता है, कि कोई भी व्यक्ति सर्वथा 'स्व तत्र' नहीं है, केवल अपने बल से ही नहीं जीता, समाज के बल से भी जीता है, इस में, समाज का देव-ऋषि-पितृ-ऋण-रूप त्रिविध ऋण से ऋणी है, इस लिये यह प्रश्न केवल वैयक्तिक दृष्टि से ही नहीं देखा जा सकता, सामाजिक सामूहिक दृष्टि से भी देखना आवश्यक है। स्त्री-पुरुष सम्बन्ध और तज्जनित सतान यह समाज का मूल है। अतः, दोनों पक्षों पर विचार करने से यह निष्कर्ष होता है, कि विधवा और विधुर का विवाह न होना, वा यम होना, अच्छा है, विशेष कर ऐसे स्त्री या पुरुष का, जिस को पहिले विवाह से ततान मौजूद है। इस से, मनुष्य-संस्था की अति-वृद्धि रुकेंगी; और विधवा और विधुरों को, पराधी सामाजिक कार्यों में शक्ति लगाने का सुअवसर मिलेगा ऐसों को सम्मति चाहिये कि भाग्य ने कालप्रस्थान' उन को दे दी, चाहे प्राकृतिक समय से पहिले ही। तब दो तब सुख ही मिलें—यह न कभी हुआ और न होगा, एक सुख दो तब, एक दुःख, वैयक्तिक भी और सामाजिक भी होगा ही है। कुछ लोगो को, परार्थ के लिये, त्याग करना ही पड़ेगा, और पण्य ही है। सामूहिक दिग्दर्श, किन्हीं न किन्हीं दिग्, अवश्य ही उन को छेद देगे, और तब उन को एक दुःख मानेगे : तो यदि, उन ही, अपनी अज्ञान से, उन को एक ब, छेद दे, तो बहुत शोभा है, बहुत शक्ति का अन्वय मिलेगा।

अपनी ही बुद्धि से, स्वचलता से, अपनी ग्यार्थ-सुरोच्छ्राओं का दामन करना, और यह समझ लेना कि भाग्य ने, पूर्ण कर्म ने, परमेश्वर ने, आपका जो रूप में मगन दिया है, अनुग्रह किया है, परार्थ में लाता का पाप-शय और पुण्य-संचय का अन्तर दिया है—यह उन व्यक्तियों के लिये भी और उन के समाज के लिये भी अच्छा है ; पृ० १०-१०१ पर नारद की कथा देखिये । समाज उन का आदर करेगा और वे समाज का भगा करेंगे ; उग परम्पर चित्त-सम्बन्ध का आनन्द कुछ कम नहीं है ।

परन्तु, यदि इतना कावृ (यक्षिता) अपनी तथियत पर नहीं लेंगे, तो प्रायः समस्यस्क निभार्यक और विज्ञा का परम्पर पुनर्निर्माण सेना तथचित् अनुमंत्य है ।

(७) सर्वज्ञान—कामशास्त्र के ज्ञानांग में सर्वज्ञान का, आत्म-प्रत्यक्ष तद ही सर्व और सर्विणी की परिवर्तमान दशाओं का, सर्वज्ञान का, प्रत्यक्षयोगी सामग्री का, तथा गृहकार्यागृहधर्या का, रूप से सर्वज्ञा रागणोपयोगी वर्णन रहना चाहिये । पुगणों में स्पष्ट है कि सर्वज्ञानता से विज्ञान फैला हुआ है, कि सर्व में जीव, निर-तन्मा से श्रद्धा से ही दुटे, अपनी योग्यता लाय योनियों की याद कर के फिर की पाप कर के मनुष्य-योनि में आया है ; और परमात्मा के अन्तः प्रथम पल से प्रार्थना करता है, कि अब फिर पाप न करेगा, कि अब सर्वज्ञान कागमृ से, स्वकी-वैरी श्रेय से, स्व-सुख से सुख से सुख से । पञ्चाय विज्ञान में श्रद्धालु परिवर्तन से किन्तु दिव्य है कि स्वकमृ मान्यश्रुता, चतुर्विध भावप्रम के, न सब जग ही सब से, अत्यन्त योनियों अत्यन्त, विज्ञान, ही ही है ; स्वयं स्वयं लक्ष्मिण्ड ('दिव्यिण्ड') रूपों की, ही ही है । पञ्चाय विज्ञान में श्रद्धालु परिवर्तन से किन्तु दिव्य है कि स्वकमृ मान्यश्रुता, चतुर्विध भावप्रम के, न सब जग ही सब से, अत्यन्त योनियों अत्यन्त, विज्ञान, ही ही है ।

कुठ वसाहो तक बुद्बुद कलल के रूप में, जैसे उद्भिज्ज भ्रण का फिर मटली के भ्रण का, फिर सरी-रूप के फिर पशु के फिर वानर के, फिर स्वलक्षण नर के भ्रूण का आकार धारण करता है। यह एक निदर्शन मात्र है, कि कैसे वेदों पुराणों के वैज्ञानिक और ऐतिहासिक आधिदैविक और आधिभौतिक, अशो की व्याख्या, बिना पाश्चात्य विज्ञान की सहायता के अग्र ठीक ठो नहीं सकती। इस देश में वह आवश्यक ज्ञान लुप्त हो गया है। एव पाश्चात्य ज्ञान को बद्धमूल ओर (मनुष्यघातक, मनुष्योपकारक, नहीं) मनुष्योपकारक, मनुष्यपालक, होने के लिये, अभी भी यत किंचित उपलभ्यमान, भारतवर्ष के प्राचीन अध्यात्मज्ञान की नितान्त आवश्यकता है। स्यात् इसी इच्छा से परमात्मा, जगदन्तरात्मा, ने, दोनों का, भारतभूमि में, सम्मेलन किया है। पर मानवप्रकृति के दोष में, यदि एक ओर कुठ लाभ इस मिश्रण से हुआ है, तो दूसरी ओर बहुत हानि भी होती देख पटती है, दोनों जातियाँ, एव दूसरे के दोषों का अधिक गुणों का कम, ग्रहण करती हैं। परन्तु

यत्ने कृते, यदि न सिद्ध्यति, कोऽत्र शेषो (यत्नेऽभवत्, भृगुम इत्यु विचारणीयम निश्चिन्त्य तच्च, यतितव्यम अथो पुनश्च, यावत् भवेत् न गत तापवरी रत्निति ।)

इस सम्बन्ध में विविधजन्तुओं के भ्रूणों के परिवर्तनों की कथा यथामरिन्त्यागर और अलिफलेला में बहुत अधिक मनोहर है। वहाँ कीट पतंग जैसे हैं जो परभृत (कोविल) से परभृतता में वहाँ अधिक बढ़े हुए हैं। एव प्रगार की बिल्ली को एक पट कमन्दिष्य होती है, नालीदार पोली सृष्टि के रूप में, ('ओर्षी पोजिटर') जिस में वह दूसरे अपने में घटे, प्राणी के परममांस में छेद कर के, नाली द्वारा अपना अंश रक्त देती है, और अंश कृते पर, भ्रूण, आत्म प्राप्त के उसी कर्ममांसदि को रक्त पर पुष्ट होता है, फिर निबल पर उष्ट लगता है। एव चाल की टिपटी होती है, ('सेवन्टीन इपर टोवन्ट') जिस के भ्रूण सत्रा वर्ष तक ए में

बन्द कर देती है, तब वह कीट, भृंगी का ध्यान करते करते तन्मय और तद्रूप हो जाता है, और फिर खोंते को फोड़ कर उड़ जाता है, और, ऐसे ही, जीवात्मा को, भक्ति ध्यान के बल, परमात्मरूप हो जाना चाहिये। यहाँ उपमेय तो शुद्ध है, पर उपमान अशुद्ध है। कीड़ा, भृंगी नहीं बन जाता, बल्कि भृंगी के अडे पहिले से उस खोंते में दिये रहते है, और अडों को फोड़ कर, निकल कर, उसके भ्रूण, उस कीड़े के शव को खा कर, पर (पर) निकाल कर, खोंता तोड़ कर, उड़ जाते है। पाश्चात्य ग्रन्थों में ऐसा पद कर, मैं ने स्वयं इसका प्रत्यक्ष अनुभव किया। एक बड़ी, चमकते हुए हरे रंग की, बिलनी को, एक लम्बा, रेंगने वाला, कीड़ा पकड़े हुए उठते देख कर, उसके पीछे पीछे, उसके मिट्टी के खोंते तक पहुँचा। जब खोंते में उस कीड़े को ढूँढ कर बिलनी उड़ गई, तब नुरी से खोंते को, सम्हाल कर, मैं ने काटा, और उसमें चार अडे बहुत बारीक छोटे चावल के ऐसे, बिना सूक्ष्मेक्षक यंत्र के भी आँखों से देख पटते हुए, देखे। शुद्ध उपमान यह है कि, कुछ प्रकार के कीड़े ('बैटर-पिलर') रेंगते रेंगते, किसी पेड़ के पत्ते पर पथरा जाते है, फिर फूलते है, आकार परिवर्तन करके, चाँदी जैसे चमकते अडे, जामुन के छोटे बीज के परिमाण के, हो जाते है, और कुछ दिनों के बाद अडा फोट कर उसमें से तितली के रूप में उड़ जाते है। इसको भी, मैं ने स्वयं, कई दिनों तक, ताब और अमुसभान में रूँ कर देखा है। अंग्रेज़ी में इन तीन अवस्थाओं को 'बैटर-पिलर—क्राइसलिस—बटरफ्लाई' कहते है। ऐसे ही तीन रूप-परिवर्तन मच्छड़ के होते है, जिनको 'लार्वा—प्यूपा—मैट्रिटा' कहते है। मच्छड़ के अडे पानी पर दिये जाते है, और तेल की फोफो जैसे, गुण्ड में, तैरते रहते है, पानी को दूषित करते है, और बीमारी फैलाते है।

ऐसी गणेषणाओं का ग्यजाना, पाश्चात्य शरीर-विज्ञान-सम्बन्धी आर वैद्यक-सम्बन्धी साहित्य में भरा है। उससे बल से, एराणो की किन्ती ही अशुभ बातें समझ में आने लगती है और ध्येय हो जाती है,

ले, लुटेरो की और शस्त्रास्त्रचालन की तर्कीयो का विशेष ज्ञान आवश्यक है, र सभी साधु (साह) गृहस्थो को अपने और आध्रितो के जान माल लो, रक्षा करने के लिये, उन तर्कीयो का सामान्य ज्ञान उपयुक्त है । गुने नी, सद्गृहस्थो को, अपने दारा-अपत्यो की रक्षा के लिये, दुराचारी, यभिचारी, समाजध्वसकारी पारदारिको और वेश्या-विदो के चरित्र ता भी सामान्य ज्ञान अपेक्षित है । इस विषय के ज्ञान का भी, ताश्राल्यो ने, नयी ग्वोज मे, 'संकालोजी आफ सेकम', 'हिस्टरी आरु गस्टिट्यूशन', 'नेकोपेथिया सेक्सुएलिस' 'पेथालोजी आफ मेडन 'मेक्स गडफ आफ अवर टाइम,' आदि नाम के, महाभारत सटस घृहटामार, अधवा उसमे भी बटे, बहुतेरे ग्रन्थो मे महासग्रह किया हे । पात्रयायन ने जो इस विषय मे लिखा है उसकी चर्चा आगे की जायगी ।

यहो पर यह चेतावनी दे देना आवश्यक है कि पारदारिक, पारपु-रपिक, व्यभिचार के सम्बन्ध मे, स्त्रियो की एी निन्दा करने की अति क्षुद्र, अति दृष्ट, अति अनार्य, प्रथा, इस देश मे प्रचलित है, तथा पश्चिम के देशो मे भी कुछ काल पहिले तब यी । इसवा एंतु केवल इतना ही है, कि प्राय पुग्गो के हाथ मे लेखनी रही है, ओर वे पुग्ग इन विषय मे प्राय क्षुद्र बुद्धि के रहे । प्रयक्षसिद्ध है कि अबेले स्त्री व्यभिचार नही कर सकती, जय व्यभिचार होगा, तो कम से कम एक स्त्री ओर एक पुग्ग, दो मिल कर व्यभिचार करेगे । भीष्म के उदार वाक्य की चर्चा, इस सम्बन्ध मे, पहिले की जा चुकी है ।

एव स्त्री नाऽपराप्नोति, नर एवाऽपरापति
 एतन्नर-व मतादोष, नर एताऽपरापति,
 नाऽपरा रोऽरित नारीणा, नर एवाऽपरा पति
 सर्ववाऽऽपरापत्त ताऽ नऽपरापति नाऽन ।

(शांति पर्व २० २७२)

कूट पाठ भेद से, अब भी मिलते हैं। मनु के उद्धरण के पार परा
मिहिर पुनः अपना मत लिखते हैं,

जाया वा, जनयित्री वा, संभव स्त्रीकृतौ चूर्णा,
ते कृत्वन्ना ।, तयोर् निदां कुर्वतां च कृत्वा गुणैः ।
दम्पत्यो द्युक्कमे दोष समः शारत्रं प्रनिष्ठितः ।
नरा न तं अवेत्तन्ते, तेनाऽत्र वरं जज्ञना ,
अतो भार्ग्वी अगाध्वनां निन्दतां अनयाः श्रियः ,
मुण्णता इव नौराणां, 'निष्ठ नौर' इति तत्पत्ना ।

पत्नी रूप में, माता रूप में, स्त्री में ही पुरुषों का जन्म होता है।
स्त्री ही निन्दा जो पुरुष करते हैं, उनको कहीं मुग्ध नहीं मिल सकता।
यह दाम्पत्य में विद्वद् है और प्रत्यक्ष है, कि व्यभिचार में स्त्री और पुरुष,
दोनों ही मृत्यु रूप में दोषी होने हैं, पुरुष अपना दोष तो देखता नहीं,
स्त्रियों का ही दोष लगाने हैं, अहो! शृष्टता उनकी, जैसा शोभी राम
भागता हुआ और, वृद्धता है 'पुरुषों कोर !, माता चार !' ।

देव्य स्मृति, अत्रि स्मृति, अत्रि स्मृति, शूद्रस्मृति, पवित्र, सोम
ग्न, पशुधर (-मातृ) आदि स्मृतियों में, यथाशक्ति में कृपित स्त्रियों के
शुद्धि के लिये, समस्त प्रायश्चित्त लिखे हैं। संस्कृत भाषा, इस अर्थ में
अथ अस्मत्त ही है, कि इस में 'कृत्वा' और 'कुर्वतां' जैसे शब्द हैं
जो 'कृत्वा' और 'कुर्वतां' नहीं हैं, होने चाहिये। १९१० ई० में, श्री
हनुमान् श्याम, एक विशेष सम्प्रदाय वाले, कुछ प्रायश्चित्तों में 'कृत्वा' और
'कुर्वतां' शब्दों का प्रयोग ही नहीं करते, बल्कि 'कृत्वा' शब्द का प्रयोग
ही करते हैं। अतः अत्रि स्मृति में 'कृत्वा' शब्द का प्रयोग ही सही है।
इसके अलावा 'कृत्वा' शब्द का प्रयोग ही सही है। अतः अत्रि स्मृति में
'कृत्वा' शब्द का प्रयोग ही सही है। अतः अत्रि स्मृति में 'कृत्वा' शब्द का प्रयोग ही सही है।

तो फिर रुक्मिणी के ही साथ किसी पर-पुरुष का ध्यान आप क्यों नहीं करते हो ? इस पर वे सज्जन, कानो पर हाथ रख कर, 'हरे हरे' कहते हुए, चले गये। मद्रास प्रान्त में तो प्रायः विष्णु की, वा लक्ष्मी-नारायण, की, उपासना होती है, कृष्ण की नहीं, महाराष्ट्र देश में भी, कृष्ण और रुक्मिणी की पूजा है, राधा की नहीं। हाँ, राधा और कृष्ण को, बहिन भाई की, या बालक-स्त्री की, दृष्टि से देखे तो उचित है, पर-पुरुष पर-स्त्री आदि भाव अधार्मिक और निन्द्य है। क्यों ऐसे अधार्मिक सम्बन्ध से प्रेम की 'परा काष्ठा' का आभास जान पड़ता है क्यों वह मिथ्या और दोष-युक्त है, यह अन्यत्र ('दि सायन्स आफ दि इमोशनल्स' में) कहा गया है। इन्हीं यात्रा में, एक अन्य 'गोस्वामी' जी ने भी यही प्रसंग उठाया, संस्कृत के विद्वान् थे, मैं ने उन से भी वही प्रश्न किया। शुक ने, राजा परीक्षित को जो उत्तर दिया था, वही उन्होंने ने मुझ को सुनाया,

ईश्वराणा वच मन्थ, तथैव आचरित वचिन्,
तेजीशसा न दोषाय, वे सर्वभुजो यया।

तुलसीदास जी ने भी इसका अनुवाद कर दिया है,

ममरथ वो नहि दोस, गुसार्,
रवि पावक सुर सरि वी नार्।

बड़े तेज वाले ईश्वर लोगों की आज्ञा, उपदेश आदेश, सच्चा होता है मानने योग्य होता है, उनका सत्र आचरण अनुकरणीय नहीं होता।

मैं ने गोस्वामी जी ने कहा कि, परीक्षित ने शका की, कि रासलीला में कृष्ण ने परार्थ गियों का स्पर्श किया सो यह तो पाप किया, धर्म के सम्हापन के लिये अस्तर लिया और स्वयं अधर्म किया,

स वय धर्मरेतुना वर्त्ता, गोप अभिरक्षिता,
उपुत्तिन के एतदा, परदागडनिर्शनः।

परीक्षित ने निश्चयेन इस मय रामलीला आदि को अधम माना ; और शुक ने जो उत्तर दिया, उसमें स्वयं शुक को ही गंभीर नहीं था, यह स्पष्ट जान पड़ता है ; परीक्षित को कैसे होता ? शीर उत्तर ह्मका, पद्मपुराण में विष्णु के मुख से ही कहलाया है,

देवर्षेः अपि भोक्तव्यं कृत कर्म गुणाऽश्नम् ,
 (आभीरा मन्त्रिभ्यो जटुः, यथाऽभीरी अक्षयम्),
 ज्ञापा अपि अवनारेषु प्रायश गति कारण)

देवर्षे को भी अपने शुभ-अशुभ कर्मों का फल भोगना ही पक्का है, कृष्ण के शरीर छोड़ने के बाद उनका सोलह हजार गियों को आभीर उठा ले गये, इत्यादि । गोम्यामी जी यह मय गुन कर अप्रयत्न हुए, पर विचारने भी लगे । याद रखने की बात है, कि अवनारों का, अन्य कारणों के साथ साथ, एक कारण ज्ञाप भी अत्यन्त हाता है । इसी यात्रा में, एक बृद्ध चौधे जी ने बहुत शोक और शिवाग्रदृष्टिजन्य मुन्याया । अग्नेजी अमरद्वारी जमाने के पहिले, जागरा, मयुरा, वृन्दावन वार्ति प्राञ्ज में, भरतपुर के जाट राजा का अधिकार रहा , राजा के पास निरायन गये, कि वृन्दावन के एक 'गोम्यामी' जा चीरद्वारा लाया बहुत शोकील है, और भक्तों की यह-वेदियों को अन्न करने है । म. मय वृन्दावन आये, गोम्यामी जी को बुझाया, पूछा, उत्तर मिया, 'तम मे' ह्मका समझ है, हम ही ह्मका अधिकार है । 'तो कि साकीन जीत की कीर्ति है' । आतामामी करने लगे, 'हम समय आसपद मय - ने है, फिर आँकना । विष्णुभक्तियों को आता बुझे, 'हमसे गोम्यामी जी मय करके । एक लड़के से शोक हर, हाथ उठता कर, गोम्यामी 'ने 'ने मय दिने मय, और पत्रम मय की अज्ञान उदरे उता मय है मय । मय मय की मय मय मय मय मय मय मय मय मय मय । मय मय मय मय मय मय मय मय मय मय ।

वेश्याओं के विषय में भी ऐसी ही तामसी विपरीत बुद्धि प्रसृत है ;
वेश्या ही को गाली दी जाती है । वेश्या की निन्दा करना तो ठीक ही
है, पर विटों की निन्दा भी, और उससे अधिक, करनी चाहिये । पुरुष
यदि वेश्याओं की खोज न करे, तो महाकुत्सित समाजभयकारी यह
रोज़गार पैदा ही क्यों हो ? यदि यह ठीक है कि,

वेश्या नाम महावहि , रूप-इन्धन-समाऽचिता,
कामिभिर्यत्र ह्यते, यौवनानि धनानि च,

तो यह और भी ठीक है कि,

विटा नाम वृका घोरा , ये वाला हरिणीरूह्व,
दन्तर्विदार्य रुदतीरभक्षयन्ति सहस्रश ।

भर्तृहरि ने दोनों का समुच्चय किया है,

कश्चुम्बति कुलपुरप , वेश्याऽघरपल्लव, मनोरमम् अपि,
चार-भट-चौर-चेटक नट-विट-निष्ठीवन-शरावम् ?

रूप के इंधन से धधकती ज्वाला का नाम वेश्या है, कामुक
अपना धन और यौवन उस में रक्षा करते हैं । विट हूँटार भेड़िये
हैं, जो हरनी के ऐसी चालाओं को फाट कर खा जाते हैं । गोइन्दे, चौर,
निपाही, गिदमतगार, नट, विट आदि की पीकदानी के ऐसे वेश्या के मुख
को, वान भला आदमी चूम सकता है ? सचारी रोग का भय उपर से ।

कैसे कैसे प्याझ-निष्पुट उपायो से पुस्तला कर, दाँवा कर, उभा
कर, झूठे इतिहासों विज्ञापनों द्वारा नौबरी की आशा झूठी दिला कर,
धयोध लक्ष्मियों पत्तार् जाती हैं, और तन-मन नष्ट कर के चकलों
की वेश्यावृत्ति की दृक्ती आग में शोष ही जाती हैं, इसका रोमाचकारी,
रामम्पवारी, घुत्तान्त, पश्चिम तथा पूर्व देशों के 'हार्ट स्लेव टापिक'
के ग्रन्थों से, विविध नवमैन्टो, और अथ 'लीग आफ़ नेरान्स', की रिपोर्टों
से जान पड़ता है । दग्दर् के एक ऐसे 'चबले' की दन्तयातनाओं का हाल,

लिया जा चुका है (पृ० २५७-२५९) । जो हिम पशु, दूसरे जीवों को मार कर खा जाते हैं, वे इन 'चक्रला' चलाने वालों के मुकाबिले दया से भरी हैं । इसका वर्णन भी कामशास्त्र के सर्वाङ्ग ग्रन्थ में होना चाहिये, जिसमें सप्तगृहस्थ को ऐसे कर्मों से भारी घृणा हो, और वह सावधान रहे कि स्थान उसके नगर में भी कोई ऐसा भयङ्कर कारखाना चल रहा हो । हे भर्तृ ! जो वेड्याओं की ओर मन उठाने हो, जग इसका जाना कि वेड्या कैसे बनती है, और फिर इस तस्वीर को अपनी भीतरी आँसों के सामने लाओ, कि आप ही की बल्लिन-बेटी को साँसें मनुष्य रूपी अणु, अपने पाँदों से लपेट कर, निगल जाने का यत्न कर रहा है ।

स्वर्ग और नरक के बीच का पदो बहुत ही पतला है, प्रायः जितना ही वह नगर होता है, उतने ही अधिक, एक घार, दारुण 'भैरवीघर' (चक्रले) पर्व होते हैं । तदर्थ में एक मादक पाल इस एक ही दारुण कर्मजातक नाटक की ओर चियने एक घार ध्यान दिया, दारुण स्वर्ग के नाटक आदि की यनावटी रूपना दमन ही इतना उमरी हो जाते हैं, मन-बदलाय के लिये इनका देखना, या उमरी समझ से बच हो जाता है । अन्य स्वर्गों के नाटक चाहे टीक हो, पर स्वर्ग स्वर्ग 'नटक' करना, या तो जगन्माता जगन्नाथ कर्मगा भी हो यनावटी नरक और वेड्या बना टालना है । कर्मगा-जति का पदो ही दुःख के सारे दर करने से लगाना चाहिये, उल्टे उल्टे दारुण 'भैरवीघर' में, और उल्टे 'भैरवीघर' पर सार्वभौमिक नगर का बरतन का विना या दर दमन, दाम्पतीरग, सतत सतत है ।

पुरुषों में सपह है कि स्वर्गों की एक समझ को दूर ही उठाने वाले । जो स्वर्गों की ओर मन उठाने में जो लिये दारुण, नैव पदो के लिये सारे हैं, सिद्ध एक एक, सार्वभौमिक के सारे, पर स्वर्गों के लिये सारे लिये दारुण है कि स्वर्ग, दारुण, उल्टे 'भैरवीघर' के लिये सारे हैं । कि स्वर्गों के लिये सारे हैं, 'भैरवीघर', नरक

मे पैदा हो जाते हैं। व्याभिचारिक-काम-पद्मन्धी विविध दुष्ट क्षोभों से अवश्य बर्ही होता है, यहाँ तक कि बिना सक्रमण के भी, स्वतः, व्यभिचार से पूर्व नीरोग भी, स्त्री-पुरुष शरीरों में, 'सिफिलिस', 'गोना-हिंया', गर्मी सूजाक, आदि के विष-कीट उत्पन्न हो जाते हैं, पुराणों में अहल्या से व्यभिचार करने के बाद इन्द्र को सहस्र व्रण हो गये, इस रूपक से यह बात सूचित की गई है। इस लिये सब चतुर्वर्ण, चतुराश्रम, के अन्तर्गत सभी स्त्री-पुरुषों को सदा याद रखना चाहिये कि आदि प्रजा-पति भगवान् मनु ने यह चेतावनी दी है,

नहि ईदृग अनायुष्यं लोके किंचन विद्यते,

यादरा पुरुषस्य इह परदारोपमेवनम्, (४, १३४)।

पारदारिक या पारपुरषिक या वैशिक व्यभिचार जैसा प्राण-क्षय-कारक आयु-क्षय-कारक, अनायुष्य, है, चेता अन्य कोई कार्य नहीं।

मृगया, अक्ष, दिवास्वप्न, परिवाद स्त्रिय, मद,

तोर्यत्रिकं, मृथाऽट्या च, कामजो दशको गण ।

पेणुन्य, साहस, द्रोह, ईर्ष्या, अस्त्र्या, अर्षद्वपण,

वाग् दट-ज च पारष्य, मोधजोऽपि गणोऽष्टक ।

द्वयोर् अपि एतयो मूल, य सर्वे कवयो विदु,

त यत्नेन जयेत् लोभं, तज्जौ एतौ उभौ गणौ ।

(७४७, ४८, ४९)

अति काम से दस दोष उत्पन्न होते हैं, मृगया, एत, दिन में भी सोना, दूसरों का परिवाद (मिथ्या भी बुराई करना), व्यभिचार, मद्य, नाच, गाना, याजा, धर्म धूमना फिरना। दूसरों के मर्म का उद्घाटन, साहस के अनुचित कार्य, द्रोह, ईर्ष्या (दूसरों के गुणों की बात न सहना), अस्त्र्या (दूसरों के गुणों में भी दोष दिखाना) दूसरों के धन का अपहरण, वाग्-पारष्य, दंठ-पारष्य, ये आठ दोष अति मोघ से उत्पन्न

होते हैं। आर्य कवियों ने, अति लोभ को इन दोनो का मूत्र बताया है, निशेष कर राजा और शासनाधिकारी के लिये, जो लोभ को जीतैगा, वह प्राय इन दोनो को भी जीतैगा। यह मनु ने, निशेष कर राज धर्म की दृष्टि से, राज-धर्म के प्रकरण मे कहा, सामान्य धर्म की दृष्टि से, काम-गामान्य ही मत्र विकारों का मूत्र है।

अति काम से, काम का निग्रह न कर सकने से, मरण ही जाना है। काममूत्र से लिया है,

दस तु कामस्थानानि । चक्षुःप्राप्तिः, मन संयः, महत्यापति, निद्राच्छेदः, तनुना, विषयेभ्यो व्यावृत्ति, लज्जाप्रणाश, उन्माद, मर्दा, मग्ण, इति तेषां लिगानि, (पारदारिक अधिकरण, अ० १) ।

काम के दस स्थान (दर्जे, काष्ठा) हैं, आँख मिलना, मन लगाना, महत्या (निश्चित दुःख) होना, निद्रा-नाश, शरीर मग्णता, अन्य सब व्यसनों से मन न लगाना, लज्जा का नाश, उन्माद, मर्दा, मग्ण।

इनका निग्रह कर, कामशास्त्र के ज्ञानाय ही रूप रसा के इतिहास का सम्पन्न करना है।

अब समाप्त का उल्लेख किया जाता है।

— समाप्त से,

(४) यह सब है परस्पर आस्थागत विश्वासन, अनुगतन, प्रणय वदने, प्रसन्नकन, कामोत्थरण, और शरीरसंयोग के उपाया और प्रणय का दर्शन। इस विषय से, नामनार्थ से, पात्राद्य ज्ञान से, कुछ करने की आशा अपेक्षयता प्रणय नहीं है। स्यात् परिसर ही ही ही म हृत् प्रियतमक है। प्रणयार्थकी परकी की कर्मा का जो कुछ यहीन प्रणय से किया है वह सब उपाय और प्रणयः निशेष से। उपाय, मग्ण, की प्रणय का प्रणय प्रिय की कर्मा का नार्थन नहीं है; यह प्रणय अन्तरे प्रणयार्थक प्रणयों के विषय से जो आश्चर्य का विषय है जो प्रणयार्थक प्रणयों, निद्राच्छेद से है; और उपाय, प्रणय का शरीरगत

ही है। बहुविवाह के दोष पहिले कहे जा चुके हैं। आदि काव्य रामायण में ही ये दोष चित्रित हैं, दशरथ के बहुविवाह के दोषों का अनुभव कर के ही राम जी ने एकपत्नीव्रत का धारण किया। इन के दोषों के सम्बन्ध में यहाँ अधिक लिखने का प्रयोजन नहीं।

मैथुन के अष्टाङ्ग, पृ० ३२१ पर सूचित किये, स्मरण, कीर्तन, केलि, प्रेक्षण, छिपी वातचीत, सङ्कल्प, निश्चय, और शरीर सम्मेलन, अन्तिम के आठ अवातर अङ्ग, काम-सूत्र में कहे हैं—“आलिगन-सुम्नन-नखच्छेद्य-दशनच्छेद्य-सवेदान-सीकृत-पुरुपायित-औपरिष्टकाना अष्टानां अष्टधा विकल्प-भेदाद् अष्टौ अष्टका. चतु पष्टि इति वाभ्रवीया,” (२-२-५), इन आठ में भी एक एक के आठ आठ भेद करके, कामशास्त्र की एक और विशेष चौ-सठ्ठी होती है, जो ऊपर कही चतु पष्टि कला वा विद्या से भिन्न है। इनमें अधिकांश राजस-तामस अनार्थ हैं, उनकी ओर न जाना ही अच्छा है। उदाहरणार्थ, ‘सीकृत’ में अतर्गत ‘प्रहरण’ के सब प्रकार महा बीभत्स हैं तथा, नखवर्म, दन्तवर्म, औपरिष्टक, प्राय. सभी, ‘सवेदान’ के अतर्गत ‘चित्ररत्न’ में पशुओं की ‘लोलाओ’ और चेष्टाओ और आसनो का अनुकरण (—वृष, कुक्कुर, हरिण, मेढ़ा, बकरा, गर्दभ, बिडाल, व्याघ्र, हस्ती, शूकर, घोटक, इत्यादि वा उदाहरण, काम सूत्र में दिया है, यूथस्त. मैथुन भी कहा है—) महा घृणाऽऽरपद है, ऐसे मैथुन से जो सन्तान होगी, वह भी प्राय तत्तत् पशुवत् होगी। घोटक-मुख नामक ग्रन्थकार (जिनका नाम वात्स्यायन ने प्राचीन ग्रन्थकारों में गिना है), स्यात् अपने पिता माता के ‘घोटक लीला’ के मैथुन से ही जन्मे होंगे। वात्स्यायन ने दूरे दोषों में एक प्रधान यह है, कि ऐसी बीभत्स क्रियाओं के वर्णन के साथ, विधिलिष्ट के शब्दों का प्रयोग किया है, यथा, “यत्र-यत्र योगोऽप्यं तत् तद् उपलक्षयेत्” “रजयेत्,” “अतृप्तिष्टेत्,” “अप्यं योगो वा अनुभव करै”, ‘परस्पर रजन करै’, ‘इन प्रकारों का अनुष्ठान करै’, इति प्रभृति, अ योगि-मैथुन (गुण-मैथुन, सुख-मैथुन),

सत्त्वं ज्ञानं, तमोऽज्ञानं, रागद्वेषौ रज स्मृतम्

एतद् व्याप्तिमद् एतेषा सर्वभृताऽश्रित वपुः, (मनु) ।

इन शब्दों के अर्थ का, और तीनों गुणों के तात्त्विक स्वरूप का, तथा नित्य अनुभव में आते हुए आकारों का, विवेचन, विस्तार से, अन्यत्र किया गया है^७, यहाँ इतना कहना पर्याप्त है, कि तीनों में किटांश और प्रसादांश दोनों हैं; तथा स्वतः, कोई गुण किसी दूसरे से भला या बुरा नहीं है, तीनों का एक दूसरे से सदा अभेद्य सम्बन्ध और परस्पर आश्रय है। सुप्रयोग से प्रसादांश, दुष्प्रयोग से किटांश, देख पड़ता है। शिव-शिवा तमः प्रधान, विष्णु-सरस्वती सत्त्वप्रधान, ब्रह्मा-लक्ष्मी रज-प्रधान देवता हैं। शिव-शिवा अर्ध-नारीश्वर, विष्णु-लक्ष्मी भिन्नलिङ्ग, और गिरा-द्रुहिण निर्लिङ्ग विवाहित जोड़े, ('गिरामाहुर्देवी द्रुहिण-गृहिणीमागमविदो'), कैसे हुए, इस की कथा, तथा रूपकों के रहस्यार्थ का सूचन, देवी-भागवत में है। एव, काम यद्यपि तामस है, तौ भी इस में अवान्तर भेद से सात्त्विक काम, राजस काम, तामस काम, होते हैं। साहित्य शास्त्र में नायक नायिका के जो स्वभाव-भेद कहे हैं, वे इस स्थान पर भी उपयुक्त हैं। धीर, उदात्त, ललित, मधुर, गम्भीर, उदार आदि सात्त्विक गुणों से विभूषित जो नायक नायिका पति-पती हैं, उन के प्रयोग भी, सभोग के अवसर में, 'सुम्यन', 'आलिगन' आदि, तदनुकूल होंगे। जो प्रचण्ड, दृष्ट, उद्धत, राजस हैं, उन के 'दन्त-नख-आदि' कर्म राजस होंगे। जो भायार्थी, क्षुद्र, ग्राम्य, अनार्य, तामस हैं, उन के 'प्रहणन औपरिष्टक' धादि तामस। जैसे भाव, स्त्री-पुरुष के चित्त में, काम-श्रीला के समय में, रहेंगे, वे ही अपन्य के चित्त में प्रधान हो जायेंगे,

शुक्रशोणितनयोर्गो चो भवेद् दोष उत्कट,

प्रवृत्ति जायते तेन, (अपन्यस्य, अनुगमो हि अत्र)

(सुभुत, १००) ।

पाश्चात्य देशों में, विविध दंडों के प्रत्येक अवयव का अनुभव अत्यंत ('एक्स्ट्रीम') हो रहा है, एक ओर यह पुकार हो रही है, कि आवादी बहुत बढ़ती जाती है, संतान का निरोध करो, दूसरी ओर, यह भय दिखाया जा रहा है कि संतान का अति निरोध, विशेष कर शिक्षित शिष्ट दलों में, हो रहा है; जिससे वापिक सख्या, प्रसवों की, सभ्य राष्ट्रों में, प्रतिवर्ष, गतवर्ष की अपेक्षा से, कम होती जाती है, और यदि हास, इसी अनुपात से, होता रहा, तो कुछ दशाब्दियों में, नहीं तो कुछ शतियों में, राष्ट्र, मनुष्य से शून्य हो जायेंगे। दोनों आत्यंतिक कोटियों के मध्य का कृत्य, निष्कर्षभूत, वही है जो पहिले कहा; एक जोटा दम्पती को एक जोड़ा उत्तम सन्तान हो। पाश्चात्य ग्रन्थों और दैनिक आदि पत्र-पत्रिकाओं के लेखों में, 'वान्टेड चिल्ड्रेन', अभिलिपित सतति, और 'अन्-वान्टेड् चिल्ड्रेन्', अन्-अभिलिपित सतति, का विवेक कर के, इस विषय पर बहुत कुछ लिखा पढ़ा जा रहा है। भारत में जल्दी व्याह, जल्दी बच्चे, जल्दी मौत—यही नियम सा हो रहा है, जब मैं (१८९८-१९१४ ई०) काशी के सेन्टल हिन्दू कालिज का अवैतनिक सेक्रेटरी था, अक्सर लोग, अपने लटकों को ले कर, मेरे पास आते थे और कहते थे, 'यह लटका आप ही का है, इसको खिलाने पिलाने पढ़ाने लिखाने का प्रबन्ध कर दीजिये, आप ही इस के पिता हैं,' मैं उन से पूछता था, 'भाई, पैदा करने के लिये आप पिता, और पालने पोसने के लिये मैं पिता, यह कैसी बात करते हो?', उत्तर मिलता था, 'यह तो ईश्वर के देन हैं' मैं प्रत्युत्तर देता, 'यदि दम्पति को, संतान, ईश्वर के देन है, तो उनकी रक्षा-शिक्षा भरण पोषण का कृत्यधर्म भी उसी दम्पती को देन है', अभाग्य भारत में, धर्माभास प्रचारकों के दम्भ से, अपना धोत्र, दूसरे के स्तिर एगद देने की प्रवृत्ति अत्यन्त हो गई है। प्राचीन काल में, एन मिथ्या धर्म, मिथ्या भाव, वे विपरीत, सत्य धर्म, साखिव्य भाव, का प्रचार बहुत था, पुराण इतिहास में नेवटों उपासकान

हे, जिनमे कहा है, कि इन रूपती ने, ऐसी ऐसी भारी तपस्या की, इन
 वासिने (वासिने) कि हमे ऐसी ऐसी उत्तम सन्तान हो, और अपने इष्ट देवता
 रूप-धारी जगदात्मा अन्तरात्मा स्व वैसी अभिलषित सन्तति का वर पाया
 तथा, अन्य उपाडण्यातो मे यह दिगाया है कि, राजस नामस भावां मे
 जत्र मैथुन हुआ, तत्र अनभिलषित ईश्वर, राक्षस, आदि उत्पन्न हुए।
 श्राद्धाण्यक उपनिषद् मे, मनुस्मृति मे, गार्गाभान गरुड की पत्नी मे,
 वर-पत्नी को स्पष्ट शिक्षा दी है कि, उग टम प्रकार क मान्त्रिक भावां और
 उत्पन्न सन्तान की प्रार्थनाआ क गाय, स्वसम करना चाहिये, तथा यह
 भी, कि पु-सन्तान क लिये पत्नी उपाय, या सन्तान क वासिने पत्नी,
 श्रावण-प्रकृति वा क्षत्रिय-प्रकृति वा वैश्य प्रकृति ही सन्तति क लिये पत्नी,
 उपाय करना चाहिये।

मैथुन के अष्टांग, पृ० ३०१ पर कह, तथा त्रिवा निष्पत्ति,
 त्रिगुण दो सप्रयोग, सुरत, रत, हृत्पादि भी कहते है उगक अस्तार अंग
 श्री कृष्ण कह ।

उगके विषय, याग के अष्टांग, 'यस नियम आसन पाणायास
 श्रयाहस-वास्या- वास-समाश्रय" भी, पृ० ३०१ पर कह । याग समाधि
 के अष्टांग अंग, चार सप्रजात, और दो अष्टांग (सत
 श्रेय निमित्त वा ईश्वर) कह पाते है । इन राजा क श्री कृष्ण म
 (कृष्ण २२) क विषय, सजस, अर्जुन, गादि क प्रीति क प्रत्य
 श्री कृष्ण कह ।

रैस्थीनिया' (दिमाग की कमजोरी, नाडीदौर्बल्य), 'स्पर्मटोहिंया' (शुक्रमेह), 'ल्यूकार्हिंया' (घोनि-द्रव-त्वाव), 'कन्वल्लुशन्स' (आक्षेपकं) आदि, अतित्वराकृत, वा बलात्कार-जनित, साध्वत्स से हो जाया करते हैं । पुरुषो द्वारा कन्याद्रूपण, स्त्रियों द्वारा कुमारद्रूपण, यो भी महापातक होते हुए, इस कारण से और भी घोर हो जाते हैं । वात्स्यायन ने भी इस विषय में चेतावनी की है, और पवित्र प्राचीन वैदिक विधि का हवाला दिया है, कि नव-विवाहित वधू-वर तीन रात्रि तक ब्रह्मचर्य न छोड़ें, परस्पर मन ही मिलावें, फिर तन मिलावें ।

वा० कामसूत्र (अधिकरण ३, प्रकरण २५) में लिखा है, "कुसुम-सधर्माणो हि योपित (कन्या, नवविवाहिता), सुकुमारोपक्रमा, . प्रमथ उपप्रमथमाणा सम्प्रयोगद्वेषिण्यो भवति, (अत) न प्रसृत कि-चिद् आचरेत्" । यदि पति हठ और बल से मैथुन में अतित्वरा करे, तो, यदि रोग नहीं तो, वधू के चित्त में, सदा के लिये, मैथुन क्रिया की ओर घृणा और द्वेष हो जाता है ।

(ख) तृतीया प्रकृति—इसकी चर्चा स्यात् ज्ञानांग में होना चाहिये था । अथवा अष्टम मैथुन से इसका सम्बन्ध है इसलिये रसांग में भी होना अनुचित नहीं । यो तो नव विषयों का सब से सम्बन्ध है । तृतीया प्रकृति को चर्चा पृ० २६७ पर की जा चुकी है ।

'तृतीया प्रकृति' शब्द का प्रयोग वात्स्यायन ने कामसूत्र में किया है, और एक अध्याय में इस विषय पर बीभत्स 'औपरिष्टक' मैथुन के सम्बन्ध में लिखा है । शब्द का अक्षरार्थ तो यही है, कि स्त्री-प्रकृति पुरुष प्रकृति दोनों में भिन्न और अन्य तीसरी प्रकृति, अप्रेर्जा लक्षणों में भी 'धर्त नेमम', 'इन्टरमीडियेट सेक्स' शब्दों का प्रयोग किया है । इस के कई अवातर प्रकार बड़े जा सकते हैं । एक तो, जो न स्त्री और न पुरुष, अर्थात् जिन्म में विशेषरूप स्यावर्तक स्त्री चिन्त या पुरुष चिन्त व्यक्त न हो, मृत्र स्थान का छिद्र मात्र हो । इसी के लिए नपुंसक शब्द

ठीक होगा। दूसरा अवान्तर भेद, पुरुष स्वभाव वाली स्त्री, 'पोटा', जिसे स्त्री चिन्ह तो स्पष्ट हो, पर स्तन नितम्बादि पूर्ण रूप से विकसित न हो, और कुछ पुरुष चिन्ह, जैसे श्मश्रु-रेखा आदि देव पक्ष। तीसरा भेद, स्त्री स्वभाव वाला पुरुष, भ्रुकुंभ, जिस में पुरुष चिन्ह स्पष्ट हो, पर श्मश्रु कुर्च आदि का प्रायः अभाव हो, हड्डियाँ पतली, पेशियाँ कोमल, स्नायु रीजिन, इत्यादि हो। चौथा भेद, ऐसे भी पुरुष देवे गए हैं, जिनमें लिंग भी है और भग (छिद्र) भी, तथा, पाँचवाँ भेद, ऐसी स्त्री भी, जिन में भग-छिद्र भी है, और लिंग भी; (सभी लिंगों का भग के मुख के ऊपरी भाग, छत, में, एक लम्बी पतली मांस की गोठ गी होती है, अंग्रेजी में इसे 'क्लिटोरिस' कहते हैं, हिन्दी में, "हमसं शरीर की रचना" नामक ग्रन्थ में, डाक्टर त्रिलोचिनाथ वर्मा ने, इसको 'भगनागा वा भगाङ्ग' का नाम दिया है, कामोपनिषद् में, इसको रक्षित भरता है और यह फूलती है, जैसे पुरुष का शिश्न, जिसे लिंग भी में यह भग-नाम बहुत बड़ी और लम्बी होती है, यहाँ तक कि लिंग में मुख के बाहर लटकती है, पुरुष-लिंग स्त्री,) ऐसी स्त्रियों को 'विश्विनी' कहा है। शारीर विज्ञान के पाश्चात्य विद्वानों में लिखा है कि, पूर्ण स्त्री में विश्विनी स्त्री और पुरुष शरीरों में, लिंग में पर पर प्रत्येक अंग में भेद देखा जाता है। यदि एक 'दक्षिण' है, तो दूसरी 'वाम' है। वाम का अर्थ 'वामा' अर्थात् 'बायाँ' है। पुरुषों पर जीव-गति के लक्षणों के अन्तर्गत अंग-द्वय लिंग शक्तियों की भर्त्सा पृ. ३३० ३३१ में की गई है। यह भी कहा गया है कि मानव जाति में, स्त्री में पुरुष के लक्षणों के अंगों के लक्षणों की प्रत्येक रूप में पाई है। संस्कृत-विद्वानों में यह है कि स्त्री में पुरुष के लक्षणों के अंगों के लक्षणों की प्रत्येक रूप में पाई है। संस्कृत-विद्वानों में यह है कि स्त्री में पुरुष के लक्षणों के अंगों के लक्षणों की प्रत्येक रूप में पाई है।

कार्य है, जो अव्यक्ति, अर्ध-व्यक्ति, अधिक-व्यक्ति से, सृष्टि में नये नये भेद पैदा करती रहती है। तृतीया प्रकृति और उसके अवांतर भेदों में भी यही कारण है।

समय सभ्य पर वात्ता-पत्रों में, विशेष कर पाश्चात्य आयुर्वेद के 'मेगजीनो', 'जर्नलों', साप्ताहिक मासिक पत्रों में, इधर देख पड़ती है कि अमुक देश में, अमुक स्त्री को, यौवनप्रवेश के समय पुरुष चिन्ह विकसित होने लगे, तथा अमुक पुरुष को स्त्री चिन्ह, तथा तिर्यग्योनियो में, जो पहिले कुक्कुट था वह कुक्कुटी हो गई, या कुक्कुटी, कुक्कुट हो गया; इत्यादि। पुराणों की इला-सुद्युम्न, ऋक्षरजा, शिखडी आदि के लिंग-परिवर्तनों की कथा, इस प्रसंग में स्मरणीय है। पुंसवन संस्कार का भी आधिदैविक-आधिभौतिक रहस्य, इन्हीं विचारों और तथ्यों की सहायता से समझ में आ सकता है।

पश्चिम में इस विषय पर भी बड़ी खोज कर के बड़ा साहित्य बन गया है। और ऐसी प्रकृति के लोगों के स्नेह काम आदि का संग्राहक नाम 'होमो-सेक्सुऐलिटी' रख दिया गया है, जैसे भिन्न-लिंग जनो के स्नेह काम आदि का नाम 'हेटेरो सेक्सुऐलिटी' रक्खा है। 'हेटेरो' ग्रीक शब्द है, यह, तथा अंग्रेजी 'अदर', संस्कृत 'इतर' का रूपांतर है। एव, 'होमो', 'सम'. सम, समान, का। 'होमो सेक्सु-ऐलिटी' का ठीक अक्षरार्थ तो सम, स्त्री-ग्री का, पुरुष-पुरुष का, स्नेह काम है। पर तृतीया प्रकृति के सभी अवांतर भेदों का संग्राहक हो रहा है।

जर्मन भाषा में, पुरुष-'होमो सेक्सुअल्' को 'अनिन्ड', और स्त्री-'होमो-सेक्सुअल्' को 'अनिन्डे', कहते हैं।

प्रायः नव्य कहलाने वाले सभी देशों में, इधर घटत घपों में, 'होमो-सेक्सुऐलिटी' के प्रकार, एज्जारपट, एणास्पट, निन्दनीय, नमझे जाते हैं। इनके अतिम, आभ्यन्तर, प्रकार, (गुदा में लिंग-प्रवेशन) टर्नाय भी नमझे जाते हैं, और अक्सर देशों के दृष्ट-विधानों ('पीनल

कोड') से दृष्ट है । गवेषकों के लेखों से जान पड़ता है कि 'समाप्त
 लिंगों' के सम्य में, 'सम्प्रयोग' के अष्टाग में से जो ग्राह्य अंग या उप
 चार है, प्रायः उन्हीं में लोभ संतोष कर लेते हैं, अन्तिम अंगों की नीयत
 कम आती है । कचहरियों में मुक्तदमे भी कम होते हैं, यद्यपि इयत्
 अन्य कारण भी है, जिनका जिक्र पहिले किया गया है (पृ० २५५-२५३) ।

'धर्मस्य सूक्ष्मा गतिः', 'महाजना येन गतः स पन्थाः', जिम प्राची
 पर 'महाजन', जनता का भ्रमसाय, महान जन, अधिकतर भाग, यज्ञ,
 वही पक्षा धर्म मार्ग हो जाता है । जिमको वह निष्ण माने, वही
 अधर्म हो जाता है । जनता के, 'महाजन' के, हृदय की प्रेरणा होने
 वाली 'वागता वासुदेवस्य, वासिन गरुल जगत्' वाग्दय की, जगत्प्राप्ति
 व्यापक अनशास्त्रा की, धामना होती है । यह जिमका चाह धर्म, विपरीत
 चाह अधर्म, बना सकती है, और बना देती है । विवाहा के विपरीत प्रवृत्ति
 का दृष्टान्त उपर दुआ है (पृ० ३२१-३३०) अपने अपने देश का
 ये धार्मिक रंग हैं, अन्य देशकाल में अर्थात्क । इस समय के
 प्रवृत्ति के कामिक व्यापार, मुख्य देशों में 'अप्राकृतिक' ('अश्रैणु'
 ओडेन्स') समझे जाते हैं, किन्तु पश्चिम के देशों में, इस विषय में भी,
 ये देशों में परिवर्तन हो रहा है, जिमका विवाह और सम्पत्तिका के, समाप्त
 निर्माण के, परिष्कार और साम्यवाद आदि के, विषयों में । पहिले समस्त
 देशों में कि नया प्रवृत्ति के मतलब बहुत कमजोर है, अब के काल में
 यह समस्त है कि, यथा पूर्व देश, जर्मनी, में, (नाम यहाँ में वही
 पहिले) प्रयत्न होकर वही अन्धारी में, प्रायः यही काल इस प्रवृत्ति
 है, और यही देशों में, कि अन्धारी में ही 'प्रवृत्ति' है ।

सतान हैं, इनका स्वभाव ऐसा ही निसर्ग से है, तो ये लोग अपनी वासना के, अपनी विशेष प्रकृति के, अनुसार, अपना जीवन क्यों न बिताने पावें ? और, बीच-बीच में, इस विषय पर कानून में परिवर्तन कराने की चर्चा भी उठती रहती है, हाँ, किसी कुमार, कुमारी, या युवा, युवती, पर कोई बलात्कार करे, या उसको साध्वस पहुँचावे, या प्रलोभन करके उसका दूषण करे, या व्यभिचार या अपहरण करे, तो अवश्य उसको उग्र दण्ड दिया जाय। कुछ लोग तो, मानव सख्या-वृद्धि के निरोध का, इस प्रकार के कार्मिक सख्य को, उपाय बताने लगे हैं, दूसरी ओर, लोग कहते हैं कि, यह सब यान समाज को भ्रष्ट करनेवाली है, यदि कानून का भय ऐसे सम्बन्धों से हटा लिया गया, तो सचारी रोग के ऐसी यह दूषित प्रथा फैलेगी, इत्यादि। प्राचीन काल में, ग्रीस, ईरान, आदि देशों में, तथा यूरोप की 'अर्ध सभ्य' जातियों में, मध्य काल में मुसल्मानी राज्यों में, यह प्रथा, कानून से, निर्दोष समझी जाती थी और खुली थी। तथा अब भी कुछ नव्वाबी रियासतों में ऐसा है, यहाँ तक सुनने में आता है कि किन्हीं नव्वाबी रियासतों में पुरप पुरप का 'विवाह' भी क़ाज़ी के सामने किया जा सकता है। पर निष्कर्ष यह जान पड़ता है कि सब प्रकार का बलात्कार, धोखा देना, प्रलोभन करना, उग्र दण्ड से दण्डनीय है, तथा साधारण रीति से 'महाजन की दृष्टि में 'होमोसेक्सु-ऐलिटी' निन्दनीय है, पर दण्डनीय नहीं। किन्तु स्थूलों, मजसों, पाठशालाओं में, अशोध सुबुमार बालकों की, हुए अध्यापकों तथा सयाने छात्रों से रक्षा का प्रबन्ध होना आवश्यक है, पृ० २०९-२१२, २५९-२६२, पर हमारी चर्चा की गई है, सोलह वर्ष से कम पत्रम् के दातृ के साथ अप्रावृत्तिक अपराध, जिन् सयाने पुरप पर बचाएँ में सम्बन्धित हो, उसको उग्र दण्ड देना आवश्यक है।

रसाङ्ग की रूप रेखा को यहाँ समस्त कर, सिद्धांत का विचार करना चाहिये।

क्रियांग में—

(क) गृह की सामग्री का वर्णन, अल्प, मध्यम, बहु धन व गार्हस्थ्य के अनुसार, सर्वापयोगी सामान्य रूपों में, होना चाहिये ।

(ग) पत्न चतुःपट्टि कलाओं का, और उनकी सामग्री का भी । देश के सर्वांगीण हानि के हेतु में वला और क्षय ज्ञान और साधन, मरम्मत और दुर्गा, के, देश में, हट जाने में, काम की माता लक्ष्मी की उन ही चोगट अनुगामिनी परिचारिका कला-देवियों भी हट गई है । अतः तो एक होली के दिन 'चोगटों' देवी की मूर्ति पर फूल पत्ता पानी फेंकना, पैसा चढ़ाना, भांग पीना, अष्टौल भक्ष्य करना—यहां 'चतुःपट्टि' का ओं ही पूजा के स्थान में रह गया है । यदि गीत-गान-कला की प्रवृत्तियाँ हैं, तो प्रायः नितान्त निरक्षर लोगों के हाथ में है, जो यद् तथा भी नहीं जानते पढ़ि-जानते, कि उत्तम संगीत के लिये न केवल उच्च गीत, अर्थात् उत्तम वाद्य, उत्तम समय शर्मा, उत्तम हाथ, उत्तम भाव, यों आवश्यक हैं । इस अर्थ में, कलपुत्रियों, कुलपुत्रों, का तथा यत्ना विद्यायाः योग्य स्वयंसेवा जाता रहा है । पुराण कथा में मुनि । दुःख में नर्तक, मृता चला रहा है, कि मरम्मत देवता और नान्य पति पत्नी के प्रदत्त हैं, उच्च भाव संज्ञा में, स्वयं शिष्य, तांत्रिक में । महाभारत में यत्ना है कि गंगा देवी मन्त्रोक्त शत्रु लक्ष्य नृप्य शीत में, धर्मों की तांत्रिक

बालिकाओं को, विशेष कर बालिकाओं को, इस विषय की शिक्षा देने का प्रबंध नहीं करते ।

चतुःषष्टि कलाओं की पाँच मुख्य राशियाँ, पंच ज्ञानेन्द्रियों के अनुसार, करना उचित होगा, जो बच जायें, उनकी गौण, राशियाँ उपयोगिता अनुसार, इन में तीन राशि प्रधान होगी । १ - सुखादु और हितकारक भोजन बनाने की, २- 'सूचो-वान-कर्म', 'कार्पासस्य कर्त्तन, वान च', (कामसूत्र, १-३-१६, ४-१-३३), अच्छा सूत कातने और कपड़ा बनाने की, ३- ऐसी कटुक्र आदि की क्रीडाओं की, जिनसे व्यायाम का काम निकले । यहाँ आयुर्वेद का आदेश, 'अर्ध-प्राणेन व्यायच्छेत्', याद रखना उचित है, अर्थात् 'कस्यत' में आधि शक्ति लगावे, अपने को सर्वथा न थका डाले, सब शक्ति का व्यय न कर दे । इस रीति से, इन तीन प्रधान कलाराशियों की शिक्षा पाकर, गृह-पत्नी, गृह की (१) अन्नपूर्णा, (२) वस्त्रपूर्णा, (३) प्राणपूर्णा, सभी, जैसा चाहिये, वैसी होंगी । गृहपत्नियों के लिये भी कला-कौशल सीखना इष्ट तो अवश्य है, पर प्रकृति के भेद से, तथा कर्त्तव्य के भेद से, स्त्रियों के हिस्से में घर के भीतर के कृत्य और कला, और पुरषों के हिस्से में घर के बाहर के जीविका-साधक और बल-साध्य कृत्य, पड़े हैं । जब रोजगारों कायों से थका गृहपति घर में आवे, तो गृह-कर्म से थकी गृहपत्नी और बच्चों और अन्य कुटुम्बीजनों के साथ बैठकर, पत्नी के बटा कौशल से, और सब के परस्पर प्रेममय पार्तालाप से, सब को आनंद आवे, और सब की धरावट दूर हो जाय—यही उत्तम गार्हस्थ्य का फल है ।

(ग) आपनिषदिक अधिवरण—इसमें असाधारण अवस्थाओं के लिये उपयोगी उपकरणों और दवाओं का वर्णन होता चाहिये ।

द्विधा के सभी विषयों में भारतवर्ष के पास सामग्री अच्छी है, चीणोत्तम की आवश्यकता है । पाश्चात्य ज्ञान से, अपनी सामग्री को अधिब सम्पन्न करने के लिये, नये आविष्कारों का

झिल्ली नहीं रहती। विचारने की बात है कि, 'कनी' या 'कनि' शब्द का, प्राचीन काल में इस 'कुमारीच्छद' के अर्थ में प्रयोग होता था, या नहीं। यदि होता था, तो पुराण की आख्यायिका सार्थ हो जाती है, कोई विशेष उपाय उस काल में विशेषज्ञों को विदित रहा होगा, जिससे फटी झिल्ली पुनः पूर्ववत् हो जाती हो, लैटिन भाषा में, 'कनि' (CUNNI) शब्द का अर्थ, कुछ भगच्छद सा ही जान पड़ता है।

इसी सम्बन्ध में, 'कर्ण-वेध' शब्द का अर्थ भी विचारणीय है। आज काल, इस का अर्थ प्रसिद्ध ही है, दोनों कानों की लहरों में सूक्ष्म त्रिभुज बना देना, कुण्डल आदि पहिने के लिये, आभूषणास्य, विचारना यह है कि, भारत में भी, किसी पुराकाल में, इसका अर्थ 'सर्कमसिशन' था, या नहीं। अंग्रेजी के इस शब्द (CIRCUM-CISION) का अर्थ यह है जिसको मुसलमान 'खतना' कहते हैं, यहूदियों और मुसलमानों में, एक लड़के का यह संस्कार (रस्म, सुन्नत) किया जाता है, अर्थात् (PREPUCE, FORESKIN) 'लिंग-मणि-च्छद' का अगला टोंका काट दिया जाता है, 'धार्मिक', 'अदृष्ट', पुण्य भी, इससे मानते हैं, और ऐतिहासिक लाभ यह मानते हैं, कि स्त्री-प्रसंग में इससे अधिक सौकर्य भी, और मेथुन की चिरस्थायिता भी, होती है। याद रहे कि, कई 'अर्ध-सभ्य' जातियों में, तथा 'हिन्दुओं' की भी कुछ जातियों में (विशेष कर दक्षिण प्रान्तों में) कुमारियों के भग-च्छद का भी पाटन, सस्कारवत्, पत्थर या धातु के घने 'इन्द्रियाकार 'शिव-लिंग' पर 'अर्पण' करके, चलेन 'बैठा' कर फेंके, कर देने है, अथवा सम्प्रदाय के जीवत् और बलिष्ठ 'गुरु' को अर्पण कर फेंके, उसके द्वारा करा देते हैं, अथवा, अगुलि-प्रक्षेप से ही, विवाहादनन्तर मेथुन की सुकरता के लिये। अक्सर बालकों का लिंग-च्छद इतना कसा रहता है, कि मणि पर नें पीछे नहीं सरकता, माँ और धाय, तेल टाल कर, धीरे धीरे, सरकाने का अभ्यास करा देती हैं। इसमें भी घटी प्रयोजन, अगत, सिद्ध होता है जो 'खतने' से। खतने की रस्म, बहुत देना,

अक्सर, घरेलू दवाओं (यथा घिसी सुपारी के लेप) से ही अच्छा हो जाता है , अधिक बिगड़ जाने पर शास्त्रकर्म की शरण लेना पड़ता है । स्त्रियों का मूत्र छिद्र, भग छिद्र से भिन्न होता है , इस लिये, किसी बालिका का छद् बहुत मोटा और निच्छिद्र भो हो, तो भी, वात्स्यावस्था में मूत्र का अवरोध नहीं करता ; हा, रजो-रुधिर की प्रवृत्ति को, यौवनारम्भ में, रोकता है, जिस से रोग उत्पन्न होते हैं , उस समय शास्त्रकर्म की आवश्यकता होती है ; एव, विवाहानन्तर, मैथुन में रुकावट होने से भी । इन सब विषयों पर, विविध जातियों के विविध भाचारों का, बहुत जन्वेषण और वर्णन किया है । इत्यादि ।

आज काल, पश्चिम में शरीर के सभी अवयवों की सामान्यतः पुष्टि के लिये, और विशेषतः क्षीण मैथुन शक्ति के पुनः सम्पादन के लिये, 'इलेक्ट्रिक बाथ' देते हैं । चीन और भारत से, पाश्चात्यों ने, पौष्टिक रहस्य औषध भी कुछ लीखे हैं, पर अभी वैसे 'रस' नहीं बना सकते । नये नये, 'योर्दिम्बिन', 'कोकेन', आदि का, अमेरिका देश की प्राचीन जातियों से लीख कर, कामोत्तीपन, धीर्य-स्तम्भन ('इम्पटाक') आदि के लिये, प्रयोग करते हैं । ऐसे ही अति काम के वेग के शामक द्रव्यों का । उत्तेजक, द्रव्य 'आम्नोटीसियाक', शामक 'ऐन-आम्नोटीयाक', कहलाते हैं । डाक्टर वीरोनाफ के प्रकार की चर्चा की जा चुकी है, (पृ० २३४, २९९) ।

यह सब, विज्ञान के विशेष रहस्यों को लीला है । पर साधारण सद्-गृहस्थ का सौभाग्य इसी में है, कि ऐसे प्रयोगों की आवश्यकता ही उस को न हो, और इनका भुए उम्को देखना न पड़े, तथा यह कि, यदि पूर्व पाप कर्म ने कोई खलितता उसके जीवन में छा ही जाय, तो सिर हटा कर उसको सह दे, 'प्रारब्धकर्मणा भोगादेव क्षय' के नियम को हृदय में रख कर सतोप कर ले । 'सतोपाद् अनुत्तमसुखलान्' यह योगसूत्र है । इसका यह अर्थ नहीं है कि नाश्वर रोगों की चिकित्सा न करे । यह नहीं । यदि यह कि कामिण सुख की हिमं हृदय के नारे, अनाध्यप्राय अश-

स्थाभो को दूर करने का व्यर्थप्राय महा-आयाम न करे । तथा यह धार
 मत्र के याद रखने की है, कि आयुर्वेद का भी गिहान्त यही है, कि मत्र में
 उत्तम वृद्ध, वाजीकरण, सुभग-करण, पति-पत्नी का परस्पर स्नेह है ।

वाजीकरण अयं तु (पत्नी) स्त्री या प्रहर्षिणी;
 उष्टा हि एकैकशोऽपि अर्था परं प्रीतिकरा म्यूना,
 किं पुन स्त्रीशरीरे ये गंधानेन प्रतिष्ठिता,
 स्त्री-आश्रयो हि इन्द्रियाऽयोग म प्रीतिजननोऽपि,
 स्त्रीषु प्रीति विद्येयं, स्त्रीषु अपत्यं प्रतिष्ठित,
 धर्मार्थो स्त्रीषु, लक्ष्मीश्च, स्त्रीषु लोक प्रीतिना,
 गुणा, यौवनमया या, लक्षणै या विभूषिता,
 या वश्या, शिक्षिता या च, या स्त्री श्रेयतमा मता,
 तयो-म्य-तयो-दारी, या यस्य परमाऽहना
 प्रीतिवति आगु हृदयं, देवाद् वा, कर्मणाऽपि या
 हृदय-उन्मयया या, या समानमन शया,
 समानमया, या वश्या; या यस्य प्रीयत, प्रिये
 या पाशभता, मंत्रा दंष्ट्रियाणां परं गुणै,
 यया विदु हो, निम्नीरु, अग्नि, मन्यते जगत्
 यस्या ज्ञे शरीर ना (नर) तत्र शन्ये इव दृष्टि
 श्रेय-उत्तम-अर्था-मये या यस्या नाश्रितभूया ।
 श्रेय या श्रेय विद्यन्त मया हृदयै (अमी) यी

एक एक इंद्रिय का विषय अलग अलग भी प्रिय होता है; स्त्री और पुरुष के लिये, एक दूसरे के शरीर में, सभी विषय एकत्र हैं, क्योंकि परस्पर अत्यंत प्रिय हो, प्रीति, रति, संतति, धर्म, अर्ध, लक्ष्मी, सभी, एक दूसरे से प्राप्य हैं। पुरुष के लिये, जो स्त्री सुरूप, युवती, शुभलक्षणों से सम्पन्न, वश्य, शिक्षित है, वही वृष्यतमा है, जो हृदय में घुस जाय, हृदय को उत्फुल्ल उत्सवमय कर दे, सत्त्व में और मन शय अर्थात् काम में समान हो, अत्यंत प्रीति करे, अपने परम प्रिय गुणों से पति को मानो पाशों से, फंदों से, बांध ले, जिससे वियुक्त, अलग, होने पर, पति समस्त जगत् को शून्य मानता है, अपने शरीर को चेतन रहित जानता है, जिसको देख कर वह शोक-उद्वेग-अ-रति-भय देने वाले पदार्थों से लड़ने का उत्साह (हिम्मत) बाधता है, धैर्य, विस्त्रभ, अपनी शक्ति पर भरोसा, करता है, जिसको नित्य अपूर्व, नई, जानता है, बहुत बेर भी जिसका दर्शन स्पर्शन कर के, तृप्त नहीं होता, ऐसी स्त्री, पति के लिये, वृष्यतमा, सब पदार्थों से बढकर वृष्या, वाजीकरणि, है। ऐसे ही गुण वाला पति, अपनी पत्नी के लिये वृष्यतम, वाजीकरणतम, है। याद रहै कि प्रकृतियां भिन्न होती हैं, जो वस्तु, जो गुण, जो रूप-रंग, जो हाव-भाव, आहार-विहार, एक को प्रिय है, वह दूसरे को अप्रिय, “यद् यस्य रोचते, तस्मै, तत् तद् एव अस्ति सुन्दरं”, जो जिसको रचै, वही उसके लिये सुन्दर। जिनको साधिवक उत्तम अपत्य की इच्छा हो, वह दम्पती परस्पर प्रसंग तब करै, जब पत्नी, मायिक ऋतु से शुद्ध होकर रनान वर चुकी हो, दोनों निरामय निरोग हो, परस्पर वृष्य और प्रसन्न हो। वृष्, वर्षण, से वृष शब्द बना है, स्नाधारण अर्थ, स्नाण्ट है, और भी अनेक अर्थ हैं, वृष, धीर्य की वर्षा करता है, वर्षा में जीवजन्तु बहुत उपजते हैं, इसी में धीर्य वर्षाने वाले पदार्थ को ‘वृष्य’ कहते हैं। ‘वाज’ शब्द के बहुत अर्थ हैं, अन्न, जल, एत, (उममें उत्पन्न) बल, धीर्य, वेग, रक्षति, (वेग-साधक) एक (पक्ष), धन, वस्तु, आदि, धामनारा से लिये, पाज का मुख्य अर्थ बल और धीर्य

वात्स्यायनकृत कामसूत्र

कामशास्त्र का इतिहास

काम-सूत्र के प्रथमाध्याय में, वात्स्यायन ने स्वयं काम-शास्त्र का इतिहास, बहुत संक्षेप से, लिखा है। "प्रजापति ब्रह्मा ने मानव प्रजा को उत्पन्न कर के, उन की व्यवस्थिति के लिये, धर्म-अर्थ-काम तीनों पुरुषार्थों के साधन के उपाय, एक लाख अध्यायों में कहा। उस के धर्म-विषयक अंश को मनु ने अलग कहा, अर्थ-विषयक को बृहस्पति ने, महादेव के अनुचर नन्दी ने पुत्र सहस्र अध्यायों में काम-सूत्र कहा, पाँच सौ अध्यायों में, उदालक के पुत्र श्वेतकेतु ने, उसी का संक्षेप किया। पंचाल देवरासी घाभ्रव्य ने, एक सौ पचास अध्यायों में, औदालकि के ग्रथ का पुनः संक्षेप किया, और सात अधिकरणों में उसे चौंटा (१) साधारण, (२) साम्प्रयोगिक, (३) कन्या-सम्प्रयुक्तक, (४) भार्या-अधिकारिक, (५) पारदारिक, (६) वैदिक, (७) औपनिषदिक। पाटलिपुत्र (पटना) की घेश्याओं के अनुरोध से, दत्तक ने, वैदिक अधिकरण को अलग कहा, चारायण ने साधारण को; सुवर्णनाभ ने साम्प्रयोगिक, घोटकमुख ने कन्या-सम्प्रयुक्तक, गोनर्दीय ने भार्या-अधिकारिक, गोणिकापुत्र ने पारदारिक, तुचुमार ने औपनिषदिक (उपनिषद्, रहस्य-विद्या, ओपधों, तांत्रिक मात्रिक प्रयोगों, के विषय में)। दात्रव्य के ग्रन्थ की विशालता और दूरभ्येयता, तथा उक्त अन्य

१ हरद्वार-शिला प्रान्त, महाभारत काल में, पंचाल कहलाना या उत्तर भाग, उत्तर पंचाल, दक्षिण भाग (जिस के राजा, उक्त काल में द्रुपद थे) दक्षिण पंचाल ।

२ पदाकरण-महानाथ-कार पत्रालि का ना एक नाम गोनर्दीय है, क्योंकि पञ्चदश के उत्तर-पक्षि त ने गोनर्दीय प्रान्त में उन का जन्म हुआ, पर वह निश्चित नहीं, कि वो गोनर्दीय है, या द्रुपद है ।

ही किया है। वेश्याओ के विवाहिता हो जाने की भी चर्चा, सूत्र और टीका में आई है, कौटलीय अर्थशास्त्र में भी है, मनु आदि स्मृतियों में भी, पुनर्भू पत्नी और पौनर्भव, सहोद, आदि बहुविध पुत्रों के सम्बन्ध में। अनुवाद, अधिकांश का, ठीक है, कहीं कहीं, मूल (और जयमगला टाका) का आशय ठीक ठीक नहीं समझा गया है, आश्चर्य नहीं, मूल (और टीका में, मूलोक्त से अन्य भी,) सांकेतिक शब्द अनेक हैं, लिखने की शैली बहुत कसी (सूत्रों की सक्षिप्तता तो प्रसिद्ध ही है, टीका की भी लिखाई बहुत गंठी) है, पठन पाठन की परम्परा उच्छिन्न, खोजने पढ़ने से भी अर्थ का निश्चय, कहीं कहीं, नहीं होता, मुझे तो पाश्चात्य पुस्तकों में मिली बातों में, और उन के जीवत् ज्ञान से, ऐसे सदिग्ध स्थलों पर कई बेर प्रकाश मिला। कम उमर में विजय बहादुर जी ने, जितना इस 'लोपित गोपित' विषय पर परिश्रम किया, और, दुष्ट कामीय आचारों के विरुद्ध चेतावनी लिख कर, घातक्यायन की एक भारी न्यूनता के पूरण का, बटिक यों कहना चाहिये कि बडे दोष के मार्जन का, यत्न किया, घरी प्रशंसा के योग्य है, घातक्यायन ने भी, ऐसे पृथ्य (घृणा-योग्य) प्रकारों में आवर्जन (चेतावनी, इतरदारी, मना, वरजना) की सूचना की है, पर १२५० श्लोकों में मुश्किल से १०-१२ श्लोक ऐसी सूचना के होने, मानो दम सेर प्रलोभन के पश्चात् एक माशा वर्जन। मैं ने कामसूत्र और कामवृज की निजी प्रतियों के पत्रों के मर्म (हाशियों) पर बहुत सी टिप्पणियाँ उक्त बातों पर लिखी हैं, पर उन सब की चर्चा यहां अस्मभव है, पचासों पृष्ठ और बढ़ जायने, जिस का अवसर नहीं। रों मौन्दर्य-तत्त्व पर श्री विजय बहादुर जी ने कुछ लिखा है, री शरीर के "चार भाग उज्ज्वल वर्ण, चार दृष्ण, चार रक्त, चार भाग गोल, चार लम्बे, चार मोटे, चार विशाल, होने चाहिये, (कामवृज, पृ० ४६५), गिन घन्थ में उल्लेख किया, यह नहीं लिखा, इस विषय पर मूल-सूत्र का टीका में होने कुछ नहीं मिला, किन्तु पुरप-

हैं, मानो उपदेश देते हैं कि ऐसा करना उचित है, और करना चाहिये । यह तो जेमे अघे को कृष्ण का रास्ता बताना और कहना है कि इधर जाओ (और कृष्ण में गिरो), अ-योनि मैथुन, वि-योनि-मैथुन, यूथ-मैथुन ('गोष्ठी-परित्रह') आदि के सम्बन्ध में भी वात्स्यायन ने ऐसे ही दूषित शब्द कहे हैं । उचित प्रकार कहने का यह था और है कि, 'एव दुष्टा, असाधव, अनार्या, अदूरदर्शिन, महापातकिन, नरकगामिन, कुर्वन्ति', 'इस इग रीति से दुर्बुद्धि असाधु अनार्य अदूरदर्शी दुष्ट महापापी, घृण्य स्वयं नरक में गिरने वाले और दूसरों को गिरानेवाले, स्त्री और पुरुष करते हैं, भले आदमी को ऐसों से सदा सावधान रहना चाहिये' । बहुभार्यक बटु-(पत्नी)-चारी के वृत्त के सम्बन्ध में भी, वात्स्यायन के सूत्र में वृत्त ऐसा दोष है, पर उसकी मात्रा इतनी घोर नहीं कही जा सकती, क्योंकि, उस समय में, ऐसा बटु-विवाह, समाज में सद्-आचार के विरुद्ध, धर्म के विरुद्ध, नहीं समझा जाता था, और परदार-गमन उस युग में भी अति पातक, और पेश्यागमन भी अनुचित, अधर्म, मुख्य में तो बहा ही जाता था ।

यदि वात्स्यायन और चाणक्य एक ही व्यक्ति के दो नाम हैं, तो काम सूत्र के उक्त घोर दोष या कारण प्रायः यही होगा कि वे, महा साम्राज्य के महाबुद्धिमान् महापटित महामंत्री होते हुए, महाबुद्धि भी थे, और उनके भाव और विचार और कृतियों, बहुत अज्ञानों ने साम्प्रत-कालिक (माटर्न) पाश्चात्य राष्ट्रनायकों की सी थी । इन विषय में इतिहास-विशेषज्ञों ने मतभेद हैं, कि अर्थ-शास्त्र नामक अनुत्तम ग्रन्थ के रचयिता 'बौद्धिक-चाणक्य' और काम सूत्र के 'वान्स्पययन' एक ही थे या नहीं । श्री श्याम शास्त्री ने, जिन्होंने लुह 'अर्थशास्त्र' का पहिले पता लगाया सुझाव कराया, अंग्रेजी में अनुवाद किया, अपने उपोक्त में, इन विषय को, विस्तृत विचार करके, प्रायः सत्य ही लोप दिया, किन्तु प्रथा यही है कि अर्थशास्त्र-कार, कामसूत्र-कार, एक

पर उनकी कुटिल-नीति के कारण 'कौटिल्य' के स्थान पर 'कौटिल्य' को, सहस्र मुख वाली जनता ने सिद्ध कर दिया; पारदारिक, वैशिक, प्रभृति विषयों में जो कुटिल नीति कामसूत्र में मिलती है, वैसी ही राजनीतिक व्यवहारों के लिये अर्थशास्त्र में भी है। पंडित मडली में ऐसा प्रायोवाद है कि, इस कुटिलता के हेतु से ही 'अर्थशास्त्र' का पठन पाठन और व्यवहरण, (व्यवहार में प्रयोजन, प्रयोग करना, काम में लाना), उच्छिन्न हो गया, उसके पीछे के अन्य ग्रन्थों में कहीं कहीं छोटे मोटे उद्धरणों से उसकी स्मृति बना रही है। परन्तु यह प्रतीति, दृढ़मूल नहीं जान पड़ती, क्योंकि समाज के जीवन में धार्मिकता बढी नहीं, राजनीतिक व्यवहारों में कुटिलता घटी नहीं, प्रत्युत, पाचवीं छठवीं शती ई० के पश्चात्, दुश्चरित्र, आभिजात्य मद, जाति विद्वेष, धर्माभास, छल, कपट, द्वैधीभाव, विश्वासघात, परस्पर कलह, और युद्ध, भारत में बढ़ते ही गये। अन्य कारण जो कुछ हो, मुख्य कारण, 'अर्थ-शास्त्र' की नीतियों के अन्-अनुष्ठान और ग्रन्थ के उच्छेद का, यह जान पड़ता है कि, जिस प्रकार के साम्राज्य और समाज की व्यवस्था के लिये, और जिसके बीच, वह लिखा गया, वह प्रकार ही, पाल के प्रयाह से, अर्थात् कालकृत इति-वृत्तों से, विदेशी आक्रमणों से, स्वदेशी दौ शक्तियों से, बदल गया, न वह साम्राज्य रहा, न वह समाज का रूप, व्यास जी ने कृष्ण के मुख से कहा है, "ज्ञानानि अर्त्षा-भविष्य-

दुत सा साम्रा एकात्र वा भी, एतद्विषयक पाश्चात्य साहित्य की नी, और, प्रतिपक्ष के अपने भारत देशाटन में, भारतीय ग्रन्थों की, तथा वर्तमान काल के कामाय व्यवहारों और रीतियों की नी, पर श्याम रोग ने बहुत पाक्षित करने और ६० ६५ की उमर में शरीर हट जाने से त्रिभुज स्वरूप की उनको इच्छा पूरी न हो सके। भारत के कितने ही राजासाम्राज्यों में ऐसे, विविध शासकों के पलायन प्रारंभों की भूमिकाओं में, न-पादों ने लाने नहावला पाने के लिए, इच्छा प्रकाश किया है।

भारत का शास्त्रीय ह्रास, वात्स्यायन के समय से थोड़े ही समय बाद शुरू हो गया। बुद्धदेव के समय से स्कन्दगुप्त और नाराकगुप्त के समय तक, हजार बारह सौ वर्ष का युग, भारत वर्ष के उन्नति समृद्धि का था, पर, किन्हीं पहलुओं (पक्षों, अंशों) में, ह्रास का भी, बुद्ध से दो सौ वर्ष पीछे चन्द्रगुप्त और चाणक्य हुए, स्यात् वैसा साम्राज्य, उस समय, पृथ्वीतल पर अन्य किसी देश में नहीं था, यद्यपि साम्राज्य ('एम्पायर'), प्रतापी भी, इनके समकालीन, पृथ्वी पर कई थे, चीन में ईरान में, ग्रीस में, और रोम में। चन्द्रगुप्त के पौत्र अशोक के समय में साम्राज्य ने ओर भी विस्तार पाया और उन्नति किया। पाणिनि जाति, त्रिणुगुप्त चाणक्य-वात्स्यायन से बहुत पहिले के नहीं होंगे, इनके समयमें रोचक कहानियाँ (कथानक) "कथा सरित्-सागर" नामक बृहत् काव्य के आरम्भ में कही हैं, पञ्चतन्त्र में त्रिणुगुप्त ने लिखा है

सिंहो व्याकरणस्य कर्तुर् अहम् प्राणान् प्रियात् पाणिने,
मीमासाकुल उन्ममाप सत्सा हस्ती मुनिर् जैमिनि,
उद्देशाननिधि जघान मारो वेलातटे पिगल,
हिंसाणा हि तमोविमृतमनसा कोऽर्ध तिर-या गुणै ।

पाणिनि को सिंह ने, जैमिनि को हाथी ने, पिगल को मगर ने मार डाला, हिन्दू पशुओं को गुणों से क्या मतलब? इनसे जान पड़ता है कि पञ्चतन्त्रकार से बहुत पुरानी बात यह सब न होगी। कामन्दक ने व्यवहार की बहुभ्रतता प्रतिपद जान पाती है, रत्न, तार, चापा आदि न होते हुए भी, भारत के विभिन्न प्रान्तों के विशेष विशेष कर्मों, कृत् और आचार व्यवहार लिखे हैं, यथा, "ग्रहणन" के हुए प्रकारों में खेल देन के राजा ने चित्रसेना गणिका के प्राण ही ले लिये, शा (सा) तदाह्न दातयणि ने महादेवी मलयवती को मार ही डाला, पाण्डुराज के सेनापति नरदेव ने एक ग्नी को धानी कर दिया, गूर्जरात् (गुजरात)

देश में, कोट के राजा आभीर ने, जब श्रेष्ठी (गंड) वसुमित्र के घर में, उसकी भार्या के साथ व्यभिचार करने के लिये, प्रवेश किया, तो राजा के छोटे भाई ने, जो स्वयं राजा बनना चाहता था, एक राजा (धोत्री) के द्वारा, आभीर को, वहीं, वसुमित्र के घर में, मरवा डाला ; काशिराज जयसिंह, जब अपने अश्वारथ के घर में, उसकी भार्या में व्यभिचार के लिये, गया, तब अश्वारथ ने स्वयं उस वहाँ मार दिया ; इत्यादि । साठ मुद्र (साठ में पश्चिम), आन्ध्र, मयदेश, वार्द्धीक, अपन्ती, मालव, आभीर देश (कुरुक्षेत्र आदि), पचनद, सिन्धु, अपरान्त (पश्चिम समुद्र के पास), श्री राज्य (दक्षिण में, पश्चिम समुद्र के तीर), कोंडाक, मालव राष्ट्र, पाटलिपुत्र, द्विज देश, कोंडाक में पूर्व बनयाग देश, गौरी देश अलिच्छत्रा, गार्जत, गौरमेन देश (कोंडाक के दक्षिण), पचनद देश, विदर्भ, सिमवद्र देश, अग, बंग, कलिग, आदि में इस समय प्रायः मैथिलीय व्यवहार होते हैं । ऐसे वर्णनों से वाक्यायन की बहुधुता के विचार देश-वाचों से प्राप्त करना सिद्ध होती है । आनुनिक पाश्चात्यों से मूल परा हाटा को पड़े है । जो वैज्ञानिक साधन उन्होंने अपने युद्ध में उपलब्ध लिये हैं, वे वाक्यायन से स्वयं से भी प्राप्त नहीं थे, इन्हें बट में, इन पाश्चात्यों ने, समग्र पृथ्वीतल को, मुगल को, समुद्र के किनारे, समुद्र के भी ज्ञान दिया है, अब नये भारतीय भी उनसे अनुकरण करने लगे हैं । ऐसे उपकरणों से प्रचार से भी वाक्यायन प्राप्त करने से जो किया, वह बहुत है ।

है, 'शास्त्र, शास्त्र, शास्त्र' की रटन चारों ओर संस्कृतज्ञों में होती है, नये उपज्ञान की सहायता से शास्त्र-संस्कार, शास्त्र-संशोधन, नूतन-शास्त्र-प्रवर्तन का यत्न नहीं, शक्ति नहीं, इसी से, उत्कर्ष के स्थान में अपकर्ष। पाश्चात्य देश से, नवीन बुद्धि, नवीन उत्साह, नवीन तर्कशक्ति, नवीन प्रश्नोत्तर-रुचि, नवीन गवेषणा-सामर्थ्य, का नवीन मत्स्याऽवतार, इस देश में जगदात्मा ने भेजा है, यदि परस्पर आदर और गुणग्रहण का भाव अधिक बलवान्, और दोषग्रहण और तिरस्कार और द्वेष का भाव कम, हो, तो पूर्व और पश्चिम दोनों देशों में, पुनरपि 'वेदों' का, ज्ञानों का, शास्त्रों का, शांतिस्थापक, प्रीतिकारक, समृद्धिवर्धक उद्धार और विकास होगा। अस्तु। एव अस्तु।

काम-सूत्र, विशेषतः उसका गुणवान् अंश, सब गृहस्थों को पढ़ना जानना उचित है, प्रतिपद चेतावनियों के साथ साथ, दोषवान् अंश सहित समग्र ग्रन्थ, प्रौढ़ों के ही पढ़ने योग्य है। सब अंश इसके, सब छोटी बड़ी उमर वालों के पढ़ने के योग्य नहीं हैं, कोमल चित्त के अल्प-वयस्कों को इससे साध्य और अति क्षोभ हो सकता है।

समाज के सब अंगों के उपकार के लिये आवश्यक है कि, कामशास्त्र पर एक श्रेणी, छोटे बड़े ग्रन्थों की, तयार की जाय, जैसी पश्चिम देश में, समाजहितैषियों ने, तयार किया है। १८०७ ई० में, पादरी सिल्वेनस स्टाल ने, एक श्रेणी, 'सेक्स ऐण्ड सेल्फ सीरीज़' के नाम से टापी, उसमें (१) 'बालक को क्या जानना चाहिये', (२) 'बालिका को क्या', (३) 'युवा को क्या', (४) 'युवती को क्या', (५) 'विवाहित को क्या', (६) 'विवाहिता को क्या', (७) 'बृद्ध को क्या', (८) 'बृद्धा को क्या जानना चाहिये', ऐसी आठ पुस्तकें हैं, बहुत अच्छे लेख हैं, पादरी 'सद्ब्राह्मण' ने, शुद्ध लोकोपकार के हेतु, उस समय की छापि में बहुत मामाजिय निन्दा की जोसिम उठा पर, यह उत्तम कार्य किया।

भारत समाज के लिये ऐसी ही श्रेणी, स्वदेशी भाषा में, पाश्चात्य नवीनतम ज्ञान से उपोद्बलित, बनना चाहिये। पादरी की स्थापना के ग्रन्थ, प्रायः (अब, १९४३ ई० में) चालीस पैंतालीस वर्ष पक्षियों के गये, पर वे आज भी नये हैं, और बहुत उपयोगी हैं। इधर हाल में, आठ दस वर्ष के भीतर, जननेन्द्रियों की वनावट, उनके अवयवों के रूप, कार्य, निम्नान्द आदि, तथा गभांधान-निरोध आदि के प्रकार, के विषय में, नये ज्ञान और उप-ज्ञान, नये आविष्कार, बहुत हुए हैं, और इन विषयों पर बहुत ग्रन्थ लिखे गये हैं। सर्व-साधारण के उपयोग की पूर्ण डाक्टर मेरी स्टोपन के ग्रन्थों में अच्छी नीयत से लिखी गई हैं, मगर उनका भाव उतना ऊंचा मानविक नहीं है जैसा पादरी स्थापना। पृ० २०५-२०६ पर लिख आये हैं कि बच्चे, बरफ, माता, पिता, बहन, गुरुजनों, वा अधिक उमर वाला से पूछते हैं, नया बच्चा कहाँ से आया है? आया, (जो ग लगते हुए पशुओं पक्षियों का रूप कर) यह स्थापना रहे हैं, इत्यादि, वृद्धलांग प्रायः हैम कर टाल देते हैं, या बटवान पादरियों प्राय उतर दे देते हैं, या (अति अनुचित) बसना देते हैं और पशु प्राय पशुओं को मना कर देते हैं, अपना बाल्यावस्था के समय ही बच्चा है और उचित उतर न पाने से जो विच म प्रतीति हुई, और इससे का अपने अनुभव में जो फट हुआ वा, उमर सब ही, दुर्भाग्य से, जन्मे हैं, फट प्राय यही हुआ और जाता है, कि बच्चे दूसरे बच्चे से पूछते हैं, जो उनसे इतिवृत्त नहीं, जो निर्दय है, अब वे वा बाल्यावस्था के अवस्थाओं को इन अवस्था में लगे बच्चा पर ही लिखते हैं उमरों दृष्ट दृष्टियाँ देते हैं, लिखा कर समझाने से बच्चे को ही नद ही कर दृष्ट है जिससे इन बच्चों के जन्म और विषय

लिये दूषित और रोगी हो जाते हैं, और नारा जीवन विष से सिक्त हो जाता है। इसका प्रतिपादन 'सैको-रेनालिसिस' नामक उपशास्त्र के पाश्चात्य ग्रन्थकारों ने बहुत ओर अच्छा किया है।

चेतावनी

ऊपर सूचना की गई कि, वात्स्यायन ने प्रलोभन और अध.पातन की मामग्री बहुत, और उसमें आवर्जन अवधीरण के शब्दों की बहुत अल्प-मात्रा, पाठक के सामने रखी हैं, मानो एक पत्थरी के सामने एक रत्ती, जो चेतावनी उन्होंने ने ग्रन्थ के अंत में रखी है, वह आदि में रखना उचित था। धर्म-अर्थ-काम को वात्स्यायन ने प्रथम सूत्र में नमस्कार करके, आगे धर्म और अर्थ का लक्षण कह दिया, काम को तो सारे ग्रन्थ ही में अधिकार है, पर मोक्ष का, दूसरे अध्याय के चौथे सूत्र में नाम मात्र लिख के, और यह कह के, कि उसकी चिन्ता बृहदाश्वरथा में करनी चाहिये, उपेक्षा हो की है, यह भी ठीक नहीं किया चारों पुरपार्थों का, साक्षात् वा परम्परया सम्बन्ध है ही, इसको ध्यान में रख कर, मोक्षशास्त्राऽन्तर्गत अध्यात्म-शास्त्र का प्रकाश प्रतिपद कामशास्त्र पर डालते रहना उचित है इसी वा यत्न यहाँ 'कामाऽध्यात्म' में किया गया है। जो थोड़ी सी चेतावनी वात्स्यायन ने की है, उसका समग्र यहाँ कर देता है।

औपरिष्टव आदि के सम्बन्ध में कहा है कि सज्जन, विशेष कर के राजा, मंत्री, या अन्य विद्वान्, जिस से उपर जनता विश्वास विद्या करती है वह ऐसे निकृष्ट काम में बरै करावे,

न सारत्र अस्ति इति एतावत् प्रयोगे कारण भवेत् ,
 शारत्रार्थान् व्यापिनो दद्यात् प्रयोगान् तु एकदेशिकान्
 रम्यरीयविषाकादि, श्वमासस्य ऽपि वैश्वे
 वीरिता इति त् किं भक्षणी, दिचक्षणै, २
 मी एव पुग्दा वैशिर् मति देवान् तथविधा,
 मति वत्तक्ष, येषु एते रोगा न म्त्स् निर्र्यङ् ।

शास्त्र की पोथी में बात लिखी है, इतने ही से उग का प्रयोग नहीं कर डालना चाहिये, शास्त्र में अनुगमशास्त्रक व्यापक बातें प्रायः लिखी जाती हैं, प्रयोग तो किसी किसी का विशेष विशेष अवस्था में किया जाता है, जो एक रागा के लिये चचा लिखा है, वह सब प्रकार के सब रागा के सब रागिया को तो नहीं करना चाहिये न स्वयं ही। कृत्त के माय के भी रस, रीत्य, पभाव आदि का रेशक के प्रत्येक प्रतीत किया है इस लिये क्या इस को ध्या हो लेना चाहिये? प्रकृत आदि, 'कष्ट अनार्यभूत अनार्य', अनार्यों के आचरण, निरहकार के योग, है।

बहुभार्यता के सम्यन्त्र में

यस्यै श्रिया दीर्घात्प जगणा पि सा म सा म
 गुणस्य गुणात्प न तु एव यद सा सा म य

यहां पति अष्टा है जो अपनी अकृती पत्नी से श्रांति करता है।
 उस का वक्ष्य है, जिस के वर पत्नी यदय है श्रांति सा ही जो वर
 निर्गुण भा दा कृत्त अपन कृत्तय माय का कया रस य सा म य
 लेना हो। यद पति अष्टा नहीं। एव का वर य ए वय द न
 उय न कृत्त गुण भा दा।

गच्छति च विप्रय मे

महाजनेन हि चरित एषा दृश्यते, अनुविधीयते च ।
 न तु एव पर-भवन ईश्वर प्रविरोत् ।
 न तु एव एतान् प्रयुजीत राजा, लोकहिते रत ,
 निवृत्तीतारिषड्वर्ग तथा विजयते महीं ।

पारदरिक व्यभिचारियों के छलों को जान कर, उन से सज्जन अपनी पत्नी की रक्षा करै, व्यभिचार के महा द्रोपो को पहिचान कर, और उस के अपायों, अनर्थ परम्पराओं को देख कर, धर्म और अर्थ दोनों का उन से नाश जान कर, स्वयं सज्जन ऐसे दुष्कर्म से अपने को और दूसरों को बचाता ही रहै, काम सूत्र में, पारदारिक मनुष्यों के (तथा वेश्याओं के) कपटों, ठगने के प्रकारों, और अति नीच, अति कमीने, आचरणों का वर्णन किया है, वह इसी लिये किया है कि, भले आदमी, इन को जान कर, सावधान रहें, अपनी और पत्नी तथा पुत्र, पुत्री, अन्य कुटुम्बी जन और बन्धु बान्धव की रक्षा कर सकें, इस लिये यह सब

१ परदारियों के पीछे पड़ कर, वा वेश्याओं के पदों में फस कर, मनुष्य जो मुर्मावर्त भुगतते हैं, वह तो, चारों ओर थोड़ा भी अँस घुमाने में, थोड़ा नीच विचार करने वाले को, तत्काल मालुम हो जाती है, पर, मनुष्यो में, विचार-नीलता की अभी बहुत ही कमी है, इस लिये, पुन पुन याद दिलाना पता है । अक्षय के एक तालुकादार राजा, इस समय, (१९४६ ई० में) चौदह वर्ष की उम्र का सजा भुगत रहे हैं, उनकी राजमाता, विधवा, नीचरी कारावास दण्ड भोग रही है । क्यों ? , तो, दोनों ने मिल कर, राजा ने अपनी राना, राजमाता ने अपना पतोटा, की हत्या का यत्न किया, उस पर पिरतौल में गोली चलवाई, उन्हे एक बोट में गोली लगी, जान बच गई । क्यों यह हत्या का यत्न दिया ? तो, राजा एक शम्भू स्त्री पर आसक्त थे, वह, विवाह में इनकी दर किसे बिना, इन्हे स्नान नहीं रहना चाहती थी, न सपत्नी की ही दशासन कर स्वयं, था, इन लिये, राजा ने, पहिली पत्नी को मार कर, लगभग विवाह करणा बट २१, और मान

नहीं वर्णन किया है कि इस से प्रजा को, दुराचार करा के, म
 गिराया जाय । विशेष कर के राजा और राजमंत्री आदि श्रेष्ठ भण्डार
 को ऐसे दुराचरण से परहेज करना चाहिये ; क्योंकि महा जन,
 समृद्ध, सब प्रजा, इन के आचरित को देखती है, और उम वा
 विधान, अनुकरण, करती है । जो राजा, अपना भाग और प्रजा
 भला चाहता है, वह काम क्रोध आदि अपने आभ्यंतर छ रिपुओं
 अपने वश में लाता है, और तब सब जनता उम के वश में म
 आ जाती है ।

अन्त में वात्स्यायन ने लिखा है,

वाध्वीयाश्च च शास्त्रार्थान् आगमस्य विगृह्य च,
 वात्स्यायनश्च चकार इदं कामगृह्यं यथार्थात् ।
 पूर्वशास्त्राणि राश्य, प्रयोगान् अनुगृह्य च
 कामगृह्यं इदं यत्नात् स विष्णुर्निर्दिष्टम् ।
 तस्मै, अर्थे च, कामे च, प्रयत्ने, लोके च च
 यदाति पश्यन्त्येवमर्थो, न च समानं प्रान्तम् ।
 श्री इन्द्रप्रदादृ उवाच ये विद्वान् समानता,
 तद्वन्द्यम् अत्र एव ते यथाऽऽर्जुनर्षिर्नृप ।

तद एतद् ब्रह्मचर्येण, परेण च समाधिना,
 विहित लोकयात्रार्य, न रागाऽर्थोऽस्य सविधि ।
 रक्षन् वर्मार्थकामाना स्थितिं स्वा, लोकवर्तिनी,
 अस्य शास्त्रस्य तत्त्वज्ञो भवति एव जितेन्द्रिय ,
 तद एतत् कुशलो विद्वान्, धर्माया अवलोकयन्,
 नाऽति रागाऽन्मक कामी प्रयुञ्जान प्रसिद्ध्यति ।

ब्राह्मवीथी शास्त्र को पढ़ कर, और उसका अच्छी तरह विमर्श विचार कर के, तथा पूर्व में लिखे अन्य शास्त्र-ग्रन्थों को देख कर, और लोक में प्रवर्तमान प्रयोगों आचरणों का भी पता लगा कर, उनका अनुसरण अनुपपन्न कर के, वात्स्यायन ने बहुत संक्षेप से यह कामसूत्र कहा । इसके तंत्र को जो समझ लेता है, यह धर्म अर्थ काम को, लोक में प्रत्यय (प्रतीति, विद्यास्यता) पाने के मर्म को, तथा लोक के आचरण को, तत्त्वतः जान जाता है, और फिर बर्मा अति राग ने अन्ध नहीं होता । अधिकार-प्राप्त, प्रसंग-प्राप्त, होने से, जिन राग बटाने वाले योगों प्रकारों का यहाँ वर्णन किया, उनका विनिवर्त्तन, आवर्जन, अवर्धरण, भी, अनन्तर ही कर दिया । यह तंत्र ग्रन्थ, ब्रह्मचर्य का पालन कर के, समाधिपूर्वक, एकाग्र चित्त हो कर, वात्स्यायन ने इस उद्देश्य से लिखा, कि जनता की लोक-यात्रा, अधिवसुस्य और वसुस्य एतत् के साथ, सरलता से निवृत्त, ऐसे ही ब्रह्मचर्य आर समाधि से इस ग्रन्थ का अध्ययन करना चाहिये, तभी अध्ययन सुफल होगा । राग बटाने के लिये यहाँ विधान नहीं किया है । धर्म और अर्थ (आर मोक्ष) को जो मन्त्र ध्यान में रखता है काम से अन्ध नहीं हो जाता उचित भाग में जितेन्द्रिय हो कर, शास्त्र के तत्त्व को समझ कर, धर्माऽनुवृत्त प्रकारों से ही स्वाविव दान का भेदन करता है, यह धर्म-अर्थ-काम तीनों की सिद्धि प्राप्त करता है । इति ।

समापन

सर्वांगीण कामशास्त्र की रूपरेखा जो मैं ने ऊपर रींची है, निजमे उसमे बहुत संशोधन परिष्करण की आवश्यकता है। पाठक को, यहाँ, केवल स्थूल रूप से विदित हो जायगा कि कामशास्त्र मे क्या बातें होती चाहियें। “कामाऽध्यात्म” को समाप्त करता हुआ, पुनरपि भाग जनता को ध्यान दिलाता हूँ, कि बहुविध आपत्तियों में नई पुस्तक के बचाने के लिये, ऐसे कामशास्त्रीय लघु, मध्य, बृहद् ग्रन्थों की श्रेणी, आर्ष, ब्रह्मण्ड, लोकोपकारक भाव में लिखी हुई, समाप्त हो चकी अपेक्षित है, जिन ग्रन्थों को माता, पिता, अध्यापक, या अन्य गुरुजन, अपने बच्चों, पुत्र-पुत्रियाँ, पौत्र पौत्रियाँ, नन्दा-नन्दियाँ, शिष्य शिष्यार्षी, गुरु शिष्याँ, बभू-वरों के हाथ में बधाममय, निःसहोच, हृद्य पूर्ण विदित्य के साथ दे सकें कि, इनके पाठ में उनका भला ही होगा।

३७

(परमात्म-ग्रन्थार्थ, काम गुरुपना मय,
'अदम-गन्तव' प्रार्थना यत्, 'गन्तव' च निराणव)

संख्याऽनिकरि काम गन्ताननयोऽनया,
सम्पन्नो हि संस्य काम शनिर्भाषि गिवते ।

साम्पत्ति, अनिर्देश्य, सर्वग, सर्वमान,
दृष्टव सर्वभूतार्थ, उद्योगे सदाऽर्था प्रयु,

(म० म०, प्र०, १११)

सम्पन्नो हि संस्य काम शनिर्भाषि गिवते,
सम्पन्नो हि संस्य काम शनिर्भाषि गिवते,

(म० म०, प्र०, १११)

केचित् कर्म वदति एन, स्वभाव अपरे जना ,
 एके काल, परे दैव, पुस काम उत्त अपरे,
 एष भूतानि भूतात्मा, भूतेशो, भूतभावन ,
 स्वशक्त्या मायया युक्त सृजति, अस्ति च, पाति च,

(भाग०, स्क ४, अ० ११) ।

कामाय मायावीजाय, सर्वमसारकारिणे,
 परमात्मस्वरूपाय, देवीप्रकृतये नम ।
 ज्ञानिना अपि चेतासि, देवी भगवती हि सा,
 बलाद् आकृष्य मोहाय, महामाया प्रयच्छति ।
 देवी हि एषा गुणमयी याऽत्ममाया दुरत्यया,
 प्रपद्यते ये आत्मान एव, ते सतरन्ति ता ।
 सर्व तरतु दुर्गाणि, सर्वे भद्राणि पश्यतु,
 सर्व सद्बुद्धि आप्नोतु, सर्व सर्वत्र नन्दुतु ।

ॐ

पौ० क्यों ?

दा० परमात्मा की ऐसी ही इच्छा है। देखो, तुम्हारे चारों ओर अनन्त अचरज फैले हैं; भूमि, आकाश, सूर्य, चन्द्र, तारे, हवा, आग, लगीगी, इग आभ्यतर द्रव से अकेले में बहुत ही विष्णुण, महाभूम, राम मे, निरर मे भरे रटा करते ये; पर, जब जान पहिचान के लोग आ बैठते थे, तो मा मे अरिक्त जोर मे हँसी ठट्टा करने, कहकहा लगाने, का यत् करने; भीारी दुःख को टिपाने के लिये, जल्दी ही मर गये, व्यभिचारिणी स्त्री ने भी मात नागर-नीदक बेर गर्भ गाव कराया, और जल्दी ही मर गई। उन लगीदार का ऐसा भाग्य नहीं था, ऐसी सार्विक बुद्धि नहीं थी, कि व्यभिचारिणी का अय्य के लिये पतित 'पिशन' दे कर, (जैसी सूचना स्पृतिगी में की है), अय्य महान म रगा दे, और स्वय कोई अच्छे सार्वजनिक काम में लन, मत, यन में लग जाते। पश्चिम में, प्राय ऐसे स्त्री या पुरुष, जिनका सार्वजनिक जीवन, (जिसे न्य कारण से विगड़ गया है, ऐम सार्वजनिक कार्यों में अपने को लीन कर देते हैं। भारत में जनता के लिये, श्रीमती सिमेट का उज्ज्वल उदाहरण जाना है, जैसे दे अविमय 'दा.माना' 'सा.माना', गामायन, प्रभृत्त बन्नी में उजिस ना है, ...

पानी, बादल, बिजली, पहाड़, समुद्र, नदी, जंगल, सहस्रों प्रकार के पेड़, पौधे, लता, लाखों प्रकार के जीव जन्तु, पशु, पक्षी, कछुए, मछली,

व्यतीत किया, राज्य छोटे भाई विक्रम को सौंप दिया, विक्रम ने, चरणाद्रि (चरनार, चुनार) का प्रसिद्ध दुर्ग (किला) बनवाया, भर्तृहरि ने, सन्या-माऽवस्था में, 'शतक-त्रय' (नीति-शुद्धार-वैराग्य) लिखा, जो आज तक परम प्रसिद्ध है, कहा जाता है कि उन्हीं ने, व्याकरण का एक बड़ा भारी, सवा लाख श्लोक का, ग्रन्थ, 'हरिकारिका', भी लिखा, जिसका कुछ बहुत थोड़ा अंश, 'वाक्य-पदीय' ही, अब मिलता है। ऐसी ही कथा, ३५० वर्ष पहले के महात्मा तुलसीदास जो भी प्रसिद्ध हैं वषा भी अंधेरी रात में, पीड़ कर गंगा को पार कर के, शशुरालय में अपनी पत्नी से मिलने को पहुँचे, सती, रनेहवती, पर शर्मिर्, पत्नी ने उनकी लानत मलामत की, रदय को ऐना धका लगा, मन ऐसा पलटा, कि समस्त मम्मर से बिलकुल हटा, और राम और सीता को अनुपम रूप में जा सटा जिसका बहुत भीठा फल यह हुआ, कि 'रामायण', तथा अन्य भक्तिमय काव्य, लिखे गये काही काही अति-भक्ति-मय। भर्तृहरि का वैराग्य, शानप्रधान था, तुलसीदास का, भक्तिप्रधान, वात्सल्य में भेद होने से, भर्तृहरि को, दुश्चरित्रा पत्नी में और ममस्त मनार ने हीन वैराग्य हो गया था, तुलसीदास को, सती पत्नी से वैराग्य नष्ट हुआ, न मनार से ही, अपितु अपना ही निर्लज्जता और सामाजिक मर्दाना के उल्लंघनपर न्यायि हुई, स्त्री-पुरष के शूद्र रनेह का स्वाद, सीता-राम के रूप में लेने रहे।

बाल-रूपण कान्हा रूपण के विषय में, बहुत रूप हुए हैं रूप के दूरे, 'पिशा' पाँठ उधे उधे के गवनेवा नींदसे को, एर जन्मे में एर दूरे के साथ ऐसी करते हुए, पुरानी बरतूतो की नार लिखने हुए, अ गज्ज का कर कहने हुआ कि 'शाग रुगा कि त' 'जता का विदा' 'य' 'एर रनेह कह हुए, एर 'जिहवा र' के 'मारर' को, एर 'गारर' के कोर, एर कहने हुआ कि 'दोने हजे को (ऐन ऐन कादे) हीन जिना रूप के एरने व रदय

साँप, कीड़े, मकोड़े, आदि । इन सब को परमात्मा ने गिराया है, और सब के लिये नियम बना दिये हैं, जिन के अनुसार बंधे समय पर, वैश्यान में, वे अपना अपना काम करते हैं ।

पौ० उदा जी, परमात्मा आप किम्की कहते हैं ? आप न कहें ग्या है ?

दा० बच्चा, जिन अन्नन्त अपार शक्ति न पद सब अकारण ग्या है जो उमका चला रहा है उमका परमात्मा कहते हैं । मई ही आँसु में सब नहीं देखा जाता है, सब ह मानव काम कर रहा है । सब प्राणु, और बन्द करके, मन का चारा और सब प्रसर कर ह । यान करत से भी है 'मैं हूँ', ऐसा प्रामा मन का मिथता है । उमका मदाशक्ति का तात्पर्य परमात्मा, परमेश्वर अगमान आदि नामा से कहते हैं । उमका उमका ने दूसरे नामा से पुकारते हैं ।

पौ० तो उमका एक परमात्मा न सब कहें उताया है ?

दा० हाँ, सब सबक मानव जी है । आदम का सब आकार सब शक्त, सब उम सब बस्तु सब सब उमका है । सब सब सब उमका है । उमका प्राणु की गति नग है । उमका सब है ।

पौ० तो सब मानव जी परमात्मा है ?

दा० उमका है, सब दुष्प्राण शरीर प्रकृता का सब उमका न उमका उमका है, उमका उमका, आँसु बन्द कर ह यान कर ह । उमका

अपने भीतर हल्की अच्छी रौशनी, प्रकाश, सा, जान पड़ेगा, और 'मैं हूँ' ऐसा भाव, ऐसी चेतना, ऐसा होश भी जान पड़ेगा, वह, परमात्मा का ही आभास है।

पौ० अच्छा, तो परमात्मा ने जीव जन्तुओं, पेड़ पौधों, के लिये क्या नियम बनाये हैं ?

दा० इनके लिये, परमात्मा की ऐसी आज्ञा है कि, ये पैदा होते हैं, कुछ काल जीते हैं, अपने समान नये बच्चे पैदा करते हैं, फिर मर जाते हैं। यों ही, पीढ़ी पर पीढ़ी, प्रत्येक जाति के पेट पौधों, जीव जन्तुओं, की जाति बनी रहती है। नई पीढ़ी पैदा करने के लिये, परमेश्वर ने कई प्रकार के नियम बना दिये हैं। कुछ पौधे तो ऐसे हैं कि, उनकी एक टहनी काट कर पृथ्वी में गाड़ दी जाय, तो वह जड़ पकड़ लेती है, और उससे नया पौधा तयार हो जाता है। बहुतेरे पेड़ पौधों में फूल लगते हैं, फूल के बीच में दो चाल के छोटे छोटे सूत होते हैं, एक के भाग पर मूल ऐसा 'पराग' होता है, दूसरों के भागों पर चारीक छेद, पराग, लर बर, छिद्रों में जाता है, और सूत्र की नली में से नीचे उतर कर, एक चारीक थैली में ठहर जाता है, उस थैली में एक विशेष प्रकार का माटा मधुर मधु (शहद) होता है, उससे मिल कर, धीरे धीरे, रूप बदलता हुआ, बीज बन जाता है, जब फूल सूखता है, तब बीज, धरती, (धरित्री, सर्व-धारिणी) पृथ्वी पर, गिरकर धँस जाता है, और वर्षा ऋतु में जड़ निकाल कर, प्रसदा, अपने मा-पाप पेट-पौधे के रूप का बन जाता है। यह दो प्रकार, टहनी से, और पराग-मधु से, नयी 'पुस्त' का पैदा होना, अ-चर, अर्थात् स्थावर, घेतनों का है। अ-चर, स्थावर, वे जीव हैं, जो चलते फिरते नहीं, एक ही जगह स्थिर रहते हैं, यद्यपि 'जीव', अर्थात् स्थावर परमात्मा की चेतना का सूक्ष्म अंग, उनमें भी है ही।

पौ० क्या चलते फिरते जीवों की नई पुस्त के पैदा होने का प्रकार दूसरा है ?

पौ० गौरा के अंड-कोप तो देख नहीं पडते हैं ?

दा० नहीं, वच्चा सभी चिटियों के, तथा कछुआ, छिपकिली, मगर, घडियाल साँप आदि के नरों के, अडकोप, पेट के भीतर ही रहते हैं, जोठा लगने के समय, केवल दटिका, रधिर से भर जाने के कारण बाहर निकल आती है, और उससे, उन उन जातियों की स्त्री जन्तुओं के मूत्रेन्द्रिय के भीतर, वीर्य का निपेचन हो जाता है ।

पौ० तो मैं भी ऐसे ही पैदा हुआ ?

दा० निश्चय ही । तुम्हारे शरीर का आधा भाग, अति सूक्ष्म 'वीर्य' रूप में, तुम्हारे पिता के शरीर के भीतर बना, और आधा, अति सूक्ष्म 'रजस्' के रूप में, माता के भीतर, फिर पिता का भाग, माता के उदर में गया, नौ महीने तक तुम्हारी माता ने तरह तरह के क्लेश सह कर, तुमको अपने पेट के भीतर पाला पोसा बढ़ाया, फिर, बड़ा भारी कष्ट सह कर, छोटे मूत्रद्वार को फैला कर, तुमको बाहर लाई, और उसके बाद भी, अपने रधिर को, स्तनों में, दूध बना कर, तुम को एव वरस, या दो तीन वरस तक भी, पिलाया और चलावान् किया ।

पौ० दादा जी, माता के पेट में संभरे बाहर आने के समय, माता को कष्ट क्यों हुआ ?

दा० वच्चा, नौ महीने पहिले, जब तुम ने माता के उदर में प्रवेश किया, तब तुम इतने छोटे, सूई की नोक से भी छोटे, थे, कि आँसू से देख नहीं पडते थे, नौ महीने में इतने बढ़ गये, कि कई मर के हो गये, इस सं, माता के शरीर को, ज्यों ज्यों महीने बीतते थे, त्यों त्यों क्लेश अधिय होता रहा, और तुम्हारे बाहर आने के समय तो बहुत ही हुआ । तुम्हारे बाहर आने के बाद निश्चय नित्य दूध प्यार, दूध स्नेह, स्ने, और विशेष कर तुम्हारी बीमारियों में और दात निकलने के समय में माता ने, और पिता ने भी, रात रात भर जाग कर, अपने स्तनों पाने सोने की क्रिया छोड़ कर, दोर धूप कर, दोर दोर पतलों से हवा ले ले कर, तन को

अच्छा किया, सिलाया विलाया, कपड़ा पहिनाया, जाड़ा गाँधी पशु पधी
 कोंडे मकोऊं से तुम्हारी रक्षा किया। जिस दया से और अमीम अपाद
 शक्ति से परमात्मा सब प्राणियों का भला करता है, उग दया और शक्ति
 का एक अणु प्रतिदिन, उमने सब माता-पिताओं के हृदय में, उनके
 बच्चों के लिये, रग दिया है, जिगी के बलसे वे उनका पालन पोषण बात
 है, न केवल मनुष्य माता-पिता के हृदयों में, बल्कि पशु पक्षियों के भी,
 यहाँ तक कि जो किम पशु दूसरे अद्विज पशुओं हो मार काया जाते हैं,
 जैसे गिट, श्यान्न, बेंदुआ, हँडार, साँप, मगर, आदि, वे भी अपने जी
 बच्चों का वैसा ही प्यार, वैसी ही रक्षा, करते हैं, जैसे तुम्हारे माता पिता
 तुम्हारी। इस लिये तुम, सब से पहिले, उग सर्वशक्तिमान परमात्मा
 परमेश्वर भगवान् ही पूजा और प्रार्थना आपन हृदय के बाहर करो,
 हृदय के भीतर, क्योंकि बाहर की आँगों से वह होगा नहीं जला; और
 दूसरी प्रार्थना कर लेने के बाद, अपने माता पिता का, पिताप रर अपनी
 माता का, आदर, नमस्कार, और स्नेह करो, अपने उठ हा प्रनित
 उन ही बन्दना करो। जो लड़की लड़के अपनी माता, अपने पिता, अ
 स्वयं स्वयं मन से करते हैं, वे बिरहों आपनिया से, दुःखों लुगों के अ
 कष्टों, प्रदोन्नतों बँदनों, दुःखों से बचते हैं, पण लुगें उन ही पर
 उन ही बनें अपने, यदि उनसे दूरते हैं, सब्धी मात पिता बिक. इ. तदिस
 आप से पण ही प्रवत्त, पैसा नज, है।

पूजा दण्ड जी, क्या सब जीव जन्तु अपनी माता का पूजा के बंधन में
 कर्तव्य करते हैं ?

सकोगे, जिनमे ऐसी बातों का विस्तार से वर्णन किया है। मछलियों के प्रकार दूसरे हैं, फतिगों के दूसरे, रेगने वाले जंतुओं के दूसरे, पेठ पोधों के दूसरे।

पा० दादा जी, बहिन और भाई का व्याह एक दूसरे से अपने घर के भीतर ही क्यों नहीं होता ?

दा० परमात्मा ने मनुष्यों के हृदय के भीतर ऐसी आज्ञा दे रखी है कि ऐसा व्याह नहीं होना चाहिये। पहिले तो, भाई बहिन को एक दूसरे से व्याह करने की इच्छा ही नहीं होती, दूसरे, यदि ऐसा व्याह किया जाय, तो सन्तान या तो नहीं होती, या कुरूप, दुर्बल, रोगी होती है, पशुओं में भी देखा गया है कि यदि एक ही मा-बाप की सन्तान में 'व्याह' हुआ, तो उनकी सन्तान कम अच्छी होती है। सब मनुष्यों में, सारी पृथ्वी पर, भाई-बहिन, तथा अन्य बहुत पास के बान्धवों का (एक 'गोत्र' वालों का) विवाह बड़ा पाप समझा जाता है, और मना किया जाता है।

पा० व्याह ऐसे गाजे-बाजे धूम-धाम से क्यों होता है ?

दा० जिसमें सब लोग जान जायें कि इस युवा और इस युवती का परस्पर विवाह हो गया है, दूसरा धोई इनसे विवाह करने की इच्छा न करे, यह दोनों एक साथ एक घर में परमात्मा के दत्तायें नियम के अनुसार धर्म से रहेंगे, गृहस्थी के धामों में एक दूसरे की सहायता करेंगे, प्रेम प्रीति से सतान उत्पन्न करेंगे, और धनी सतान इनके धन को पावेंगी, यह पुरुष दूसरी की वा स्पर्श नहीं करेगा, और यह स्त्री दूसरे पुरुष का स्पर्श नहीं करेगी। हमारे माता पिता का ऐसे ही विवाह हुआ, और उन्होंने हमको प्रेम-प्रीति से उत्पन्न किया और धर्म के भीतर और बाहर पाठा पोसा।

पा० दादा जी, दिन-व्याह किये, की पुरुष एक साथ रहें तो क्या दोष ?

अन्य सब देशों के अश्वारो में उसका हाल छपा, और, एक एक दो दो महीने पर, पाँचों की तस्वीर, एक साथ, एक या दो बरस तक छपती रही, यह दिखाने को कि सब जीवित और पुष्ट है, क्यों कि जोड़ुओं (युग्म) बच्चे भी दुर्बल होते हैं, और बहुधा मर जाते हैं, फिर पाँच का जीते रहना और पुष्ट होना तो उनके एक साथ पैदा होने से भी बहुत अधिक आश्चर्य की, अजीब, बात है, उनकी माता को, वहाँ की सरकार की ओर से, विशेष पारितोषिक, इनाम, भी दिया गया । यदि मनुष्य माता को, कुत्ती, बिल्ली, झरूरी के इतने, बहुत बहुत बच्चे एक साथ हर दफा, होने लगें, तो तीस बीस बरस तक सब कैसे पाले जा सकें ? कुत्ता, बिल्ली आदि के बच्चे बहुतते मर ही जाते हैं, सूअरी के बच्चों को तो जैंगे भेद, बकरी के बच्चों को, कुछ मनुष्य ही खा जाते हैं । और भी देखो, भगवान् ने मनुष्य को बुद्धि दी है, जैंगी पशु को नहीं दी । मनुष्य तरह तरह के कपड़े बनाते और पहिनते हैं, बड़े बड़े भवन, नगर, सड़क, गाड़ी, विविध प्रवार की कला के कारखाने, बनाते और काम में लाते हैं, पशु तो नहीं । परमात्मा ने मनुष्यों के उत्तम जीवन के लिये अलग नियम बना कर उनके हृदय में घँटा दिये हैं, पशुओं के जीवन के नियम अलग हैं । परमेस्वर के बनाये नियमों का जो खी पुरूप उल्लघन करते हैं, उनको हम लोभ में, और मरने के बाद परलोक में, घोर बृष्ट भोगना पड़ता है ।

पा० दादा जी, कुछ लटके लटकी अपनी मल-मूत्र की इन्डियों के साथ खेचते हैं, यह ठीक है या नहीं ?

दा० यह ठीक नहीं है, बहुत बुरा है । हाँ, नहाने धोने के समय, सावधानी से, जैसे आर अगो की जैसे हनकी, स्पर्शना मसार् कर लेना चाहिये, कि घाँ भी मेल जरा भी न रह जाय । पर उनके साथ खेचना हनकी गुदगुदाना, बहुत बुरा है, हमसे रोग हाँ जाते हैं, दाँत और लुट्टि दोनों दुर्बल और क्षीण हो जाते हैं, तेज घट जाता है । उचित समय में

पहिले कोई काम न करना चाहिये । नया बच्चा, केवल कृप ही पी मन्ना
 है, यदि उसको पहिले ही अन्न खिला दिया जाय, तो, अपन हो कर, मर
 जाय, जम बच्चा हो जाता है, तब सेरो अन्न पचा लेता है । बार पाँच
 गरम के लड़के के गिर पर बीम पचीम सेर का बोझ रग दिया जाय, तो
 तब दब कर गिर पड़ेगा, वही, बडा होने पर, बडे मन का भी बोझ उग
 लेगा, यदि शुद्ध अन्न से, सूचाल से, उचित व्यायाम से, उगन अपना
 गर्गर पुष्ट और बलवान किया है । जिन लड़कों को मल मूत्र की दुर्बलियाँ
 ग माल करने दगों, उनको मना करो, जो, तुम्हारी उमर के, या मरणा
 तुम्हारा साथ प्यसा रात करना चाहें, उनको उँट दो, 'तुम्हारा, कंभा
 मत करो', और कहो कि 'मैं अपने माता पिता से, तुम्हारा हाल उँटूँगा,
 और तुम्हारा माता पिता से कहलाऊँगा' । स्वयं अपना मन और तन पुँव
 रखो, और अपने आचरण, उदाहरण, उपदेश से, अपने बारी और से
 करा हो, तब से, पढ़ोग से, पाठशाला से, शुद्ध और पचीम बना ॥
 प्रतापगी प्रियार्थी अवस्था से, नारी हो शुद्ध खादार और उँटनी व्यायाम
 से, और कृत्रिम का अन्ती बातों के मीगने से, अलिष्ट बनाओ, अन्त
 तब तुम्हें दिये, जिनसे मरेय बानों की चर्चा, और मरी मरे, ताद
 नो, रन्त है, बन्द छपने लगी है, इन क्लियाओं को पडने म मर
 पहिले, युद्ध-युद्धियों, हा मन सैदा होला है, और तनेके दारी म
 नो मरणा अरु पन्था है, उनही न पडना चाहिये ।

कै-क दग्य वि, विना पने कैयें ताने मुँडे कि दिवत अरु है ?

होगा। सर्वोपरि, यह सदा याद रखो, कि यदि माता पिता से, वा अन्य किसी मनुष्य से, अपना कोई काम छिपा भी लोगे, तो सर्वव्यापी भगवान्, परमेश्वर, परमात्मा से तो कभी भी छिपा नहीं ही सकोगे, वह तो सब के भीतर सदा बैठा है, तुम्हारे हृदय के भीतर भी, और सब कुछ सर्वदा देखता जानता रहता है, और कभी न कभी, देर में या जल्दी ही, अच्छे कार्यों के लिए इनाम, और खराब के लिये दण्ड, देता है।

पौ० यदि ओर कोई बात पछाने को जी चाहैगा, तो आप से पूछने आऊगा, न ?

दा० जरूर, यद्य, तुम तो जानते ही हो, कि मैं तुमको बहुत प्यार करता हूँ, जो जो पूछोगे, वह तुम को बताने का जतन करूँगा, यदि मुझे मात्स्य हो, आर तुम्हारे समझने लायक हो। जब विद्यार्थी अवस्था समाप्त करके, गृहस्थी में पैर रखने के लिए विवाह करोगे, तब तुम्हारी अवस्था दूसरी होगी, आर उसके लिये अधिक ज्ञान आर विशेष नियमों की आवश्यकता होगी, उनको तुम अभी समझ न सकोगे, उचित समय पर ये सब तुम को विदित हो जायेंगे, वृत्तों के बतलाने से, आर इस विषय पर अच्छी अच्छी पुस्तकें, अच्छे ज्ञानी आत्मियों की लिखी, जो अब मिलने लगी है, उनको पढ़ने से। अभी से उनको जानने की इच्छा मत करो, जेसा पहिले कहा, छोटा बच्चा दूध ही पचा सक्ता है, भारी अन्न नहीं।

प्यारें बच्चों !, इन बातों को ध्यान में रखो। इन प्रकार से तुम अपना, अपने घरवालों का, पत्नीयों का, आर जिनसे जिनसे तुम्हारा नग नाथ, संसार के काम बाज में, हो, उनका बलात्कण करोगे।

परमात्मा तुम को आर मनुष्य माता को स्मृति दे, आर सब बलात्कण करे करे जादा ~~...~~ य में स्तत यही प्रार्थना रहती है

उसकी आवश्यकताओं और उचित इच्छाओं का सदा ध्यान रखो, अपनी ही का नहीं। सह-धर्म-चारिता शब्द का अर्थ मनमें अच्छी तरह बैठ लो। अब, जब विवाह हो गया है, एक दूसरे की कमियाँ, न्यूनताओं, त्रुटियों, को मत देखो, गृहियों को, गुणों को, ही अधिक देखो, और समय समय पर उनकी सराहना करो, दूसरे गुण ढूँढो, और न्यूनताएँ दूर हो जाएँगी। गार्हस्थ्य से कुछ स्वार्थ सुख तो मिलना ही चाहिये, पर कर्त्तव्य-पालन और परार्थ सुख और अधिक होना चाहिये। परस्पर मीठे शब्दों का मीठे स्वर से प्रयोग करो, कटु शब्द और खुरे स्वर का नहीं। घर के आय-व्यय पर, प्रत्येक वर्ष के 'बजेट' (अनुष्ठान-पत्र, अनुमान-पत्र) पर, दोनों मिल कर, विचार और निर्णय करो। समान-शील-व्यसन के, और तज्जन्य-सुख के वर्धन के लिये, कोई अच्छी 'कला' का, जिस में दोनों का मन लगता हो, बहलता हो, एक साथ परिशीलन करो, यथा-सम्भव प्रतिदिन, इस कार्य के लिये, कुछ थोटा समय नियत कर लो, अच्छे भजनों या गीतों का गाना, घरेलू उपकरणों को ही सज कर रखना, अच्छी पुस्तक उच्च स्तर से पढ़ना, जिसे पति वा पत्नी, तथा मन्तति और अन्य वन्द्यु वाधव मित्र भी जो उपस्थित हों, सुनै-यह प्रायः अल्पवित्त गृहस्थों को भी साध्य है। अपनी अपनी 'वर्त्तव्य' सम्बन्धी (जीविका-वर्म और गृह-वर्म की) 'चिन्ताओं', तबलीकों, दासों, बी दातों को प्रायः अपने ही तक रखावे, स्वयं ही सम्हालो हों, दूसरे को (पति पत्नी को, और पत्नी पति को, सुना कर, उसके चित्त का चोंच और भारी मत करो, ही, जब विशेष परामर्श या सहायता ही आवश्यकता हो तब तो कहना ही चाहिये। धर्जा कभी मत बानना, कम खाना, कम पठिना, पर ऋण नहीं लेना, यदि सम्भव हो तो आमदनी में से कुछ, बितना भी छोड़, अग, भादे समय में लिये बचा रखना। जसा जीविन-वर्म, जेरी गृहस्थी गृहस्थों भाग्य में दिया हों, उसी से मतौष करना चाहें यो हन भी हों हें उम्मी हुराई मत करते रहना, गरी हों जिदगी और भी हरी हें जादगी ,

हैं, और उसी में सूक्ष्म कीदियाँ पैदा कर देते हैं, जिन से दाँतो सफाई की जगह और भी मढायें उत्पन्न होती हैं, अब, 'सिंथेटिक (synthetic) सूत्रों (कडे वालों के ऐसे) के ब्रह्म बनने लगे हैं, जैसे 'नाइलोन' (nylon), जो दृढ़ भी है और 'पवित्र' भी, और बहुत दिनों तक काम देते हैं। स्त्रियों को अपना शरीर भी और हृदय भी दृढ़ बनाना चाहिये, जैसा समय आया है, इसमें, स्त्री का नाम 'अबला' न रह जाना चाहिये, 'सबला' होना चाहिये, दुष्ट मनुष्यों से आत्मरक्षा की शक्ति उनमें होनी चाहिये, समाचार पत्रों में कभी कभी पढ़ने में अब आने लगा है कि इस इस म्यान पर, कुमारी ने वा विवाहिता ने, छेदने वा आत्ममग्न करने वाले मनुष्य को इस इस प्रकार से मृत पीटा, दिना इससे इस समय में गति नहीं। युक्तप्रान्त के एक उत्तरी जिले में अच्छे बुद्धिमत्तों की एक बेटा ने मुझ से कहा कि एक दिन, अपने घर के लोगों के साथ, नहर के किनारे टहल रही थी, कुछ दूर पर, उसी मटक पर, एक लम्बी जाट स्त्री, सिर पर घास का भारी बोझ रखे, जा रही थी, सामने में तीन गोरों पौजी आये, एक ने उस स्त्री से छेद-छाड़ की, स्त्री ने सिर का बोझ नीचे गिरा दिया, बाये हाथ से उस गोरों पौजी का हाथ पकड़ लिया, दाहिने से उसके मुँह पर जोर का धक्का लगाया, 'फिर ऐसा करेगा?' वह वर उसका हाथ छोट दिया, गोरों पौजी अपने हाथ से अपना गाल मलता हुआ, 'बेरी स्टाट हेंदी, बेरी स्टाट हेंदी' ('Very strong lady, 'बेरी जबरदस्त औरत') कहता हुआ भागा। अब तो भारतवर्ष की ऐसी स्त्रियों की अधिकाधिक संख्या में आदरप्रयत्न है। विदु, इसमें वा अर्थ नहीं निगलना, कि भारत की स्त्रियों सब सर्वदा प्रतिवा प्रती हैं। आदर्श स्त्री आत्मरक्षा और अवदरक्षा के लिये तो मित्र-वार्ता दुर्गा-देवी, और अपने बुद्धिमत्तों के लिये गौरी-अरुण-गृहलक्ष्मी और बच्चों के लिये तो दुध घाती गौ-माता ही होती है।

ॐ स्वस्ति तु पितृभ्यो नमो गौरवेण अतिरिच्यते ॐ

ॐ मातर ! वन्दे ॐ

ॐ मेधाऽगि देवि विदित्वाऽगिल शाय गाम,
 दुर्गाऽगि दुर्गे-मा-गामर-नीर् अगंगा,
 श्री नैट्माऽरि-उदय-एक-कृ ताऽभिनामा,
 गौरी तं एा जशि-मौलि-कन प्रतिष्ठा ।
 ते सम्मताः जनपदेषु, धनानि तेषां,
 तेषा यजागि, न च गीवति तंनुगी,
 वन्या ते एव, निवृत्ताऽन्मज-मृग्य-दामाः,
 तेषा मदाऽभ्युदयस भवती प्रगच्छा । ॐ

ॐ

(पूर्वागत 'रग-मीमांसा' आचार्य से, पृ० १७३ पर, काम में मंत्र के
 रग में पूर्ण कृष्णाचारा के वर्णों के श्लोक का हिन्दी अनुवाद, पृ० ६१)

मने नारायण रण

म शन मी तय, शरु पुरुषान की पुरुषामार ;
 शान की पारतेश मनि नर कीगानु है ;
 मशान ही पवन जन , दुष्ट भूमिपा दन की
 दामर , यम मानु पि ता रवासे एत जानु है ,
 मने नै नै गम ही है , मरुत की ही र शिवा
 मने नै नै गम है ; मने नै गम है
 मने नै नै गम है ; मने नै गम है

(मने नै नै गम है , मने नै नै गम है , मने नै नै गम है , मने नै नै गम है)
 मने नै नै गम है , मने नै नै गम है , मने नै नै गम है , मने नै नै गम है
 मने नै नै गम है , मने नै नै गम है , मने नै नै गम है , मने नै नै गम है

५—विवाह और वर्ण ।

चतुःपुरुषार्थसाधक वर्णसम्बन्धी धर्म में अन्तर्वर्ण-

(‘अ-स-वर्ण’)-विवाह का स्थान ।

विगड़ी प्रथा के शोधन के लिये नये विधान की आवश्यकता ।

(पृ० २४१ २४२ पर. भारत की केन्द्रीय व्यवस्थापक सभा में, ‘अन्तर्वर्ण’ वा ‘अ-स-वर्ण’ विवाह सम्बन्धी विधान के उपन्यास की चर्चा की गई है । उसकी ओर भारत जनता का, समग्र देश में, ध्यान आकर्षित करने के लिये, सात अंग्रेजी लेखों की एक लेखमाला, सय प्रान्तों के मुख्य मुख्य दैनिक पत्रों में प्रकाश कराई गई, और उसका हिन्दी में आशयाऽनुवाद, काशी के ‘आज’ पत्र में, १९३६ ई० में, छपा । उसी का, पुनर्दृष्ट, शोधित, काली सक्षिप्त काली उपट्टित, रूप, यह अध्याय है । इसी आशय का व्याख्यान, मैं ने, दो दिन, ता० २८ जनवरी, १९३७, और ४ फरवरी, १९३७ को, केन्द्रीय व्यवस्थापक सभा में किया, परन्तु कार्यसिद्धि यहाँ नहीं हुई, जैसा पृ० २४१-२ पर लिख चुका हूँ ।)

उपन्यस्त विधान

२६ सितम्बर १९३५ को, भारत की केन्द्रीय व्यवस्थापक सभा (लेजिस्लेटिव असेम्बली) में, हिन्दू-अन्तर्वर्ण-विवाह-सम्बन्धी एक विधान का प्रस्ताव मैं ने किया । १७ अप्रैल सन् १९३६ को सभा में निम्न विधा गया कि, १५ जुलाई तक उस पर लोकमत संग्रह करने के लिये यह प्रस्तावित किया जाय । प्रस्तावित विधान के शब्द ये हैं—

“यह आवश्यक है कि उन उद्देश्यों की सिद्धि के लिये जिनका धार्मिक चर्चा की जायगी, हिन्दुओं के भिन्न भिन्न लोकमते वर्णों में परस्पर विवाह, वानर्ण (धर्मसंगत, स-सर्वादि, धर्मिण, वध, जन्म-प्रसूति-‘स-पुत्र’, ‘वर्णित’, स्त्र) समाना जाय । इन लिये निम्नलिखित विधान बनाया जाता है ।

आरम्भ में ही, ऐसे सब लोगों को, जो हम विधान के विरुद्ध हैं, साऽनुनय विश्वास दिलाया चाहता हूँ, कि किसी की हानि नहीं चाहता, प्रत्युत सब की सेवा करना चाहता हूँ, प्राय ४० वर्षों में, परमात्मा की दी हुई अल्प बुद्धि के अनुसार, हिन्दू समाज और हिन्दू धर्म की सेवा करने का यत्न किया है, और साथ ही हम बात का भी यत्न करता रहा हूँ, कि इस देश में बसने वाले अन्य धर्म वालों के साथ हिन्दुओं का मौमनस्य बढ़े। यदि मैं ने भूल की हो, या फिर करूँ, सेवा के बदले अपकार किया हो, या फिर करूँ, तो यह मेरी इच्छा या नीयत के दोष में नहीं हुआ है और न होगा, अतिक्रमण और विचार के दोष से हुआ है और जागे हो सकता है।

‘दिल’ (प्रस्तावित कानून) के विरोधी सज्जन यदि केवल इतना भी मान लेंगे, कि श्री विठ्ठलभाई पटेल नेकनीयती से हिन्दू समाज की सेवा करने की मर्चा अभिलषा से प्रेरित थे, तथा मेरा भी भाव ऐसा ही है, तो हम विधान पर मार्गजनिक चर्चा और बहस, कटुता से रहित होगी, और सत परामर्श तथा गुणदोषसमाक्षा के सच्चे भाव से प्रेरित होगी, जो ही सच्चे लोकोपकारी कार्यों के साधन का एकमात्र उपाय है।

जैसा गीता में कहा है,

प्रसन्नचेतसो हि भाग्य बुद्धि पार्श्ववतिपते,
प्रयारे सर्वदृश्याना तानिर् अरथ उपजायते ।

जब चित्त प्रसादयुक्त, प्रसन्न, धान्त, होता है, तब बुद्धि सुस्थिर हो जाती है, उसमें से सबलता पैदा होती है, और तभी वह उन सत्त्वों, तत्त्वों, उपायों को निश्चित रूप में देखती है, जिनके द्वारा मनुष्य के सब दुःख दूर होते हैं।

हम भूमिगत से बात, जिसका वह उद्देश्य है कि शक्ति का वातावरण बंध जाय, अपनी मूर्खता को पेश करता हूँ।

हिन्दूधर्म की विशेषता

यद्यपि मेरा यह निश्चित मत है कि मूल वर्णधर्म में, अर्थात् आर्यों द्वारा विहित जीविका-कर्म के अनुसार, समाज को चार वर्णों में विभक्त करने के प्रचार में, यह आवश्यक नहीं था, (जैसा आर्यों विष्णुवादी मानते हैं), कि वर्ण अथवा उपवर्ण के भीतर ही विवाह सीमित रहे, तथापि वर्णमानने को तैयार हूँ कि सम्भव है कि इस रीति में, तियाही कष्टों से यह विश्वास कम करना चाहता है, पूर्ण काल में कुछ लाभ हुआ हो, रा देश की परिस्थिति दुगरी थी। यह कहने का साहस नहीं कर सकता कि इस प्रकार का, वर्ण-नाम के भीतर अवशिष्ट अवस्था विवाह, वर्ण वर्णों या स्वभावतः हानिकर ही था और है। परन्तु यह कहने का साहस साहस करना है, कि किसी चीज की भी 'अति' करना प्रायः ही सुप्रसिद्ध सम्कृत कहावत है, "आश्रयेन मयमां वर्ति, अति वर्ति वर्तयेत्"। बुद्धदेव ने अपने मार्ग का नाम ही 'मयम परिपामि' रखकर पैगम्बर मुहम्मद की भी एक हठीयत है, 'दीर-अल उमर ओमाना' ने ही यह नाम प्रये होने से ता यीच का साहस पहचाना है।

तस्मात् अन्य प्रभवति, सोऽपरम् वाधते पुन ,
आचाराणा न्नै काग्रथम्, तस्मात् सर्वत्र लक्ष्ये ।

(महाभारत, शान्तिपर्व अध्याय २६६, ३१४)

इन प्रकार से हिन्दू धर्मशास्त्रों में धर्मव्यवस्थापन के सिद्धान्त को स्पष्ट कर दिया है और उस में देश-कालानुसार परिवर्तन, विरोधी भावों के समन्वय समझाते, आदि की पूरी गुजाइश रखी है। मानव समाज की मूल से पुरानी कानून की पुनः मनुस्मृति है, उस में स्पष्ट रूप से कहा है कि धर्म, कानून, अर्थात् अधिकार और कर्तव्य को परस्पर बांधने वाले नियम मनुष्य जाति की अवस्था के अनुसार बदलते रहते हैं, सत्ययुग त्रेतायुग, द्वापरयुग, और कलियुग में मनुष्यों के धर्म दूसरे दूसरे होते हैं,

अन्ये कृतयुगे धर्मा त्रेतायाम्, द्वापरे,ऽपरे,
अन्ये वतियुगे, नृणाम्, युग-सासाऽनुष्पत ।

(मनु, १, ८५)

‘नाग्रा मवर्ण-विवाह’ के नियम को कदाई में पालन करने का, दूसरी स्थिति में चाहे कुछ ही फायदा हुआ हो, अब तो, हिन्दू समाज में इसकी ‘अति’ हो गयी है, और इस से अनेक घृणित हानि हो रही हैं। दुरुत से लोगों का यह निश्चित मत हो रहा है, और ये लोग ऐसे हैं जो किसी प्रकार से अदिवेदी, जट्टबाज, अधवा अपरिपक्व-तुष्टि के नहीं बने जा सकते।

दिवंगत पण्डित मोतीलाल नेहरू, देवदत्त चित्तराज दास और जीवन्त महात्म गांधी, श्री राजगोपालाचारी आदि जैसे बड़े बड़े देशभक्त और नेता—जिनकी उत्तम प्रति, और आ समाज में किसी को संदेह नहीं हो सकता, और जिनके में भारतीयों के उत्तर के विषे, और साथ ही साथ, हिन्दू धर्म में सत्य जो सत्य-प्रिय हित कर सकते हैं, उन की रक्षा के

दिये, इतना कार्य किया है—सब की सही राय है कि इस प्रकार म
 गणनी के साथ 'नाम मात्र के सम्पूर्ण विवाह' का प्रकार उचित नहीं है
 और उन्होंने ने यह मत ही नहीं प्रकाश किया, बल्कि, जैसा कि मन्त्र
 नेसाभा के लिये योग्य है, इस विचार के अनुसार आचार भी लिया, और
 वे अपने उद्देश्य के सामने उपस्थित किये । नागरिकों की अन्य
 शक्तियों में भी ऐसा विवाह समय समय पर होना आ रहा है, और अब
 यह विचार ही संस्था में हो रहे हैं । अतः इस विचार को इन सब लोगों
 का प्रार्थना प्राप्त होना ही आशा हो सकती है, जो यह मानते हैं कि
 मन्त्र विधान का अनुसरण ही आरंभ हुआ है या मन्त्र ही मन्त्र है कि
 मन्त्र ही मन्त्र का अनुसरण किया जाय, और 'जति' का प्राथम्य देने में
 नरक तथा अन्य सब रचना है ।

इसी तरह, कुछ निजी रुपया पैसा, कुछ निजी सम्पत्ति, कुछ निजी जगह जमीन, तथा रहन सहन के ढंग और दरजे में कुछ अन्तर, जो औचित्य की सीमाके अन्दर हो, मनुष्य की भोग्य वस्तुओं के विनिमय की सुविधा के लिये, प्रयविक्रय की सुकरता के लिये, तथा जीवन को रोचक बनाने के लिये, उपयोगी हैं, अनिवार्य हैं। पर 'पूजीवाद' और 'थैली-शाही' और चल अचल सम्पत्ति पर 'इजारों' की (एकसत्ताकता, 'मोनो-पोली' का) 'अति', 'धनिकतन्त्र', अति हानिकारक है, और व्यापक असन्तोष तथा विषम की सृष्टि करता है।

इसी तरह, देश की रक्षा के उद्देश्य से खटी की गयी सेना, और जुटाये गये हथियार, अस्त्र शस्त्र, उचित सीमा का 'अति'-ग्रामण करने पर, 'लाठीशाही' और विषमकारी 'नैनिकतन्त्र' का रूप प्राप्त कर लेते हैं, और सदा भार-काट मर्ची रहने का कारण होते हैं।

इसी तरह, चित्त को शांति देने के लिये क्रपियो की खोज से निश्चित की हुई पारलौकिक विद्या भी 'अति' का आश्रय लेने पर, 'पोधीशाही', 'पुरोहित-राज्य', और लोकविनाशक पुरोहिती स्वार्थ के साधन का रूप ग्रहण करती है, और स्वप्रदायिक ढंगों, धर्म के नाम पर होने वाले अमानुषिक अन्याचारों, 'जेहादी' हत्याओं और अन्त में उग्र मुधारों का कारण बनती है।^१

हिन्दू स्थिति, और सामाजिक जीवन के नियम, 'अति' की ओर, ज्यादाती की ओर, बहुत चले गये हैं। जिन लक्ष्यों के लिये उनकी सृष्टि हुई थी, और उनके उल्टे परिणाम वे उत्पन्न कर रहे हैं। शरभ में, उनकी

१ इन चार 'अतियों' के ४ व नाम—राज्य राज्य, ६-राज्य, वैश्व राज्य, नद राज्य - समस्त १५ का नाम राज्य। उन्हीं में, दो राज्य, (अश्वमेध राज्य और) विद्विज्य, ५ विद्विज्य प्रोविद्विज्य राज्य (१० विद्विज्य (या विद्विज्य-देवो-विद्विज्य))।

राष्ट्र, समाज-व्यवस्था की एक सम्पूर्ण योजना के अंग के रूप में, पूर्ण थी। हाथ और दाँत का व्याप्योचित बँटवारा कर के, जीविका के अंग में होने वाली अव्यवस्थित उद्भंग्य प्रतिस्पर्धी की सुराडियों से समाज के सब अंगों को परस्पर बाँध कर, एक सम्पूर्ण जारी की रचना करना, जिसके सब भाग एक दूसरे पर आश्रित हों, और पूरी परिष्कृत उपज करना जिसमें समाज-शील-व्ययन के ही पुर्यों में, सर्वो समाज हो, सुखमय और सफल विवाद सम्बन्ध हाथ में सुनिश्चित हो, ऐसा समाज उद्भव करना जिसके द्वारा उद्भव के, और उद्भव के द्वारा सब समाज के, जिन और सुख की सुविधा हो -- यह उद्भव समाज व्यवस्था का विशुद्ध और दशम उद्भव था।

शुद्ध और समाज

होता है कि, सम्पूर्ण समाज, न केवल मानसिक दृष्टिसे, किन्तु शारीरिक दृष्टि से भी, परस्पर सम्बद्ध, मयुक्त, दिखाई देता है, और उसका आधार, परस्पर का सहयोग हो जाता है। इस प्रकार सभी लोग एक ही शरीर और एक ही आत्मा के अंग वास्तव में हो जाते हैं।

रोटी-बेटी का सम्बन्ध, अन्न-सम्बन्ध और यौन-सम्बन्ध, ये ही प्राण सम्बन्ध हैं। पर, जब प्रत्येक व्यक्ति ही समाज का स्वतन्त्र अंग समझा जाता है, तब, जिस समुदाय में घट रहता है, उसके साथ उसका सम्बन्ध मनमाना और प्रतिस्पर्धा-मूलक हो जाता है, और इस कारण से, वह समाज मजबूत होने के बजाए और कमजोर हो जाता है। यही कारण है जो आज हम, व्यक्तियों के, और ऐसे व्यक्तियों से निमित्त राष्ट्रों के, बीच, इतना उग्र टोपभाव देख रहे हैं, जिससे आज सारा मानव-प्रायुमण्डल व्याप्त हो रहा है। न केवल राष्ट्र राष्ट्र में संघर्ष हो रहा है, बल्कि प्रत्येक राष्ट्र के भीतर भी, अमीर और गरीब में, शासक और शासिता में, बलवान और दुर्बल में, और—संघर्ष की पराकाष्ठा—स्त्री और पुरुष में, पिता और पुत्र में, गृह और जवान में, पुरानी पुरत और नई पुरत में, संघर्ष बढ़ रहा है।

घटोरता की हास का कारण

भारतीय रसम-रिवाज भी, यद्यपि आरम्भ में वे लगभग सामाजिक संघटन से वैज्ञानिक सिद्धान्तों पर आधारित थे धीरे धीरे, कुछ अंगों पर बहुत ज्यादा जोर दिये जाने, और हमने अज्ञान की अपेक्षा होने से, वर्तमान जातिभेद में परिवर्तित हो गये। हम व्यवस्था की सामाजिक घटोरता, हिन्दू धर्म में भारतीय जनता में हिन्दू जाति के अस्तित्व का, और पुरत अप्रत्यक्ष रूप से अन्य जातियों के भी हास का, मुख्य कारण है, क्योंकि आज के दिन कायदा है उन्होंने सब की गर्दन पर ही टोरी में दधी है। जिनेन तो सब साथ ही, और उदोने

सच्चे वर्णधर्म का स्वाग है, जिसे बाहरी आलोचक, विस्मय और तिरस्कार की दृष्टि से देखते हैं।

यदि ठीक ढवा समय से न दी गयी, तो इन रूढ़ियों और रिवाजों की दिन दिन बडती जाने वाली कठोरता, हिन्दू समाज शरीर की मृत्यु का कारण होगी, जैसे कोमल सप्राण तन्तुओं का कड़ा पड़ जाना, धीरे धीरे, कुछ काल में, व्यक्ति-शरीर के जीवन का अन्त कर देता है। अथवा ही, जो मानव समुदाय इस समय हिन्दू समाज के नाम से पुकारा जाता है, वह और उमकी सतति प्रसतति यदि हिन्दू धर्म (ईश्वर न करे) मिट भी जाय, तो भी नष्ट न होगी, पर आध्यात्मिक सस्कृति, तथा सभ्यता के कुछ बहुमूल्य तत्व, तथा समाज-सघटन के उत्तम सिद्धान्त, बहुत दिनों के लिये लुप्त हो जायेंगे, जिससे सारी मानवजाति की भारी क्षति होगी।

प्राचीन वर्ण-व्यवस्था के वैज्ञानिक आधार

वर्ण-व्यवस्था के नाम से प्रसिद्ध, मनुष्य समाज के व्यूहन का आध्यात्मिक तत्व, वास्तविक रूप और व्यावहारिक उद्देश्य, जब ध्यान में लाया जायगा, तब यह स्पष्ट होगा कि प्रचलित नाम मात्र स्वर्ण विवाह की रीति का बहुत बड़ा ही पालन करना, उक्त व्यवस्था के सिद्धान्तों के अनुरूप नहीं है। भारत में, मानव-समाज की स्वागोपाय व्यवस्था ही वर्ण-व्यवस्था थी। इस पश्चिम में 'नोशल आगेनिजेसन' रहते हैं। इस में चार परस्पर सम्बन्धित वर्णों (१) शिक्षा-समूह, ('एड्युकेशनल आगेनिजेसन', 'एजेंट प्रोपे टान्स') जिसके अवयव, तपस्वी-द्विजान प्रत्यक्ष प्राणण वर्ण के शिक्षक, और प्रत्यक्ष ही अर्थ के विद्यार्थी, (२) रक्षा-समूह, राजनीतिक प्रबन्ध, ('प्रोटेक्टिव आगेनिजेसन', 'एग्सेक्यूटिव प्रोपे टान्स') जिसमें सारथी, निदल-रथ 'क्षत्र' वर्ण, क्षत्रिय वर्ण, और (स्थापण एपि में) वनप्रस्थ आश्रम, के लोग थे, (३) जिविका-समूह, आधिपत्य सघटन, ('इकोनॉमिक आगेनिजेसन

कृण्वतो विश्वम् आर्यम् । (ऋग्वेद)

‘शारीर शास्त्र’ (आयुर्वेद) का सिद्धांत यह है कि देह धारी जंतुओं की पारम्परिक पीढियों की उत्पत्ति में दो निम्न सदा कार्य करते रहते हैं ।—(१) पितृक्रमाऽगम नियम, पितृ-परम्परा नियम, जन्मना-सिद्ध-स्वभाव नियम, आनुवंशिकता , (२) स्वतो-विशेषण नियम, नवोन्मेष नियम, कर्मणा-न्याधित-(व्यक्तीकृत, व्यजित)-स्वभाव नियम, वैयक्तिक विशेषता । आधुनिक पाश्चात्य वैज्ञानिक, (१) को ‘ला भाफ हेग्रेट्टी’, (२) को ‘ला भाफ स्पान्टेनियस वेरियेगन या म्युटेशन’ कहते हैं । अर्थात् (१) कुछ गुण तो जन्म से ही, माता-पिता द्वारा, प्राप्त होते हैं, और (२) कुछ का स्वतः व्यक्तिविशेष में प्रादुर्भाव होता है । इनका फल यह होता है कि (१) एक ही माँ-बाप की सन्तति, शरीर और पुष्टि में, अपने माँ-बाप के सदृश और एक दूसरे के सदृश, कुछ अंश में, होते हैं, और (२) नया ही, दूसरे अंश में, उनमें विलक्षणता भी होती है । पुराने शब्दों में, इनके ‘जन्मसिद्ध गुण’ और ‘कर्म-सिद्ध गुण’, अथवा ‘यानिकृत’ गुण और ‘तप धृतकृत’ गुण, कह सकते हैं । इन परस्परभेदी नियमों का मूल कारण, ब्रह्मविद्या में मिलता है । परमात्मा की ‘एकता’ ही, स्वप्न में जो कुछ एकता, समता, स्थिरता, सन्तत-भाव, अविच्छिन्न परम्परा देख पड़ती है, उसकी हेतु है, और परमात्मा की स्व-भाव-रूप प्रकृति की ‘अनेकता’ ही, स्वप्न में जो कुछ द्युता, विचित्रता, विभिन्नता, आर परिवर्तनशीलता है, उसकी कारण है ।

‘अन्तःकरण शास्त्र, चित्तशास्त्र, अध्यात्मशास्त्र’ का सिद्धान्त यह है कि चित्त में तीन गुण हैं, जिनमें से, प्रत्येक चरित्र में, एक का प्राधान्य होता है, आर ‘हि ज’ अर्थात् सुशिक्षित, सुस्मरणात्, स्थिति, जो त्रितीय द्वार, आत्मज्ञान में, जन्म पा सुखे है, वे, शर्मा हेतु में तीन प्रकार से होते हैं — (१) ज्ञान प्रधान, (२) विद्या-प्रधान, तथा (३) इच्छा-प्रधान, और बाकी दोनों चतुर्थ प्रकार की धर्मों से हैं, जो अल्पकृति बालकृति

उत्तरदायित्व-सवेदन, और कर्तव्य-परायणता, के भाव में परिवर्तित हो जाती है, जब उन्हें मत्तति उत्पन्न होती है। पर, जैसे अन्य बातों में, वैसे सन्तति में भी, 'अति' से बहुत दुःख पैदा होता है। जब इतनी मत्तति हो कि माता पिता उनका उचित रूप से पालन-पोषण न कर सकें तो अनर्थ हो जाता है। साथ ही, यदि जान वृक्ष कर सर्वथा सन्तति का निरोध किया जाय, एक दो अपत्य भी न हों, इस लिये कि सब प्रकार की कष्टदायी जिम्मेदारियों से, उत्तरदायित्व से, मिया-बीबी बचे रहें, और केवल अपने ही इन्द्रिय-सुख की लालसा को तृप्त करें, तो ऐसी केवल काम-वान्मना से रमार्थ अधिकाधिक प्रचलित होता है, थोटे ही समय में सभी इन्द्रियाँ बूढ़ हो जाती हैं परम्पर ग्लानि हो जाती है, सब देवाहिक प्रेम और सुख नष्ट हो जाता है, हर प्रकार के व्यभिचार, पाप, और अपराध, अधिक होने लगते हैं, आर नाना प्रकार के सामाजिक दोष और रोग प्रचल जाते हैं। अतः, स्मृतिकारों ने गृहस्थधर्म को ही सर्वश्रेष्ठ मान कर उसकी प्रशंसा की है। क्योंकि उसी से अन्य आश्रमों का पोषण होता है। साथ ही साथ, बहुत सन्तति की भी निन्दा की है, यही तब कि एक पहिले पुत्र को ही 'धर्म-ज' कहा है और दूसरों को 'काम-ज'। (मनु, अ० ३ श्लो० ७७, ७८, ७९, ८०, ८१, ८२, ८३, ८४, ८५, ८६, ८७, ८८, ८९, ९०, ९१, ९२, ९३, ९४, ९५, ९६, ९७, ९८, ९९, १००)

'अर्थ शास्त्र वा सिद्धान्त, वर्ण-धर्मशास्त्र समाजशास्त्रों की जटिल मुनिप्राय में, यह है कि, जीवियोंपार्ष्ण में अनिश्चित विनाशकारी प्रति-रिक्ता कर दी जाय, या कम से कम उनकी पराधियों कम की जायें। इस लिये, चार वर्णों के लिये, चार, निश्चिन्त प्रकार की जीविका सुविधा निश्चित कर दी। जो लोग अपनी दारिद्र्य और मानसिक प्रकृति के कारण पैतृक जीविका के योग्य हों, वे निश्चिन्त उसी वा अवलम्बन करें। पर जो किर्तन व्यक्ति में लक्ष्य प्रकार वा स्वभाव पाया जाय, तो उनको वा इच्छा करे कि वह अपनी

चाहिये । तथा, किसी को किसी दूसरे के क्षेत्र पर (विशेष कर जीविका के साधन पर) आघात करने का कोई अवसर न मिलना चाहिये, न किसी वर्ग या व्यक्ति को दो या तीन या चारो प्रकार से जीविका उपाजन कर सकने की इजाजत होनी चाहिये । अवश्य ही जीविका (रिज्क) के चार प्रान्त तरीकों में प्रत्येक के अन्तर्गत बहुत से उपप्रकार हैं । इस सिद्धान्त की जड़ में यह वैज्ञानिक और प्राज्ञानिक ('सायटिफिक' व 'मेटाफिजिकल') तथ्य है कि मनुष्यमात्र का परस्पर सम्बन्ध, शारीर ('बायोलॉजिकल') और चैतनीय (चेतनात्मक, 'रिपरिचुअल') भी है । जन्म पाठशाला में कहा है, "वी आर् आल् एफेश आफ् दि सेम् लेश, ऐण्ट रिपरिट आफ् डि से सेम् रिपरिट," सब प्राणियों में एक ही भौतिक तत्त्व, सब जीवों में एक ही चेतन तत्त्व है, सब ही एक ही प्रकृति पुरुष की नतान हैं, उसी के अनन्त रूप हैं । हमको सदा याद रखने में परस्पर स्नेहभाव सहायताभाव बढ़ता है । साम्प्रत काल में, 'व्यक्ति' ही को, 'समाज' वा 'आरम्भक अणु' मानने की प्रवृत्ति बड़ी हुई है, इस का फल यह है कि 'बायोलॉजिकल ग्रोण्ट' ('जन्म सम्बन्ध,' 'धौल-सम्बन्ध,' 'पार्ता-सम्बन्ध,' 'बोम्बो-सम्,' 'बोम्ब्युनिवर्स,' 'बोम्बर्सम्' के 'प्राण-सम्बन्ध') में शुचिता और स्थिरता रखने की उपयोगिता का, जो 'रिपरिट' (आत्मा) में विद्यास का, आठर कम हो गया है 'वेयक्ति' शरीर वा पृथि वा ही आग्रह अधिक रहता है, परस्पर न्यर्ष बढ़ता है, दालन विध मुह होने हैं ।

दूसरा 'सामाजिक सिद्धांत', जिस का प्रभाव बहुत ही व्यापक है और जो पुरातन सामाजिक व्यवस्था में अनुस्यूत था, यह है कि व्यक्ति नहीं अपि तु (व्यक्ति) धर्म वा सुदुर्म, समाज का आरम्भक अणुव ('यूनिट') । । इस विषय पर पहले कहा जा चुका है ।

'समाज शास्त्र' का एक और बहुत गौरव-पूर्ण सिद्धान्त, वर्ण वर्ग के गुण गुणा, यह भी है कि प्रत्येक व्यक्ति के जीवन का मोह मोह में एक

विद्यात होना चाहिये, पहला भाग, अध्ययन में; दूसरा, शारीरिक और चिकित्सात्मक में, तथा सन्तति के पालन-पोषण में; तीसरा, विद्यात के रोज या प्रतिफल या परिणत के, शारीरिक रोज में, और चौथा, न. सामाजिक ध्यान और साक्ष्यात्मक में; ह्यतीत होना चाहिये। दूसरे प्रमाण उपरिक्त भागों और पाठनाओं का नियंत्रित नियमित रोज, जिस में विद्यातों में होने देना चाहिये, और पराधीन प्रदान व्यापारों में और श्रम-रुद्ध का अधिभारिक, पतिष्ठित परिमाण, साया में मात्र, रोज में विद्यातों में होना चाहिये। 'साक्ष्यात्मक' का नाम से पतिष्ठित साक्ष्यात्मक का यह मूल सिद्धांत है, जिसमें 'वैयक्तिक' जीवन का पक्ष प्रिय गया है। इसका अर्थ यह है, जिसमें 'वैयक्तिक' जीवन का प्रकाश प्रिया गया है। इन दोनों का, शारीरिक और साक्ष्यात्मक, रोज ही सम्बन्ध है रोज कपड़े में लाने और पालन का।

वह, यदि पूरी तरह से हटाई न भी जा सके, तो भी बहुत कम जरूर की जा सकती है।

‘राजनीति शास्त्र’ (धर्म शास्त्र के अतर्गत) का सिद्धान्त, जो इस वर्णव्यवस्था में ओत-प्रोत है, वह यह है कि, चारों जीविकाओं के अनुसार विभक्त श्रेणियों का पृथक् पृथक्, परन्तु परस्पर अवलम्बित, व्यवहन हो। उन में आपस में शक्ति का उचित बँटवारा रहे, और शास्त्रशक्ति (ज्ञान बल), शस्त्र-शक्ति (सेना बल), अन्न-शक्ति (धन बल), और सेवा-शक्ति (श्रम बल), सब के सब, किसी एक समुदाय अथवा व्यक्ति में केन्द्रीभूत न हो सकें, क्योंकि एक ही हाथ में कई शक्तियों के आने का स्वाह-म-स्वाह यह नतीजा होता है कि अहंकार, अभिमान, दर्प, गर्व, मद, उच्चरूढ़ता, निर्मर्यादता, अवश्यमेव उभरते हैं, प्रजा के शिक्षण रक्षण पालन के साम्यभात्र दब जाते हैं, और अनियमित अधिकार का दुरुपयोग करके दूसरों को पीटा ठेने का भाव निश्चयेन बढ़ता है। पुराणों में, नहुष, रावण, आदि के घोर अत्याचारों के वर्णन के आरम्भ में कहा है, “न स्वयामेव देवाना अधिवारान् स्वयम् एव अधितष्ट”, अलग अलग देवताओं के जो अलग अलग अधिकार थे उन सब को टॉन कर अवेले अपने ही हाथ में उभने कर लिया। शिक्षक, रक्षक, पालन और सहायक, इन सब दों, अपने अपने दायरे में, परिधि के भीतर, काम करना चाहिये, इस लिये, कि किसी वर्ण या वर्ग को किसी दूसरे वर्ण या वर्ग पर अनियमित अधिकार रखने की, अथवा उसदों पर के नीचे उतारने की इच्छा करने का अवसर न मिले।

‘शिक्षा शास्त्र’ (धर्मशास्त्र के अतर्गत) का सिद्धान्त यह है कि, प्रत्येक वर्णों को, जो जरा भी शिक्षा पाने योग्य है, न्यायान्तिक (‘कान्तिक’) शिक्षा के साथ साथ उस प्रकार वास्तविकान्तिक (‘वैश्वान्तिक’) अर्थकर, वास्तविक-साधना, विशेष शिक्षा ही प्राप्त, जिसके प्रति उसका स्वभाव में प्रवृत्ति हो। और इस प्रवृत्ति को समझने, पहचानने, द लिखे, उनमें

विवाह से, विशेष प्रकार से अभ्यात्म वेदी हो कर, भोजन लेता और पचाने का कार्य करता है।

'सनातन्य शास्त्र और विवाह शास्त्र (आयुर्वेद और कर्मशास्त्र)' से मिलकर यह है कि भोजन और विवाह के बारे में पचाने की रीति-रिवाज, हर तरह की शुद्धि, सफाई, विवाह करने का कार्य, और ऐसे ही लोगों के साथ भोजन और विवाह करना पड़िये जो मसान जगह और श्मशान जगह हैं, फिर ही सनातन शास्त्र से। ऐसा ही करने से व्यक्ति जीवन में, सद्गुरु जीवन में, और धर्म जीवन में, साथ ही श्रेष्ठ गुण की प्राप्ति हो सकती है।

हुए और इस में मिल गये। वर्ण-आध्रम-समाज-व्यवस्था ताँ एक ऐसा साँचा, ढाँचा, चार खानों का है, जिन्में सब प्रकार के मनुष्य, अपनी प्रकृति, अपने स्वभाव-गुण-(जीविका) कर्म के अनुसार सहज में ढाले जा सकते हैं, और जाते थे। आज भी यह प्रत्यक्ष देख पड़ता है कि हमारे बीच में पंजाबी, नारदायी, अवधी, मध्यदेशी, बंगाली, मद्रासी, मराठे, गुजराती, ओर बाली द्वीप के, ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र मौजूद हैं, और इन के प्रत्येक दल (गरोह) में ऐसे लोग हैं, जो अपने को, वैष्णव वा शाक्त वा शैव वा सैकटों अन्य सम्प्रदायों में से किसी एक सम्प्रदाय के, विशेष नाम से पुकारते हैं, और जो विविध प्रकार की भाषा में बोलते हैं।

प्राचीन व्यवस्था के मौलिक सिद्धान्तों के अनुसार, कोई कारण नहीं है कि हमारे में बसने वाले सभी लोग—चीनी, जापानी, ईरानी, अरबी, फरासीसी, जर्मन, अंग्रेज, चाहे वे ईसाई, मुस्लिम, यहूदी, या और कोई मजहब के हों, इन्हीं चार जीविकानुसार गरोहों या पेशों में विभक्त न किये जायें। प्रत्युत बहुत से ऐसे कारण हैं जिनसे ऐसा करना ही उचित है। धान्तव में सब सम्य जातियों में स्थूल रीति में ये चार वर्ण अथवा श्रेणियों अथवा पेशों मौजूद हैं, यद्यपि वे प्रकट रूप से इस प्रकार के माने नहीं गये हैं न इस प्रकार से नियमित रूप में स्पष्ट किये गये हैं जिससे वाम, दाम, और धाराम वा, बुद्धिपूर्वक विभाग हो सके, जैसा प्राचीन भारत में किया गया था।

रूस के सोवियट राज्य-प्रयत्न में भी अपना नाम 'किसानों (वैश्य), नैनिकों (क्षत्रिय), धर्मजीवियों (अर्थात् मानसिक धर्मजीवियों या ब्राह्मणों तथा दार्शनिक धर्मजीवियों या शूद्रों) का सोवियट संघराज्य' ('पेरेन्डूम, सोल्डर्स, एण्ट वर्रमं रिपब्लिक', प्रजातन्त्र राज) रक्खा है। इन्हीं में भी राष्ट्र के चार भाग हैं, अर्थात् 'कृषी' (ब्राह्मण) 'नोबिलिटी' (क्षत्रिय), 'कामर्स' (वैश्य), टेंदर (शूद्र)।

कि वह प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष, जान कर अथवा बिना जाने, स्पष्ट अथवा अस्पष्ट रूप से, यह मानता है कि एक समाजव्यवस्था में, वर्णाश्रम योजना में, वह सम्मिलित है, और अपने को 'हिन्दू' कहता है। वास्तव में, पुरानी पुस्तकों में 'हिन्दू' शब्द नहीं मिलता। धर्म शास्त्र में 'मनुज', 'मनुष्य', 'मानव', 'नर', ये नाम मिलते हैं, जिनका अर्थ केवल मनुष्य, आदमी, ही है। अग्नेजी शब्द 'मैन' का मूल धातु, ओर मनुष्य, मानव, शब्दों का मूल धातु, 'मन्', 'मनस्' एक ही है। यह सत्य है कि एक तरफ 'आर्य' शब्द, और दूसरी तरफ उस के विरोधी भावों को दिखाने वाले 'अनार्य', 'वृषल', 'म्लेच्छ', और 'दस्यु' शब्द भी धर्मशास्त्रों में आते हैं। पर आर्य का अर्थ सभ्य, और अनार्य आदि का असंस्कृत, असभ्य, पतित, चरचर, है, जाति-विशेष नहीं है। वर्तमान अर्थ में 'हिन्दू' शब्द की उत्पत्ति उसी समय हुई है जिस समय से उस 'अरपश'-रोग का आरम्भ हुआ जो धीरे धीरे और अब अधिकाधिक तीव्रता से, उस समाज को जर्जर करने लगा, और अब मुमूर्षु कर रहा है, जिसका यह नाम है। इस शब्द का अर्थ पहिले 'हिन्दी' अर्थात् 'हिन्द' का रहने वाला था, और यही उचित भी है। प्राचीन ईरानियों ('आर्याना'-वासियों) ने यह नाम रक्खा था, और पीछे यूनानियों ने, इनका नाम, सिन्धु नदी (सिन्ध, सिंध, इण्डस) के आधार पर, 'इण्डिया' कर दिया। 'ईरानी', जो 'आर्यों' की ही एक शाखा थे, 'स' को 'ह' वाते थे। भारतीय मुस्लिम, जो निवृत्त पश्चिम के इस्लामी देशों में भ्रमण करते हैं, वहाँ 'हिन्दी' नाम से ही पुकारे जाते हैं।

वर्णव्यवस्था की उत्पत्ति में विषय में आज काल चार पाँच प्रकार के मत प्रचलित हैं। कोई गोरे वाले रंग पर जोर देते, कोई जाति पर, कोई स्वप्रदाय पर, कोई पैसों पर। ऊपर बड़े प्रकार से देखने से, इन सब मतों का समन्वय हो जाता है, साथ ही इसके, इस व्यवस्था की सही वैज्ञानिकता, और अन्त में धर्म में उपसंगिता भी, साक्ष्य हो -

वर्ण व्यवस्था के मौलिक सिद्धांतों की ओर लापरेवाई करने, उसके अर्थ का अनर्थ करने, उसके कुछ अंशों पर अत्यधिक जोर देने और दूसरे अंशों को भुला देने, बलवानों और चालाकों के सब अधिकारों को पकटने और सब कर्तव्यों से परहेज करने, से ही, जीविकानुसार विभाजित वर्ण-व्यवस्था बिगड़ गई, और आज उसका स्वर्ग मात्र रह गया है, तथा अन्य बहुत-सी ग़राबियों के साथ, विवाह-सम्बन्धी यह ग़राबियाँ उत्पन्न हो गयी हैं, जिनको दूर करने के लिये नये कानून को बनवाने की परम आवश्यकता है।

नये विधान से कई लाभ

उपन्यस्त विधान का अभिप्राय केवल इतना ही है कि, यदि कोई चाहे तो 'अन्तर्वर्ण' विवाह कर सकता है, और ऐसा विवाह जायज, धर्म्य, शिष्ट, समझा जायगा, नाजायज, ग़िलाफ़ वानून, अधर्म्य, अशिष्ट नहीं होगा। विधान, अनुज्ञा (अनुमति) ही देता है, आज्ञा नहीं, यदि चाहो तो कर सकते हो, यह नहीं कि जरूर करो। इस का सिद्धांत सीधा और उपयुक्त प्रती है कि हम दूसरों को जीने दें और दूसरे हमें जीने दें, हम दूसरों के जीवन में बाधा न डालें और दूसरे हमारे जीवन में बाधा न डालें। यदि यह विधान पवा होकर, धर्म परिपक्व (असेम्बली) में स्वीकृत हो कर वानून का रूप ग्रहण कर ले, तो हिन्दू समाज में जो अत्यन्त भेद-भाव का आंतरिक दोष आ गया है, जिस के कारण यह नितांत जर्जर हो रहा है, यह दूर हो सकेगा। भीतर और बाहर, हर तरह से, एक दूसरे से, आग्रहपूर्वक टुराव बराब करने का जो दुर्भाव इस समय हिन्दू समाज का सबसे तीव्र और भयावह रोग है, उसका येन वन हो जायगा, अन्य समुदायों से प्रेम-सम्बन्ध हो सकेगा, नारे हिन्दू धर्म का सब भाव रूढ़ और सुन्दर हो जायगा विवाह-सम्बन्धी दातचात में जो बहुत सी ग़राबी और धेई-मार्गी और परस्पर धोखा देने की घृति भरी रहती है, यह दूर हो जायगी, क्योंकि इसकी आवश्यकता ही न रह जायगी।

मय को मातृम है, कि विवाह के योग्य लड़कियों और औरतों को भारत के
 हिन्दु ही प्रदेशों में भगाया और बेचा जाता है; इस लिये कि वेणी उन
 गानियों को लिये मिलें, जिनमें, जिन्हें कारणों से, लियों की बारी है; और
 वेन्देके समय, स्त्रीका वर्ण, अगल में दूसरा भी हो तो भी, रासीयसत
 मयि के अनुसार यत्ना दिया जाता है। लियों की उक्त कमी का एक कारण
 यह भी है कि कई उग्रजातियों में लड़कियाँ पैदा होने ही मार डाली जाती
 हैं। अब वेणा शायद कम होता है, पर यह जर्म इस प्रकार का है,
 और वेणी समझना में लिया जा सकता है, कि यह बढ़ना संभव नहीं है
 कि विवाह बंद हो गया है। इस लिये विवाह में, इस अपराध के प-
 होने में भी, प्रयत्न रूप में सहायता मिलेगी। तथा यह समझना
 कि अशुभिणस्य के ही आचार पर विवाह सम्भव न किया जाय, वेणा
 इस समझ ही रहा है, कि विना विचार लिये, 'सोनास', 'विवाह नही,
 'सुदसत' या अनुसंगम करने हुए, विवाह किया जाता है कि विवाह
 नहीं नम माय में कोई अशुभिण नही है), प्रत्युत इसक, वेणी
 मन्त्रक समझ के न तार पर विवाह सम्भव किया जायगा, अर्थात्
 वेणी नही, विवाहिक सर्व, प्रत्युत, वेणी नम जाय अर्थात् मातृम
 नम न अशुभ, भी और प्रत्युत ही दासी और सावय मन्त्री म
 न. समझ और व्यवहार. परमपर नम नम. पर कर विवाह सम्भव

न होगा कि ऐसे किसी व्यक्ति के साथ वह सामाजिक संबंध रखे, जिसने इस प्रकार का विवाह किया हो, पर यदि कोई प्रकट रूप से, खुले तौर पर, यह घोषणा करे, कि अन्तर्वर्ण विवाह करने के कारण कोई स्त्री या पुरुष जातिच्युत हो गया, और सबंध रखने योग्य नहीं है, तो उस पर मानहानि का मुकद्दमा चल सकेगा और वह अदालत में अपराधी और दटनीय समझा जायगा।

इस विधान से कुछ और लाभ भी होंगे। (१) युवा और युवती की साथ साथ पढाई का कालिजों में जो प्रचार अब चला है, और देश में बढ़ता ही जा रहा है, (यद्यपि इस प्रथा में दोष बहुत हैं), उससे बहुत से सुखदायी विवाह हो सकेंगे, और अनाचार की पृणाजनक भूल, मन और शरीर को गंदा करनेवाले, और आजीवन हृदय में चोर और शोक शकु चँटा देने वाले, कार्य न होंगे, और तरह तरह की बीमारियाँ, विशेष कर युवतियों को न भोगनी पड़ेंगी, यदि, इस 'सह अध्ययन' के साथ, कुछ आवश्यक मर्यादाएँ बाँधी जायें, और यह शिक्षा भी विशेष रूप से दी जाय, कि अविवारित मैथुन के अनुबन्ध (फल) बहुधा, इस इस तरह के, घटे कारण हुआ करते हैं। (२) युवतियों की आत्म-त्याग और दूसरी स्त्रियों, जो अवसादी के समय घटे घटे जाँज (धौतुब) मागने के कारण हो रहीं हैं वह कम हो जायेंगी, शिक्षित युवा और युवती, स्वतंत्र रूप से अपना स्वयंवरण कर सकेंगे, और वर्ण के नाम मात्र से, अनुचित रूप से, बाँध न जायेंगे। दाद रहे कि बहुत जाँज मागने की प्रथा, कुछ तो आधिब सबट के कारण, और कुछ आधुनिक सभ्यता की धनलौटपता के भाव के कारण, उत्पन्न हुई हैं। वही वन्द्या स्वरीदी जाती है, वही घर स्वरीदा जाता है।

सधर्म के किसी आदर्शक निरान्त का, अथवा धर्म-शास्त्र के किसी मौखिक आदेश या, दिना विरोध बिये, यह विधान, उस समाज को, सामाजिक जापन और सभ्यत के दृष्टान्त सिद्धान्तों से पुन अनुप्राणित

नहीं, गैरमामूली मुस्तस्वियात में दाखिल होगा, मामूल में नहीं, पर ऐसा अपवाद, इस्तिस्ना, लाभदायक और वाञ्छनीय होगा।

‘वर्ण’ शब्दमें ‘उपवर्ण’ सम्मिलित है

‘वर्ण’ शब्दके अन्तर्गत ‘उपवर्ण’ भी सुतरा है। हिंदी में ‘जात’ ‘जाति’ शब्दों में उपजातियों भी अन्तर्गत है। वर्तमान प्रथा के अनुसार, कुछ अपवादों को छोड़ कर, दो वर्णों में भी, और दो उपवर्णों में भी, परस्पर विवाह दोनों ही एक ही तरह से, ‘असवर्ण’ विवाह माना जाता है, और अदालतों में गैरकानूनी समझा जाता रहा है। पर, संस्कृत के पण्डित, धर्मशास्त्र के शब्दों के आधार पर यह वदोपि नहीं कह सकते, कि प्रधान वर्ण के दो उपवर्णों का परस्पर विवाह धर्मविरुद्ध है। मच तो यह है कि, इतने उपवर्णों में से अधिकतर के अस्तित्व के ही औचित्य का, वे समर्थन नहीं कर सकते। प्राचीन पुस्तकों में तो उनसे नाम ही नहीं मिलते। ऐसे वर्ण जिन्हें यास्नप में उपवर्ण मानना चाहिये, उन्हें भी हिंदू जनता आज व्यवहार में स्वतंत्र वर्ण के ऐसा मान रही है।

रीतियों की व्यामोहक भिन्नता और अस्मरूपता

उपवर्णों के सम्बन्ध में यह विचार करने योग्य बात है कि रस्म-रिवाज में, पदे पदे अन्तर पाया जाता है। उदाहरणार्थ, उत्तर भारत में ब्राह्मणों के उपवर्णों में परस्पर विवाह नहीं होता। दक्षिण में भी यही प्रथा है। प्रत्येक उपवर्ण अपने में ही, गोत्र दत्ता कर, विवाह करता है। पर क्षत्रियों के उपवर्ण अपने से बाहर विवाह करते हैं। अपने ही उपवर्ण में कोई क्षत्रिय विवाह नहीं कर सकता। पूरे पूरे उपवर्ण ही ही एक गोत्र जैसा मानते हैं। मसुक्त प्रान्त के वादरथों का उपजातियों में भी, गोत्र दत्ता कर अपने में ही विवाह होता है। मसुक्त, वादरथ वर्ण में, मसुक्त प्रान्त में, श्रीवास्तव उपवर्ण में, दो उप उप वर्ण हैं, अर्थात् ‘दत्तरे’ और ‘धरे’ और वे दोनों परस्पर विवाह नहीं कर सकते।

दक्षिण भारत में, पंचरात्रिक ब्राह्मणों के उपवर्णों में भी, उपवर्णों के भीतर ही विवाह होता है। संयुक्तप्रान्त में कहावत है, 'भास कर्मीयों की चूल्हा', पर गुजराती कहावत है, 'नेरह गुजराती तैयीय चूल्हा'। इस तरहवर्ण, ब्राह्मण वर्ण के, पंचरात्रिक उपवर्ण के, गुजराती उप उप वर्ण के, नागर उप उप-उप वर्ण के, तीन उप उप-उप उप वर्ण हैं, अर्थात् वंशक्रम, विजयनगर, सिपहनगर, और हर एक, अन्य दोनों में अपने-अपने में जानता है, और तीनों में परस्पर विवाह नहीं हो सकता। वंशक्रम ब्राह्मणों और जायकों के उप वर्णों, अपने (उप वर्णों) के साहचर्यविवाह है। इसी प्रकार के पुराने साह उपवर्णों के एक गोंय का मानते हैं। यह कर्म का है जो रहने वाले उपवर्णों का, हिन्दुत्वान्तर में, प्रायः अपने-अपने ही घर-घर रहते हैं।

उनमें और भी पवित्रतम दल है जो 'पक्तिपावन' कहलाते हैं, और जो अवध के कुछ जिलों में रहते हैं, जिनमें, अति धुद निस्सार हेतुओं से, इतने लोग जातिच्युत कर दिये गये हैं, और विवाह-सम्बन्ध के योग्य इतने थोड़े रह गये हैं, कि अब विवाह स-गोत्रों में होने लगा है, 'केवल दूध का बराब किया जाता है', अर्थात् एक माता का दूध पीनेवाले भाई बहिन का व्याह आपस में नहीं किया जाता है। मुसलमानों में, मैंने दोस्तों से सुना है कि, इसी तरह से, कुरेशी, मिल्की, और सय्यद समुदाय हैं, जो भी यथानुभव यही प्रयत्न करते हैं कि अपने समुदाय के भातर ही विवाह करें। दक्षिण में मालाबार समुद्रतटके प्रदेश में मातृ-परम्परा से दाय का अधिकार मिलता है, और यहाँ पर उच्च श्रेणी के ब्राह्मणों के विवाह स्वर्धी नियमों में, उत्तर के ब्राह्मणों के नियमों से, प्रकृत अन्तर है, और उनमें भी, नाम्बुदिरि ब्राह्मणों की ही दो प्रकार की सन्तान होती है एक तो नाम्बुदिरि ही कहलाते हैं, दूसरे, नावर, और इन दोनों में परस्पर विवाह नहीं तो स्वता।

रसों की यह अनन्त विभिन्नता, जो बुद्धि की चक्रा देती है प्रस्तावित विधान से उन लोगों के लिये बहुत सरल हो जायगी जो इसमें लाभ उठाना चाहेंगे। जो ऐसा नहीं करना चाहते, वह बिना रोकटोक से अपनी विदोष रीति के अनुसार कार्य करने और कौटुम्बिक जीवन का नियाँट करने के लिये स्वतन्त्र रहेंगे।

'वर्ण' का अर्थ 'पेशा' है

जो लोग 'वर्ण' का मौलिक अर्थ 'जीविका', 'पेशा', समते हैं, जिनमें मनुष्य का 'वर्णन' होता है, 'वर्णयति इति वर्णः', जिनमें यह जाना जाता है कि व्यक्ति-विदोष का समाज में क्या स्थान और समाज से क्या संबंध है, ऐसे लोगों को यह समझने में कोई दिक्कत न होगी, कि यहाँ के वर्ण का नाम यहाँ है जो उसके विधाहित पति का है, चाहे उसने दत्ता या वर्ण अथवा पेशा कुछ ही क्यों न रहा हो। उचित ही

है कि ऐसा हो, क्योंकि यह अपने पति के घर की स्वाभिनी बानी है, इसकी सु-परिभा करती है, अपने पति की जीवन यात्रा में भार-हीन योगदान में सहायक होती है; अतः पति, पत्नी नहीं तो आशुभ भव्य भ, उर्ध्वी जीवित की उपार्णक, उर्ध्वी पेशी की करने पायी, यह भी से प्राप्त है। धर्मशास्त्र में पति और पत्नी एक माने गये हैं,

या भर्ता या स्मता(अ)ज्ञा (मनु, ५, ४५,) ।

साठविन्द भे भा पंग्वा ही तदा हुआ है ।

अथ एत मं गवाह म पतिव्य पृश्न जाता है, नाम क्या है ? कि विद्वान् एतान्, उग्र, वागस्थान मज्जदय; अन्व मे, 'पिता' क्या है ? एत म् अन्व पत्नी, अर्थात् अन्व 'पति' कन्दा उता है, ज्ञान जीवित पतिव्य का उदात्त प्रकट करण है, जन्म उदात्त 'पतिव्य', उदात्त 'पति', पतिव्य उदात्त, अथ पतिव्य उदात्त माल्दम हा जाता है कि वह किय पतिव्य म् पतिव्य एत म् अथ है, किय प्रकट म् गवाह क् गवाह म् एत म् है ।

अथ एत म् गवाह म् पतिव्य पृश्न जाता है कि वह किय पतिव्य

वृत्तियों को, उठा लेने के कारण भिन्न भिन्न वर्णों के हो गये। जो लोग वर्ण को जन्मना मानते हैं, वे इन बातों पर विचार करें, और, साथ ही, इस पर भी ध्यान रखें कि, वेद और पुराण स्पष्ट रूप से कहते और दिखाते हैं, कि एक ही कुटुंब के कई मनुष्य कई वर्ण के हुए हैं पुराणों में ऐसे उदाहरण बहुत मिलते हैं कि, एक व्यक्ति, या एक समग्र कुल, एक वर्ण छोड़ कर दूसरे वर्ण का हो गया है। बहुत से छोटे छोटे समुदाय, जो पहिले शुद्र समझे जाते थे, वे अब, आज काल, अपने को ब्राह्मण, क्षत्रिय, या वैश्य कहने लगे हैं। वास्तव में यह वही भाव है जिसे पाश्चात्य देशों में, 'सामाजिक दर्जे में उन्नति करना' ('राइजिङ्ग इन दि सोशल स्केल') कहा जाता है। १९३५ की मनुष्य गणना के विवरण में, कई कई छोटी उपजातियों के एक में मिल जाने की, कई के लुप्त हो जाने की, कई की नयी पैदाइश की, तथा अन्य प्रकार के परिवर्तनों की, चर्चा की गयी है। यह जानि परिवर्तन या वर्णोपवर्ण-परिवर्तन, लगातार, सब काल में होता रहा है, अब भी जारी ही है, और इसके कारण, उप-जातियों का ठीक ठीक गिनती करना इतना जटिल हो गया, कि मनुष्य-गणना करने वाले अधिकारियों ने इस उपजाति गणना को, सन् १९३५ ई० की गणना में, छोड़ ही दिया।

वर्ण-नाम-परिवर्तनके प्रवर्तमान प्रयत्न

हाल की कुछ घटनाओं ने यह विदित होता है कि वर्णों को, अर्थात् वर्ण-नामों को, किस तरह, व्यापक रूप से, वहाँ समुदायों में, बदलने का प्रयत्न हो रहा है। समुदायों में वाच्य समुदाय के बितने ही पदों लिखे लोग दक्षोपदीत पहिने एने है, जो हिजब का चिह्न है, और अपने को क्षत्रियों का एक उपवर्ण मानते हैं। मराठा 'प्रभु' जाति की भी ऐसी ही स्थिति प्रतीत होती है, वे भी पहले एक प्रकार के वाच्य वर्ण के समझे जाते थे, अब अपने को क्षत्रिय मानने लगे हैं। दरदरे के 'भारिया' मनु

लिखाया । तथा 'नापितों' ने (वगाल मे) १९२१ मे 'वैश्य', १९३१ मे 'ब्राह्मण' । कुछ 'कहारों' ने १९२१ मे 'वैश्य', १९३१ मे 'क्षत्रिय', कुछ 'सूत्रधारों' 'सुताडों' ने (वगाल मे) १९३१ मे 'वैश्य', १९३१ मे 'ब्राह्मण', इत्यादि ।

सामाजिक श्रेणियों का, अपनी उन्नति के लिये, यत्न करना उचित ही है । तथापि उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि जो यत्न हो रहा है, वह किन्हीं बुद्धिमत्त वैज्ञानिक सिद्धांत का अनुसारी नहीं है । ममलन् 'जायसवालों' के सारे समुदाय का 'हेह्य क्षत्रिय' बन जाने में कोई मतलब नहीं मालूम पड़ता । पौराणिक समय में, 'हेह्य' जाति के क्षत्रियों में बड़े शक्तिशाली कुल टुणु, नर्मदा नदी के तटों पर इनका राज्य था, कार्तवीर्य नाम के इनके सब से अधिक प्रतापी राजा हो गये हैं, आरभ में ये बड़े धर्मान्मा प्रजापालक थे, धीरे धीरे, ऐश्वर्य के मादक मद से, निरकुल प्रजापीडक हो गये; जमदग्नि आदि तपस्वी ऋषियों को 'कामधेनु' अर्थात् भूमि छीनने लगे, ब्राह्मण ऋषियों ने भी, भावश्यकता में बहुत अधिक भूमि का परिग्रह कर लिया था, परशुराम ने ब्राह्मणों, वैश्यों, और शूद्रों को संना बना कर, घोर सभ्राम कर के इन्हें मार डाला । स्यात् कार्तवीर्य के सैनिकों को मदिरा अधिक प्रिय था, सैनिकों को तो साधारणतः मद्यपान बहुत परमन्द होता ही है, स्यात् यही कारण है कि जायसवालों को इस पौराणिक क्षत्रिय कुल से विशेष कर नाता जोड़ने का विचार हुआ । पाश्चात्य देशों में भी, राजदशों के, और अन्य उच्च कुलों के, लोगों की यही इच्छा रफ़ धरती थी, कि 'हैरट्ट' (चारण) गण, उन की कुल परम्परा को 'आहम और हाँआ' तक पहुँचा देंगे । मैं ने एक तथा कुर्वीनामा, 'वशाक्ष', ऐत्या है, जिस में मनुष्य जाति के उन 'आदिम' जोड़े से, प्रिटेन को महारानों विक्टोरिया १८८८ की रानी ने लिखाई गई थी । परन्तु यह वे सब जायसवालों को अपने को 'हेह्य क्षत्रिय' के नाम से पुकारने से, न तो हदय का ही, न बुद्धि का ही कोई

बीच में मुझ से पूछा गया है कि “एक वर्ण की स्त्री जब दूसरे वर्ण के पुरुष से विवाह करेगी, तो विवाह के बाद उस का, तथा उस के लटको का, वर्ण क्या होगा ?”। सीधा और स्पष्ट उत्तर इस का वही है जो पहिले कहा गया, कि, जिस तरह वह अपना ‘गोत्र’ बदल कर पति के गोत्रकी हो जायगी, उसी तरह वह अपना ‘वर्ण’ भी बदल कर पति के वर्ण की हो जायगी, और लटके भी पिता के ही वर्ण के होंगे, और कर्मवाण्ट-सम्बन्धी यमंकृत्य के लिये, तथा व्यवहार-धर्म-सम्बन्धी कानूनी अधिकार और कर्तव्य के लिये, उसी वर्ण के माने जायगे, जत्र तक ये, स्वतंत्र जीविका-वर्म (पेशा) उठा कर, अपना वर्ण-नाम स्वयं बदल न ले।

इस तरह में ऐसा मानना उचित और आवश्यक होगा। शियो की प्रतिभात्मक शीघ्रगामिनी बुद्धि, और पुरुषों की अनुमानात्मक शनैश्चरता बुद्धि, दोनों ही इस उत्तर की समर्थक हैं। जिस तरह पाश्चात्य देशों में ‘मिस्टर’ की पत्नी ‘क्वीन’, ‘एम्प्रेस’ को ‘एम्प्रेस’, ‘ट्यूम्’ की ‘उचेन’, इत्यादि, विवाह होने के साथ ही हो जाती हैं, चाहे वह बिस्मान, या पादरी, या जेनिक की बेटा हों, जिस तरह ‘मिस्टर कार्टर’ (‘उकशमाल’) ‘मिस्टर पोर्टर’ (‘मोटिया’) के साथ विवाह पर वे तबाल ‘मिस्त्रेज पोर्टर’ हो जाती हैं, और ‘कुमारी शकटमाल’ बनी रह जाती। जिस तरह ‘मिस्टर टेलर’ (‘दगी’), मिस्त्रेज मिथ (‘लोहार’) हो जाती हैं, उन्हीं तरह (कम से कम सगुत्त, प्रात में), शिया, तल्लीतार की पत्नी को तल्लीतार-दारिन, दोतदाल की दोतदालिन, स्ट की सदाना, राजा का रानी, पण्डित की पण्डितानी, टार की टारानी, एन्टे का एन्टारन, टा. टार की टारटरनी, सूत्रेजर की सूत्रेजरिन, रिवातजर की रिवातजरिन, जमादर की जमादरिन, हीरतरान की हीरतरानिन, तुर्हीदर की पत्नी को तुर्हीदरिन, इबारती हैं। पुरातन धर्मव्यवस्थापक मनु के भी यही वक्त है, “यो भर्ता सत्कृतानाम्”, जो यत्ति है वहा इत भी है। इस प्रमाण से, जो वर्ण पुरुष का है वही वर्ण उस स्त्री का भी है

आवर्तन, सांसारिक प्रकृति के सभी अंगों में, चारों ओर देख पड़ता है। 'नये' प्रकार, जिनसे परमात्मा अपनी वाग्मना को पूरी करता रहता है, वे वास्तव में और भी 'पुराने' प्रकार हैं जिन पर घूमघूम कर वह वापस आता रहता है। हाँ, युगों के आवर्तन में पुराने प्रकार जब पुनर्वाँर आते हैं, तो अपना रूप कुछ थोड़ा नया कर लेते हैं, कुछ उत्कृष्ट अवस्था में देख पड़ते हैं। हर प्रश्नके दो पहलू (पक्ष), और केवल दो ही पहलू, होते हैं, मनुष्य समाज मदा एक 'अति' की कोटि से दूसरी 'अति' की कोटि तक, आगे पीछे, लगातार चलता रहता है, ("उभयकोटिरपिनिनी प्रकृति, अमध्यन्ध्रः"), लेकिन हर चरण में कुछ आगे बढ़ता है। इस 'दृष्टमयी' अप्रस्था को अप्रेजी में 'एम्प्रीवालेन्स' कहने लगे हैं। पहले 'द्यूआलिटी', 'पोलारिटी', कल करतें गे। प्रकृति में स्थिरता, मध्यस्थता, किमी बीच के स्थान पर चिर काल तक टारना, नहीं होता। यह मदा एक तरफ को अति से दूसरी तरफ की अति की ओर गडती रहती है। किन्तु ("एरुप मध्यन्ध्रः"), पुरुष वा दाम है कि बीच वा सन्ता पडटे, 'अति' बचावे, इस दोहरी स्वीचातानी वा ही फल 'अवर्त', मसार 'चक्र' होता है। भवभागर के मयन म, 'सामुधि' (दास्यु, प्राण, वी) रस्ती से लपेट कर, 'मन्त्र' (रजत 'मन्त्र', निश्रेष्ठ) पर्वत को एव ओर देव पक्ष, दूसरी ओर ईश पक्ष, जब स्वीचता है, तब 'मन्त्र' में और 'सागर' में 'धर्म', चक्र, उ पड होते हैं, और धिप भा ओर अमृत भी निरन्तरता है।

'नया' आविष्कार करने जाते लोग यह समझते हैं कि हम स्वचलुच 'नया' उपजाव कर रहे हैं, नया' प्रकार निराल रहे हैं, 'नये' मार्ग पर चल रहे हैं, जिसे पिता ने पहिले नहीं जाना था। दूसरे लोग, पुरातन-पादा अपरिचरती थीं। विप्रत स्व, आर इतिहास के पुरावर को, आगे पडटे वा, इरदगिता द्युर्गिता से ग्रहण न कर वे, ऐसे नये मार्ग को धारण में नया समझ कर उस वा ओर से विरोध करते हैं। पर इतिहास दर चलता है कि नये परिधि, नया ज तिधो, नये समझ, नया समझाएँ,

सात्विक प्रीति के भावों का, जिन के बिना 'गृह', 'कुल', 'कुटुम्ब' आदि शब्द अर्थ-शून्य हो जाते हैं, और नयी पुस्तक का पालन पोषण असम्भव हो जाता है, और समाज में से स्थिरता, बद्धमूलता, प्रति-ष्ठा (प्रकर्षण स्थान) व्यवस्था (विधिपूर्वक स्थिति) सब लुप्त हो जाती है—इन दो विरुद्ध, मानव-प्रकृति में विद्यमान, अशुभ और शुभ वासनाओं का समन्वय कैसे किया जाय, किस प्रकार से, स्वार्थपूर्ण आनन्द का, और कर्तव्य-परायणता पर आश्रित सन्तान-पालन का, समन्वय हो, किस प्रकार से दम्पति-रति का और संतति प्रीति का समन्वय हो ? एक समुदाय स्वार्थ-वासनाओं की वृत्ति पर ही बल देता है, दूसरा परार्थ-वासनाओं की ही वृत्ति पर ।

अभीष्ट मध्यम मार्ग

दूरदृष्टिता, बुद्धिमाना, राष्ट्र-नायकत्व-योग्यता, राजशासकता, इसी में है, कि वैयक्तिक जीवन के तथा समाजिक, सामूहिक, राष्ट्रीय जीवन के, सभी अंगों की क्रियाओं को, बीच के रास्ते पर रखा जाय, और दोनों ओर की 'अति-शोचि' बचाई जाये, यदि घटी वाला गर, ढोला (शलुआ) एक ओर घटत गया तो दूसरा चप उलट पड़े और टूट जाय। याद रखना चाहिये कि, सामाजिक राष्ट्रीय जीवन के सभी अंगों का हृदय-स्थानांतर, केन्द्र-भूत, गार्हस्थ्य ही है। सब 'गृह' सम्पन्न हो, सब 'गृहस्थ', सब गृहस्थ सुखी हों, यही समग्र राष्ट्रसमन्वय का एकमात्र लक्ष्य है।

पाश्चात्य देशों में विवाह की प्रथा का अदृष्ट परिवर्तन हो रहा है। वाम विषयक, मिश्रणता विषयक ('मिश्रणता') की एकरूप-आचारविषयक, मध्यम-विषयक ('मार्त') विचारों में विज्ञान, परिवर्तन, अधोत्तर ('रिप्रेजेंटेशन') हो रहा है। इसके साथ साथ समाज की अन्य चिर-वाच्य समस्याओं और प्रथाओं में भी परिवर्तन हो रहे हैं। जो समाज और प्रथा ('रिप्रेजेंटेशन'), समाज के स्वतंत्र और आधार मानी जाती हैं, और जिन का इस विवाह सम्बन्धी विचारों में परिवर्तन से सम्बन्ध, कारण

गयी है, इस हेतु से, शिक्षित, प्रभावशाली, कार्यपरायण समुदायों में, इसके विरुद्ध, विद्रोह सा हो रहा है। यदि यह विद्रोह, बुद्धिसमत और शिष्ट प्रकारों से शान्त नहीं किया जायगा, और समय से उपयुक्त अनु-मत्तियों, रियायतों, न की जायगी, तो हिन्दू समाज में घोर उत्पात मचने का, और समाज के नष्ट हो जाने का, भय है। "रमरी उतनिहि तानिये, जो नहि जावे हट"। शिक्षा, देशाटन, और जोशिका की आवश्यकताओं के दबाव में, अतर्वर्ण विवाह चढ रहे हैं, बहुत लोग, बहुत दिनों के लिये, अपने घरों से दूर दूर प्रदेशों में चले जाते हैं, विवाहित स्त्री पुरुष, अपने रिश्तादारों में, और उन सब लोगों में जिन से साधारणतः उनका सम्बन्ध था, कट जाते हैं, यदि कोई फारगर तरीके नहीं निकाले जाते, जैसा कि यह विश्वास निकालने का यत्न कर रहा है, जिसमें वे सब लोग सामाजिक व्यूह में अपना उपयुक्त स्थान बनाये रह सकें, तब, अत्रत्य ही, इनके कारण, समाज-शरीर में ऐसे दुष्परिणाम उत्पन्न होंगे, जैसा रोगी, दुर्बल, और जर्जर व्यक्ति के शरीर में पैदा हो जाते हैं, जब उसमें कोई बाहरी, प्रतिकूल, अन्तःस्थ, अजरर्णीय, अपचनीय, पदार्थ प्रवेश कर के रह जाय, और निराला कर दूर न किया जा सके। ऐसे अर्जर्णी भी और अनु-दुर्गीर्ण भी, अत्रत्य शरीर में बड़े उपद्रव उत्पन्न करते हैं। इस लिये उचित है, आवश्यक है, कि एनका रोगान्तरण, एनको मृत्यु घना है, एनका, समाज-शरीर में परिणामतः जरण, पाचन, मिश्रण, आत्मसात्करण, कर लिया जाय।

भारत वर्ष के प्राचीन, विष्णु 'सनातन', धर्म का, ऋषय कहिये, मर्म कहिये, प्राण कहिये, मूल कहिये, अध्यात्मशास्त्रकारों 'धर्म-धर्म-धर्म' है। इस लिये उस धर्म-धर्म के तत्त्व पर, उत्सवा तथा रूप निश्चित करने के लिये, जितना भी विचार किया जाय, उचित है। लोग, 'शास्त्रों' के, 'शास्त्रों' के, प्रत्येक तत्त्व तक 'शास्त्रों' के, पाठकों का, प्रमाण चाहते हैं। चाहना उचित है। हृदय में, अहित शक्तियों अरुभक्तियों में, उपद्रव

इस सनातन पुरुष का मुख (-स्थानीय) ब्राह्मण हुआ, इस के बाहु (के स्थान में) राजन्य क्षत्रिय किया गया, जो वैश्य है वह इसका ऊरु हुआ, तथा पावो के लिये गृध्र उत्पन्न हुआ ।'

अब, यदि इस वेद मंत्र का अक्षरार्थ ही लिया जाय, तब चारो वर्णों का ऐसा घनिष्ठ सम्बन्ध है, जैसे सिर, बाँह, जोँघ अथवा धड़, और पैर का । 'अथवा धट' इस घास्ते कि भीष्मस्तवराज में ऐसा ही कहा है, "कृत्स्नमूरुदर विश" । जब इनमें इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है, जो भाई भाई के सम्बन्ध में कहीं अधिक नजदीकी है, तब इनके बीच 'दृभो मत', 'साभो मत', 'व्याहो मत' का टुराव घराव कैसा ?

पर यदि ऐसा अक्षरार्थ न किया जाय, और स्पष्ट ही न करना चाहिये, क्योंकि रूपकमात्र है, तब भी यह विचारने की बात है कि, जहाँ तब मैंने देखा पृत्र, सुना, यह नहीं जान पटा कि वेद में कहीं भी यह कहा है कि चारो वर्ण एक दूसरे को नृपे नहीं, साथ साथ नहीं, साथ विवाह न करें । ऐसी स्पष्ट मनाई वेद में देखी सुनी नहीं गयी । प्रत्युत, मनु सन्तान के लिये वेद में यह आज्ञा है,

समाना प्रया, सह वो अन्नभाग,

समाने योवत्रे सह वो सुदग्नि,

स गन्त वम, स परावम

स वो मनासि जानाम । इत्यादि ।

१ ('पद-धा' का पञ्चमा विभक्ति मान कर इसका अर्थ 'पैरों में' शब्द पैदा हुआ तथा प्राय सम्भवा जाता है । एक पंक्ति फिरते हुए सम्बन्धी में सुते शिक्षा भिती, वि 'पद-धा' चतुर्थी है 'पैरों में' लिखे, विराट् पुन्य में शरीर में पैरों में स्थान में लिखे, पैर बनने या पर होने में लिखे, शब्द हुआ । जैसे, ब्राह्मण सुभ हुआ, शरीर में पैदा हुआ नहीं, क्षत्रिय सुभ बनाया गया, सुभ में पैदा हुआ नहीं, वैश्य जोँघ था, जोँघ में पैदा नहीं हुआ, एड, पैर या समान शब्द में लिखा पैर में पैदा नहीं हुआ ।

विख्यात वर्षमेतद यज्ञान्ना भारतमद्भुतम् ;

तेषा नव नवद्वीपपतत्रोऽस्य समन्तत ,

कर्मतन्त्र-प्रणेतार एकाशीतिद्विजातय ।

यदीयान एकाशीति महाश्रोत्रिया कर्मविशुद्धा ब्राह्मणा बभूवु ।

(भा० स्क० ११ अ० २ , स्क० ५ अ० ४)

शुभ्रादापेमभूत् क्षत्र ब्रह्मभूथ गत क्षितौ ,

ततो ब्रह्मकुल जात आग्निवेश्यायन, वृष ।

नाभागो मिष्टपुत्रोऽन्यो कर्मणा वैश्यता गत । (भा० स्क० ९ अ० २)

गर्वातिर्मानवो राजा प्रक्षिष्ट स प्रभूव ह ,

यो वा अ तस्या सत्रे द्वितीयमह जञ्चिवार । (भा० स्क० ९ अ० ३)

गर्वात् शिति नतो गार्ग्य , क्षत्राद् ब्रह्म एवर्त्तत ।

दुरितज्ञो मतापीर्षात् , तस्य त्रयार्घण , ववि ,

पुंकरारणिराग्र, ये प्राणमति गता ।

भर्माध्वस , तन्ना तस्य पचासन् सुत्वाद्य ,

सुद्राद् ब्रह्म निर्मल गोत्र गौरत्य-सहितम् ।

मिमुष सुद्राद् भार्माद् , मित्रोदात्त पुमानभूत् ।

पत्न्याय-यता यस्या सतानन्शत्रु गोतमात् । (भा० स्क० ९ अ० २९)

यत्राति क्षत्रिय वा विवाह, शुभ्राचार्य दैत्य ब्रह्मर्षि की देवी देवप्रानी

ने तुषा, यह प्रनिल ह । उन्ती ये सद ने दरे देटे यदु वे वत मे तुष्णा-

वतार तुषा । ब्रह्मर्षि पार्श्व की पुत्री वाम्या (विष्णुपुराण ने नाम

'वन्द्या' लिखा है) राजा प्रियव्रत क्षत्रिय को च्यार्हा गयी ।

वाम्या प्रियव्रत से स्वाम्भुतमान् सुवत् ,

दसवत्तद्वत् सैव, ये क्षत्र सम्प्रदी ।

रजस्य (ब्रह्मर्षि) आश्रयणवत् भार्गवोदा यमस्मिन् ,

प्रतीत्या दिशि राजस्य (क्षत्रिय) वेतुन्व प्रजापतिम् । (बृहस्प० ६००८)

अनुलोम अन्तर्वर्ण विवाह की तो विस्पष्ट अनुमति मन्वादि स्मृ-
 तिग्रो में दी है, बल्कि ऐसे विवाहों के लिये विशेष विधि और कर्मकांड भी
 बताया है और यह भी कहा है कि जो गुण भक्तों का होता है वैसा ही गुण
 भार्या का भी हो जाता है। क्षत्रिय पुरुष और ब्राह्मणी भार्या ने उत्पन्न
 'सूत', द्विज हा माना जाता था, और उस से क्षत्रिय राजा सम्बन्ध
 करते थे, यह भी कहा है। यदि शास्त्र पर आस्था है, तो इधर नेकटों
 वर्ष से अनुलोम अन्तर्वर्ण विवाह भी भारतवर्ष में क्यों बन्द रखे हैं,
 और 'सूत' का आदर क्यों नहीं होता ?

गृह्य भार्या गृह्य, ना च स्त्रा च त्रिण रणुते,
 ते च स्त्रा चव राजय, नाश्च स्वा चात्रजन्मन । X

उसवर्णांशु अय जेयो निधिरुद्धाकर्मणि । X X

शास्त्रगुणेन भार्या त्वा गृह्येत, यथाविधि

शास्त्रगुणा ना भवति, समुद्रेणैव निम्नगा ।

अधमाला शक्तिन सपुत्राऽधमोनिजा,

गारवा मन्वरातेन, जगामभार्तणीभता । (मनु)

शास्त्रा शास्त्राजान, स गृह्येति व श्रुते,

प्रदित्यामजर्णाना स हि एतरो जिज्ञासात्

स्वयं सत्सम्बन्ध पूर्व अपिनिता ता । (म०शा० वि०८० वि०८००)

ये दास्य निर्वर्णस्यार समुने वे लिदे लिदे मये । एतदेवितान
 में ऐसे और भी सूत हैं । (अर्थ श्री हनुमत् स्मृत १ हनु लिने हिता ने
 अनुवाद द्वारा कर विस्तार नहीं कराया जाता । विशेष कर शास्त्रों में
 कि 'दास' के प्रमाणों का जो संग्रह है वे विशाल सङ्ग्रह प्राप्त करने
 में सुपरिचित होते हैं ।)

शास्त्रों में 'वर्षणा वर्ष' पर उदाहरण था । जैसे श्री 'उत्पन्न
 र्ण' पर उदाहरण और होते हैं । पर जब जब लोग अपने अपने
 स्वभावोपित धर्म-धर्म लोह होते हैं, अधिभार लीगते हैं, वर्णों से भावने

वर्णव्यवस्था का इस उपन्यस्त विधान से सूत्रपात होता है, तो यह सब बात अति शीघ्र बदल जाय, समग्र समाज में, 'सुसहताश्चापि, न भिन्नवृत्तयः', 'स्वशक्ति' नाम को 'दुर्गा देवी' का नवावतार हो, और सब अर्भीष्टो श्री गिद्धि हो ।

पुनर्वार पाठक सज्जनों को याद दिलाता हूँ कि यह उपक्षिप्त उपन्यस्त विधान किसी को भी अपने जन्मवर्ण के बाहर विवाह करने को प्रिवन नहीं करता । बेगल यही कहता है कि यदि कोई पुरुष ऐसा विवाह कर ले, तो उसको, छिटिम करके, 'जात बाहर' मत करो, और उसकी पत्नी का वही वर्ण समझो जो उस पुरुष का है ।

हिन्दुत्वके आधुनिक द्वारा लक्षण

'जातिप्रथा' के अमली आर दिखाऊ अर्थ पर, उसके कृत्रिम, मिथ्या, बाहरी जातिरी लक्षणा के, आर उसके सच्चे, तार्किक, मौलिक लक्षणों के, बातें में, उसके वैज्ञानिक (शास्त्रीय) और अ-वैज्ञानिक (अ-शास्त्रीय) रूप के सम्बन्ध में, कुछ कहना आवश्यक है, जिससे इस उपक्षिप्त विधान के आभ्यन्तर मामिन्त लक्ष्य पर अच्छा प्रमाण पड़ेगा ।

दूर वही जातियों, (अजातियों, स्त्रीयों) से, 'हिन्दू' कहलाने वाले समाज का सब से अधिक व्यक्त रूप यह रहा है, कि यह परस्पर भेदभरी जातियों आर उपजातियों का एक टेर है, जिनकी संख्या अर्भी तब बढ़ती ही जा रही है । सन् १९०१ ई० की मर्जमसुमारीमें २३७८ जातियों और उपजातियों का उल्लेख किया गया है । १९३१ की गणना की रिपोर्ट में, संख्या "दो से ताम हजार तक" लिखी गयी है । और उस समाज के धर्म का, जो धर्म अब 'हिन्दू' कहलाता है, सब से ज्यादा स्थान निरान, सब से अधिक प्रसिद्ध लक्षण यह है कि, जातियों, और (कुछ अपवादों को छोड़ कर) उपजातियों, आपस में रोटी रोटी का व्यवहार न करे, और जो मनुष्य वही वे जाति में निवात दिये जायें, जातिपुत्र हो, और बहुत सी सामंजस्य सुविधाओं और हान्ना एतों से हाथ धरे रहें ।

झी हो गयी है, कि उस ने प्राण के यथोचित संचार को रोक कर स्वास्थ्य नष्ट कर दिया है, और जीवन को खतरे में डाल दिया है।

कुरूपता का कारण, अंग-विशेष की अतिवृद्धि

यदि यह मूल की तह सावधानी से निकाल दी जाय, तो शुद्ध पूर्णधर्म आश्रमधर्म का जीहर फिर से खुलेगा, और यह भी देख पड़ेगा कि उस तह के नीचे ऐसे तत्व हैं, जिनके अनुरूप, किन्तु अपरिष्कृत, मम सभ्य समाजों में तत्व पाये जाते हैं। समाजसंघटन के जो तत्व आर मिद्वान्त अपने पूर्णरूप में सर्वथा सहेतुक और लाभदायक हैं, उन का अगमन करने से, और अर्ध सत्यों को पूर्ण सत्य समझ लेने से ही, यह नष्ट रोग पैदा हो गया है। च्यग्य चित्र, हारय चित्र, ('कार्टून'), कारहम्य इतना ही है कि कोई एक अंग विशेष, बिगाड़ कर, बहुत बड़ा या बहुत छोटा दिखाया जाय। सुन्दर से सुन्दर मनुष्य का मुख अत्यन्त कुरूप देख पड़ेगा, यदि उस का नाक या कान बहुत बढ़ा कर या बहुत घटा कर दिखाये जाय। हिन्दू समाज का अंग विकृत इस लिये हुआ है, कि उस में उस नियम पर एद से ज्यादा जार दिया गया है, जिसे पाश्चात्य विज्ञान शास्त्री 'ला आफ हेरिडिटी' वा 'आनुवंशिक नियम', 'जन्मना वर्ण', कहते हैं, और उतने ही उपयोगी और उस के सहकारी दूसरे नियम की उपेक्षा कर दी गयी है जिसे 'ला आफ म्यूटेशन,' 'स्वभाव-विशेषोन्मेष नियम,' 'वर्णना घण' कहते हैं। इस के विपरीत, पाश्चात्य समाज में (पाश्चिमीय रान को स्थाव्र छोड़ कर) 'वर्णना घण', पर ही अधिष्ठा जार दिया जाता है, जिन का परिणाम नितान्त अल्पवस्थित, अनिश्चित, भयावर्ण प्रतिशोभिता मरण, और निन्द की उपलब्धता, है। इन दोनों में प्र भेद नि म अर्ध स र है जनों मिला का दूर-सच होने है। 'उ मता दया' का निमित्त शिक्षा के अन्तर्गत में एक-दूसरे की सृष्टता करता है कि विद्वत् प्रसार वा शिक्षा विद्वत् विषय हो देना प्राप्त उपचित होगा, फिर, विद्वत्की आस्था में महासंघटन में समाज उन्न



इस सिद्धान्त से, कार्य का और वेतन का, श्रम का और विश्राम का, शरीर और मन के खेदन और रजन का, काम और दाम का, व्यायाम और आराम का, मिहनत और उन्नत का, न्याय्य विभाजन होता है, तथा बेकारी घटाने में सहायता मिलती है।

वर्ण-व्यवस्थापन के आरम्भ काल में ऐसा ही विभाजन, स्मृतियों से सिद्ध होता है। बाद को, जीविका, वृत्ति, मआश, रिज्क, के मामिले में, 'जन्म' का प्रभाव अधिकाधिक पढ़ने लगा। वृत्ति के अनुसार चने हुए वर्ण, मध्ययुग में, जातियों और उपजातियों के रूप में परिणत हो गये, जो एक दूसरे का बराब बरने लगे। इन जाल्युपजातियों का भीतरी मतलब, सबय, हेतु, प्रयोजन, प्राय वही होता था, जो व्यापारी या औद्योगिक सर्वों, पूर्णों निगमों, श्रेणियों, दलों, सार्यों का हुआ करता है। आज-काल के शब्दों में इन को 'ट्रेड यूनियन', 'आर्टेल', 'कार्टेल', 'गिल्ड', 'असोसियेशन', 'कम्पनी' आदि नाम से पुकारते हैं। इनका अभीष्ट, मङ्गल, चही होता है कि अपने अपने भीतर के व्यक्तियों की आधिक समृद्धि और जीविका प्राप्ति में सहायता की जाय, और बाहर वालों से मुकादिले रक्षा की जाय। आधिक स्वार्थी कारणों से ही प्रेरित होकर, ये सब नये व्यक्ति को जल्दी अपने भीतर आने नहीं देते थे। आज भी, सर्वत्र व्यवसाय सब से समृद्धों में, इस प्रकार की आधिक शक्ति-शालता और हानियाँ दिखाई देती हैं। इस देस में एक प्रधान नगर में एक ऐसा 'अटोमियो' या 'असोसियेशन' है जिस में किसी एक नये व्यक्ति का प्रवेश सम्भव नहीं है, जो किसी वर्तमान सज्जद या बेटा या दामाद या ऐसा ही कोई नजदीकी रिश्तादार या विशिष्ट मित्र न हो।

सुअर चार वर्णों के नामों की व्यक्ति ही से मिलता है, जिसे प्रभावत वृत्तियों के पेशे से, जीविका से चोखक थे। ऐसे (१) दाल, (२) 'दाल' अथवा 'देद' अर्थात् अर्थमिक् और अधिनामिक शब्दों से देता), आपाप, साजस, कश्चिय एएएए' में, पारी-रूप-अवधारि

इस सिद्धान्त से, कार्य का और वेतन का, श्रम का और विश्राम का, शरीर और मन के खेदन और रजन का, काम और दाम का, व्यायाम और आराम का, मिहनत और उज्रत का, न्याय्य विभाजन होता है; तथा चेकरी घटाने में सहायता मिलती है।

वर्ण-व्यवस्थापन के आरम्भ काल में ऐसा ही विभाजन, स्मृतियों से सिद्ध होता है। चाद को, जीविका, वृत्ति, मभाश, रिज़ूक, के मामिले में, 'जन्म' का प्रभाव अधिकाधिक पढ़ने लगा। वृत्ति के अनुसार बने हुए वर्ग, मध्ययुग में, जातियों और उपजातियों के रूप में परिणत हो गये, जो एक दूसरे का बराब बरने लगे। इन जात्युपजातियों का भीतरी मतलब, स्वयं, हेतु, प्रयोजन, प्राय वही होता था, जो व्यापारी या औद्योगिक सघों, पूगों, निगमों, श्रेणियों, दलों, सार्यों का हुआ करता है। आज-काल के शब्दों में इन को 'ट्रेड यूनियन', 'आर्टेल', 'कार्टेल', 'गिट्ट', 'असोसियेशन', 'कम्पनी' आदि नाम से पुकारते हैं। इनका अभीष्ट, मङ्गल, यही होता है कि अपने अपने भीतर के व्यक्तियों की आर्थिक समृद्धि और जीविका प्राप्ति में सहायता की जाय, और बाहर वालों से मुन्नायिले रक्षा की जाय। आर्थिक स्वार्थी कारणों से ही प्रेरित होकर, ये सघ नये व्यक्ति को जतरी अपने भीतर धाने नहीं देते थे। आज भी, सर्वत्र, व्यवसाय सघों से समूहों में, इस प्रकार की आर्थिक सहायता और ह्मियां दिखाने देती हैं। इस देस के एक प्रधान नगर में एक ऐसा 'अटोनिथो' या 'असोसियेशन' है जिस में किसी एक नये व्यक्ति का प्रवेश सम्भव नहीं है, जो किसी पतमान सदस्य का बेटा या दामाद या ऐसा ही कोई नजदीकी रिश्तादार या विशिष्ट मित्र न हो।

सुख्य चार वर्णों के नामों की व्युत्पत्ति ही से निज होता है, कि वे प्रधानत एतियों में देसों के, जीविका के, सांतव थे। जैसे (१) द्रह्मण, ('द्रह्म' अर्थात् 'देह' अर्थात् अ ध्यात्मिक और आधिभौतिक सातों में देता), अध्यापक, राजक, पालिक, एतदर्थ में, धारा-एव-तद्वदिति

वैज्ञानिक रूप से, समाज का नया व्यवस्थापन करने के लिये मज-बूर होगा ।

भिन्न भिन्न वृत्तियों के भिन्न भिन्न सघों में बटी उपयोगिता और कार्यसाधकता थी, पश्चिम और पूर्व में सर्वत्र, यंत्रों के आविष्कार से, अब बट प्रबध टूट गया, उस सघ व्यवस्था ('गिल्ड-सिस्टम') के टूटने का प्रधान कारण, अति लोभ, ईर्ष्या, और परस्पर दुराव प्रभाव हुआ है । पर नभव है कि तमस पुनर्प्राप्त अधिक अच्युत राति से, व्यवसाय-सघ, पंग, निगम, श्रेणी, 'ट्रेड यूनियन', 'गिल्ड', पचायत, विरादरी, आदि, नये नये नाम और असत नये नये रूप भी, देश काल निमित्तानुसार धारण कर के, पुनर्जीवित हों, जेसा हाल में तथा अन्यत्र भी होता आटूम होता है । मनमाना पंशा उठा लेने पर जो भारतवर्ष में पहिले रखावट थी, यह जब दूर हो गयी है, और बुलागत, पशागत, 'जातीय', पेशा करने पर जोर नहीं दिया जाता तब अन्तर्वर्ण विवाह की रखावट को नानाये रखने का कोई अर्थ नहीं रह गया है । उसने कोई लाभ नहीं देस सकता । अब उस रखावट से उपयोगिता कुछ भी नहीं रह गयी है, प्रायुत प्रत्यक्ष हानिकारकता बटूत हो गयी है ।

यदि लोग वर्ण-नाम से विरक्त पेशा न करने पाते, तो वर्णनाम से विरक्त विदात भी न करना कुछ स्वार्थव था । 'समाजशास्त्रसन्नेषु स्वल्प' । जिनका एक पाल का रोगमार उनका प्राय एक साल का रहन-सहन, सग पान जाहार विहार आचार विचार, घरदार रहस्य देसव रसम-रिवाज, रीति नीति, दौल-वतलाद, शास्त्र-वदनाद । ऐसी ही का परस्पर प्राण सम्बन्ध, विवाह-सम्बन्ध, अन्त-सम्बन्ध, अति उचित है । जहाँ पेशा एक नहीं, साल-सघषार एक नहीं, वहाँ वर्णवर्ण का कुछ अर्थ नहीं, नानाभाष का स्वार्थता होत । प्रत्यक्ष विभिन्न आजशास्त्र यह हो रहा है कि सघोली भारत के विभिन्न भाग-भाग लोग अपने अपने विवाह-सम्बन्ध परने का चल करते हैं । अन्तर्वर्ण

लिये, आत्मोन्नति कर के, मुख्य चार वर्णों में से किसी के अन्तर्भूत हो जाने के उपाय भी बताये गये हैं। महाभारत में, जो धर्मशास्त्र का ग्रन्थ समझा जाता है, विराट पर्व (अ० २१) में कहा गया है कि, मत्स्य देश में ब्राह्मण क्षत्रिय में परस्पर विवाह होता है, और उन की सन्तति द्विज ही समझी जाती है। क्षत्रिय पुरुष से ब्राह्मण स्त्री को जो पुत्र हो वह 'सूत' कहा जाता था, और राजा लोग उसने विवाह संबन्ध करते थे, सूतों के एक राजा का नाम केकय था।

ब्राह्मण्या क्षत्रियाज्जात सूतो भवति, पार्ष्विव !,
 प्रातिलोभ्येन जाताना स हि एको द्विज एव तु ।
 सूतेन सह सम्बन्धं कृतं पूर्वं नराधिपैः ,
 सूताना अधिपो राजा वेकयो नाम विश्रुत ।

वर्ण पर्व में, जब वर्ण और शाल्य एक दृग्दरे को निन्दा कर रहे थे, तब, आक्षेपबुद्धि से, पर वास्तविक स्थिति दिखाते हुए, वर्ण ने कहा है कि पचनद के अन्तर्गत घाट्टीक देश में पुरुष अपना वर्ण अक्सर बदलते रहते हैं।

तत्र ये ब्राह्मणो भूत्वा, पुनर्भवति क्षत्रिय,
 वैश्य, शूद्रश्च, चातीर, ततो भवति नापित,
 नापितश्च ततो भूत्वा, पुनर्भवति ब्राह्मण,

स्त्रिजो भूत्वा च ततोऽपि, पुनर्दारोऽभिजायते । (वर्ण पर्व अ० २६)

घाट्टीक देश में, यही पुरुष कभी ब्राह्मण, कभी क्षत्रिय, कभी वैश्य, कभी शूद्र, हो जाता है, 'नापित' (नाहं, एजाम्) हो कर पुन ब्राह्मण, और पुन शूद्र (मत्स्य आधीयर) हो जाता है। मतलब यह कि पचनद प्रदेश में, महाभारत के समय में भी, 'जन्मना' पर जन्म जोर नहीं दिया जाता था, जितना ब्रह्मावर्त्त प्रान्त में, वही 'जन्मना' ही पर अधिक जोर दिया जाता था, पर दोनों प्रान्तों में यौन-सम्बन्ध निरन्तर होते थे। शाल्य राज्य सुधितर से मन्त्र है।

सामान, जो अच्छा दुरुस्त काम लायक हो, वह भी चूर हो जायगा। बिना आँख से काम लिये, केवल हाथों से झाड़ू ही चौफेर चलायी जाय, तो कूड़ा करकट झाले मकड़े के साथ, सोन चाँदी हीरा मोती की चीजें भी फिक जायंगी। भातरी और बाहरी, पुरानी और नयी, प्राचीन और अर्वाचीन, पूर्वी और पश्चिमी सभ्यताओं के भीषण संघर्ष से, अपरि-
 वर्ती 'पूर्व' देशों में भी व्यापक परिवर्तन होने लगे हैं। आपस की फूट से जर्जर, असंख्य जातियों के परस्पर भेदभाव से जीर्ण जीर्ण, भारतवर्ष में, यह परिवर्तन, ब्रिटिश जाति के राजनीतिक प्रभुत्व के कारण और भी तीव्र, विवेक-शून्य, और दूषित हो रहा है। विपरीत इसके, जापान में, जो अपने उत्कृष्ट गुणों के कारण स्वाधीन और महाभाग्यवान् है, जो परिवर्तन किये जा रहे हैं, वह सब सुविचारपूर्वक, सुविवेकपूर्वक हो रहे हैं। भारत का पश्चिम से संपर्क हुआ, और राजनीतिक स्वतंत्रता स्वराज्यता लुप्त हो गई, दायता परार्थनता आ गई; जापान का भी पश्चिम से संपर्क हुआ, पर वह अपनी उद्यम स्वाधीनता सर्वथा बनाये रहा, बल्कि अधिकाधिक उत्कृष्ट और बलवती करता रहा है; यही, इन दोनों देशों का दशांतर है जो जर्मन आस्मान का, आकाश पाताल का, अन्तर है, उसका कारण है। पश्चिम के पैरों ने भारत जगता, अपने पापिष्ठ भेदभावों के कारण, बंध गयी है, सर्वथा परार्थीन हो गई है। इन लिये जैसे जैसे वे पैर चलते हैं, हम भी उधर भिचते घूमिचते हैं। दलों के कार्यों और विचारों की लहरें हमारे जीवन के सभी अंगों में, अतः वैवाहिक अंगों में भी, जैसे ही दिक्षोभ उत्पन्न कर रही हैं। इन अर्थों से हमारा वर्तमान यही है, कि प्राचीन से नवीन से संक्रमण के समय होने वाली आकुलता को, जलते तब हो सके, दब करके दबा कर दें, और निरुपयोगी तथा सुदृश्य और निष्प्रयत्न की सब बातों को, जिनसे समाज की दली लुप्त हो रही है, दूर करने में सहायक होने हुए, प्राचीन से जो एक सभ्यता, साहित्य, अर्थ है, अपनी रक्षा करें।



केवल इस लिये विवाह न होने देना, कि वर-वधू का जन्मना वर्णनाम एक नहीं है, यह नितांत मूढब्राह्म है ।

ज्योतिष के विचार

इस सम्बन्ध में एक कृतकाल-जनक और गुर्वर्थ बात पर, अपरिवर्त-वादि सज्जनों को ध्यान से विचार करना चाहिये । ज्योतिष-शास्त्र के अनुसार, जो जन्म-पत्रिका बनाई जाती है, उस में नवजात शिशु का जो वर्ण बताया जाता है, वह अक्सर माता पिता के 'जाति' या 'वर्ण' के नाम से भिन्न होता है । ज्योतिष शास्त्र के सम्बन्ध में, यूरोप के प्रसिद्ध विद्वान् युङ्ग-जो अभी जीवित हैं, तथा जो चित्तचिकित्सा ('माइक्रो-पेनालिडिस') के नवान विज्ञान के प्रसिद्ध प्रवर्तकों और जनकों में गिने जाते हैं—अपनी एक हाल की पुस्तक ('मोर्टन मैन एन्ड सर्व आफ ए मोल') में कहते हैं कि ज्योतिष से, किसी प्यक्ति के जन्मकाल की ग्रह-स्थिति से उसका स्वभाव निर्धारित करने में बड़ी सहायता मिलती है । आप यह भी कहते हैं कि, प्राचीन काल के लोगों के मानस द्वारा-विषयक उल्टा ज्ञान का प्रमाण इस शास्त्र से मिलता है । इस ज्योतिष शास्त्र पर बहते-सूखते हैं, ईसाई, तथा मुसलमान भाई भी, जिनसे नहीं तो सुबके सुबके, गणित विधान करते हैं । इसी बात की सत्यता से हमारे अपरिवर्तवाद, हिन्दू भाई यह जानने की चेष्टा करते हैं कि वर और वधू के ३६ युगों से अपरिवर्त मिलते हैं या नहीं । वर वधू के वार रेश और मानसिक गुण तथा उनके स्वभाव मिलते हैं या नहीं, यह जानने की इच्छा अक्सर स्वभाव-विद और वैज्ञानिकों में । इसके निर्णय के लिये, जहाँ इससे अधिक विरामनाम सम्बन्ध न मिले, वहाँ तो ज्योतिषों के ज्योतिष वा अपरिवर्तना वरक पर ही इतिहास नहीं है । वर से वर प्रवेश हिन्दू, जो अपने को सर्वज्ञ नहीं समझते, इसकी अपरिवर्तना नहीं करते, प्रकृत इस पर विधान करता है । वर वधू हिन्दू इस शास्त्र की उद्वेग और अध्ययनना करते हैं, जब वर वधू

ईसा से पूर्व की छः सात शतियों में जब रोम के राष्ट्र में संघराज्य (रिपब्लिक) का शासन-प्रबंध था, उन्हीं उन्हीं 'पेट्रिशान' कुलों में से 'पांटिक, हारुत्पेक्स, फ़ुमेन' आदि धर्माधिकारी 'ब्राह्मण' भी, और 'कान्सल, सेन्सर, डिक्टेटर, प्राइटर', 'सेनापति ज़ेनरल, आदि शासनाधिकारी 'क्षत्रिय' भी, चुने और नियुक्त किये जाते थे। एवं ईसा के बाद, मध्ययुग में, यूरोप में, 'प्रिंस आफ़ दी लैंड', पृथ्वी-शासक, 'भूपति', 'क्षत्रिय', और 'प्रिंस आफ़ दी चर्च', 'देवालय-शासक', 'धर्म-पति', 'ब्राह्मण', अक्सर सगे भाई होते थे। एवं, भारत में, बौद्धकाल में, एक भाई राजा और एक भाई भिक्षु संघ का नायक।

सद्वर्ण-विवाह और वर्ण-संकर का सच्चा अर्थ

यदि दो व्यक्ति, युवक युवती, समान आचार-व्यवहार और समान जीविका वाले दो परिवारों में उत्पन्न हों और पाले-पोसे जायें, तो यह अनुमान करना और मानना, कि उनके मानसिक और शारीरिक गुण परस्पर-विरोधी न होंगे, यह अनुचित नहीं है। अपनी जाति के भीतर ही, अर्थात् 'सवर्ण,' विवाह के मूल में शास्त्रीय या वैज्ञानिक तथ्य इतना ही है। पर यह कहना, या इस बात पर जोर देना, कि दो व्यक्ति दो भिन्न नाम की जातियों में उत्पन्न हुए हैं, इस लिये उनके स्वभाव या गुण नहीं ही मिल सकते, यह पतमान स्थिति में, जब कि जाति या वर्ण का नाम किसी व्यक्ति के शील, आचार, व्यवहार, और वृत्ति का प्रोत्साहक कुछ भी नहीं होता, केवल मूढ़ग्रह है।

यस्तुतः सद्वर्ण विवाह का अर्थ ऐसे व्यक्तियों का विवाह है जिनके गुण-कर्म, जिनके शील और शरीर व्यवहार, जिनकी ज्ञान-इच्छा-क्रिया-संबंधी रुचि-अरुचि, समान या अपिरोधी हों, परस्पर संगत हों। सद्वर्ण का अर्थ यह नहीं है कि केवल उनके जाति-नाम वर्ण-नाम मात्र एक हों। मनुष्यों के लिये यह भ्रम स्थापण है, कि कार्य को कारण और कारण को कार्य मान लें। ऐसे ही भ्रम में एक हिन्दू होता यह मन्दे

अस्पृश्यता का प्रश्न

अन्तर्वर्ण विवाह के इस प्रश्न से अस्पृश्यता के प्रश्न का भी सम्बन्ध है। अस्पृश्यता, मल का गुण है, न कि मनुष्य वा जाति का। धर्माभिमानी लोगों के अस्पृश्यता-विषयक भाव में विज्ञान का अंश इतना ही है, कि स्पर्श उन लोगों का अनुचित है जो मलिन हैं, अथवा संक्रामक वा दूत के रोगों से पीड़ित हैं। पर, मनुष्य चाहे जैसा निर्मल और दीरोग और शुभ्र हो, यदि उसका जाति-वर्ण-नाम किसी ऐसे जाति का है जो प्रचलित प्रथा से अस्पृश्य है, तो उसे छूना न चाहिये—यह केवल 'मूढ़-ग्राह' है। और ऐसे आदमियों का, अपने लिये, ऐसे जाति वर्ण-नाम को दाँतों से पकड़े रहना, यह और भी घोर 'मूढ़-ग्राह' है।

वस्तुतः, किसी का नाम ही ऐसा न होना चाहिये, जिससे कोई पेशा समझा जाता हो, पर वह उस पेशे का न हो। 'दलित वर्ग' का प्रश्न एक क्षण में हल हो जाय, यदि वे हज़ारों क्षुद्र जातिनामों का त्याग कर दें, और प्रथम चार वर्णों में से ऐसे वर्ण के नाम का ग्रहण करें जिसके अन्तर्गत उनका पेशा हो; यथा, करारों 'हरिजन', जो कृषि से जीविका करते हैं, वे अपने को 'वैश्य' ही कहें, और सब नाम छोड़ दें। साथ ही, यदि उनका पेशा मैले काम का हो, तो वह काम कर के तुरन्त अपना शरीर धो कर साफ़ करना चाहिये; तथा समाज की ओर से उन्हें शिक्षा मिलनी चाहिये, कि वे अपना शौच इस तरह करें। यह प्रश्न वस्तुतः बहुत सरल है, पर उसे हल करने की नीयत का, और उपाय के ज्ञान का, अभाव है; एनी से सरल भी अत्यन्त कठिन हो गया।

प्राणहारक शब्द और प्राणहारक भाव

सभी देशों और सभी कालों में मनुष्य के स्वभाव की इन दुर्बलता का परिचय मिलता है कि, वह प्राण बचाने वाले 'भाव' की तो उपेक्षा करता है, और नार टालने वाले 'शब्दों' को पकड़े रहता है; अनाज की हीर पेंक देता है, और भूखी को टिप्राङ्कत से रखता है।

स्वभावानुकूल जीविका-साधन का काम दे कर यह व्यवस्था भी की गयी, कि उसके त्रास गुणो के सदुपयोग से सारे समाज की सेवा भी हो ।

आगे चल कर यह भाव ही उलट गया । जहाँ मूल-कल्पना, गुणानुरूप जीविका-कर्म की थी, वहाँ नई कल्पना हुई जन्म से कर्म की; गुण का स्थान जन्म ने लिया; जन्म से कर्म स्थिर किया जाने लगा; और आगे चल के यह भी व्यवस्था गिर गयी, वर्ण कुछ और कर्म कुछ होने लगा । फलतः, सुसंघटित, सुसंहत, सुव्यूह समाज, विश्रंखल, असंहत, विदीर्ण हो गया, और उसके हज़ारों टुकड़े ऐसे हो गये जो एक दूसरे से ईर्ष्या, मत्सर, विरोध, स्पर्धा करने ही में अपना भला मानते हैं ।

वर्णव्यवस्था की सर्वसंग्राहकता

यदि वर्णव्यवस्था के, अर्थात् चतुर्विध जीविका-कर्मों के, अनुसार, समाज के वर्गीकरण के मूलगत, अन्तःकरण-शाखानुकूल, अध्यात्म-शाखानुकूल, सिद्धान्तों का अर्थ ठीक ठीक और उदारतापूर्वक किया जाय, तो यह व्यवस्था अब भी अपना मूल उद्देश्य सिद्ध कर सकती है । समस्त जगत् के मनुष्य-जीवन को, बुद्धिपूर्वक, खूब सोच समझ कर, परस्पर-सम्बद्ध, अन्योन्याश्रित, चार भागों में विभक्त कर के, सुसंघटित और सुसंयोजित करना—यही यह उद्देश्य है । पूर्वकथनानुसार चार वर्ग ये हैं—पहिला वर्ग 'शिक्षकों', प्राध्यापकों, ज्ञानियों, आदिनों धारिणों का है, यानी उन लोगों का जो ज्ञान, इत्थ, 'इर्षान' के अधिकारी हैं—यह ज्ञान जो विज्ञान और विश्वप्रेम से युक्त है; दूसरा वर्ग 'रक्षकों' का है, जिसमें क्षत्रिय, राजा, आदि हैं, जिसमें 'अन्न', 'हुकूमत', 'आज्ञाशक्ति', तथा शौर्य है—यह शौर्य जो परीपकारी है; तीसरा वर्ग आर्थिक 'पोषकों' का है, जिसमें वाणिज्य व्यापार में कुशल व्यक्ति हैं—यह वाणिज्य और तिजारत जितने सब मनुष्योपयोगी पदार्थों का संग्रह और वितरण, कुशलता और उदारता से होता है; अन्तिम और चौथा

वाह्यतः, समाज व्यवस्था मे रूस के बिलकुल विरोधी दिखाई देने वाले मार्गों से, पर कई गुर्वर्ध बातों मे तत्सदृश ही, व्यवस्थित-समाज-संघ-टन का काम कर रहा है। भारत की प्राचीन व्यवस्था ने इन दोनों का समन्वय करने और ऊपरी नुमाइशी विरोधों का परिहार करने का मार्ग दिखाया है।

मूल वर्णव्यवस्था मे स्थान पाने के लिए यह आवश्यक नहीं है कि कोई मनुष्य अपने देश, राष्ट्र, मातृभाषा, वा विशेष धर्म का त्याग करे। किसी देश का रहनेवाला, किसी राष्ट्र का सदस्य, किसी भाषा का बोलने वाला, कोई भी नाम धारण करने वाला, वेद मे, कुरान मे, पुरानी तौरते मे, नई इब्जरील मे, जिंदाविस्ता मे, बौद्ध त्रिपिटक मे, जिनजगम मे, या ग्रन्थ साहय मे विश्वास करने वाला, अपने विशेष विश्वासों की, तथा अन्य सब लवाज़िमों की, रक्षा करता हुआ, अपने अपने पेशे के अनुसार वृत्तिसूचक वर्ण-नाम का ग्रहण कर सकता है; और यदि वह सोच समझ कर समान शील वाली 'सहधर्मिणी' से विवाह करे, तो उसकी अर्द्धांगिनी को भी उसका वृत्तिसूचक वर्ण-नाम प्राप्त होगा।

दूसरी विशेषता

मूल वर्णव्यवस्था तो एक ऐसा साँचा ढाँचा है जिसमे मानव जाति की सब अवांतर जातियों के मनुष्य, अपने अपने स्वाभाविक गुणो और जीविका-धर्मों के अनुसार टाले जा सकते हैं; और भारतवर्ष मे प्रायः दौढ़काल के अन्त तक टाले जाते थे। 'प्रात्यस्तोम' आदि विधियों से उन का संस्कार कर के, 'प्रात्य' से 'शालीन', 'अनार्य' से 'आर्य', 'वर्ण-रहित' से 'वर्ण-सहित', 'अत्यक्त-वर्ण' से 'सुव्यक्त-वर्ण' बना लिए जाते थे। 'शाक-द्वीपी ब्राह्मण' आदि का अर्थ यही है कि, जो 'शक' जाति के लोग भारतवर्ष मे आ कर बस गये, उन मे से ज्ञान-प्रधान व्यक्ति 'ब्राह्मण' वर्ण मे शामिल हो गये और 'शाक-द्वीपी' कहलाये। एवं चौहान, परमार आदि, जो राजपूतों के पार 'अग्निबल' क्षत्रिय प्रसिद्ध हैं, इस प्रथा के साथ, कि ब्राह्मणो ने

स्मरण सब को सदा बना रहता है; यह बड़े महत्व की बात है; इसके अभाव में, प्रचलित व्यवस्था, सर्वत्र अत्यन्त अपूर्ण रह जाती है, अन्ध-संघर्ष होता रहता है, और सहयोग की जगह प्रतियोग प्रबल होता है; (२) सामाजिक जीविका कर्मों, और सब प्रकार के व्यवसायों और उद्योगों का, बुद्धिपूर्वक विभाग कर के, और तदनुसार पारितोषिक की व्यवस्था कर के, यह व्यवस्था, व्यक्तिवाद और समाजवाद का वैज्ञानिक समन्वय करती है। ऐसा बुद्धिपूर्वक समन्वय, वर्तमान स्थिति में, कहीं पाया नहीं जाता। इस व्यवस्था में यह संभव नहीं है कि एक मनुष्य अपने वर्ण वा वर्ग के लिये निर्धारित जीविका-कर्मों के सिवा, अन्य वर्गों के लिए निर्धारित किसी कर्म के द्वारा, अधिक धन उपार्जन करने की चेष्टा करे। इस व्यवस्था में कोई अध्यापक, आचार्य, वकील, सैनिक, मजिस्ट्रेट, जज वा ज़मींदार, अपना कर्म करता हुआ, बैंकर, साहूकार, या कम्पनी डाइरेक्टर का काम नहीं उठा सकेगा। उसी तरह, लेन-देन करने वाला सूदखोर कुलीदजीवी धार्मिक 'महाजन' या कम्पनी डाइरेक्टर भी, अध्यापकी, वकीली, जजी, ज़मींदारी, सिपाहीगरी, कान्सटेब्ली, मजिस्ट्रेटी आदि का काम नहीं करने पावेगा। इस में घेतन, लाभ, घर, पुरस्कार, राजाओं की तनपनाह ('मिविल लिट्ट') आदि, न्याय्य परिमाण की सीमा का अति-प्रभण नहीं करने पावेगी। तथा 'शरीफ अमीर' में अत्यन्त अन्तर न होने पावेगा।

ज्ञात इतिहास-काल में, मालूम होता है कि, समस्त मानवजाति में से केवल प्राचीन भारतीयों में ही, बुद्धिपूर्वक और प्रभणपूर्वक, मानव-जाति के प्राकृतिक नियमों और चित्त की वृत्तियों का अनुसरण करते हुए, वैयक्तिक और सामाजिक जीवन के अंगों वा अंशों का वैज्ञानिक विभाग करने का प्रयत्न किया है, और सफलता के साथ किया है। दक्षिण अमेरिका के 'पेरू' नामक देश में, ईसा की १२ वीं से १५ वीं शताब्दियों के बीच, अर्थात् चार सौ वर्ष तक, भारतीय वर्णव्यवस्था से

मनमानी स्वच्छन्दताकृत भेदों की जननी यहाँ भी और पच्छिम में भी है। मूल भाव के विगड़ जाने से सारी बातें विगड़ जाती हैं। 'तान्येव भावोपहतानि कल्कः'। यदि हम प्रचलित वर्ण-व्यवस्था की स्थापना, पुनः उसके सच्चे प्राचीन गुणकर्म के आधार पर कर सकें, यदि हम निश्चय कर सकें कि सम्मान और अधिकार केवल उनको ही मिलेंगे जो ज्ञानी, आत्मत्यागी, और जनसेवक हैं; तथा विलासी धन बटोरनेवालों को कभी न दिये जायेंगे; जैसा वर्णधर्म के द्वारा प्राचीन समय में किया जाता था; तो व्यक्तिवाद और स्वार्थवाद और उन सब 'वादों' का अन्त हो जायगा, जो पच्छिम का नया वैज्ञानिक सभ्यता को वैज्ञानिक राक्षसता और दुर्बल-पीढ़क चरित्रता बनाये हुए हैं। ऐसा होने से मनुष्यता का, इन्सानियत का, भाव पुनः उदित होगा, तथा हमारे सब प्रश्नों का सुलझाव आप ही हो जायगा; क्योंकि जब भाव शुद्ध हो जायगा, जो विलासिता और धनप्रियता से सम्मान और आज्ञाशक्ति को अलग कर देने से अवश्यम्भावी है, तो सब बातें आप ही सुधर जायेंगी। जब कर्मों का प्रेरक चित्त, शुद्ध और ज्ञानवान् है, तब कर्म अवश्य ही शुद्ध और सुख संचारक होंगे।

आज जाति और उपजाति की पंचायतों के मुखिया भूल गये हैं कि उनका कर्तव्य, अपनी अपनी सीमा के भीतर, अपनी विरादरी की सेवा सहायता करना है। इसका जगह, वे भोजन, विवाह, और हृत्आहृत के मामिलों में, उनका साथ से ज़रा भी प्रतिकूल काम करने वालों को जातिन्युत कर के, अपनी अधिकार-शक्ति का रस ले रहे हैं। सर्वत्र अधिकार का अर्थ हो गया है, सुख देने का अधिकार, न कि सुख देने का; दूमरों को दमाने, सुख देने, में ही शक्ति का रस माना जाता जाता है; सुख देने में शक्ति का उत्तम महत्तम स्वाद होता है—यह भूल गया है।

तीन मूद्घ्राट

(१) अन्तर्वर्ण-भोजन-विषयक मूद्घ्राट तो अब उन लोगों में से अधिकांश में मिट गया है जिन्हें नया शिक्षा मिली है। दक्षिण भारत में



इन लेखों पर मैंने आदर से ध्यान दिया। मुझे ऐसा जान पड़ा कि वर्तमान विधानों में कई ऐसी शर्तें हैं, जो ऐसे कुछ सज्जनों को ग्राह्य नहीं हैं जो अन्तर्वर्ण-विवाह करना चाहते हैं। वर्तमान विधानों में केवल हिन्दू धर्म की ही चर्चा नहीं है, बल्कि अन्य धर्मों की भी है; तथा उनके अनुसार, ऐसे लोगों को, जो अन्तर्वर्ण विवाह करना चाहते हैं, या तो यह क़ारार करना पड़ता है कि हम किसी विशेष धर्म के अनुयायी नहीं हैं; या, यदि वे हिन्दू बने रहना चाहते हैं तो उन्हें कई हज़र छोड़ देने पड़ते हैं; यथा, यदि अविभक्त कुल के अंग हैं तो कुल से उनका सम्बन्ध कट जायगा; उनके पिता को दूसरा लड़का गोद लेने का हक़ हो जायगा; उनको स्वयम् गोद लेने का हक़ न रहेगा; उनकी सन्तान को सिर्फ़ उन्हीं की निजी जायदाद पाने का हक़ 'इण्डियन सक्सेशन एक्ट' के अनुसार होगा, स्मृत्युक्त दाय-विभाग के अनुसार नहीं; उनकी संतान को अपने दादा आदि की जायदाद में स्मृत्युक्त दाय-विभाग के अनुसार अधिकार न होगा; उनको किसी धर्म-दाय या सम्पत्ति के प्रबन्ध का अधिकार न रहेगा; इत्यादि। जिन सज्जनों को यह शर्तें मंज़ूर हों, उनके लिये तो वर्तमान विधानों का रास्ता खुला है, और वे उस पर चल सकते हैं और चलेंगे। पर कुछ सज्जन ऐसे हैं जो अपने कुल कुटुंब से कानूनन सम्बन्ध-विच्छेद करना, और स्मृत्युक्त दाय-विभाग के और दत्तक पुत्र को गोद लेने आदि के अधिकार का त्याग करना, नहीं चाहते; 'हिन्दू' होने के नाते जो अधिकार-कर्त्तव्य उनको प्राप्त हैं उन सब को बनाये रखना चाहते हैं, सर्वथा 'हिन्दू' बने रहना चाहते हैं, केवल अन्तर्वर्ण-विवाह की अनुमति चाहते हैं। ऐसे लोगों के अर्भाए की पूर्ति के लिये यह सीधा सादा विधान, श्री बिहलभार्द् पटेल जी ने प्रस्तुत किया था और मैंने उनका अनुचरण कर के पुनर्पार प्रस्तुत किया। जहाँ तक मैं विचार कर सका, इस विधान में किसी की कोई हानि नहीं होती है, प्रस्तुत कुछ सज्जनों की अर्भाए-सिद्धि होती है, और, 'दीर्घ परमत ना हस्व',

की स्फूर्तिमती बुद्धि ने, उस मूर्ति पर खुदे, अधिकांश मिटे हुए, अक्षरों को पढ़ कर लगाया । और भी ऊपर कह चुके हैं, कि हिन्दू कहलाने वाले समाज में कोई ऐसा आचार (सदाचार वा दुराचार) नहीं है जो, किसी न किसी समुदाय-विशेष में, किया न जाता हो । संन्यासी स्वामी भावानन्द तीर्थ के, अनशन व्रत से, शरीर-त्याग को भी मैं ने १८८८ ई० में, काशी में, केदारघाट पर, गंगा के तीर पर देखा है, जिस से बढ़ कर किसी पुराणोक्त ऋषि की तपस्या नहीं हो सकती । तथा सब प्रकार की पशु-बलि, साक्षात् गो-मेध नहीं तो महिष-मेध, अजमेध, अवि-मेध, कुक्कुट-मेध आदि भी जारी हैं ; यहाँ तक कि 'अघोर' पन्थियों में, विष्टा-भक्षण, मूत्रपान, नरशव-भक्षण, और भवसर मिलने पर नर-बलि-दान भी हो रहा है ; वाममार्गी द्विजों में भी पंच 'मकार' का सेवन प्रसिद्ध है; विवाह के विषय में सभी चाल की प्रथा प्रथित है ; दक्षिण में सगे भाई-बहिन के चेटा चेटा का, अर्थात् सगे पुपेरे-ममेरी भाई-बहिन का, परस्पर विवाह बहुत होता है, (जैसा कृष्ण के चेटे प्रद्युम्न, और उनके श्यालक रुक्मी की चेटा, का हुआ), जो उत्तर में घोर अनाचार समझा जाता है; तन्त्रवात्तिक-कार ने और भी बहुत से विशेष विशेष प्रान्तों के विशेष विशेष अनाचार गिनाये हैं । दाय के सम्बन्ध में, उत्तर भारत में मिताक्षरा का कानून, पूर्वभारत बंगाल में जामूतवाहन का कानून, घ्रावणकोर बोर्चीन आदि मलाबार प्रान्त में 'नराणां नातुलः क्रमः', अर्थात् चेटे को नष्ट, भांजे को जायदाद मिले, जारी है । पर सभी 'हिंदू' धर्म और 'हिन्दू' समाज के अन्तर्गत हैं । 'शाख' 'शाख' की दुहाई तिहाई बहुत दी जाती है, पर प्रत्येक समुदाय अपना 'शाख-विशेष' अलग रखता है, और उससे अपने 'आचार-विशेष' का समर्थन करता है । ऐसी 'सर्वमेवऽकुलीकृतं' की अवस्था में, जब सब प्रकार की मर्यादाओं का ऐसा संस्कार हो रहा है कि 'निर्मर्यादम् अवर्तत', सब बंधन शब्दों को पकड़े रहना, अर्थ को न देखना, ठीक नहीं । सम्भार विचार कर के, मर्यादा का ऐसा संशोधन



तथैव गर्भिताः सर्वे गुणैर्धूमो यथाऽग्निना ।

सभी कार्यों में कुछ गुण रहते हैं, कुछ दोष । द्वन्द्वमय संसार है । एक समय में उसी कार्य से गुण अधिक निकलते हैं, दूसरे समय में दोष अधिक ; जैसे 'अश्वालम्भ' आदि में, जिनकी चर्चा ऊपर की गयी । मर्यादास्थापक शासक का, और उस के परामर्शदाता निस्स्वार्थी अनुभवी विद्वानों का, यह काम है, कि सदा सावधान हो कर देखते रहें कि किस मर्यादा से, जिस से पहिले गुण अधिक निकलते थे, अब दोष अधिक पैदा होने लगे हैं, और तब उसको बदल कर दूसरी मर्यादा स्थापन करें । धर्मपरिपन्, 'लेजिस्लेषर', 'मजिलिसि-ज्ञानून' का एकमात्र यही कर्तव्य है । सो अब चातुर्वर्ण्य की मर्यादा के तीन हजार उपो-पो-पो-पो-पोप जातियों में चिखर जाने से, निश्चयेन ऐसी दशा आ गयी है कि, यदि चातुर्वर्ण्य का सर्वथा नाश हट न हो, उसे वचाना मंजूर हो, तो यह नया विधान स्वीकार करना चाहिये ।

एक-विवाह, तथा विवाह-सम्बन्ध के विच्छेद,
के विषय में विचार

कुछ सज्जनों ने यह सूचना की है कि उपन्यस्त विधान में ऐसी शक्त बढ़ा देनी चाहिये जिससे एक पत्नी के जीवन-काल में, इस विधान के अनुसार, दूसरी की से विवाह न हो सकेगा; तथा यह भी कि विशेष विशेष कारणों से विवाह-सम्बन्ध का विच्छेद भी हो सकेगा । दम्बरू प्रान्त के एक सज्जन का एक लेख, प्रयाग के 'लीटर' अखबार में, निकला था, जिस में उन्होंने ने यह कहा है कि दम्बरू प्रान्त में कई ऐसे विवाह हुए हैं जिन में, पहिले बाल्यावस्था में व्याही अनपह पुराने चाल की रीति सारी पत्नी मौजूद होते हुए, उन के पतियों ने, नया 'ब्रेडुएट' (वी० ए० आदि पास) पढ़ाई में लोभ में पढ़ कर, इन से वधाह कर लिया है, और पहिली पत्नियों का त्याग कर दिया है, जिससे वे घोर बह में पड़ी हैं । इस बात पर मैं ने हृदि भर, शक्ति भर, ध्यान दिया; निम्न

दशा उत्पन्न हो गयी है, कि अकसर जवान स्त्रियाँ, धनिकों को फुसला पहला कर, उनसे व्याह कर लेती हैं; फिर मिथ्या बहानो से तलाक़ कर के, अदालतों की डिक्रियों के अनुसार, उनसे अच्छी अच्छी वैधी रक़मे, माहाना या सालाना, वसूल करती हैं, और मनमाना भोग विलास और चैन, 'गिगोलो' पुरुषों (नर-वेश्याओं, विटों) के साथ, करती हैं। छपी पुरतकों और समाचारपत्रों से मालूम होता है कि, अमेरिका के बड़े शहरों में तो अब यह नौबत आ गयी है, कि सौ विवाह पीछे पचास में तलाक़ होता है, और समग्र 'युनाइटेड स्टेट्स' का अनुपात, सात विवाह पीछे एक तलाक़, यानी पन्द्रह प्रति सदी है। यह सब दशा तो अपने विधान के लक्ष्य के नितरां विरुद्ध है। अपना मंशा तो यह है कि पति-पत्नी का, कुल-कुटुम्ब का, समस्त हिन्दू समाज का, परस्पर सम्बन्धन अधिक दृढ़ हो; न कि शिथिल। त्यागों तलाक़ों की वृद्धि से तो यह सम्बन्धन, व्यूहन, ग्रन्थन, बहुत दुर्बल हो जायगा।

ज़रूर है कि बीच बीच में ऐसे मामिले होते रहे हैं, हो रहे हैं, होते रहेंगे, जिनमें पति-पत्नी में किसी कारण से अनयन हो कर सहवास भसल हो जाता है। पर 'सर्वारम्भाः हि दोषेण', 'नारित कोऽपि खलु तादनुपायः सर्व-लोक-परितोष-करो यः'; कोई भी प्रयन्ध किया जाय, ऐसा नहीं होगा कि उससे सुख ही सुख निबले; कोई उपाय ऐसा नहीं है जो सब मनुष्यों का एक साथ संतोष कर सकें। मेरी समझ में यही आता है कि, त्याग-तलाक़ को सुकर बनाने में बहुत अधिक दोष है, बहुत अधिक सामूहिक कष्ट है, और दुष्कर बनाने में कम। बुद्धिमानों यही है कि कब यह को राह पकड़ी जाय। समाज के आगे यही आदर्श सदा रखे रहना अच्छा है, कि जो जो-पुरुष परस्पर विवाह करना चाहें, उनको गम्भीर भाव से, धार्मिक संस्कार के भाव से, यह दृढ़ निश्चय धर के, कि आ-भरण, अथ किन्नु उसके बाद भी, एक दूसरे के साथ स्नेह प्रीति से निर्वाह करना है; उस स्नेह प्रीति को आत्म-विनयन से,

वाणिज्य, 'विज़िनेस-कॉन्ट्रैक्ट', लेन-देन, तिजारती क्रौल करार, मुभा-हिदा की बात), 'अपरस्पर-सम्भूतं, किमन्यत् कामहैतुकम्' (गीता), व्यवहार है। इस नवीन पाश्चात्य भाव से हमारा कल्याण नहीं।

भारतवर्ष की प्राचीन धारणा इस विषय में यह है कि, जैसे चिन-गारी का (आजकाल दियासलाई का) कार्य इतना ही है कि वह दीपक बाल दे, वैसे ही दो शरीरों के विवाह और क्षणिक 'रति' का प्रधान कार्य यह है, कि दो हृदयों में, चित्तों में, जीवों में, आध्यात्मिक स्नेह प्रीति के चिरस्थायी, सत्वप्रकाशक, जीवनोद्योतक दीपक बाल दे।

न गृहं गृहमित्याहुः; गृहिणी गृहमुच्यते;

एतावानेव पुरुषः यज्जायतात्मा प्रजाइति ह;

विप्राः प्राहुस्तथा चैतद्दशो भर्ता सा स्मृतांगना; (मनु०)

'अग्निहोत्र' के 'गार्हपत्य अग्नि' को बालना और चलते रखना—इसका भी एक अर्थ यह भी है।

सब धार्मिक सम्प्रदायों में सब से पवित्र और मीठे नाम हैं—'जग-त्पिता' परमेश्वर, 'जगज्जननी' प्रकृति; दोनों का 'अपत्य', मानव है।

पिताऽहं अस्य जगतः, माता, धाता, पितामहः; (गीता)

इसी हेतु से मनु की आज्ञा है कि पिता, माता, प्रजा, तीनों मिल कर एक सम्पूर्ण पुरुष बनते हैं; किसी एक के बिना, अन्य दोनों खंडित अस-म्पूर्ण रहते हैं; तथापि विशेष कर पति-पत्नी एक ही हैं, जो यह सो बह, उन में भेद नहीं, परस्पर अर्धांग-अर्धांगिनी। ऐसे आदर्श के साथ, आरम्भ में ही, परस्पर श्याम-तलाङ्ग के सम्भव को लगा देना, किसी प्रकार उचित नहीं जान पड़ता। 'प्रथमकवले मक्षिकाप्लुतः'।

हाँ, जो ऐसी ही विशेष कर्बंदा स्थिति हो, कि पति-पत्नी का किसी प्रकार परस्पर निर्वाह नहीं हो सके, तो उनके लिये स्वयं स्मृतियों ने, उत्सर्ग के अपवाद रूप से, प्रबन्ध कर दिया है, कि ऐसी ऐसी अवस्था में वैवाहिक प्रस्थि तोड़ दी जाय, पति के ऐसे ऐसे दोषों से, पत्नी के इन

जिसमें, एक मृत सब-जज की विधवा को, उस के सौतेले बेटे के खिलाफ़, केवल पाँच रुपया मासिक 'नान-व-नफ़का', 'रोटी कपड़ा', की डिक्री, एक ज़िन्दा सब-जज ने दी, यद्यपि मृत सब-जज ने कई लाख की जायदाद छोड़ी थी ।

ऐसी वजहों से यही मुनासिब मालूम होता है कि विवाह-सम्बन्ध तोड़ने या न तोड़ने का निश्चय, स्त्री-पुरुष के शुभचिन्तकों और रिश्तादारों की पंचायत पर ही छोड़ना चाहिये ; कचहरियों पर नहीं । जब ऐसी पंचायत निर्णय कर दे, कि स्त्री का द्रोप नहीं, और पुरुष ऐसा नालायक है कि उसके साथ स्त्री का रहना असम्भव है, और स्त्री के जीवन के निर्वाह के लिये पुरुष को इतना इतना मासिक या वार्षिक देना चाहिये, और पुरुष इस प्रौसले को न माने, तब स्त्री अदालत में भले ही, उसी प्रौसले के भरोसे, नान-व-नफ़का की नालिश कर सकती है, और मुजबिद्द को जब तक कोई इत्तम सबब उस पंचायती प्रौसले के खिलाफ़ मालूम न हो, उसी के अनुसार टिप्पणी देना चाहिये । यदि पंचायत के सामने सिद्ध हो कि पत्नी का द्रोप है, पति का नहीं, तो पति उसको अलग कर दे सकेगा, और दूसरा विवाह करने की अनुमति भी पा सकेगा ; किन्तु यदि पहिली पत्नी व्यवहारिणी न हो, तो उसको रोटी कपड़ा देना होगा । फासी की एक ऐसी विरादरी में, जिस में से चिरकाल से बहुत दिवाह की प्रथा उठ गई है, एक वर्ष हुए, एक लुपा की पत्नी को ऐसा रोग हो गया जिस से वह दिवंगुल अवाहज हो गई, चारपाई में पड़े योग्य न रही; पंचायत में अनुमति ले कर, उस लुपा ने, उसी की सौतेली बहिन से दिवाह कर लिया, और उसकी भी धीमारदारी और तक करता रहा ।

एक-दिवाह की व्यवस्था

एकदम तथा अन्य प्रायतः के कुछ शिक्षित पुरुष, मिथिल सुवर्तियों के प्रलोभन से, अपनी पहिली पालनावस्था की पत्नी अतिशय पत्नियों का

और मध्यम को उत्तम अपनी ओर स्वभावतः खींचते रहेंगे; उत्तम के लिये विशेष विधि निषेध का प्रयोजन नहीं है।

इन मूल सूत्रों को (सूचनात् सूत्रम्), 'प्रिसिपल्स' सिद्धांतों को, ('प्रिसिपियम्', आदि, अस्ल, मूल), मन में रख कर, यह विचारना चाहिये कि इन से, प्रस्तुत प्रश्न के उत्तर के लिये, क्या व्यावहारिक सूचना मिलती है। वस्तुस्थिति को पहिले निश्चय करना चाहिये। जिस प्रकार के द्वितीय विवाहों की घम्बई प्रांत के सज्जन ने चर्चा की, क्या वैसे मामिले बहुत होते हैं? यदि बहुत होते हैं तो, उपन्यस्त विधान में एतद्विषयक निषेध की शर्त न बढ़ाने से, क्या ऐसी घटनाएं और भी बढ़ेंगी? इन दोनों उप-प्रश्नों का यदि उत्तर हो कि 'हां', तब तो निश्चयेन उपन्यस्त विधान में संशोधन करना उचित होगा; अन्यथा, नहीं। जहां तक जांच-खोज कर सका हूं, ऐसा विश्वास करने के लिये कोई पर्याप्त हेतु नहीं है, कि ऐसे द्वितीय विवाह बहुत होते हैं, या उपन्यस्त विधान से इनकी संख्या बढ़ेगी।

नया विधान, अटार्स कोटि संख्या वाले 'हिंदू-समाज' की दृष्टि से बनाना चाहिये। सौ दो सौ, या हजार दो हजार, भी ऐसी घटना हों, जो सचमुच 'अपवाद' रूप हैं, तो उन की सुनियामद पर एक नया 'डायरी', नया नियम बानून, नहीं बना देना चाहिये, जिस से अवशिष्ट कोटियों की प्रगति और उन्नति में कुछ भी बाधा पड़े।

इस समय, हिन्दू समाज और हिंदू धर्म के सर्व-शरीर-व्यापी क्षय-रोग की मय से उत्तम औषध, और उनका एकमात्र अभीष्ट साध्य, यही जान पड़ता है कि, अंतर्वर्ण-विवाह, धर्म्य, जायज़, प्रामाणिक, धर्मांडविरुद्ध मिट्ट हो जाय। इस भेषज में साथ ऐसा कोई अनुपान लगा देना उचित नहीं है, जिससे उसके प्रभाव और प्रयोग में कुछ भी संकोच, कुछ भी प्रतिबंध, पड़ जाय।

हिन्दू-समाज में, एक दो ही नहीं, बहुत से अनाचार हो रहे हैं,

आदि की शंका से क्रुद्ध हुए, तो खिरकी से तालाब में वह गिरा दी जाती थी; इत्यादि। वात्स्यायन के काम सूत्र में भी, (और 'अलिङ्ग लैला' में भी, जिसमें, बहुत सी झूठी कथा के साथ, उस समय की अवस्था का यथातथ वर्णन भी बहुत कुछ है), दिखाया है कि कैसे 'सुरक्षित' अवस्थाओं में भी व्यभिचार होता ही था; मुगल बादशाहों, तथा अन्य पूर्वीय पश्चिमीय देशों के शाहनशाहों, सुल्तानों, राजाओं के महलों में भी कमवेश यही हालत रही है। और, वह तो दूर की बातें हैं; आजकाल भी, राजाओं की, नवाबों की, रियासतों में जो घोर पाप हो रहे हैं, तथा, उससे ख्यात कुछ कम मात्रा में, अन्य धनाढ्य घरों में, मठों में, तीर्थ स्थानों में भी, वह सब थोड़ा सा ही दर्शाप्रत करने से मालूम हो जाते हैं; अथवा, यह कहना चाहिये, कि सभी मध्यवयस्क आदमियों को विदित है ही। गाँव गाँव में, शहर शहर में, तरह तरह के व्यभिचार, कुछ स्त्रियों के आरंभ किये, कुछ पुरुषों के आरंभ किये, हो रहे हैं; नये प्रकार की प्रच्छन्न वेश्याएँ भी बड़े शहरों में बढ़ रही हैं; बल्कि पुराने चाल की, तीर्थत्रिक में, वाद्य, गीत, नृत्य कलाओं में, प्रवीण धारांगना कम हो रही हैं; सिनेमा आदि के प्रभाव से। इन सब पापों के परिशोध का यत्न करना नितांत आवश्यक है। पर, उपन्यस्त विधान में इन सब के संबंध में शर्त बराना तो स्पष्ट ही किसी को भी उचित और सुप्रसक्त नहीं जान पड़ेगा। उक्त द्वितीय विवाह को भी इसी कौटि में डालना चाहिये, और इनके परिशोध का यत्न अलग करना चाहिये; वह भी, पूर्वापर को, धर्म-कारण को, बहुत विचार कर के। आजकाल, पच्छिम में, रोज़ नये नये कानून बनाने, पुराने बिनापने, का शौदा हो रहा है। ब्रिटेन में १९५९ से १९६० तक, धारत वर्ष में प्रायः आठ नई कानून बने, जो प्रायः आठ हजार पृष्ठों पर लपे हैं। जलप्लाई से, बिना दूर-अन्देशों के, एक पुंसी पर तेज़ाब टाल दिया; पुंसी तो जल गयी, पर जलनने दूर दूर जय मनों में घोर विकार पैदा हो गये; अर एक एक नस्ल के विकार हो

नरकों में झोंक दी जाती हैं; इनकी यातना के आगे उन स्त्रियों की संख्या कितनी है, और उनका दुःख क्या है, जिनके पतियों ने दूसरा विवाह कर लिया है, पर पहिली स्त्री को जीविका देने के लिये अदालत से मज-बूर किये जा सकते हैं ?

यदि अन्तर्वर्ण-विवाह का सिद्धांत देश में फैले, तो धीरे धीरे ऐसी भयंकर घटनाएं भी कम हो जायंगी ।

विचारने की और भी बातें हैं । अत्यधिकांश हिंदू आज भी ऐसे ही हैं जिनकी एक ही पत्नी है । बहुत अल्पसंख्यक धनाढ्यों की, राजाओं की कई कई पत्नियां होंगी । आर्थिक दृष्टि से, बे-रोजगारी, ऐसी हो रही है कि एक भार्या का भरण भी कठिन हो रहा है; विवाह का पयस, रूमी हेतु से, मध्यवर्ति वर्ग में 'सारल-विधान' को भी आगे, आप से आप बढ़ा जा रहा है; सुवर्ती स्त्रियां भी, स्वतन्त्र रोटी कपड़ा कमाने की चिंता में, पाठशाला आदि की नौकरियां खोज रही हैं और उठा लेती हैं, और विवाह करने में रुकती हैं, क्योंकि विवाहिता को, ऐसी नौकरी के वर्तव्य निदाहना कठिन होता है; पटे लिखे हुए पुरुष, लासों की संग्रह में, बेकार हो रहे हैं, और व्याह करने में हिचकते हैं; अपने खाने का टिकाना नहीं, पत्नी को और बच्चों को क्या खिलायेंगे ? ऐसी दशा में, जब प्रथम विवाह ही मध्यवर्ति पुरुष के लिये कठिन हो रहा है, तब एक दूषित अभियुक्त प्रकार के द्वितीय विवाहों की संग्रह निश्चयेन नगण्य होंगी; उनके विचार से हम विधान में विशेष 'नमद' अर्थात् शर्त बताना उचित नहीं; उनके लिये सामाजिक भर्त्सना और आक्रोश पर्याप्त है; रूमी से वे धीरे धीरे दम होते जायेंगे । और भी, अतिशयता स्त्रियों का सुनिश्चित पुरुषों से विवाह भी धीरे धीरे अमनभद हो रहा है, और धीरे ही दिनों में सर्वथा अमनभद हो जायगा; इन लिये या ऐसे विशेष समय भी, शर्त की, जरूरत नहीं । रहा यह कि, एतदपर नन्दहृदय से, संनहाय से, त्याग—यह तो शिर्षी भी अदृश्य से सम्भव होगा ही;

दूसरी दृष्टि से 'आर्थिक दासता' मालूम होती है। जरूर, बहुवित्त और मध्यवित्त कुलों में भी यदि स्त्रियों को पैसे पैसे के लिये तरसना हो, और पुरुषों का मुँह ताकना हो, तो घोर अन्याय है। भारतवर्ष में, सभी सद्भावों के, सदाचारों के, अंश के कारण, स्यात् ऐसा अन्याय बहुत घरों में होता होगा; बहुतेरों में ऐसा नहीं भी है, प्रत्युत, स्त्रियों के हाथ में, पुरानी स्मृतियों की आज्ञा के अनुसार, जहाँ पति-पत्नी में यथोचित परस्पर स्नेह प्रेम विश्वास है, सब, या पर्याप्त अंश में, आमदनी दे दी जाती है; पर अल्पवित्त, किं वा दरिद्र, घरों में तो (और नव्वे फ़ी सदी हिंदू अति दरिद्र ही हैं), मियां-बीबी दोनों, बेचारे, बल्कि छोटे बच्चे भी, सुबह से शाम तक पिसते रहते हैं, और तिस पर भी दो बक्क की रोटी नहीं पा सकते; ऐसों के लिये, अलग अलग कमाते हुए भी, 'आर्थिक स्वतन्त्रता' और 'आर्थिक दासता' में कोई भेद नहीं।

देश में शिक्षा फँसे, रक्षा फँसे, जीविका फँसे, इस लिये पुरोहित चुने माने जाते हैं, राजा बनाये जाते हैं, व्यापारी रोज़गारी के पास धन-धान्य का संचय होने दिया जाता है; उनके निजी ऐश धाराम के लिये नहीं।

द्वितीय राजा भवति, न कामकरणाय तु ।
 पृथ्वीतान् पुरुषो जह्याद्, भिक्षां नावम् स्वाऽर्णवे,
 अप्रवृत्तारं धाचार्यं, अनर्घायानं प्रखिजम्,
 धरक्षितारं राजानं, भार्यां चाऽप्रियवादिनीम्,
 प्रानवानं च गोपालं, दनवानं च ग्राहितम् ।
 लोकरंजनं एवाऽत्र राज्ञां धर्मः सन्नातनः;
 चार्हवर्षस्य धर्माथ रक्षितव्याः नहीक्षिताः ।

(म० भा०, शान्ति०, अ० ५६)

धरक्षितारं राजानं, बलिप्रदभागहारिणम्,
 तं ज्ञातुः सर्वलोकस्य रामप्रमलहारकम् । (न०)

वर-वधू की परस्पर प्रतिज्ञाएँ

हिन्दुओं में धार्मिक संस्कार-पद्धति के अनुसार जो विवाह होते हैं, न में वर-वधू, परस्पर, कई मीथो सादी सुन्दर प्रतिज्ञा करते हैं, कि परस्पर स्नेह प्रेम से, अव्यभिचार से, आमरण और जन्मनि जन्मनि, एक दूसरे के साथ जीवन वित्तावेंगे, एक दूसरे की भूल चूक को क्षमा करेंगे, वर अपनी कमाई वधू के हाथ में देगा, वर की सलाह से वधू किफायत से खर्च करेगी, कोई भारी शौरमामूली काम एक दूसरे से परामर्श किये बिना न करेंगे, गृहरथो के सुखदुःख के कामो में धीरज से एकदूसरे का साथ देंगे और रष्ट न होंगे, पत्नी को पति अलंकार आभूषण अच्छे वस्त्र देगा, पत्नी अपने को स्वच्छ संस्कृत अलंङ्कृत रखेगी, तथा गृह को भी, किन्तु जब पति विदेश गया हो तब अपना अलंकार आदि न करेगी न पराये घर जायगी, मित्रों के भी, तथा, साधारणतः तीर्थ-नान, देवालय, आदि को पति से कह कर जायगी, इत्यादि ।

धर्मं चार्थं च कामे च, कर्त्तव्येषु अखिलेषु च;
 आवां नाऽतिचरिष्यावः कदाचन परस्परं ।
 'त्वं मया लभ्यसे भर्ता पुण्यंस्तु विविधं कर्तैः,
 देवी संपूजिता नित्यं, पदनीयोऽसि मे सदा ।'
 'पुण्यं पूर्वमेया त्वं च प्राप्ता भार्या सुलक्षणा,
 धाराधनीया, पात्या च, माननीया च सर्वदा ।'
 'सुखदुःखानि कर्माणि गृहस्थस्य भवन्ति हि,
 त्वं सदैव भवेः सौम्यः, नयि रोषं च ना कृष्याः;
 वापी-वृष-तटाकानि, साध्या-भय-महोत्सवान्,
 बह्विधायारवायाणि, मां विहाय्य समारभेः;
 प्रती-शापन-दानानि, स्त्रीणां वार-स्वभावनः,
 पुत्र्यां रोद, तद् तु भवता प्रसन्नोनाऽनुमन्तः;
 स्ववर्माणाऽङ्कितं दिक्षं पशु-भान्त-धनऽपन्नं,

को डिक्री देना चाहिये; तथा, यदि पुरुष एक पत्नी के जीते जी दूसरा विवाह करे, तो उसको वही दण्ड होना चाहिये जो व्यभिचार और बहु-विवाह के लिये निर्दिष्ट है, तथा पहिली ही पत्नी धर्मपत्नी समझी जाय, और उसको उचित जीविका इस पति से दिलायी जाय। अच्छा हो, यदि न्यायालय में उक्त विचार के सम्भव की दृष्टि से, सातपदी के समय की प्रतिज्ञाओं में ही यह प्रतिज्ञा भी पुरुष की ओर से करा ली जाय, कि दूसरा विवाह इस बधू के जीते जी न करूँगा; यद्यपि, परस्पर अप्यभिचार की प्रतिज्ञा में यह अंतर्गत है।

नये विचारों की बाढ़ में कुछ लोग यह तर्क फैला रहे हैं, कि प्रतिज्ञा ही अनुचित है, क्योंकि प्रतिज्ञा करते ही अपने मन में यह भाव उठता है कि हम तो बंध गये, दास हो गये; इस दासता का विरोधी भाव भी तत्काल उठता है कि इस बन्धन को तोड़ देना चाहिये; और इस आभ्यन्तर द्वंद्व के कारण सब जिंदगी खट्टी हो जाती है, रनेह मारा जाता है, स्त्री-पुरुष के चित्त, एक दूसरे से मिलने सटने की जगह, एक दूसरे से फटने हटने लगते हैं, और उन प्रतिज्ञाओं का प्रभाव उल्टा ही हो जाता है; तथा, ऐसे लोगों का कहना है कि, परस्पर प्रतिज्ञा न करने से ही अ-बद्ध स्त्री पुरुष परस्पर सुसंबद्ध रहते हैं। इस दांका का समाधान करना उचित है। दो प्रकार से समाधान होगा।

प्रकृति अनन्त है; स्व-भावों के प्रकार असंख्य हैं; मनुष्यों से नीचे, पशुओं को ऐसी परस्पर प्रतिज्ञा का प्रयोजन ही नहीं; उनके जीव, उनकी बुद्धि, अभी उतनी विकसित नहीं है कि प्रतिज्ञा, व्यक्त रूप से, पर सर्वों, या उसके अर्ध समस्त सर्वों। मनुष्यों से ऊँचे, देवताओं को भी, यदि उन्होंने ने धारणा-ममता को जीत लिया है तो, ऐसी प्रतिज्ञाओं की, परस्पर विश्वासोत्पादन के लिये, आवश्यकता न होगी; "निर्द्वैतुण्डे एधि विचरतः को विधिः को निषेधः।" (यह उनके लिये लिखा जाता है जो इस बात को मानते हैं कि मनुष्य से ऊँची कक्षा के भी, तथा

कन्या खरीदी जाती थीं, अब तो भारत में, वर ही अधिक खरीदे जाते हैं ? 'विवाह के इतिहास', जो पाश्चात्य वैज्ञानिकों ने बड़ी खोज से लिखे हैं, उनमें इन सब प्रकारों का वर्णन है। स्वयं यूरोप में, अल्पवित्त श्रेणियों में सब देशों में, तथा 'लैटिन' जातियों में (फ्रांस, स्पेन, इटली आदि में) विशेष कर, माता-पिता ही प्रायः विवाह तै करते हैं, बहु-वित्त श्रेणियों में, सब देशों में, तथा 'एंग्लो-सेक्सन' जातियों में (ब्रिटेन, जर्मनी, आदि में), विशेष कर संपन्न कुलों में, स्वयंवर की प्रथा प्रचलित है। पुराणों में कहीं कहीं, पशुओं के नाम से, विवाह के सम्यन्ध में, मानव प्रकृतियों का इशारा किया है, यथा सिंह-सिंही, भध-अक्षी, कपोत-कपोती, वृष-सुरभि, इत्यादि।

इन सब बातों को विचार कर के, यही उचित जान पड़ता है कि, जो स्त्री पुरुष, रपट रूप से विवाह-भंग के सम्भव की और एक-विवाह आदि की बातों के साथ ही विवाह करना चाहते हों, वे संवत् १९२२ के वर्तमान कानून के अनुसार विवाह कर सकते हैं। दूसरी प्रकृति के सभी स्त्री-पुरुषों के लिये, जिनकी आध्यात्मिक बातों में और धार्मिक कर्मकाण्ड में आस्था है, और जो साथ ही इसके केवल नाममात्र के वर्णभेद में आस्था नहीं रखते, उनके लिये यह उपन्यस्त विधान उप-कारी होगा।

अन्तर्वर्ण-विवाह का माम लेते ही, 'अपरिवर्तवादी' सज्जनों को तत्काल ध्यान पही हो जाता है कि, यह तो उंच नीच को एक करना चाहता है, उच्छृष्ट स्त्री या पुरुष का सम्यन्ध, निहृष्ट पुरुष या स्त्री से कराना चाहता है। इस लिये पुनः पुनः यह बात हारानी तिरकारी परती है, कि ऐसा करना एक विधान का रक्षक में भी नहीं है। यह तो सुनरी नितरी रूपसे उच्छृष्ट का (केवल वर्णानुसार से ही नहीं) सच्ची उच्छृष्ट से ही सम्यन्ध चाहता है, और तत्रापि यह किसी से कस से भी ऐसा नहीं करता कि हम इस-उस-ऐसा ऐसी ऐसी विवाह करें ; बरि

समय जग्गो का पहिला पति जीवित था और (२) जग्गो और निक्कूलाल एक ही उपजाति के नहीं थे, इस लिये जग्गो का लड़का श्रीकण्ण, निक्कूलाल की सम्पत्ति का वारिस नहीं हो सकता ।

प्रित्री कौंसिल के विचारपतियों ने राय दी है, कि निक्कूलाल से जग्गो का विवाह जायज़ है, यद्यपि इस विवाह के समय उसका पहिला पति जीवित था । विचारपतियों ने स्पष्ट लिखा है— यद्यपि यह 'विवाह, द्विजों में गिने जाने वाले वैश्य वर्ण की दो भिन्न उपजातियों के व्यक्तियों में हुआ है', फिर भी, 'विवाह सम्बन्धी हिन्दू विधि, जिन धर्मशास्त्रों से ठहरायी जाती है, उन में एक ही वर्ण की दो उपजातियों में पररपर विवाह का निषेध कहीं नहीं पाया जाता, और न कोई पहिले की ऐसी नज़ीर या साधारण सिद्धान्त ही है, जिस के अनुसार ऐसा विवाह निषिद्ध माना जाय ।'

पति के मरने के बाद देवर से विवाह ; देवर का, एक पत्नी के रहते, दूसरी स्त्री से विवाह ; पति द्वारा पत्नी का त्याग, पाना दर असूल नलाक़; फिर उस त्यक्तास्त्री का, एक पति के जीवित रहते, दूसरे पुरुष से विवाह ; अन्त में एक द्विज वर्ण के अन्तर्गत दो उपजातियों के स्त्री-पुरुष का विवाह—इस एक ही मामले में, सब से बड़े न्यायालय ने, अंदातः स्त्रि, अंदातः घोख, के आधार पर, इन सब बातों को जायज़, धर्म्य, तिन्नुधर्मानुकूल, करार दे दिया है ।

हाल में, एक समाचार पत्र में मैं ने पढ़ा, कि बिहार प्रांत के एक क़स्बे में एक ऐसा कुल क्षत्रियों का है, जिन के आदमी दारोगा सह-नीलदार आदि गदमेंलों गौकर हुए हैं, पर उस में कई पुरतों में लरकों पैदा ही नहीं हुईं । इस का अर्थ पाठक मज़न स्वयं कराने सते हैं ।

मधुग प्रांत में, बौदे उपजाति में, भतिनी-दिनिनय में विषह अङ्कुर होता है, अर्थात् एक मज़न की बहिन दूसरे मज़न में प्याही जाती है, तो उस दूसरे मज़न की बहिन पहिले मज़न से प्याही जाती है ।

धर्माऽनुकूल मान लेने को, क्यों अति-भार माने ? “दधता किमु मन्दराचलं परमाणुः कमठेन दुर्धरः ?” । अभी हाल में एक सरयूपारी ब्राह्मण सज्जन से मैं ने सुना कि उनके, और आसपास के, गाँवों में, उनकी विरादरी में, हर गाँव में दस पन्द्रह लड़के ‘ववारि’, कुमार, अनव्याहृ, रह जाते हैं ; और दस पन्द्रह लड़कियाँ भी ; लाल्छन लगा देने के कारण । यही हालत, कई वर्ष हुए, आरा नगर के एक भूमिहार रहस से, उनकी विरादरी की, मैं ने सुनी, पर दूसरे कारण से । कहीं लड़कियाँ व्याहृ के लिये बेची खरीदी जा रही हैं, कहीं जामाता । हाथी को निगल गये, चूहा गले में धटवता है !

ऐसी वस्तुस्थिति में, शास्त्रोक्त विधि से किये गये अन्तर्वर्ण-विवाह को, ऐसा विवाह जिस में पर और पधू दोनों ही परस्पर अतिचार व्यभिचार न करने और संसार में परस्पर सहायता करने की एक ही प्रतिज्ञा करते हैं, जिसका पालन करने के लिये उभय पक्ष को पंचायत के और अदालत के द्वारा दाप्य किया जा सकता चाहिये—ऐसे अन्तर्वर्ण-विवाह को कानून बना कर जायज़ करार देने से, नरचे वर्णाश्रम धर्म का अणुमात्र भी हास नहीं होगा ; प्रस्युत, अधिकतर उच्छृष्ट, और नरचे प्रकार से विज्ञानसिद्ध और विवेकसम्मत आदर्श, वही ही स्थापना होगी ; और धीरे धीरे नरधर्मविरुद्ध स्थितियों, व्यवहारों, रस्म-रिवाजों की प्रचलित अरतव्यस्तता यों, जो ही परतुतः ‘वर्णसंकर’, उचित अनुचित का संकर, है, दूर पर से उसकी जगह सुव्यवस्था स्थापित होगी ।

कानून की आवश्यकता

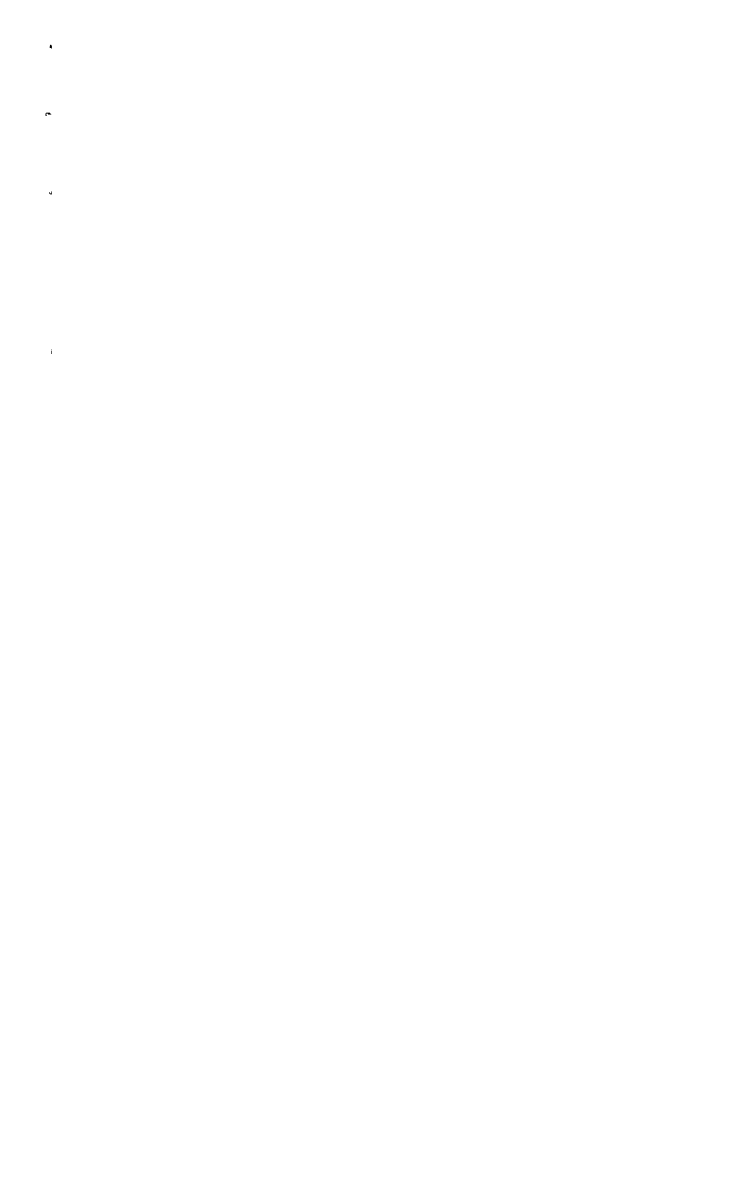
एक और बात का विचार करना पानी है । कुछ सिद्धों का दर्शन है कि, हम उपन्यास विधान के मूलरथ, अन्तरथ, मितान्त को मानते हैं, पर हमें यह संज्ञा नहीं कि वर्तमान व्यवस्थाएक सन्ततों द्वारा हम प्रकार का विधान का कानून बनवाया जाय । हर भिन्नो के भाव ही में समझता हैं, और एक हृदय उनका अनुदेहन भी जानते हैं । पर मेरी उनसे प्रार्थना है, कि ये हम बात पर विचार करे कि, हम उप-

धर्माऽनुकूल मान लेने को, क्यों अति-भार माने? “दधता किमु मन्दराचलं परमाणुः कमठेन दुर्धरः ?” । अभी हाल में एक सरयूपारी ब्राह्मण सजन से मैंने सुना कि उनके, और आसपास के, गाँवों में, उनकी विरादरी में, हर गाँव में दस पन्द्रह लड़के ‘क्वारे’, कुमार, अनव्याहे, रह जाते हैं ; और दस पन्द्रह लड़कियाँ भी ; लाँछन लगा देने के कारण । यही हालत, कई वर्ष हुए, आरा नगर के एक भूमिहार रईस से, उनकी विरादरी की, मैंने सुनी, पर दूसरे कारण से । कहीं लड़कियाँ व्याह के लिये बेची खरीदी जा रही हैं, कहीं जामाता । हाथी को निगल गये, चूहा गले में अटकता है !

ऐसी वस्तुस्थिति में, शास्त्रोक्त विधि से किये गये अन्तर्वर्ण-विवाह को, ऐसी विवाह जिस में पर और पधू दोनों ही परस्पर अतिचार व्यभिचार न करने और संसार से परस्पर सहायता करने की एक ही प्रतिज्ञा करते हैं, जिसका पालन करने के लिये उभय पक्ष को पंचायत के और अदालत के द्वारा बाध्य किया जा सकता चाहिये—ऐसे अन्तर्वर्ण-विवाह को कानून बना कर जायज़ करार देने से, सच्चे वर्णाधन धर्म का अणुमात्र भी हास नहीं होगा ; प्रथमतः, अधिकतर उत्कृष्ट, और नरम प्रकार से विज्ञानसिद्ध और विवेकसम्मत आदर्श, की ही स्थापना होगी ; और धीरे धीरे मधुधर्मविरुद्ध रूढ़ियों, व्यवहारों, रस्म-रिवाजों की प्रचलित अस्तव्यस्तता को, जो ही परतुतः ‘वर्णसंकर’, उचित अनुचित का संवर, है, दूर कर के उसकी जगह सुव्यवस्था स्थापित होगी ।

कानून की आवश्यकता

एक और बात पर विचार करना चाहती है । एक निती के बरतने हैं कि, हम उपन्यस्त विधान से सुलभ, अन्तस्थ, निरान्त को मानते हैं, पर हमें यह संज्ञा नहीं कि वर्तमान व्यवस्थाएँ समाजों द्वारा इन प्रकार के विधान का कानून बनाया जाय । इन निती के भाव को मैं समझता हूँ, और एक हृदय उसका अनुदेदन भी करता हूँ । पर मेरी उनसे प्रार्थना है, कि ये इन बात पर विचार करें कि इन उप-



श्रित्त-धर्म, संस्कार-धर्म, शिक्षा धर्म, रक्षा-धर्म, वार्ता-धर्म, सेवा-धर्म, देव-पितृ-श्राद्ध-धर्म, महायज्ञ-धर्म, आदि, सर्वोपरि वर्ण-धर्म और आश्रम-धर्म, सभी शामिल हैं। साथ ही, यह बात भी स्पष्ट कर दी गयी है, कि सर्वसंग्राहक 'राज-धर्म' में यह सब धर्म अन्तर्गत हैं।

सर्वे धर्माः राज-धर्मे प्रविष्टाः । न०भा०शान्ति०अ०६२)

वर्णानामाश्रमाणां च राजा ख्योऽभिरक्षिता । (म०)

लोकसंजनं एव अत्र राज्ञां धर्मः सनातनः ;

चातुर्वर्ण्यस्य धर्माश्च रक्षितव्याः महीक्षिता ;

'धर्मसंकर'-रक्षा च राज्ञां धर्मः सनातनः ;

चातुर्वर्ण्याश्रमाणां च, राजधर्माश्च ये मताः ।

स्वेषु धर्मेषु अवस्थाप्य प्रजाः सर्वाः, महीपतिः,

धर्मेण सर्वकृत्यानि शमनिष्ठानि कारयेत् ।

दण्डनीतिं परित्यज्य, यदा, कात्स्न्येन, भूमिपः,

प्रजाः क्रिन्नाति अयोगेन, प्रवर्त्तत तदा कलिः ।

कलौ अधर्मो भूयिष्ये, धर्मो भवति न कश्चित् ;

सर्वेषामेव वर्णानां स्वधर्मान्स्त्ववते मनः ;

शूद्राः भिक्षेण जीवन्ति, ब्राह्मणाः परिचर्यया ;

योगक्षेमस्य नाशश्च, वर्त्तते 'वर्णसंकरः' ;

एवंति च मनुष्याणां स्वरवर्णमनांसि उत ;

व्याधयथ भवेत्सत्र, मिथ्यन्ते चाप्यनारुपः ;

विधवाश्च भवेत्सत्र, कुशला जायते प्रजा ;

कृषिर्नर्पति पर्जन्याः, दक्षितस्तान् प्ररोहति ;

रसाः सर्वे धर्मं शान्ति, यदा नेच्छति भूमिपः

प्रजाः संरक्षितुं सम्यग् दण्डनीतिसमाहितः ।

राजा कृत्स्नगुणः, वैतापः, हापरस्त च ;

दुग्धस्य च बहुधैर्यं राजा भवति कारणम् ।

(न०भा०शान्ति०अ०५६, ५९, ६९)

नैतिक ब्रह्मचर्य से, यदि वह ब्रह्मचर्य सच्चा हो तो, कोई इस तरह गिरता नहीं, प्रत्युत तपस्या से उत्कर्ष ही पाता है। पर, जो सज्जन विवाह के विषय में वर्तमान व्यवस्थापक सभाओं का हस्तक्षेप असहनीय मानते हैं, इस में कोई आपत्ति नहीं करते कि वर्तमान व्यवस्थापक सभा, शिक्षा के सम्बन्ध में कानून बनावे, और 'अन्तर्वर्ण' शिक्षा भी चलावे, जिस में सब जातियों के लड़के और लड़कियां एक स्कूल, एक कालेज, में, एक साथ बैठ कर, एक ही शिक्षा पाया करें। 'सती' प्रथा, विधवाओं के आग में जल जाने या जला दिये जाने की प्रथा, को बन्द कर देने वाले ब्रिटिश कानून का विरोध करने की हिम्मत किसी हिंदू धर्म-धुरंधर की नहीं हुई। ऐसे ही और भी कानून, प्रचलित हिन्दू 'धार्मिक' प्रथाओं को बदल देने वाले कई हैं। विधवा-विवाह का कानून ('हिंदू-विधो-रीमै-रेज-ऐक्ट') भी, ब्रिटिश इंडियन-गवर्नमेंट ने बना दिया ; और बनाया भी पंडित ईश्वरचंद्र विद्यासागर ऐसे धर्मिष्ठ विद्वान् विल्यात सज्जन की प्रेरणा से। पंजाब में एक कानून बनाया गया है, जिस से विरोध विरोध 'जाति' के हिन्दुओं को ज़माने इतनीदने से रोक दिया है ; 'सारटा ऐक्ट', जिस से, १८ वर्ष के वयस् में कम पुरुष और १२ वर्ष से कम स्त्री के विवाह का निषेध कर दिया गया है, यह भी इतनी कोटि में है; इत्यादि।

'राजा' को द्वारा 'धर्म' में हस्तक्षेप का एक मध्यकालीन उदाहरण यहां कहने योग्य है। पर्वतीय ब्राह्मणों में 'पन्त', 'जोशी', 'पाण्डे', तीन मुख्य उपजातियां हैं ; 'उभेती', 'कुम्बेती', प्रभृति अवान्तर; प्रसिद्ध है कि 'पन्त' महाराष्ट्र देश से आरम्भ में गये, 'पाण्डे' संयुक्त प्रान्त में, 'जोशी' रणनीय हैं; 'पन्त' साकाहारी हैं, 'पाण्डे' और 'जोशी' नांवाहारी हैं ; इनमें पहिले परस्पर विवाह-सम्बन्ध नहीं होता था ; बाद में, एक समय, उस काल के राजा की इस आज्ञा से ही होने लगा, और अहं परस्पर होता है।

न्यायपति, संतप्रकृति का, बुद्धिमान्, धीमान् हो, तो उसका निर्णय भी अच्छा होगा, नज़्ज़ीर अच्छी क़ायम करेगा। यदि जज अच्छा न हो, मूर्ख, अविचारी, अविवेकी, जल्दबाज़, बेईमान, रिश्वत-ख़ोर, उत्कोच-ग्राही, रागद्वेषी, स्वार्थी, अदूरदर्शी, देश-काल-अवस्था को न पहिचानने वाला, कृप-भण्डूक हो, तो फ़ैमला और तजवीज़ ख़राब होगी, और नज़्ज़ीर ख़राब, हानिकारक, क़ायम करेगा। ऐसा हुआ भी है। हमारा दुर्भाग्य है कि हमारे परम्परागत धर्माधिकारी और धर्मशास्त्री, केवल प्राचीन संस्कृत पोथियों का ही अध्ययन करते हैं, और यद्यपि कोई कोई अपने विषय के बड़े गम्भीर विद्वान् होते हैं, पर उन्हें संसार की गति का, नये विचारों, नयी समस्याओं, नयी ग्रंथियों, नये प्रश्नों, नयी सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, व्यावहारिक, कठिनाइयों और आवश्यकताओं, का ज्ञान दिलकुल नहीं होता; अत एव ये प्राचीन 'शास्त्रों' का, नवीन और समयानुकूल 'अर्थ' कर के जीवन की नित्य नैमित्तिक कठिनाइयों का सामना करने में, जनता की कुछ भी सहायता नहीं कर सकते; प्रत्युत, 'पुराणमित्येव हि साधु सर्व' को हठ से पकड़े रहने के कारण, हिन्दू समाज को अधिक कठिनाई और व्याकुलता में डाल देते हैं। भगत्या, नया 'भाष्य' करने का भार ऐसे लोगों पर आ पड़ा है, जो परम्परागत धर्माधिकारी तो नहीं हैं, पर प्राचीन और नवीन दोनों अवस्थाओं, भावनाओं, विचारों, और आन्दोलनों से परिचित हैं; और आज जो व्यवस्थामण्डल, व्यवस्थापकसभा, धर्मपरिषद्, हैं, उन्हीं की सहायता से, नवीन 'भाष्यों' को, विधान का, क़ानून का, दल और गौरव और रूप दिलाने का यत्न, उन्हें ही करना पड़ता है; जिसमें नित्य के जीवन में, जनता उनका उपयोग कर के, जीवन की कठिनाइयों को सुलझा सके।

यह भी स्मरण रखना चाहिये कि, कोई ज्ञान हिन्दू विद्या, शास्त्र-सम्मत, धर्मसंगत, जायज़ है या नहीं, इनका निर्णय करने का अधिकार अब न्यायालयों या अदालतों को ही प्राप्त है। धर्माधिकारी नयी व्यवस्था



प्र-णि-धि, आदि शब्दों की व्युत्पत्ति, उसी 'धा' धातु से है जिस से 'पुरो-हित' 'पुरो-धाः' की ; 'प्रजानां हिताय, धर्म-कार्येषु, सर्वेषां हित-चिन्तकः, यः विद्वान् तपस्वी सज्जनः, पुरः, अप्रे, धीयते, सः, प्रजाभिश्च, शासकेन राज्ञा च, अग्रस्थाने स्थापितः, वि-हितः, नि-हितः, प्र-हितः, पुरो-धाः, पुरो-हितः'; वर्तमान युग (ज़माने) में, ऐसे प्रति-निधि ही पुरो-हित हैं, और धर्मज्ञान, धर्मव्यवस्तान, धर्मपरिकल्पन कर सकते हैं ; ऐसी अवस्था में यह कहना कि, लेजिस्लेचर से यह काम नहीं लेना चाहिये, अब नितरां व्यर्थ है । यरोदा राज्य में, राजा और 'लेजिस्लेचर' ने, परस्पर सम्मति से, 'अंतर्वर्ण-विवाह' का क़ानून बना भी दिया है, जो उस रियासत की दोस लाख हिंदू प्रजा पर लागू है ; ऐसे अन्य क़ानून भी उस रियासत में बना दिये गये हैं । इस स्थान पर और भी कई बातें, सज्जनो के विचारार्थ, कहता हूं । (अभी जीवित) भूतपूर्व महाराज तुको जी राव होल्कर की अमेरिकन पत्नी, मिस् मिल्डर वी, (कोल्हापुर के) करवीरपीठ के भूतपूर्व 'शंकराचार्य' टाक्टर कुर्त्तकोटि ने, दमिंटा देवी का नाम दे कर, 'हिन्दू' बनाया ; ऐसे ही अन्य कई यूरोपीय स्त्रियों और पुरुषों को, जिन को मैं जानता हूं, ऐसे विद्वानो ने, जो 'जन्मना' ब्राह्मण हैं, पर उदार बुद्धि और परार्थी हृदय रखते हैं, हिन्दू-धर्म में दीक्षित किया है । गवर्मेंट ने इन उपन्यस्त विद्वान के विषय में, देश के प्रमुख अधिकाारियों, नेताओं, समितियों, ने राय मांगा ; उस के उत्तर में, दम्पू, विहार, पंजाब, मद्रास, अवध के हाइकोर्टों के जजों ने से २९ ने (अधिकांश हिन्दू) ने, इस का मनर्थन किया, ९ तदन्य रहे, १ विरुद्ध । उत्तर-प्रान्त, बंगाल, पना के हाइकोर्ट तदन्य रहे ; बहुत से कमिश्नर, गवर्नेंन्ट मेम्बर, डिप्टिक्ल जज, कलेक्टर, लंगल सिनेट्रॉन्स पक्ष में राय दी ; इस में प्रविष्टा में भी ; देश भर समितियों ने इस का मनर्थन किया ; कलकत्ता हाइकोर्ट बंगाल के मन्थरविद में, इस का

प्र-णि-धि, आदि शब्दों की व्युत्पत्ति, उसी 'धा' धातु से है जिस से 'पुरो-हित' 'पुरो-धाः' की ; 'प्रजानां हिताय, धर्म-कार्येषु, सर्वेषां हित-चिन्तकः, यः विद्वान् तपस्वी सज्जनः, पुरः, अग्रे, धीयते, सः, प्रजाभिश्च, शासकेन राज्ञा च, अग्रस्थाने स्थापितः, वि-हितः, नि-हितः, प्र-हितः, पुरो-धाः, पुरो-हितः'; वर्तमान युग (ज़माने) में, ऐसे प्रति-निधि ही पुरो-हित हैं, और धर्मज्ञान, धर्मव्यवसान, धर्मपरिकल्पन कर सकते हैं ; ऐसी अवस्था में यह कहना कि, लेजिस्लेचर से यह काम नहीं लेना चाहिये, अब नितरां व्यर्थ है । वरोदा राज्य में, राजा और 'लेजिस्लेचर' ने, परस्पर सम्मति से, 'अंतर्वर्ण-विवाह' का कानून बना भी दिया है, जो उस रियान्त की बीस लाख हिंदू प्रजा पर लागू है ; ऐसे अन्य कानून भी उस रियान्त में बना दिये गये हैं । इस स्थान पर और भी कई बातें, सज्जनों के विचारार्थ, कहता हूं । (अभी जीवित) भूतपूर्व महाराज तुको जी राय होल्कर की अमेरिकन पत्नी, मिस् मिलर वी, (कोल्हापुर के) वरवीरपीठ के भूतपूर्व 'शंकराचार्य' डाक्टर कुर्त्तकोटि ने, शर्मिष्ठा देवी का नाम दे कर, 'हिन्दू' बनाया ; ऐसे ही अन्य कई यूरोपीय स्त्रियों और पुरुषों को, जिन को मैं जानता हूं, ऐसे विद्वानों ने, जो 'जन्मना' ब्राह्मण हैं, पर उदार बुद्धि और परार्थी हृदय रखते हैं, हिन्दू-धर्म में दीक्षित किया है । गवमेंट ने इस उपन्दस्त विधान के विषय में, देश के प्रमुख अधिकारियों, नेताओं, समितियों, से राय मागी ; उस के उत्तर में, बम्बई, बिहार, पंजाब, मद्रास, अवध के हार्दकोटों के जजों ने से २६ ने (अधिकांश हिन्दू) ने, इस का समर्थन किया, ९ तटस्थ रहे, ६ विरुद्ध रहे ; पुनः-प्रांत, बंगाल, पर्मा के हार्दकोट तटस्थ रहे ; बहुत से कमिश्नर, मिनिस्टर, गवमेंट मेम्बर, रिटिर्ज्ड जज, कलेक्टर, लीगल गिनेग्मंन्तर आदि ने इसके पक्ष में राय दी ; कुछ ने प्रतिपक्ष में भी ; देवा नर जी सर्भा स्त्रियों की समितियों ने इस का समर्थन किया ; अखिल-भारतीय ली-गरेज ने, महाराष्ट्री ब्राह्मणजीर के सम्भासितिय ने, इस का

किया है, जाति-बहिष्कृत करने की घोषणा करे, या किसी दूसरे को इन के साथ संसर्ग करने से मना करे ।

(३) ऐसे विवाह करने वाले स्त्री-पुरुषों के उत्तराधिकार के विषय में, जो पति का 'निजी कानून', धर्मशास्त्र के अनुसार हो, ('दि हस्-वैंडस् हिन्दू पर्सनल् ला'), वही लागू होगा ; पत्नी का वर्ण वही माना जाना जायगा जो पति का हो : तथा सन्तान का वही वर्ण माना जायगा जो पिता का हो । ऐसा होने से वर्ण का अस्तित्व सर्वथा बना रहेगा, और व्यवहार में कोई अड़चन या कठिनाई न होने पावेगी । यदि, आगे चल कर, इस का प्रयोजन पड़ा, तो उपन्यस्त विधान में उक्त आशय के शब्द, स्पष्ट रूप से बढ़ा दिये जायेंगे ।

(४) इस उपन्यस्त विधान का आशय स्वप्न में भी कदापि नहीं है, कि नचमुच उत्कृष्ट का विवाह सचमुच निकृष्ट से हो । प्रत्युत, इस का हार्दिक अभिप्राय और अर्थात् यह है कि, ज़रा ज़रा सी धोधी बातों पर 'जात-घात' कर देने की समाजोच्छेदक, संघटन-विनाशक, द्रोह-वर्धक, संघ-धन-हारक, प्रथा बन्द हो : तथा, जो 'वर्ण' शब्द अब नितरां अर्थ-शून्य हो रहा है, वह पुनः अर्थपूर्ण हो ; स्वाभाविक, स्वप्रलम्बनुकूल, धर्म-वर्त्म, जिस वर्ण का जो करे, वह उस वर्ण का नाम पावे ; विद्या-तपः-शाल का विवाह विद्या-तपः-शील से हो, शूर-वीर का शूर-वीर से, धन-संग्रही दानी का धन-संग्रही दानी से, सेवा-चतुर का सेवा-चतुर से, नचमुच विशिष्ट का सचमुच विशिष्ट से, समान का समान से ; केवल वर्ण-नाम ही पर एकमात्र अत्यन्त ज़ोर न दिया जाय ।

इन बातों पर शक न करने, ('हिन्दू') 'मानव' धर्म और ('हिन्दू') 'मानव' समाज के जाणोंदार के भाव से, सब सम्मन, गंभीर विचार करें : धरत से नहीं, रागद्वेष से भाव से नहीं ; यह काल युग-संधि का है; दो समर्थो जमानों की, दो समुदायों की शिष्टताओं की, एताने नये विचारों आचारों प्रकारों की, सुदृढ, दृढ, दंत प्रतिक्रिया, हो रही है;

५—चतुःपुरुषार्थसाधक, विश्वव्यवस्था- कारक, विश्वधर्म ।

(काशी के 'सिद्धान्त' नामक साप्ताहिक पत्र के १९९८ वि० (३ जून १९४१ ई०) के अंक में, मेरे अंग्रेजी ग्रन्थ 'सब धर्मों की तारिख एकता' की छोटी समालोचना छपी ; तथा, १९९९ वि० (१०, १७, २४ मार्च १९४२ ई०) के तीन अंकों में मेरे अंग्रेजी ग्रन्थ 'विश्व-युद्ध और उनका एकमात्र औपध-विश्वव्यवस्थाकारक विश्वधर्म' की विस्तीर्ण परीक्षा । समालोचक सज्जन ने अपने अन्तिम लेख में यह इच्छा भी प्रकट की, कि मैं उत्तर लिखूँ । इस लिये उनका उठाई प्रयासों के समाधान के लिये मैंने कुछ लिखा । यह १९९९ वि० (२६ मई, २, ९, १६, २३, ३० जून, १९४२ ई०) के छः अंकों में छपा । उसका पुनर्दृष्ट, कुछ संक्षिप्त, कुछ परिशुद्धित, रूप, यहाँ छपा जाता है ।)

विश्वव्यवस्था और विश्वधर्म ।

समालोचक ने, २४-३-१९४२ ई० के लेख के आदि में लिखा है कि "जित तरह हम आपस में समझा-समझा जी की 'विश्वव्यवस्था' समझने में असमर्थ हैं, उसी तरह 'विश्वधर्म' से उनका क्या अभिप्राय है, यह भी हम नहीं समझ सके हैं" । इसमें मैं कुछ संकेत में यह गया ; ७५० पृष्ठा की पुस्तक (दि एमॅन्साल् यूनियी आण्ड् आल् रिलिजियन्स्, 'सब धर्मों की तारिख एकता') में जब मैं 'विश्वधर्म' का रूप समझा न सका, और ५५० पृष्ठा की दूसरी पुस्तक (वर्ल्ड् वार ऐण्ड् इट्स ओनली स्यू-वर्ल्ड् आण्ड् ऐण्ड् रिलिजियन्स् 'विश्वयुद्ध और उसकी एकमात्र औपध-विश्वव्यवस्था और विश्वधर्म') में 'विश्वव्यवस्था' या आधार-प्रकार समझाने में असमर्थ हुआ, तब नये तैटे लेख में, यह स्पष्ट निश्चय करने में हृत्तार्थ बैसे हो सकूँगा । और अब, 'विवाद' तो दूर, 'वाद' में लिख भी उठा देवी और उनमें परिवारभूत व्यक्तियों

सामान्य' अर्थात् 'विश्व-व्यवस्था' और 'धर्म-सामान्य' अर्थात् 'विश्व-धर्म' की आवश्यकता देखता हूँ; व्यवस्था-विशेषों और धर्म-विशेषों के साथ साथ, परन्तु उनके ऊपर; पराऽपरन्याय से; जैसे परम-सामान्य, सत्ता-सामान्य, चैतन्य-सामान्य, परम-महान्, के अन्तर्गत असंख्य चरम-विशेष, सत्ता-विशेष, जीव-विशेष, परम-अणु। उस मानव जाति के कल्याण के लिये इनकी आवश्यकता मानता हूँ, जो 'आदि प्रजापति' 'मनु' की, (जिस शब्द के कई अर्थ हैं, "एतमेके वदन्त्यग्नि, मनु-मन्ये प्रजापतिं") सन्तति है, और जो, कोटियों सिर, भुजा, धड़, पैर वाली जाति, "अनेकबाहु-उदर-वक्र-नेत्रः", "सहस्रशीर्षा पुरुषः, सहस्राक्षः, सहस्रपान्, स भूमिं सर्वतः स्पृत्वा अत्यतिष्ठद् दशाङ्ग (शु)लम्", अपने दस अङ्गों इन्द्रियों के बल से, तथा दो हाथों की दस अँगुलियों के बल से, समग्र भूतल पर 'स्पृत्' (अंग्रेजी 'स्प्रेड्', फैलना, फैलाना) विस्तृत (अंग्रेजी 'स्ट्रेच') हो रही है।

प्रतिपक्षी मज्जन, व्यवस्था-विशेष और धर्म-विशेष को ही समझते मानते हैं। इस सम्यन्ध में, 'सामान्य' पदार्थ को, वे कोई भी स्थान देते हैं या नहीं, और यदि हाँ तो क्या, यह मुझे नहीं विदित हुआ।

आखिर, यह तो प्रत्यक्ष ही सभी देखते हैं, कि 'हिन्दू-धर्म' नाम के पदार्थ के अन्तर्गत बहुत से विशेष-धर्म हैं, शैव, वैष्णव, शाक्त, सौर आदि; उन विशेष-धर्मों की अपेक्षा से, 'हिन्दू-धर्म' पदार्थ को 'सामान्य' धर्म आप मानेंगे और कहेंगे या नहीं? इस 'हिन्दू-सामान्य-धर्म', वा 'हिन्दू-विश्व-धर्म' का रूप, भारतीय तथा विदेशी जिज्ञासुओं विचारार्थियों को बताने के लिये ही, चार्ल्स रॉय टुण्ड, 'मेन्डल्ट् हिन्दू कालिज' के 'बोर्ड आफ् इन्स्टीट्यूट' ने 'टेक्ट्ट् एक्स् आफ् मनातन-धर्म' तयार की; और उनका रवाना और प्रचार भारतपर्यं के प्रायः सभी प्रान्तों में, एवं वहाँ वहाँ रिवाजतों में भी, (हिन्दू ही नहीं, अपितु मुसलमानी राज्यों में भी, तथा जिज्ञासु के ईदराबाद् के मन्तरी स्कूलों में), बहुत अच्छा हुआ; पर 'मेन्डल्ट् हिन्दू कालिज' के 'दगारर हिन्दू यूनिवर्सिटी' के

मिणः ज्ञानेनाऽन्नेन चाऽन्वहम्, गृहस्थेनैव धार्यन्ते, तस्माज् ज्येष्ठाऽश्रमो गृही (म.)”, “भान्वीक्षिकी”, “ध्यवहितपृतनामुखं निरीक्ष्य स्वजन-वधाद् विमुखस्य दोषबुद्ध्या, कुमतिमहरद् आत्मविद्यया यः, चरणरतिः परमस्य तस्य मेऽस्तु” (भा.), “राज्ञां दैन्याऽपनोदाऽर्थं, सम्यग्दृष्टिक्रमाय च, तनोऽस्मदादिभिः प्रोक्ताः महत्यो ज्ञानदृष्टयः, अध्यात्मविद्या तेनेयं राजविद्येत्युदाहृदता” (यो० वा०), “नखनध्यान्मवित् कश्चित् त्रि.यापालं उपाश्रुते”, “सैनापत्यं च, राज्यं च, वृन्दनेतृत्वमेव च, सर्व-लोकाधिपत्यं वा वेदशास्त्रविद्वहति” (मनु०), इत्यादि ; इस सब का आशय, विस्तार से, ‘दर्शन का प्रयोजन’ नामक हिन्दी ग्रन्थ के दूसरे अध्याय में, दिखाने का यत्न मैं ने किया है ।

‘सामान्य’ और ‘विशेष’ के सम्बन्ध में, इस स्थान पर दो श्लोक चरक के लिख देता हूँ, जो सुझे बहुत प्रिय हैं, और प्रसक्त विषय पर बहुत प्रकाश डालते हैं—“सर्वदा सर्वभावानां सामान्यं वृद्धिकारणम्, सामहेतुर्विशेषश्च; प्रवृत्तिरुभयरथ तु । सामान्यमेकत्वकारं; विशेषस्तु पृथक्त्व-कृत्; तुल्याऽर्धता हि सामान्यं; विशेषस्तु विपर्ययः” ।

‘विश्वधर्म’ कोर ‘विशेषधर्म’ नहीं ।

समालोचक ने लिखा है कि “डाक्टर ग्राहब के वाक्यों से तो ऐसा झूठ होता है कि वे ‘जीवित’ धर्मों से भिन्न कोई विशेष ‘विश्व-धर्म’ चाहते हैं ।” इस पर ‘योगवासिष्ठ’ का पुराना श्लोक याद आता है । “नकल-लोकाधमःपृथिवीकारिणोऽप्यभिमतं यदि राधवचेतसः फलति नो, तद् द्मे पयसेप हि स्फुटतं शुनयो इतदुच्यते” । निश्चयेन यह मेरी एकदुष्टि और एकशब्दों का ही दोष है, कि ७५० पृष्ठों की एक पुस्तक के प्रत्येक पन्ने में, और ५५० पृष्ठों की दूसरी पुस्तक के प्रायः प्रति तृतीय अनुर्द्ध पृष्ठ में, जहाँ दिखाने का यत्न करता हुआ मैं, कि ‘विश्व-धर्म’ ‘विशेष’ नहीं है, और किन्तु विशेष धर्म से ‘भिन्न’ नहीं है, प्रस्तुत ‘सामान्य’ है और सब विशेष धर्मों से ‘समवेत’ है, अतुल्य है, उस यत्न से तुल्य नहीं हुआ; और याद से ऐसा भान हुआ, जो भान मेरे अर्थात् अग्नि-प्राय के सर्वथा विरुद्ध है ।

सिद्ध हो जाता है। प्रसक्त वक्तव्य यह कि, शब्द और अर्थ का सम्बन्ध, प्रयोक्ता मनुष्यों के परस्पर सङ्केत से, (सम्-अय) 'समय' से, सम-झौते से, बँधता है और टूटता है; और इसी हेतु से यदि दो मनुष्य एक सङ्केत में सम्मिलित नहीं हैं, तो उनके बीच में एक दूसरे के अभिप्राय का अ-ग्रहण, विपरीत-ग्रहण, भ्रान्त-ग्रहण, और वाद-विवादादि उत्पन्न हो जाते हैं। "वाचि अर्थाः नियताः सर्वे, वाङ्मूलाः वाग्विनिःसृताः; तस्माद् यः स्तेनयेद्वाचं स सर्वस्तेयकृन् नरः" (म.); पर, अतुद्धिपूर्वक क्रिये ऐसे 'स्तेय' से वचना बहुत कठिन हो गया है; उक्त हेतु से, और शब्द-वाहुल्य से। 'विज्ञान' शब्द अब कई अर्थों में प्रयुक्त होने लगा है; मैं ने, अपनी उक्त अंग्रेजी पुस्तकों में, 'सायंटिफ़िक्' शब्द का प्रयोग किया है; प्रायः उसी का अनुवाद आप ने 'वैज्ञानिक' किया है; ठीक ही किया है; आजकाल ('अद्य काले') हिन्दो में प्रायः ऐसा ही सब लेखक करते हैं। अंग्रेजी 'सायंस' शब्द का भी मूल धातु 'शंस्' 'शास्' जान पड़ता है, जिससे 'शाख' बना है; ऐसे ही अंग्रेजी 'कनो' का (जिसका उच्चारण 'नो' होता है), मूल धातु 'ज्ञा' है (जिसका उच्चारण महाराष्ट्र प्रान्त में 'गना' होता है, जैसा अंग्रेजी 'गनास्टिक' अर्थात् 'ज्ञानी' में)। 'सायंस' का अनुवाद 'शाख', और 'सायंटिफ़िक्' का 'शाखीय' होता, तो स्यात् अच्छा होता; किन्तु 'सायंस' का प्रयोग पच्छिम में प्रायः 'अधिभूत-शाख' के लिये ही आरम्भ हुआ, जिसे भारत में लोग 'विज्ञान' कहने लगे हैं; और 'सायंस' और 'सायंटिफ़िक्' शब्दों के अर्थ में 'प्रत्यक्ष और अनुमान' की अनुपलब्धता, और 'शब्द' 'आगम' आदि में तर्करहित आस्था धरना की प्रतिकूलता भी, सम्मिलित संकेतित हो गयी है। भारत में, 'शाख' में पशुबंध शाख, 'धर्म-अर्थ-काम-शाख' भी और 'भोक्षशाख' भी, जो ही प्रायः 'मादज्ञान' शब्द से अब अभिप्रेत होता है, अन्तर्गत हैं; तथा धृति, स्मृति, पुराणादि शब्द प्रमाण में तर्कानुपेक्ष, बुद्धि-तर्क, आस्था धरना प्रायः निल गयी है; और 'शास्त्रीय' शब्द में वह अर्थ अब नहीं निपलता जो 'वैज्ञानिक' से लिया जाता है; नष्ट नष्ट,

हैं; पर हिन्दी-लेखक-लोक-मत ने 'विज्ञान' का अर्थ 'आधिभौतिक-शास्त्र, वा चिन्ता, वा ज्ञान' मान लिया है, जिसे पश्चिम में प्रायः 'फ्रिज़ि-कल् सायंस्' कहते हैं।

“श्रुतिद्वेषे यथेष्टं” न्याय से, और हिन्दी लेखकवर्ग के स्वाकृत सङ्केत के अनुसार, तथा व्युत्पत्ति निरुक्ति का दृष्टि से भी, मेरे मन में यही वैकल्य है कि, 'ज्ञान' शब्द को 'सामान्य', उभय-संग्राहक अर्थ, में प्रयोग करना उचित है; “ज्ञानिनो मनुजा नूनं, किन्तु ते नहि केवलं; ज्ञानमस्ति समस्तस्य जन्तोर्धिपयसोचरे”; (दुर्गा०) और उसके अग्रान्तर दो मुख्य 'विशेष' करना ठीक है; यथा, (१) 'प्रकृष्टं ज्ञान, प्रकृष्टस्य, उत्कृष्टस्य, श्रेष्ठ-श्रेष्ठ-पदार्थस्य, आत्मनः, परमात्मनः, सर्वविशेषेषु सामान्येन समवेतस्य, घ्याप्तस्य, ज्ञानं आत्मज्ञानं, प्रज्ञानं'; और (२) 'विशिष्टं ज्ञानं, विशेषण, विशेष-विशेष पदार्थानां, ज्ञानं, विज्ञानं'; “यदा भूतपृथग्-भावं पृथग् अनुपश्यति” यह प्रज्ञान; “तत एव च विस्तारं” यह विज्ञान; “ब्रह्म सम्बन्धते वेदा” (गी०); “ज्ञान-विज्ञान-तृष्णात्मा”, प्रज्ञान-विज्ञान उभय में सम्बन्ध ही पर उभय ज्ञानी द्रष्टा वा धार, वेद, ज्ञान, सम्बन्ध, पूर्ण होता है, और वह द्रष्टा, ज्ञाना, ब्रह्मत्वेन स्वयं सम्बन्ध ही जाता है, “ब्रह्म वेदं ब्रह्म एव भवति, परमेष्ठं ब्रह्म भवति यः एवं वेद”, ब्रह्मण्य, परमात्मभक्त, ही जाता है। ऊपर बता कि, 'सद्-कालोर्जा' शब्द का अनुवाद 'अध्यात्म विद्या' शब्द से ही तो अगता है; इससे, सन्ध विद्याओं विज्ञानों की अपेक्षा में, उत्तमा निपटतम सम्बन्ध 'जिज्ञासोर्जा', 'आत्मविद्या', में प्रकाशित ही जाता है; वैसा हीना शक्तिसे। गी० में, 'ज्ञान' शब्द, उक्त 'ब्रह्मण' के अर्थ में बहुत्र प्रयोग किया गया है; यथा—“आहुतं ज्ञानमेतेन शक्तिर्जा विद्यार्थविद्या वासरापेक्ष”। “विद्योत्पत्तेश्च ज्ञानना-शुचिरेवित्”। “उत्पत्तिं प्रति, ते ज्ञानं शक्तिरस्यस्यस्यस्य”। “अज्ञानाद्-सर्वतो ज्ञानं”। “ज्ञानं ज्ञानाय एतौ शक्ति-अधिर्जा-विद्योत्पत्ति”। “अज्ञान-मेवोत्पत्तिं ज्ञानं”। “ज्ञानं प्रकाशयति सत्यं”। “ज्ञानं तेजसं स-विज्ञानं एवं सत्यमर्थापत्तम्”। “ज्ञानं विज्ञानमस्ति”। “दृष्टिज्ञानमस्योर्जा”।

जाय ?" और कई वैकल्पिक अर्थों की उद्भावना की है। ऊपर जो 'सामान्य' और 'विशेष' के 'समवाय' के विषय में कहा गया है, उसपर यदि आप ध्यान देंगे, तो स्यात् यह स्फुट हो जायगा, कि आप के सभी विकल्प, संवादी है, विवादी नहीं; पररपर अनुकल्प हैं, विकल्प नहीं; अनुरोधी हैं, विरोधी नहीं; एक ही अर्थ के विविध 'अस्त्र', अंश, अंशु हैं। यह 'विश्व-धर्म' (१) मानव विश्व भर में फैला भी है, (२) उसे सब लोग चाहते भी हैं, (३) वह सब में समान भी है, (४) मनातन सत्य भी है। किन्तु, जिन भिन्न भिन्न भाषाओं, शब्दों, संकेतों ने, भिन्न भिन्न देशों और जन-समुदायों ने, उसे लपेट रखा है, उन सब शब्दों और संकेतों की एकार्थता, सामान्यार्थता, समानार्थता, तुल्यार्थता, को, वे सब देश और समूह पहिचानते नहीं; और, अहंकारधम, अपने ही शब्दों और संकेतों में अभिनिवेश करते हैं, तथा दूसरों के शब्दों संकेतों में प्रतिनिवेश। अविद्या के पाँच पद ही महानादा की 'आवरण' और 'विक्षेप' शक्तियों के प्रत्यक्ष रूप हैं; "आकृतं ज्ञानमेतत् कामरूपेण वैरिणा", "आकृत्य विक्षिपति संस्फुरदात्मतत्त्वं", "ज्ञादिनात्मपि चेतांमि, देवी भगवती हि सा, बलादाकृत्य मोहात् महानादा प्रयत्नति"; सज्ज्ञान पर आवरण, नव्य को देखने वाली आँख पर पर्दा, अहंकार-काम-श्रोत्र में पड़ जाता है; और ये ही, ननुष्य को अभिनिवेश प्रतिनिवेश 'विद्विष' बना कर, अवन्मार्ग पर, अधर्म, अन्याय, पाप के पथ पर, पुनः पुनः धरा देते हुए, दौड़ाते रहते हैं। इन आवरणों और विक्षेपों से, आज नमम मागव जगत् में बलि का, बरह का, दिवाद, दैत, धोर युद्ध का, 'भक्त्याज्यवाद' हो रहा है। 'तोऽप्रमाना धेष्ट्य, प्रेष्ट्य, सर्वं नमध, विमुक्ष'; परन्तु मरीचों ने, लपाधियों ने, "अप्रणयान् प्रविष्टः" हो कर, अचन्त आकृत और विद्विष हो गया है, नितान्त टिप गया है; देखने नमसने पहिचानने में सभी ननुष्य अन्तर्गम्य हो रहे हैं। बलि भी, नाम बदल कर, बरह बदल कर, दूसरे दूसरे देव ने नामने लो पहिचाना नहीं जाता; क्योंकि हमने उनसे बरहों आवरणों हो कर

जाय ?” और कई वैकल्पिक अर्थों की उद्भावना की है। ऊपर जो ‘सामान्य’ और ‘विशेष’ के ‘समवाय’ के विषय में कहा गया है, उसपर यदि आप ध्यान देंगे, तो स्यात् यह स्फुट हो जायगा, कि आप के सभी विकल्प, संवादी है, विवादी नहीं; परस्पर अनुकल्प हैं, विकल्प नहीं; अनुरोधी हैं, विरोधी नहीं; एक ही अर्थ के विविध ‘अस्त्र’, अंश, अंशु हैं। यह ‘विश्व-धर्म’ (१) मानव विश्व भर में फैला भी है, (२) उसे सब लोग चाहते भी हैं, (३) वह सब में समान भी है, (४) सनातन सत्य भी है। किन्तु, जिन भिन्न भिन्न भाषाओं, शब्दों, संकेतों ने, भिन्न भिन्न देशों और जन-समुदायों ने, उसे लपेट रखा है, उन सब शब्दों और संकेतों की एकार्थता, सामान्यार्थता, समानार्थता, तुल्यार्थता, को, वे सब देश और समूह पहचानते नहीं; और, अहंकारवश, अपने ही शब्दों और संकेतों में अभिनिवेश करते हैं, तथा दूसरों के शब्दों संकेतों में प्रतिनिवेश। अविद्या के पाँच पर्व ही महाभाषा की ‘आवरण’ और ‘विक्षेप’ शक्तियों के प्रत्यक्ष रूप हैं; “आवृतं ज्ञानमेतेन कामरूपेण वैरिणा”, “आवृत्य विक्षिपति संपुरदात्मतत्त्वं”, “ज्ञानिनामपि चेतांसि, देवा भगवती हि सा, बलादावृण्य सोढाय महानाया प्रवृत्तति”; सङ्ज्ञान पर आवरण, सत्य को देखने वाली आँख पर पर्दा, अहंकार-काम-मोह में पड़ जाता है; और ये ही, मनुष्य को अभिनिविष्ट प्रतियोगिण ‘विक्षिप्त’ बना कर, अन्तर्माण पर, अधर्म, अन्याय, पाप के पथ पर, पुनः पुनः प्रपतिते हुए, दौड़ाते रहते हैं। इन आवरणों और विरोधों में, आज तमस नामक जगत् में काल का, कलह का, विकल, वैर, घोर युद्ध का, ‘मायाज्जवाद्’ हो रहा है। ‘स्तेष्वभावात् प्रेक्ष्य, प्रेक्ष्य, सर्वमन्वय, विभुक्ष’; परन्तु शरीरों ने, उपाधिओं ने, “आप्रणवात् प्रविष्टः” हो कर, अत्यन्त आवृत और विक्षिप्त हो गया है, मिलान्त विष गया है; उनको देखने नमस्कारने पहचानने में सभी मनुष्य अक्षम हो रहे हैं। प्रविष्ट मिला भी, नाम बदल कर, बरतें बदल कर, दूसरे दूसरे देश में नामके अज्ञ हैं तो पहचाना नहीं जाता; क्योंकि हमने उनको दूसरी आवरणों ही पर धरने

को देने वाले, स्वार्थ-परमार्थ दोनों को बनाने वाले, प्रवृत्ति-निवृत्ति दोनों की वासनाओं को पूरा करने वाले, दुनिया और आक़वत दोनों को बनाने वाले, 'सिन' और 'साल्वेशन' दोनों के पार लगाने वाले—ऐसे 'धार्मिक प्रज्ञान विज्ञान' और 'वैज्ञानिक प्राज्ञानिक धर्म' की, मनुष्य को, अपरिहार्य अनिवार्य आवश्यकता का, और तत्सम्बन्धी शिक्षा का, और तद्द्वारा पृथ्वीतल पर शान्ति स्थापन करने के प्रकार आदि का, प्रतिपादन विवरण किया है।

साम्प्रदायिक ('धार्मिक', 'धर्मीय') उपद्रव ।

सन् १९३१ के फ़रवरी मास में, काशी में, भारी हिन्दू-मुस्लिम 'साम्प्रदायिक उपद्रव' हुआ। दोनों पक्षों के मिल कर प्रायः चालीस आदमियों ने प्राण खोया, और प्रायः चार सौ घायल हुए। इसके बाद, मार्च मास में, कानपुर में बहुत अधिक उपद्रव हुआ। प्रायः चार सौ आदर्मा, स्त्री, पुरुष, बालक, जान से गये, प्रायः बारह सौ घायल हुए, कुछ मन्दिर मस्जिद तोड़े गये, पचासों छोटे बड़े मकान जलाये टहाये गये, सैकड़ों दूकाने लूट ली गयीं। उपद्रव के कारणों की जाँच और चिकित्सा के उपायों की सूचना के लिये कांग्रेस ने, (जिसका वार्षिक अधिवेशन, उन्हीं दिनों, कराची में हो रहा था), छः आदमियों को, तीन हिन्दू तीन मुसलमान की, एक कमेटी नियुक्त की, जिसके 'चेयरमैन' का कार्य मेरे क़िस्मे किया गया; तीन महीने कानपुर में रह कर और गली गली में घूम कर, इस कमेटी ने जाँच की; और प्रायः चालीस हिन्दू मुसलमान, और दो तीन ईसाई, जानकार सज्जनों के, जिन में कई प्रकार के व्यवसायों के लोग थे, साक्षिचैन बयान, इस कमेटी ने लिखे।

ऐसे उपद्रवों के उन्मूलन का उपाय ।

उपद्रव रोकने के उपायों के सम्बन्ध में प्रायः सब साक्षियों ने यह स्वीकार किया कि (१) दोनों धर्मों के मूलतत्त्व एक ही हैं, केवल कर्म-पाप और आपाओ में, जैसा पहिनावे में हुआ करता है, भेद है; और (२) समान मूलतत्त्वों का प्रचार, शिक्षा संस्थाओं में और जनता में

नये रूपों और प्रकारों के, भावों और विचारों का प्रचारण, ऐसे ही 'मिशनरियों' 'संदेशहरों' द्वारा हुआ; यथा बुद्ध, जिन, मूसा, ईसा, मुहम्मद, शङ्कराचार्य, रामानुज, मध्व, चैतन्य, मार्टिन लूथर, कबीर, नानक, गुरु गोविन्दसिंह, आदि के समय में। मानव जगत् के वर्त्तमान काल में, इस युग में, इस अवस्था और 'परि-स्था' में, 'विश्व-व्यवस्था से उपहित विश्व-धर्म' के रूप में ला कर 'धर्म' पदार्थ के जीर्णोद्धार की, परम आवश्यकता है; यदि इसके विश्वासी, श्रद्धालु, 'सम्यग्व्यवसित', दृढ़प्रतिज्ञ, संशयक प्रचारक, प्रयास मात्रा में उत्पन्न हो गये, तब यह जीर्णोद्धार सिद्ध, और उनका सङ्कल्प सत्य, हो जायगा। ऐसे विचार और विश्वास वालों की संख्या प्रत्येक देश में बढ़ती देख पड़ती है। ये सज्जन, समस्त मानव जातियों और देशों का, इस युग में, अभूतपूर्व सम्बन्धन, विज्ञानकृत और वार्त्ताकृत, देख रहे हैं; साथ ही, इन जातियों के हृदयों में, प्रतिस्पर्धा-संपर्परामक, द्वेष-द्रोह-कारक, पार्थक्यभाव, को भी देख रहे हैं; और विशेष-'धर्म' और विशेष-'राष्ट्रियता' ('नैशनलिज़्म') के भावों से उत्पन्न परिखाओं, भित्तियों, प्रकारों, प्रावारों, को, सामान्य-'धर्म' और सामान्य-'मानवीयता' ('ह्युमनिज़्म') के विरोधी उग्र भेदभाव का, और क्षय जगत् के क्षय का, कारण, जानते मानते हैं; इस लिये इनको हटाना मिटाना चाहते हैं। यह मतलब नहीं, कि सब विशेषता, सब जातीयता, सब राष्ट्रियता मिट जाय; कदापि नहीं; यह तो असम्भव है; किन्तु यह कि, यह सब विशेषताएँ, 'सामान्यता', 'समानता' के 'अधीन' रहें, 'उपरीण' नहीं; विशेष ही नहीं, विशेष भी रहें, और सामान्य भी, संग्राहकत्वेन, समन्वय-कारकत्वेन, समवाय-कारकत्वेन, सार्थ-भौमत्वेन, रहे। परन्तु ऐसा चाहने वालों के विचार अभी स्थिर, निश्चित, निर्णीत, सु-व्यव, सु-व्यूह ('अगेंनाइज़्ड', 'लिस्टेना-टाइज़्ड') नहीं हुए हैं; प्राचीन धर्म निर्णयों का प्रतिपादन, नये तान्त्रों में घर धें, इस निश्चयन, सु-दर्शन, सु-व्यूहन, स्थिरविरण में स्थाप्य होगा, मेरी उक्त पुरखों के लिखे जाने की प्रेरक आशा है।

मन्दिर ही; मस्जिद ही; मूर्त्ति ही; ऋषि ही; इत्यादि भावों के ही मन में बसे धँसे रहने के कारण), और सर्व-मानव-कल्याण-कारक 'मानव-धर्म' 'सामान्य-धर्म' पर ध्यान न देने के कारण, समझौता नहीं हो सका; मुस्लिम लीग और हिन्दू महासभा एक दूसरे के दोष ही देखती दिखाती रही; अपने दोष नहीं; दूसरे के गुण नहीं; कांग्रेस दोनों से वि-भक्त; "मुरारेस्तृतीयः पन्थाः"; कांग्रेस के भीतर भी वैमत्य; कुछ सज्जन, परम-पुरुष की द्वन्द्वात्मक प्रकृति को आमूल बदल कर एकात्मक, शुद्ध अहिंसात्मक, बना डालने पर तुले हुए; केवल इतना कहने से सन्तुष्ट नहीं कि, यद्यपि 'हिंसा' और 'दण्ड' में महाभेद है, और न्याय्य दण्ड, राजा के परम धर्मों में परिगणित है, तथा चतुर्विध राजनीति में चतुर्थ अन्तिम नीति है, तथापि, भारतवर्ष की जो दुर्दशा, अपने और पराये पापों के कारण हो गयी है, उस दुर्दशा की अवस्था में, भारत-जनता के पास, सिवा 'अहिंसा' के, बर्दाश्त के, "क्षमाशस्त्रं करे यस्य, दुर्जनः किं करिष्यति" पर भरोसा करने के, अथवा यथा-शक्ति यथा-सम्भव शान्त-प्रतिरोध और तटस्थता के, कोई दूसरा उपाय नहीं; तथा कांग्रेस के ही कुछ अन्य सज्जन, शूरता धीरता से, जापानियों के आक्रमण को रोकने की सलाह देते हैं, पर उसी शूरता धीरता से वर्तमान ब्रिटिश-साम्राज्य के स्थान में भारतीय स्वराज्य कायम नहीं कर सकते; इत्यादि ।

धर्म-सामान्य; ब्रिटेन-भारतसंप; मानवजगत्संप।

यदि वे सय सज्जन 'धर्मसामान्य' और 'मानवजगत्संप' पर ध्यान दिये होते, और इन को पहचानते, तो स्वाव दीप्त वर्ष पहिले ही, भारतवर्ष को 'स्वराज' मिल गया होता; भारत के भीतर भी शान्ति होती; और समस्त मानव जगत् में भी; क्योंकि चारों ओर ईश्या-सत्कर-ग्रोह था, और सज्जनित कारण हुए था, एकमात्र कारण, ब्रिटिश साम्राज्य-वाद, शूल से उट गया होता; और उससे स्थान में, 'ब्रिटिश-शुण्डित-कामगरेत्य', 'ब्रिटेन-भारत-संप', ('द्विग-अन्विक-संप' के ऐसः), प्रति-हित हो जाता; जो 'विध-महान्य' का अरम्भक केन्द्र का राज होता;

इस 'सामान्य' की ओर गया ही नहीं है; अपने अपने 'विशेष' ही में रम रहे हैं।

क्या 'सामान्य' पर जोर देने से 'विशेष' भूल जायगा ?

समालोचक ने यह बात कई घेर, प्रश्न के, प्रका के, रश्मत्-प्रकाश के, शब्दों में, लिखा है कि, "अधिकतर जोर समानता पर ही देने से अपने विशेष धर्म पर आस्था या श्रद्धा ही क्या रहेगी ?" "क्या विशेष का पालन भी अनावश्यक न समझ लिया जायगा ?" "वास्तव में जो स्वयं को मानने का दावा रखता है, वह किसी को नहीं मानता", इत्यादि। इन का उत्तर, एक प्रकार से, ऊपर हो गया है; तो भी, पुनर्पार, मनफोर के लिये, प्रति-शब्दों में करेंगे। 'अधिकतर जोर शरीर के सामान्य स्वाभाव, शौच, दाह्य पर देने से, क्या अपने विशेष कर्तव्यों पर आस्था भ्रष्टा रह जायगी ?', 'जो मनुष्य गौर्वा-सामान्य का भोजन में प्रयोग करता है, उसे किसी विशेष प्रकार का रोटी, पूरी, परौंठे, दलिया, मास, मछली, दल से तृप्त। "मत्स्यनारायण के पूर्ण", सूर्जा के एलवे, दाहरवार, या पाप-तोटी, दिविकट, नाम-गुताह, धेक, मैलविच, रोल, धन, स्वान में रहि क्या रह जायगी ?', 'जो सामान्य पृथ का सेवन करता है, वह मदनान, ईश्वरान, पुन, दधि, मन्थ, तत, लथ के सेवन को अनावश्यक न समझ लेता ?', अथवा, 'जो विशेष प्रकार के अपने पहिनाचे को अथवा समानता है, वह क्या दूसरे स्वयं विशेष प्रकारों को नरा न समझेगा ?' इत्यादि। ऐसा नहीं; प्रश्नोत्तर में सामान्य के लिये भी नियमता: स्थान है, और विशेष के लिये भी; केवल एक बात को नदिएपूर्व, अभिप्राय: रूप से, ही मानने का य: भिन्नान: वरने, का देरी है; ऐसा हीते हा, अमर्ष के स्थान में समर्ष का प्रकाश करने योग्य। यह प्रति-कथना, सत-वि-वर्ण, सत-कथन, का वर्तन-धर्म है। और एक बात अथाक ही है: सत-वि-वर्ण के लिये अपने प्रथम संका से, "अधिकतर जोर समानता पर ही देने से, विशेष है; लिये ऐका शून्य समानता पर ही लिये ही, समानता का प्रकाश करता लिये है, पर ही से ही ऐका वरने करे विर: के ही ही दे मान

इस 'सामान्य' की ओर गया ही नहीं है; अपने अपने 'विशेष' ही में रम रहे हैं।

क्या 'सामान्य' पर जोर देने से 'विशेष' भूल जायगा ?

समालोचक ने यह बात कई देर, प्रश्न के, शंका के, स्वमत-प्रकाश के, शब्दों में, लिखा है कि, "अधिकतर जोर समानता पर ही देने से अपने विशेष धर्म पर आस्था या श्रद्धा ही क्या रहेगी ?" "क्या विशेष का पालन भी अनावश्यक न समझ लिया जायगा ?" "मानव में जो सब को मानने का दावा रखता है, वह किसी को नहीं मानता", इत्यादि। इन का उत्तर, एक प्रकार से, ऊपर हो गया है; तौ भी, पुनर्बार, मनफोर के लिये, प्रति-शब्दकों से करेंगे। 'अधिकतर जोर शरीर के सामान्य स्वार्थ्य, सौंदर्य, दार्ढ्य पर देने से, क्या अपने विशेष कर्तव्यों पर आस्था श्रद्धा रह जायगी ?' 'जो मनुष्य गोहूँ-सामान्य का भोजन में प्रयोग करता है, उसे किसी विशेष प्रकार की रोटी, पूरी, परौंठे, दलिया, गाह, मठर्ला, दल के लड्डू, "सत्यनारायण के चूर्ण", सूर्जी के हलवे, चाकरपारे, या पाव-रोटी, विरिन्द, नान-भूतार्ह, केक, सैंडविच, रोल, चन, रमान में रुचि क्या रह आयेगी ?', 'जो सामान्य दूध का सेवन करता है, वह नयनीत, ईदजर्पान, एत, दधि, मन्थ, तक्र, छच्छ के सेवन को अनावश्यक न समझ लेगा ?', अथवा, 'जो विशेष प्रकार के अपने परिनायों को अपना समझता है, वह क्या दूसरे सब विशेष प्रकारों को ठुरा न समझेगा ?' इत्यादि। ऐसा नहीं; प्रत्येक चित्त में सामान्य के लिये भी निश्चिन्तः स्थान है, और विशेष के लिये भी; केवल एत बात को लक्ष्यपूर्वक, अभिप्राय रूप में, पहिचानने, 'प्रत्य-भिज्ञान' करने, की धरौं है; ऐसा होते ही, अन्तर्प के स्थान में समर्थ का प्रवाह करने लगेगा। यह पहिचानवाना, सत्य-सिद्धियों, सत्य-प्रत्ययों, का कर्तव्य-धर्म है। और एत बात ध्यान देने की है; समालोचक ने उत्तर के अपनी प्रथम संज्ञा में, "अधिकतर जोर समानता पर ही देने से" लिखा है; जिसने ऐसा जोर समानता पर ही दिया हो, उसने यह प्रथा करना उचित है; पर मैंने तो ऐसा कभी नहीं किया; मैं तो ही दे स्थान

आश्रम के विशेष धर्मों का भी विधान किया है, और दूसरी कुछ नीची काष्ठा में उनको भी गौरव दिया है। इन दोनों में, सामान्य और विशेषों में, कोई शत्रुता नहीं, प्रत्युत घनिष्ठ मित्रता और परस्परोपकारिता है। "त्रैगुण्यविषया वेदाः, निस्त्रैगुण्यो भवाऽर्जुन", ऐसा परामर्श देते हुए भी, "स्वधर्ममपि...क्षत्रियस्य" को भी पालने का उपदेश दिया है।

वेदान्त के अर्वाचीन प्रतिपादकों ने, "न वर्णाः, न वर्णाश्रमाचार-धर्माः" "निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतो को विधिः को निषेधः" "अतिवर्णाश्रमी" आदि लिखा है। इन का अर्थ, अपनी अपनी सुविधा से, विविध व्याख्याता विविध प्रकार से लगाते हैं। यद्यपि इन शब्दों से सूचित भावों, आचरणों, व्यवहारों का यथोचित समावेश, वानरथ्य और संन्यास में हो सकता है।

मेरी क्षुद्र बुद्धि-तो वर्ण और आश्रमधर्मों के (प्रचलित नहीं, प्रत्युत) उचित, अध्यात्मविद्या से संशोधित, सुसंस्कृत, परिमार्जित विधान, विवेचन, विभाजन, परिपालन को, (भारतीय ही, या आर्यावर्तीय ही, या प्रत्यावर्तीय ही नहीं, अपि तु) समस्त मानव जगत् के कल्याण के लिये परमावश्यक जानती है। पर, हाँ, 'उचित' पया है, 'वर्ण' जन्मना है और होना चाहिये, या "स्वभाव-गुण-(जीविका)-कर्मभिः"—इस प्रश्न का उत्तर, मेरे विद्वान् से, "(जीविका-) कर्मभिः" उचित है। अन्यथा या 'मानव' धर्म, मनु की आज्ञा के अनुसार, "पृथिव्यां सर्वमानवाः" को ग्रह्य नहीं हो सकता, सर्वलोकहितकारी, सब मनुष्यमात्र का शिक्षक-रक्षक-पोषक-धारक, नहीं हो सकता। केवल सृष्टी भर परस्पर संतुष्टमाण आत्मियों की धरोहर बन कर, उस बलह और संघर्ष के कारण क्रमशः अधिकाधिक धिमे कर और धीमे हो कर लुप्त हो जाना।

'जन्मना वर्णः' का प्रयोज्य प्रतिपाद।

यथा या 'जन्मना वर्णः' का ही पाल है, या नहीं, वि 'हिन्दू' कह-लानेवाले समाज में हाँ हजार से ऊपर ऊपर (राष्ट्रीय मनुष्य मण्डल के विवरण के अनुसार) परस्पर घात का घालघाव जानि, उपजानि, उपोप-जातियों बन नहीं हैं ? क्या इन आत्मुपजातियों से परस्पर स्नेह, प्रीति,

आश्रम के विशेष धर्मों का भी विधान किया है, और दूसरी कुछ नीची काष्ठा में उनको भी गौरव दिया है। इन दोनों में, सामान्य और विशेषों में, कोई शत्रुता नहीं, प्रत्युत घनिष्ठ मित्रता और परस्पररोपकारिता है। “त्रैगुण्यविषया वेदाः, निस्त्रैगुण्यो भवाऽर्जुन”, ऐसा परामर्श देते हुए भी, “स्वधर्ममपि...क्षत्रियस्य” को भी पालने का उपदेश दिया है।

वेदान्त के अर्वाचीन प्रतिपादकों ने, “न वर्णाः, न वर्णाश्रमाचार-धर्माः” “निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतो को विधिः को निषेधः” ‘अतिवर्णाश्रमी’ आदि लिखा है। इन का अर्थ, अपनी अपनी सुविधा से, विविध व्याख्याता विविध प्रकार से लगाते हैं। यद्यपि इन शब्दों से सूचित भावों, आचरणों, व्यवहारों का यथोचित समावेश, वानस्थ्य और संन्यास में हो सकता है।

मेरी क्षुद्र बुद्धि-तो वर्ण और आश्रमधर्मों के (प्रचलित नहीं, प्रत्युत) उचित, अध्यात्मविद्या से संशोधित, सुसंस्कृत, परिमार्जित विधान, विवेचन, विभाजन, परिपालन को, (भारतीय ही, या आर्यावर्तीय ही, या द्रावा-वर्तीय ही नहीं, अपि तु) समस्त मानव जगत् के कल्याण के लिये पर-मावश्यक जानती है। पर, हाँ, ‘उचित’ क्या है, ‘वर्ण’ जन्मना है और होना चाहिये, या “स्वभाव-गुण-(जीविका)-कर्मभिः”—इस प्रश्न का उत्तर, मेरे विश्वास से, “(जीविका)-कर्मभिः” उचित है। अन्वधा या ‘मानव’ धर्म, मनु की आज्ञा के अनुसार, “पृथिव्यां सर्वमाददाः” को प्राप्त नहीं हो सकता, सर्वलोकहितकारी, सब मनुष्यमात्र का शिक्षक-रक्षक-पोषक-धारक, नहीं हो सकता। केवल लूटी भर परस्पर संस्पन्दमान आत्मियों की धरोहर बन कर, उस बहल और संघर्ष के कारण क्रमशः अधिप्राधिक घिस कर और क्षीण हो कर लुप्त हो जायगा।

‘जन्मना वर्णः’ वा प्रत्याहृतिवार ।

क्या यह ‘जन्मना वर्णः’ वा ही फल है, या नहीं, कि ‘हिन्दू’ वर्त-मानेवाले समाज में एक हजार से ऊपर ऊपर (राष्ट्रीय मनुष्य समाज के विवरण के अनुसार) परस्पर घात वा घातप्राय जाति, उपजाति, उपोप-जातियों बन गयी हैं ? क्या इन जात्युपजातियों से परस्पर न्येह, प्रति-

तथा, भारत के भी, 'नयी पाश्चात्य शिक्षा पाये हुए' सज्जनों का भी ध्यान इधर आकृष्ट करने में; पर, बहुत सम्भव है कि, अन्य जनों के यत्न का ज्ञान मुझे नहीं है। अस्तु। प्रसक्त निवेदन मेरा यह है कि 'वर्ण-व्यवस्था' को 'स्वास देन' मैं भी हृदयेन मानता हूँ, परन्तु 'कर्मणा वर्ण-व्यवस्था को', क्योंकि वही अध्यात्मशास्त्र-सम्मत है; 'जन्मना', अध्यात्मशास्त्र के विरुद्ध है, और मानवों को हानिकर है। इस बात को इन प्रतिप्रश्नों की दृष्टि से विचारिये; वर्णव्यवस्था को भारतवर्ष की स्वास देन जिस समाज-शास्त्र को आप बताते हों, वह समाजशास्त्र क्या भारतीय समाज से ही सम्बद्ध है, या समस्त मानव समाज से? यदि भारतीय से ही, तो भारतीयों के अनेक समाजों में से किस 'विशेष' समाज से?

संघर्ष और संमर्ष का रहस्य।

इस सब से यह अभिप्राय मेरा नहीं, कि 'कर्मणा वर्णः' की व्यवस्था से 'संघर्ष' पदार्थ मानव जगत् से मिट जायगा; न यह कि 'जन्मना' को सामाजिक प्रदन्धन व्यवस्थापन में कोई स्थान ही नहीं। 'रहस्य'-मय दृष्टि में 'सं-घर्ष' भी, सं-मर्ष भी, अपसाय भी उपसाय और 'सहसाय' भी, दोनों ही, अविच्छेद्य और अनुच्छेद्य हैं; पर, दृष्टिमान, दृष्ट, प्रदृष्ट, सम्बुद्ध मानवों का वर्तव्य है, कि सं-घर्षण को दाम, और सं-मर्षण सह-जनन को अधिक, सर्वथा उचित 'कर्मणा' वर्ण-व्यवस्था के द्वारा, बरे; तथा 'जन्मना' को, 'कर्मणा' द्वारा निराधित निवन्धित करते हुए, उक्त व्यवस्था में स्थान दें। न वात ही, न वात ही; यद्विष दोनों भी विदुः 'जन्मना' को 'अधीन' और 'कर्मणा' को 'उपर्योग' रखें; 'जन्मना' को सातहत और 'कर्मणा' को दालादना।

एक नवीन संसुषण ।

आप से जिज्ञा है कि 'यद् अन्व (अधीन) रिशुओं से दृष्ट को भीन भी अपने समाज में 'व्यवस्थापन' का दृष्टि को मान में, और 'समानता-व्यवस्था' वाले हों, परन्तु सभी विवाह करने लगे, तो वे न सम्यक् इन लोगों में भी 'दालादना' का पयोग'। बहुत राव, विन्दु

तथा, भारत के भी, 'नयी पाश्चात्य शिक्षा पाये हुए' सज्जनों का भी ध्यान इधर धाकृष्ट करने में; पर, बहुत सम्भव है कि, अन्य जनों के यत्न का ज्ञान मुझे नहीं है। अस्तु। प्रसक्त निवेदन मेरा यह है कि 'वर्ण-व्यवस्था' को 'स्वास देन' में भी हृदयेन मानता हूँ, परन्तु 'कर्मणा वर्ण-व्यवस्था को', क्योंकि वही अध्यात्मशास्त्र-सम्मत है; 'जन्मना', अध्यात्मशास्त्र के विरुद्ध है, और मानवों को हानिकर है। इस बात को इन प्रतिप्रश्नों की दृष्टि से विचारिये; वर्णव्यवस्था को भारतवर्ष की स्वास देन जिस समाज-शास्त्र को आप बताते हो, वह समाजशास्त्र क्या भारतीय समाज से ही सम्बद्ध है, या समस्त मानव समाज से? यदि भारतीय से ही, तो भारतीयों के अनेक समाजों में से किस 'विशेष' समाज से?

संघर्ष और संमर्ष का अन्त।

इस सत्य से यह अभिप्राय मेरा नहीं, कि 'कर्मणा वर्णः' की व्यवस्था से 'संघर्ष' पदार्थ मानव जगत् से मिट जायगा; न यह कि 'जन्मना' को सामाजिक प्रयत्नधन व्यवस्थापन में कोई स्थान ही नहीं। 'अन्त'-मप कृष्टि में 'सं-घर्ष' भी, सं-मर्ष भी, अपघाय भी उपघाय और 'सह-घय' भी, दोनों ही, अविच्छेद्य और अनुच्छेद्य हैं; पर, हृदयमान, हृद, प्रहृद, स्वहृद मानवों का वर्णव्य है, कि सं-घर्षण को कम, और सं-मर्षण सह-हायन को अधिक; सर्वथा उचित 'कर्मणा' वर्ण-व्यवस्था के द्वारा, बरे; तथा 'जन्मना' को, 'कर्मणा' द्वारा निराक्षित निदग्धित करते हुए, उक्त व्यवस्था में स्थान दें। न यह ही, न यह ही; बल्कि दोनों ही: किन्तु 'जन्मना' को 'अधीन' और 'कर्मणा' को 'उपरिण' रखने; 'जन्मना' को नास्तिक और 'कर्मणा' को ब्रह्मात्मन।

एवं सर्वत्र व्यवस्थापन।

आप से लिखा है कि "यद्यपि अन्ध (अधोक्ष) विद्वानों से अन्त) लोग भी अपने समाज में 'समाजवादात्मक' स्वर में लिखने को मानते हैं, किन्तु 'समाजवादात्मक' वाले लोग, परन्तु राष्ट्रीय विद्या करने लगे, तो किसी समाज उन लोगों में भी 'जन्मना वर्णः' पता देते हैं। बहुत ही, किन्तु

इस अभिप्राय को, मैं ने, अपनी उक्त अंग्रेज़ी और संस्कृत तथा अन्य अंग्रेज़ी और हिन्दी पुस्तकों में भी, "भाँति अनेक बार बहु बरना" 'किन्तु काज तनिकहु नहिं सरना', अब तक लोक-प्रिय नहीं बना सका हूँ ; मेरे ही विचार और बुद्धि में अशुद्धि, भ्रान्ति, घुटि, होगी, तथा शब्दों में सौष्टव और प्रभाव का अभाव; अथवा, लोक का चिरकालिक संस्कार बहुत बलवान् है, स्वरित बदला नहीं जा सकता, "रमरी आघत जात ते सिल पर परत निसान", उतने ही चिरकालिक आचान से भाष्य है । क्योंकि "स्वरसवाही विदुषोऽपि तथा हृदोऽभिविंशः", (योगसूत्र) किं पुनः अविदुषः साधारणजनस्य; अथवा, "अवश्यमव्येण्यनवग्रहग्रहा, यथा दिशा धावति वेधसः स्पृहा, तृणेन वात्येव तथाऽनुगम्यते जतरय चित्तेन भृशाऽवशात्मना" (नैपथ); सौर जगत् के पिधाता, सावित्री के मविता, महत्तव के अंश, प्रत्यक्ष देव, "सूर्यः आत्मा जगतस्तत्पुत्रश्च", इत्या- हिरण्यगर्भ-आदि सहस्रनामधारी, आदित्य-नारायण, 'विधाः', जिन के चारों ओर ज्योतिषोपास्य सब ग्रह सदा भृत्यवत् घूमते रहते हैं, उनकी, इस समय, फलित-ज्योतिष में सूचित, हृष्टा यही जान पड़ती है कि, "एतः संधुर्भ्येनं भजति भमितोऽदूलनविधि"; 'बतहूँ भूमि पर शान्ति न सरना, भेदभाव ही दौतन धरना, देस देस को बलिभय बरना, विवह पुत्र परि दीनन तरना, अपरन बहुतेन भूषन भरना, महामारि के हू बस परना, विविध प्रकारन यम-धर भरना; जे दखि जायें हंस के धरना, तिह. पारो. परि- ताह, उबरना' । हरांस्ता !

तथापि—“याने एतं यदि न निष्पत्ति, कोऽत्र टोषो” ‘यानेऽभवत् मम, पुनरिष्यदमेव चिन्त्यं; निश्चिद्य तं च जितिवारं, यथा हि शक्तिः, पार्यः पुनर् एतत् सुतरां प्रयत्नः’ । विरोधता, विरयता, प्रवृत्ति ही 'नाना-भता यो न होवते, न श्लते, हृष्ट, मन्मथता, मरुतता, एतन् एव परमात्मा ही 'एव-भता पर अधिद' अज्ञान करने से, 'विश्व-धर' अज्ञान-नेन समस्त में धा स्वयं है । विरोध या ही' अन्वयारण होने से सन्त-तना पटित है । एव ही एव के विविध नाम विविध भाषाओं में होते

रहा है; और इस झुकाव को अपने कुछ विवेकितम, प्रसिद्धतम, शिरःस्थानीय, 'उत्तमाङ्गोद्भव' व्यक्तियों के द्वारा, यथा ग्रिटेन मे एच्. जी. वेल्स आदि, और अन्य देशों के भी ऐसे ही प्रमुख ग्रन्थ-कर्ताओं, साहित्यिकों, विज्ञान-शास्त्रियों, के द्वारा, प्रकट कर रहा है; तथा सर्वसाधारण के चित्त को उसी ओर झुकाने का प्रयत्न कर रहा है। इस झुकाव, इस प्रकार, के लकड़ों उदाहरणों का संग्रह, उक्त अंग्रेजी ग्रन्थों में मैं ने किया है; और यह दिखाने का प्रयत्न किया है, कि ऐसे 'न्यू वर्ल्ड आर्डर' और 'वर्ल्ड रिलिजन' के तात्त्विक सात्त्विक मार्मिक धार्मिक सिद्धान्त, सब, वैदिक-सनातन-आर्य-बौद्ध-(बुद्धियुक्त)-मानव-(मनुक्त तथा सर्वमनुष्यन्-ग्राहक)-धर्म में उपस्थित हैं; यदि 'वर्ण' को 'कर्मणा' और 'आध्रम' को 'व्यसा' माने तो। कबीर, नानक, प्रभृति सन्तों महात्माओं के, धर्म के जीर्णोद्धार के लिये, उद्यमों का भी तात्त्विक मुख्य उद्देश्य यही रहा कि 'धर्म-मामान्य' की, 'आत्मविद्या पर प्रतिष्ठित धर्म' की, भूली हुई रमृति को, जनता के हृदय में पुनः जगावें; और एन सब ने, यथा सुक्त और जिन 'ने, 'कर्मणा वर्णः' पर जोर दिया।

जिन भारतीय सज्जनों को "रजोलेशाऽनुविद्धसत्त्व" होने के कारण, इस भाव में कुछ सन्तोष होता हो कि भारतीय प्राचीन आर्यशास्त्र में, महकों पपों से, ऐसे सिद्धान्त विद्यमान हैं, उनको यह सन्तोष भी इस रीति से प्राप्त हो सकता है। और यह सन्तोष, उचित मात्रा में, अनुचित नहीं है; "यशास चाभिरुचिर्व्यसन धूर्ता"।

'आत्म एव, नम धर्म एव, श्रेष्ठतमः' का फल।

किन्तु, जैसा चतुर्दा धर्माधिकारियों को हादिक विरशास है, कि चतुर्दा जाति ही अबेले ईश्वर को प्रिय है, अन्य सब में अलग की हुई है, 'सोडन' है; जैसा ईसाई धर्माधिकारियों को, और उन के अध्यातुओं को, कि ईसा सर्वात् ही अबेले 'सन् आत्र गार', 'ईश्वरपुत्र', हुए, ('ईश्वरस्य पुत्राः', 'आर्य' शब्द के अर्थ में, निरुक्त में आया है), 'हितियों न भूतों न भविष्यति', एतदि स्वयं ईसा ने अपने को मनुष्य

व उसी मृत-सामान्य के विशेष विशेष विकार हैं; यह भी ठीक है कि लोक का कार्य भी विशेष है; तथा यह भी सत्य है कि, आवश्यकता पड़ने पर, एक के अभाव में, दूसरे से उस का काम कुछ न कुछ, थोड़ा बहुत, निकाल हो लिया जाता है; और यह भी ठीक है कि, एक हद तक, 'विशेष' पर जोर दिये बिना, मानव-सभ्यता में, प्रगति नहीं हो सकती, क्योंकि 'सर्वथा साम्यं तु प्रलयः; वैषम्यं सृष्टिः'; एवं अपनी अपनी श्रेष्ठता का विश्वास, यदि परास्वमर्दक अन्य-तिरस्कारक दर्प गर्व संरहित, श्रेष्ठता के साधन का प्रेरक, हो, यथा प्रीति-पूर्वक अखाड़े में नियुद्ध करनेवालों का, तो सभाजनीय अभिनन्दनीय ही है; पर, यदि उचित सीमा के पार चला जाय, यदि 'विशेष' ही पर जोर दिया जाय, और 'सामान्य' भुला दिया जाय, तब, जैसा उपर कहें चहूँदी आदि के उदाहरणों में देखा परता है, वह परस्पर द्रोह, कलह, युद्ध, 'कलियुग' का 'कलि-राज्य', जो आजकाल चारों ओर मच रहा है, मचता ही रहेगा, और उस का अन्त तभी होगा जब सभी लड़ने वाले नष्ट हो जायेंगे ।

वर्तमान समय क्या चाहता है ?

निष्कर्ष यह कि, अब यह समय, यह निमित्त, आ गया है, कि 'सामान्य'-मानवता पर, 'विश्व-धर्म' और 'विश्व-व्यवस्था' पर, और उनसे साधने वाले 'कर्मणा-धर्मः' पर, अधिक बल दिया जाय । इन विषयों के सहायक निर्णायक एताने पाक्ष्य हैं, "देमदाहमिमित्तानां भेदेभ्यो विभिन्नानि", "भाषारानां क्षैणसाम्यं तस्मात् सर्वत्र सृष्टते", "वृत्तानि अङ्गानां सन्ति, एतानां अङ्गानि च", "अप्येत् सध्यमां हृत्तिन्, अति सर्वत्र दर्शयेत्", इत्यादि । 'वर्षणा धर्मः' के अलम्बन, धर्म के परिष्कार के उदाहरण, इतिहास एतान् से, एवं विद्याभित्त का ही नहीं, संश्लेष ही नहीं, अहित स्थापना, एवं है; 'साम्य-धर्मोत्तर' सुन्दर से उन का उद्देश्य दिया गया है । अस्तु ।

विश्व-धर्म के अर्थ में व्यवस्था की जाती

विश्व-धर्म में प्राणिक विश्वव्यवस्था की स्थापना, एक ही ही ही ही

100

सब उसी मृत-सामान्य के विशेष विशेष विकार हैं; यह भी ठीक है कि प्रत्येक का कार्य भी विशेष है; तथा यह भी सत्य है कि, आवश्यकता पड़ने पर, एक के अभाव में, दूसरे से उस का काम कुछ न कुछ, थोड़ा बहुत, निकाल ही लिया जाता है; और यह भी ठीक है कि, एक हद तक, 'विशेष' पर ज़ोर दिये बिना, मानव-सभ्यता में, प्रगति नहीं हो सकती, क्योंकि "सर्वथा साम्यं तु प्रलयः; वैषम्यं सृष्टिः"; एवं अपनी अपनी श्रेष्ठता का विश्वास, यदि पराश्रमर्दक अन्य-तिरस्कारक दर्प गर्व संरहित, श्रेष्ठता के साधन का प्रेरक, हो, यथा प्राति-पूर्वक अखाड़े में नियुद्ध करनेवालों का, तो सभाजनीय अभिनन्दनीय ही है; पर, यदि उचित सीमा के पार चला जाय, यदि 'विशेष' ही पर ज़ोर दिया जाय, और 'सामान्य' श्रुला दिया जाय, तब, जैसा उपर कहे यहूदी आदि के उदाहरणों से देखा पड़ता है, वह परस्पर द्रोह, कलह, युद्ध, 'कलियुग' का 'कलि-राज्य', जो आजकाल चारों ओर मच रहा है, मचता ही रहेगा, और उस का अन्त तभी होगा जब सभी लड़ने वाले नष्ट हो जायेंगे ।

वर्तमान समय क्या चाहता है ?

निष्कर्ष यह कि, अब वह समय, यह निमित्त, आ गया है, कि 'सामान्य'-मानवता पर, 'विश्व-धर्म' और 'विश्व-न्ययवस्था' पर, और उनके साधने वाले 'धर्मणा-धर्मः' पर, अधिक बल दिया जाय । इन दिग्गजों के स्थायक निर्णायक पुराने वाक्य हैं, "देवाकालनिमित्तानां भेदधर्मो विभिद्यते", "आचाराणां धर्मसाध्यं तस्मात् सर्वत्र लक्ष्यते", "कुर्वन्ति अकुर्वन्तं वांति, सुकृतांश्च कुर्वन्ति च", "अथवेत् सधर्मो सृष्टिम्, अति सर्वत्र एतं-वेत्", इत्यादि । 'धर्मणा धर्मः' के अनुसार, वर्गों के परिवर्तन के उदाहरण, इतिहास पुराण में, एक दिशा-दिश ही होते हैं, संश्लेष ही होते हैं, अति-रक्षणा, यह है; 'मानव-धर्म-कार' एतद् में उन वा-उदाहरण दिए गये हैं । अहम् ।

वि-धर्मों के उदाहरण के उदाहरणों के उदाहरण

विश्व-धर्मों से प्रसिद्ध विष्णु-मन्त्रों के उदाहरण, एतद् में ही दिए गये

प्रकृति वा तदीयत के, मुख-बाहु-ऊरुदर-पाद-स्थानीय, ज्ञान-क्रिया-इच्छा-प्रधान और अनभिव्यक्तबुद्धि, विभिन्नप्रकृतिक, मनुष्य, एक ही वंश मे भी, एक ही कुल मे भी, एक ही दम्पति से भी, उत्पन्न होते रहते हैं; और तदनुसार, चार प्रधान प्रकार, जीविका, पेशा, रोज़गार, व्यापार, व्यवसाय, के भी, होते ही हैं; बुद्धिपूर्वक, सुविचारित, वा असुद्धिपूर्वक, अविचारित । भारत मे, वृद्धों ने, ऋषियों ने, सहस्रों वर्षों के सञ्चित अनुभव और ज्ञान से, एक प्रकृति के साथ एक जीविका बाँधने का, और दूसरी जीविकाओं के वर्जन का, प्रबन्ध, जैसा बुद्धिपूर्वक कर दिया था, वैसा बुद्धिपूर्वक अन्य किसी देश के इतिहास मे नहीं पाया जाता । ये चार प्रवृत्तियाँ, जीविकाएँ, यह हैं; (१) शिक्षोपजीविका, शाखाऽजीविका; (२) रक्षोपजीविका, राखाऽजीविका; (३) पोषणोपजीविका, पार्ताऽजीविका, (दर्शनोपायः वृत्तिः, "वार्ता च सर्वजगतां परमातिहंत्री"); (४) (गारीर-) श्रमोपजीविका, सेवाऽजीविका । अंग्रेज़ों से, (१) 'लैंग्ट प्रोफ़ेसन्स', (२) 'एक्सेक्यूटिव प्रो०', (३) 'कान्गल प्रो०', (४) 'लेबर प्रो०' । इन चार में से प्रत्येक के अदान्तर बहूतरे विरोध, परास्परजातिन्याय से, होते हैं।

ऐसा समाज-व्यवस्था, जो प्रत्येक मनुष्य को, उसके स्व-धर्म, धार्मिक स्व-भाव-निर्दिष्ट-धर्म, के असुकूल शिक्षा दे कर, रक्षा कर के, उपयुक्त जीविका धर्म में लगा दे—वही 'विद्य-व्यवस्था' है । ऐसा धर्म जो प्रत्येक मनुष्य को उस के स्व-भाव से ऊपर रहि के अनुसार, सामंजसिक अनुसूद्ध और परमाधिक शिक्षावत्त के अन्तर्गत समे सुरक्षणी की शिक्षा का प्रकार शिक्षा दे; एतदीय और परतदीय, सुविधा और बाधकत्व, दोनों के व्यापकत्व पर्याप्त सुख की प्राप्ति का, और तीव्र दुःख से रक्षने का उपाय बता दे—वही 'विद्य-धर्म', 'धर्म-कार', है । वही 'दर्शन-कार' भी है; वही 'मत्त' पर प्रतिष्ठित, मत्त की प्रकृति के अनुकूल, 'धर्म' है । इन चार प्रकारों, चार प्रवृत्तियों, चार धर्मों, चार अध्यानों के सम्मिलन पद्यालों पद्यालों की चर्चा 'मानव-धर्म-कार' में की है, और इन के मनुष्य-सुखर रक्षक के अर्थों, प्रारम्भ, और अंग्रेज़ों पद्यों, दुःखानधर्म और

मद्रासी, बंगाली, गुजराती, मराठे, चीनी, जापानी, अंग्रेज़, जर्मन, पठान, रूसी, अरब, तुर्की, आदि 'जातियां' असंख्य हैं; पेशे, 'वर्ण', चार ही मुख्य हैं; सब जातियों के सभी मनुष्य, चार वर्णों में से किसी न किसी वर्ण के अवान्तर उपवर्णों में देख पड़ते हैं।

आज काल यूनिवर्सिटियों विश्वविद्यालयों में जो 'पेशा'-रूप 'वर्ण' की डिग्रियाँ दी जाती हैं, वे कैसे दी जाती हैं ? 'बैचेलर या मास्टर आक़ला' (क़ानून), 'आफ़्र मेडिसिन्' (आयुर्वेद), 'आफ़्र कामर्स' (वाणिज्य), 'आफ़्र एंजिनियरिन्' (यंत्र-शिल्पादि), 'आफ़्र ऐग्रिकल्चर' (कृषि), 'आफ़्र एज्युकेशन' (अध्यापन), इत्यादि बहुत प्रकार की डिग्रियाँ, 'एग्ज़ामिनेशन बोर्डों' ही के द्वारा दी जाती हैं; कैसे दी जाती हैं ? आप ने प्रश्न किया है, "नियन्त्रण कौन करेगा"; उत्तर, "राजशक्ति, शासनशक्ति, क़ानून-धर्माऽनुस्तरिणी दंष्टशक्ति"; अन्ततो गत्वा, "दण्टः शास्त्रि प्रजाः सर्वाः"। यूनिवर्सिटियों की डिग्री की प्रामाणिकता की प्रतिभूः, आज भी, अन्ततो गत्वा, राजशक्ति, दण्टशक्ति, ही हैं; "स राजा पुरुषो दण्टः... धर्मस्य प्रतिभूः स्मृतः"; 'यूनिवर्सिटि ऐक्ट' को शासनशक्ति ने ही बनाया है।

आप का कहना है कि, "यह सब ऐसे प्रश्न हैं जिन पर पूर्णरूप से विचार करने पर पता लगेगा कि केवल 'वर्मणावर्णः' को व्यवस्था कितनी अव्यवधान है"। प्रतिवाद इस का यह है कि "अब केवल 'जन्मना वर्ण' की व्यवस्था, सर्वथा अव्यवहार्य भी और अव्यवहृत भी हो गयी है; 'नितरां आविश्कार और अर्थशून्य हो गयी है; केवल भोजन और विवाह के विषय में बात इस का व्यवहार किया जाता है; सो भी नाममात्र ही, जैसा मुक़ान्ति ने स्पष्ट किया है; और यह भी टूटना जाता है। "पण्यं तु वर्मणा-मस्य प्राणि वर्मणि जाविषा, अध्यापनं, राजनं च, विशुलाष्ट प्रविशतः; पश्यात्तु सुखं धर्मस्य, यणिन् पशुहृदिविनाः, इन्द्रिय सेवा चान्देषां", इस प्रकार से भगवान् मनु ने जो कृषि-विभाजन का आदेश दिया है, वही 'जन्मना वर्णः' वाले इस का लक्षणमात्र भी, आजकाल क्या, बितनी ही



रहने में कुछ विशेष सन्तोष हो, तो पकड़े रहें; यदि इन नामों को, मन्वा-दिष्ट जीविका-कर्मों से पृथक् कर के, केवल 'जाति'-वाचक मान लेना हो, तो भले ही माने जायें; पर उन नामों का, समाज के दैनन्दिन जीवन-व्यवहार में, लेशमात्र भी उपयोग नहीं रह गया है। अच्छा हो यदि उनके स्थान में, 'कर्मणा वर्णः' के अनुसार जीविका-बोधक नये नाम प्रयुक्त किये जायें—शिक्षक, रक्षक, पोषक, सहायक प्रभृति। बंगाल में 'सेवक' 'महायक' के स्थान में 'धारक' शब्द का प्रयोग होने लगा है। रात, भोजन और विवाह—तो, इन में, चलात्कारण, कोई किर्मा विशेष रही वा पुरुष को साथ भोजन वा विवाह करने को, न 'जन्मना' बाध्य रहा है, न 'कर्मणा' बाध्य होगा।

संस्थाओं, रीतियों, आचारों की, काल-प्रवाह से, विकृतियाँ।

दूसरे प्रकारसे देखिये—समालोचक ने 'धियोर्मोक्षिकल् म्मोन्नादर्य' की "स्थवहार मे" विकृतियों की चर्चा की है; उस के तीन उद्देश्यों का भी उल्लेख कर दिया है; किन्तु इन तीन उद्देश्यों की निरवधानता वा प्रगत्यता पर कोई आक्षेप वा कटाक्ष नहीं किया है। उद्देश्य है, (१) विश्वव्यापी भ्रान्तभाव वा वर्धन प्रसारण; (२) विविध धर्मों, मजहबों, धार्यों का सम्प्रधारणात्मक, तुलनात्मक, अध्ययन और भीमांगन, उन सब में अनु-रमृत समान मितान्तों, विश्वासों, उपासनाओं, भावों के ज्ञानार्थ; (३) मनुष्य की अन्धविकृत, अन्तर्बलमान शक्तियों का योगद्वारा अन्वेषण। विचारने की बात यह है कि, जिस को वैदिक वा मन्वातन धर्म कहते हैं उस की 'मोन्नादर्य' अर्थात् 'समाज' में क्या कुछ अधिक विकृतियाँ, "स्थवहार मे", नहीं हो सया है; और निन्द नहीं हो रही है? 'धियोर्मोक्षिक' शब्द का टीका-हृतार्थ शब्द 'मन्नादर्य' है; (प्रोफ़ेसर 'धियोर्म', देव, परमात्मा; 'मोक्षिका', विद्या); भारतीय संस्कृत-मन्वातन में, मन्नादर्य के मूल अर्थ, 'प्रत्यक्ष-प्रव' के साथ से प्रसिद्ध, मन्वातन, एक उपनिषद्, मन्नादर्य, माने जाते हैं, एक एक के कई कई भाग, यानि, टीका, प्रवर्षा आदि, परस्पर प्रवर्षा-प्रमाण, हो रहे हैं - एक मन्नादर्य ही के

‘स्व-धर्म क्या है !

आप चाहते हैं कि सब लोग “धैर्य से स्वधर्म-पालन” करें; बहुत मुनासिब, बहुत उचित; पर ‘स्व-धर्म’ क्या है, कौन किस का ‘स्व-धर्म’ है, इसका निर्णय निश्चय कौन करे, कौन “कोर्स” बनाये और “डिग्रियाँ दे? ‘जन्म’ ? और अब, जब सभी देशों का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध, संघ-पात्मक भी, सहायात्मक भी, रेल, तार, रेडियो, जहाज़, विमान द्वारा, बँध गया है, और कोई देश भी सर्वथा ‘सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र’ नहीं रह गया है, तब एक भारतवर्ष ही में ‘जन्मना-स्वधर्म-पालन’ की व्यवस्था सिद्ध भी कर ली जाय, तो उतने से ही काम कैसे चलेगा ? भारतीयों पर परा्यों का आक्रमण, और विदेशियों के द्वारा उन का दासीकरण, कैसे रुकेंगा, यदि सब विदेशी भी भारतीय-धर्माधिकारि-सम्मत-आज्ञप्त ‘स्व-धर्म’ का परिपालन न करेंगे ? यदि इस ग्रन्थि को सुलझाने का प्रयत्न आप करेंगे, इस पर कुछ भी विचार करेंगे, तो यह स्पष्ट हो जायगा कि, ‘कर्मणा वर्णः’ के अनुसार, मन्वादिष्ट “पृथिव्यां सर्वमानवाः” की संग्राहक, ‘विश्व-धर्म’ से प्राणित, ‘विश्व-व्यवस्था’ को छोड़ कर दूसरी गति, शांति-बहुला, प्रेम-प्रचुरा, अग्रजन्माऽनुजन्मभ्रातृभाववर्धिनी, मानव लोक के लिये है ही नहीं। ‘नैवारित गतिरन्यथा’।

‘जन्मना’ की कथा यह है कि, पश्चिम में भी, जैसे भारत में, चारों दूसरे शब्दों में, पर तत्परतः उसी भाव से, ‘एवाइन् राइट् अफ् किंग्ड् ऐंड् प्रीस्त्स्’, राजाओं और धर्माधिकारियों ‘पादरियों’ का (पादों, ‘विन्’, दोनों शब्द एव ही, एवार्थ ही, ईं), ‘विन्’, ‘देवदत्त’, (‘विन्’-‘एन्’, ‘टीन्’, ‘थीआन्’, पां. देव, दिवन्, वर्तन, ‘ज्ञान’, ‘बहुविध’, दिव्यवृत्ति, मन् एव ही, या सनान सनन ही, या सन्निहित ही है, तथा ‘मन्’, ‘वर्त’, विव्, भी), ‘ईश्वरीय अधिकार’ पर ही और बाका बाका है। उक्त ‘मन्-धरन्’ और ‘मन्हीसुम्ब’ के तुल्ययोग में ही, उक्त के अन्वय पर जाने से ही, भारत-पतता निरव में गिरा है। तथा सब भूराज्य पर सर्वत्र प्रकृतः अधिपतिपरतः परतः परतः परतः संश्रय एवः एवः से रहे है ;

स्वकुलाद् विरिंच्मः, स्वशुद्धतायाः प्रथमाय, नूनं अस्मत्स्व-धर्मो यद्
अमृंस्तु भञ्जमः । अ-श्वेतवर्णान् निखिलास्तु भुञ्जमः, प्रैप्येऽपि दास्येऽपि
च तान् नियुञ्जमः, मृद्न्मोऽपि सर्वाः कृपणास्तु जातीः, स्व-धर्म एपोऽस्ति
सिताङ्गजातेः' । इत्यादि ।

जब बलवान् पापिष्ठ शासकों और धर्माधिकारियों का 'स्व-धर्म,'
सभी देशों में, निर्दोष दुबलों को सताना, चूसना, टगना, मूर्ख चनाये
रखना; जब राम जी ऐसे सत्क्षत्रियों का 'स्व-धर्म,' (आजकालके 'जन्म-
ना' क्षत्रियम्मन्य राजाओं में, 'प्रतिमानं महीभुजां' के ऐसे, शतांशलेश में
भी कितने हैं ?) उन दुष्टों का निग्रह करना, ("क्षत्रियैर्धार्यते चापो
नाऽत्संनदो भवेदिति" यह राम जी की प्रतिज्ञा है); जब उच्च-पवित्रम्म-
न्य 'उंची' जातियों का 'स्व-धर्म,' 'नीची' जातियों को अधिकाधिक 'नीची'
और 'अरपृश्य' करते जाना; जब दारिद्र्यों का 'स्व-धर्म' अपने ही कुल-
कुटुम्ब-वंश-जातिवालों को, नितान्त थोड़े मिथ्या अभियोग लगा कर
'जात बाहर' कर देना, अपने समाज को दुर्बल कर के दूसरे सम्प्र-
दायों और और समाजों का दल पशाना; जब, ईसा की छठी सताव्वी
से सौगव्वी तक कुछ ईसाई सम्प्रदायों का, और सातवीं से आज तक कुछ
सुन्तमान सम्प्रदायों का, 'स्व-धर्म' यह रहा है कि दूसरे धर्मवालों को
छल से, दल से, विविध प्रलोभन से, अपने धर्म और समाज में ले आना,
हवना तथा अन्य अप्रकाशितवासी जातियों को मुलाम बनाना, और दूसरों
को 'दृष्ट' पदार्थों, शिक्षों, धर्मग्रन्थों, उपासना-रथानों को नष्ट-भष्ट करना;
जब छठी से बारहवीं सताव्वी तक वैदिकम्मन्य और बौद्धम्मन्य सम्प्रदायों,
समाजों, दलों का भी ऐसे ही परस्पर व्यवहार का 'स्व-धर्म' रहा; जब
आर्य, ईरानी, गोल, गोथ, राक, हूण, कुशल, तुर्क, आदि पौरुष जातियों
का, वैदिकाल और उपनिषत्काल से ईसा की एकतरवी सताव्वी तक, पश्चात्
यूरोप की ओर बढ़ते जाना, और पहिले से दूसरे जातियों पर आक्रमण
कर के उन का ध्वंस करना, 'स्व-धर्म' था; जब सौगव्वी सताव्वी से
आज तक सुन्त उलटे चल रहे हैं, और पश्चात् श्रेष्ठ जातियों का, पौरुष

बताता है, और अपौरुषेय कहता हुआ भी भूतार्थवाद, अनुवाद, गुणवाद, "रोचनार्था फलश्रुतिः" आदि का बहुत सूक्ष्म सूक्ष्म, बुद्धि पर तीखी सान चढाने वाला, विवेक करता है; ऐसी सान, कि "वालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च" के ऐसी बारीक हो कर, बुद्धि अदृश्य और लुप्त ही हो जाती है, स्थूल सांसारिक व्यावहारिक कार्यों के स्पर्श को सहन ही नहीं कर सकती ! प्रत्यक्ष ही, सैकड़ों पंथ, परस्पर विवदमान, कलहाय-मान, भारत में भर रहे हैं; सभी अपने को हिन्दू, सनातनधर्मानुयायी, स्व-धर्म पालक कहते हैं; "अन्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव, सनातनश्चापि धर्मरथैको जातिं जातिं प्रतिजातिर् बभूव" । ऐसी दशा में, 'स्व-धर्म' के सच्चे रूप का निर्णय कीजिये, और उसका, सब से, धैर्येण अवलम्बन कराने का, उपाय बताइये । गीता में 'स्व-धर्म' शब्द पांच बार आया है; अ० ३-३५ (दो बार); २-३१, ३३; १८-४७; इन प्रयोगों पर, तथा ४-१३ और १८-४१ पर, विचार करने से मेरे समक्ष में यही आया है कि "स्वभाव-नियतं कर्म" ही को कृष्ण ने "स्व-धर्म" माना है; अर्थात्, 'स्वस्य भावे प्रधानो यो गुणः, सत्त्वं, रजो, सध्वा तमश्च, तद्गुणतं कर्म यत्, स्व-धर्मः स एव हि ।'

पुनरपि मेरा नम्रनिवेदन ।

ऐसे हेतुओं से, वर्तमान अदरथा में, सब पाठक समझने से पुनरपि मेरा नम्र निवेदन है, (क्योंकि मैं हिन्दूधर्म और हिन्दू समाज का द्रोही नहीं हूँ, प्रसृत बहुत हितैषी और सित्तैषिण, आज पैतालीस पचास वर्ष से, अधिवाधिक हो रहा हूँ), कि, इस समय में, 'अज्ञाना वर्णः' का उद्बोधन, प्रचारण, प्रदर्शन, पूर्णतः बड़ा असम्भव है, और कल्याणकर नहीं है; प्रसृत, यत्नानो वे, निसर्गतः, 'अधिवारो' का अधिकाधिक गौरवना है, और 'वर्णव्यो' से अतितरां विदुषः और प्रसृत करता है; और दुर्बलो यो अधिवार-हानि, और केवल वर्णव्यो के भार से दुग्ध और अल्पमान, कर देता है । विपरित इत वे, 'वर्णना वर्णः' का, और तद्गुणतः अधिवारो और वर्णव्यो के परस्पर एक सम्बन्धन का, और सित

पहिले कुछ अनुहुद्ध रूप से, पीछे अधिकाधिक उद्बुध्यमान रूप से, अब बहुत वर्षों से दृढ़, विश्वास, मेरा यह हो रहा है कि, 'हिन्दू-धर्म' पर प्रतिष्ठित यही 'हिन्दू-समाज-व्यवस्था', यदि अध्यात्मशास्त्र और आत्म-विद्या के अनुसारी 'कर्मणा वर्णः' के सिद्धांत से परिमार्जित, परिष्कृत, प्रतिसंस्कृत, कर दी जाय, तो 'हिन्दू-धर्म' 'हिन्दू-समाज' के कृत्रिम नाम और संकुचित भाव को छोड़ कर, सर्वलोकसंग्राहक तथ्य और उदार और प्राचीन आर्ष नाम और भाव, 'मानव-धर्म', 'मानव-समाज', का ग्रहण कर लेगी; और, "नित्यः सर्वगतः स्थाणुः अचलोऽयं सनातनः", 'सनातन' आत्मा पर प्रतिष्ठित, उस की प्रकृति से निस्सृत 'धर्म', 'सनातनधर्म', 'विश्व-धर्म' से प्राणित 'विश्व-व्यवस्था', सर्व-मानव-लोक-कल्याणकारिणी हो जायगी ।

'टिमोक्रोसी' के दोष ।

इस लेख को यहाँ समाप्त करना चाहता था, कि समालोचक के दो और लेख " पाश्चात्य लोकतन्त्र " और "हमारा कटु अनुभव", (सिद्धान्त के १४ और २८-४-१९४२ के अदों में), नज़र आये; उन में जो बातें वर्तमान 'टिमोक्रोसी' के दोषों के समग्रन्थ में कही हैं, प्रायः वह नये, अधिक विस्तार में, बहुत हेतुओं के, और पाश्चात्य लेखकों के मतों के प्रतिपादन के, साथ, 'विश्वहुद्ध और उस की एकमात्र धीपध' नाम के ग्रन्थ में मैं ने लिखा है । पर उस ग्रन्थ में एक बात और लिखी है । इतना ही बात और पूरा कर (जैसा समालोचक ने किया है) कि "इन सब प्रश्नों पर क्या अभी से विचार करने की आवश्यकता नहीं है ?" मैं ने सन्तोष नहीं किया है बल्कि विस्तार से विचार किया है । आश्चर्य है कि इन विचारों की और समालोचक का ध्यान नहीं गया; उस ग्रन्थ में, आरम्भ से अंत तक यही बात तो कही है कि इन प्रश्नों पर अभी से विचार करने की आवश्यकता है, और मेरी दृष्टि में, प्रश्नों के उत्तर-रूप जो विचार उठे हैं, उनकी प्रतिशब्द दिया है; और उन सब उत्तर-रूप विचारों के सूत्र शब्द भी तो ये ही हैं—विश्वधर्मानुप्राणित विश्व-व्यवस्था !

लेखकों ने विस्तार से दिखाया है) , जिस से अच्छे, अनुभवी, लोक-हितैषी, निःस्वार्थ आदमी ही धर्मव्यवस्थापक सभाओं में जायें, और ऐसे अच्छे कानून बनावें, जिन कानूनों धर्मों से ऐसी समाज-व्यवस्था बन जाय, कि सब मनुष्यों को, यथोचित, स्व-स्व-प्रकृति के अनुकूल, पेट भर रोटी, पीठ भर कपड़ा, खिर भर छप्पर छाजन, माथे मस्तक मस्तिष्क भर ज्ञान, धर्म (उपासना) और अर्थ (स्वत्व, सम्पत्ति, परिग्रह, रिक्थ, 'प्रापटी', मिलकीयत) और काम (गार्हस्थ्य) का उचित मात्रा में सुख, और अन्याय के भय से हटकारा, मिल सके। और, ऐसी प्रार्थना, इन सब से, पुनः पुनः सतत करते हुए, यह सूचना भी, पुनः पुनः उक्त दोनों अंग्रेज़ी और एक संस्कृत ग्रन्थों में, तथा अन्य कई अंग्रेज़ी और हिन्दी ग्रन्थों और छोटे लेखों में, समाप्त से भी और व्यास से भी, कर दी है, कि 'मानव-धर्म' के 'मानव आध्यात्मिक और आधिभौतिक, आधिजैविक और आधि-दैहिक, प्रकृति' के, अनुसार 'कर्मणा वर्णः' की नीति रीति से, 'मानव-समाज-व्यवस्था' और 'राष्ट्र-शासन-पद्धति' ऐसी ऐसी होनी चाहिये; और यदि हो, तो उक्त लक्ष्य, जो सब तीन पुरुषार्थों के अन्तःपार्थी है, तथा मोक्षपणा भी, अर्थात् स्वार्थ, परार्थ, परमार्थ, सभी तृप्त और सिद्ध हो जायें; तथा, लोकतन्त्रवाद, साम्राज्यवाद, स्वाम्यवाद, 'शाही राज्य', 'दासी राज्य', 'धनी राज्य', 'धरमी राज्य', 'पुंकराज्य', 'हैराज्य', गणराज्य, साम्राज्य, संघराज्य, दैराज्य, भौज्य, आदि प्रत्येक में जो गुण का अंश है, उक्त सब का धा-वर्ष, और सब के दोष के अंशों का क्षय-वर्ष, भी, यथासम्भव, हो जाय; यथासम्भव, क्योंकि प्रकृति की अपरिहार्य दृढ़ता के कारण, आत्म-न्तित्व निर्दोषता, कर्मी, किसी प्रकार में और से, सिद्ध नहीं हो सकती; दोष कम, गुण अधिक, दुःख कम, सुख अधिक—किसी एक निर्दिष्ट परि-मित, ऐस और बाल के ऊपर और तुल्य में—दृढ़ता ही स्थायी या स्वतः है; और सब जाय, तो अहो भाग्यम् ।

'दासेक' से बेरी निम्नतर हील वर्ग रहत ।

भारत के लिये विशेष रूप से, सन् १९२१ से, भी, ...

‘स्वराज की रूपरेखा’, एक कमेटी द्वारा तयार करके जनता के समक्ष विचारार्थ उपस्थित कर दी जानी चाहिये; और मुझे बड़ी आशा उत्पन्न हुई कि यह परम आवश्यक कार्य अद्य निश्चयेन करा देंगे, तब ऐसी घटनाएं हुईं कि गांधी जी कांग्रेस के नेतृत्व से तटस्थ हो रहे हैं, और ‘अनैक्य’ की भावना, परस्पर ‘अस्पृश्यता’, भेद-बुद्धि, जो ‘हिन्दू’ जनता में भरी हुई है, और उस के अधःपात का प्रधान कारण है, वही कांग्रेस के भीतर भी सहसा जागी, और ‘छोपो, तोपो, बोलो मत’ की थोड़ी नीति को सद्यः पाणिंदान से दूर फेंक कर, कांग्रेस के संघटन का विघटन करने के लक्षण दिखा रही है। और, अद्य तो ९ अगस्त १९४२ से महात्मा गांधी तथा कांग्रेस के अन्य प्रमुख नेता, प्रायः सभी, पुनः कारावास में बंद कर दिये गये हैं। (गांधी जी से और मुझसे जो इस विषय पर पत्र-व्यवहार अगस्त-अक्टूबर १९४१ में हुआ था, वह ‘वर्ल्ड चार्’ की पुस्तक के पृ० ५३१-५३६ पर छपा है)। “रात्रिर्गमिष्यति, भविष्यति सुप्रभातं, भास्वानुदेष्यति, दसिष्यति पङ्कजश्रीः, इत्थं विचिन्तयति घोषगते छिरेणे, हा हन्त, हन्त, नलिनी” ‘तु करी ममर्द’; अभी भी सर्वथा “गज उज्जहार” नहीं; ‘आसा पर नाँसा’ और ‘जय तक सौँस तब तक आस।

कांग्रेस की अनवस्था दुरवस्था।

नेता महोदय सदा इसी महाभ्रान्ति में पड़े रहे हैं, कि पहिले शासन-शक्ति हाथ में आ जाय, तब पीछे सोचा जायगा कि उस का प्रयोग कैसे किया जायगा; कितना कितना भी रटा गया, इन महोदयों ने अद्य तक यह नहीं ही पहिचाना कि, बिना इस बात को सब दलों, सब मत-वालों, को समझाये, और उन के मन में यह विश्वास बैठे, कि शासन-शक्ति का प्रयोग इस इस प्रकार से किया जायगा, ऐसी ऐसी योग्यता से, ‘तरो-दिपा’-बुजः ‘पुरोहितों’ के द्वारा ऐसे ऐसे कानून बनवाये जायेंगे, और ऐसी समाज-व्यवस्था बनायी जायगी, जिस से सब को अन्न-बखानादि आवश्यक-वस्तुओं की प्राप्ति निश्चित हो जायगी—बिना इस से, सब ‘दलों’

उपसंहार ।

भारतभूमि पर, परमात्मा जगदात्मा की इच्छा से, पृथिवी पर प्रचलित सब ही मुख्य धर्म एकत्र हैं; यहाँ हिन्दू, बौद्ध, जैन, पारसी, सिख, भौ, ईसाई, मुसलमान, यहूदी भी, सभी हैं; अतिप्राचीन, 'सनातन'-धर्म-सार, धर्म-सामान्य, 'विश्व-धर्म', वेदान्त-तत्त्वप्र-ग्रास्टिक्मिस्टिसिद्धि, का नवाऽवतार भारत मे यदि नहीं होगा, तो अन्य किस देश से आशा है ? "चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः, कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवै-र्गुणैः", चातुर्वर्ण्यान्तरायाताः "पृथिव्यां सर्वमानवाः", त्रयो द्विजाः, एक-जातिर् एको, "नास्ति तु पञ्चमः"; सर्वधर्मसम्प्रदायान्तर्गत सर्व मानवों को, व्यवस्थासार, समाज-व्यवस्था-सामान्य, 'विश्व-व्यवस्था', भारत का ही देन, 'कर्मणा' ही (न तु 'जन्मना') हो सकता है । और ऐसी विश्वधर्म से अनुप्राणित विश्वव्यवस्था से ही मानवजगत् का सब प्रकार का कल्याण हो सकता है, और प्रत्येक मनुष्य के लिये, उस की प्रकृति की गति पर्यन्त, चारो पुरुषार्थ सिद्ध हो सकते हैं ।

"सुलभाः पुरुषाः नूनं सततं प्रियवादिनः, अप्रियस्य च पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः" दुर्लभश्चापि सत्-कृत्यकर्म-निर्देशको जनः । "प्रायः सर्प-पमाप्राणि परच्छिद्राणि पश्यति; आत्मनो विल्बमाप्राणि, जनः पश्यन्, न पश्यति" । "सामान्यमेकवक्त्रं, विशेषस्तु पृथक्स्वकृत्ः तुल्यार्थता हि सामान्यं, विशेषस्तु विपर्ययः; सर्वदा सर्वभावानां सामान्यं वृद्धिकारणः प्राप्तहेतुर्विशेषश्च; प्रवृत्तिरुभयस्य तु" । "दीर्घं पश्यत, मा हृस्वं ; परम्परदत्त, माऽपरम् ; धर्मं धरत, माऽधर्मं ; स्वयं पश्यत, माऽनृतं" । "सर्वमानसि नृपश्येत्, स्वशाऽनृषु समाहितः; आत्मौपम्येन सर्वत्र नमं पश्यति यो जनः, न सर्वममतामेव, स्वाराज्यं अधिगच्छति" ।

ॐ सर्वस्तरु गुणाणि, सर्वो भद्राणि पश्यतु,

सर्वः सद्गुणिनामोऽनु, सर्वः सर्वत्र नन्दतु । ॐ

ॐ

अशुद्धि-शोधन

(कुछ मेरी जरा-जीर्ण आँखों के दोष से, कुछ अन्य हेतुओं से, ग्रन्थ में छपाई आदि की त्रुटियाँ बहुत रह गई हैं; थोड़ी सी, विशेष ध्यान के योग्य, यहाँ शोधनी जाती हैं —ग्रन्थकार)

पृष्ठ	पंक्ति.	अशुद्ध	शुद्ध
६०	६	अपरा विद्या का	परा विद्या का
६३	२	के	ग्रान्तिपर्व के
९९	१८	हमार	मेरो
१००	१३	कांच	काञ्चन
१०३	७	सब लोकनाथ जो, परमात्म	परमात्म, जो सब जग में, अरु
११९	१३	क्षिप्राप्रद	शिक्षाप्रद
१३२	७	परस्य	खलस्य
१४५	२०	रपेन	रवेन
१४६	२	कल	कल
१५२	१६	भाष, वीर	भाष, रौद्र और वीर
१६२	१४	हैं	हैं। "आध्वर्यवत् पश्यति काधिदेनं" (गी०) ।
१६७	२५	लेह हरि प्रकट	अंश लेह हरि
२०५	१०	अति	सगद्देपादि में मे किमी की अति
२१८	१३	लयं	पुनः पुनः आविर्भूय लयं
२५८	१	तान	तान
२३९	२६	तद्योगिनी	प्रतियोगिनी
२४४	१०	'नब')	'नब') नमस्तु जाते, क्षीर इस मन्त्र में

डाक्टर भगवान् दास के रचे अन्य ग्रन्थ ।

- The Science of the Self (आत्मशास्त्र). Rs. 1-8-0
- The Science of Peace (शान्तिशास्त्र), 2nd edition,
cloth Rs. 3; boards Rs. 2-8-0
- The Science of the Emotions (राग-द्वेषादि क्षोभ-
शास्त्र). (4th edition; in preparation.)
- The Science of Social Organisation, or The
Laws of Manu (समाज-व्यवस्था शास्त्र वा मानव
धर्म) 2nd edn., Vols I & II (Vol. III in
preparation.) Vol. I, cloth, 2-8-0 boards,
2-4-0; Vol. II. Rs. 2-0-0 & 1-12-0.
- The Science of the Sacred Word, or The
Pranava-Veda (प्रणव-वेद) of Gārgyāyana,
3 Vols. (Out of print.) Rs. 7-8 0
- The Science of Religion, or the Principles of
Sanātana Vaidika Dharma (सनातन वैदिक
धर्म के तत्त्व). (Out of Print.)
- Kṛṣṇa, A Study in the Theory of Avatāras,
(कृष्ण-अवतार-तत्त्व) Rs. 2-0-0 & 1-12-0
- Mystic Experiences, or Tales from the Yoga-
Anuślitha (सर्लौकिक अनुभव, अर्थात् योग
पान्थि के कुछ आनुभव) Rs. 0-12 0
- Ancient versus Modern Scientific Socialism
(प्राचीन और नवीन समाजवाद की परीक्षा) Rs. 1-8-0 & 1-0-0
- The Essential Unity of All Religions (सर्व-धर्म-
नाममय, या सब धर्मों की तात्पर्य एकता) Rs. 2-0-0
- World War & Its Only Cure—World Order &
World Religion (विश्व-युद्ध और उसका एकमात्र
संस्कार—विश्व-धर्म से अनुप्राणित विश्व-व्यवस्था) Rs. 2-4-0



